आचार्य सतीशचन्द्र झा

अभिनन्दन-ग्रन्थ



सम्पादक

डॉ. शरदिन्दु कुमार त्रिपाठी

आचार्य सतीशचन्द्र झा

अभिनन्दन-ग्रन्थ



सम्पादक

डॉ. शरदिन्दु कुमार त्रिपाठी

आचार्य सतीशचन्द्र झा

अभिनन्दन-ग्रन्थ



सम्पादक

डॉ. शरदिन्दु कुमार त्रिपाठी

आचार्य सतीश चन्द्र झा

अभिनन्दन - ग्रन्थ

सम्पादक

डॉ. शरदिन्दु कुमार त्रिपाठी

संस्कृतविभाग, कलासङ्काय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

***

सह-सम्पादक

डॉ. प्रसून दत्त सिंह

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
जमशेदपुर वर्कर्स कॉलेज, जमशेदपुर

मेखला प्रकाशन

दिल्ली-110089

ISBN 978-93-81415-57-3

प्रकाशक	:	**मेखला प्रकाशन** एफ-3/139, सेक्टर-16 रोहिणी, दिल्ली-110089
मूल्य	:	1295.00 रुपये मात्र
संस्करण	:	सन् 2013
शब्द-संयोजन	:	एडिटोरियल इंडिया, दिल्ली-91
मुद्रक	:	शिव शक्ति प्रिंटर्स, दिल्ली-32

Abhinandan-Granth (in Hindi)
By Dr. Shardindu Kumar Tripathi

अभिनन्दन-ग्रन्थ समिति

अनुक्रमणिका

शुभाशंसा, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

संस्कृत

****

****

****

****

मैथिली



सम्पादकीय

वदनं प्रसाद–सदनं, सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं, येषां केषां न ते वन्द्याः॥

इस पद्य के प्रत्यादेश, ज्ञानदान–महापथ के प्रखर प्रहरी, मिथिला की पाण्डित्यपरम्परा के संवाहक, भारतीय संस्कृति के विग्रहरूप, संस्कृत समाज के सर्जक, प्रवर्तक, संरक्षक, अध्ययन, मनन तथा चिन्तन के चरमबिन्दु, जीवन संघर्ष के निकषोपल, वन्दनीय अनुकरणीय एवं अविस्मरणीय आचार्य सतीशचन्द्र झा आधुनिक संस्कृत जगत् के एक ऐसे सशक्त हस्ताक्षर हैं कि उनके विषय में कुछ कहना 'वृथा दीपो दिनाय' की तरह है।

सन् 2000 में कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल के संस्कृतविभाग के तत्कालीन अध्यक्ष प्रो. दामोदर राम त्रिपाठी द्वारा आयोजित एक सेमिनार में मैंने आचार्य झा जी का प्रथम व्याख्यान सुना था, तब से उनके प्रति मेरे मन में अगाध श्रद्धा का भाव जागृत हुआ। फिर बीच–बीच में उनसे मिलने के, उनको सुनने के और उनको समीप से देखने के अवसर आते गये और वह श्रद्धाभाव प्रगाढ़ प्रगाढ़तर और प्रगाढतम होता गया। विशुद्ध पण्डित, सरल हृदय, शिष्यों के प्राणस्वरूप और शिष्य मण्डली उनका प्राणसूत्र, गुरुओं के प्रति अविचल निष्ठाभक्ति और आस्था उनके जीवन में प्रतिक्षण व्याप्त है। बाल गंगाधर तिलक, डॉ. पी.वी. काणे, भारतरत्न डॉ. राधाकृष्णन्, डॉ. आर.एन. दाण्डेकर, डॉ. जयमन्त मिश्र आदि प्रसिद्ध विद्वान् जिस ऑल इण्डिया ओरियण्टल क्रान्फ्रेंस के अध्यक्ष पद को सुशोभित करते रहे हैं, उन्हीं की महनीय परम्परा में 44वें अध्यक्ष के रूप में कुरुक्षेत्र के अधिवेशन में अध्यक्ष पद को अलंकृत करनेवाले आचार्य डॉ. सतीशचन्द्र झा का जीवन पृथ्वी से आकाश की यात्रा के समान रहा है।

छात्रकाल में अत्यन्त संघर्षमय जीवन व्यतीत करनेवाले डॉ. झा बाबासाहेब भीम राव अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर के संस्कृत विभाग में आचार्य तथा अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित रहे। आज भी वे संस्कृत विद्या के प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं। मुजफ्फरपुर स्थित उनके आवास पर मैंने जब उनसे कुछ अत्यन्त समीपस्थ लोगों की चर्चा की तो उन्होंने कहा कि उन्होंने संस्कृतविद्या अपने पूज्य पिता स्व. कृष्णचन्द्र झा, पूर्व प्रो. व्याकरणविभाग संस्कृत महाविद्यालय सिवान से प्राप्त की और उन्हें गरीयान् कहते हुए बताया कि जो कुछ संस्कृत आती है, वह सब मूलतः उन्हीं की कृपा से है।

अव्याहत गति से सरल संस्कृत बोलने बाले डॉ. झा इसका प्रेरणास्रोत स्व. आचार्य पं. वासुदेव द्विवेदी शास्त्री, संस्थापक, सार्वभौम संस्कृत प्रचार संस्थानम् वाराणसी को देते हैं जिन्हें उन्होंने डी.ए.वी. महाविद्यालय सिवान में सर्वप्रथम व्याख्यान देते हुए सुना था। साथ ही जीवन में निर्भीकता की शिक्षा डी.ए.वी. महाविद्यालय सीवान के ही संस्कृत विभाग के आचार्य प्रो. कमलोद्भव शर्मा से प्राप्त की। अपने गुरुओं में अपनी विकास यात्रा का मुख्य श्रेय वे आचार्य स्व. जयमन्त मिश्र पूर्व कुलपति कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय को देने में गर्व का अनुभव करते हैं। अन्य गुरुओं में प्रो. स्व. महावीर पाठक, स्व. डॉ. वैद्यनाथ झा, स्व. प्रो. सोमेश्वर मिश्र की चर्चा करते हुए वे भाव विह्वल हो जाते हैं और कहते है कि विशेषतः प्रो. कमलोद्भव शर्मा नहीं रहे होते तो वे बी.ए. के बाद पढ़ ही नही सकते थे। डॉ. जयमन्त मिश्र की धर्मपत्नी, श्रीमती सुशीला देवी का डॉ. झा सभक्ति नमन करते हैं, अपनी माता स्व. अम्बिका देवी को वे जगदम्बिका का दूसरा रूप समझते रहे हैं और अपनी स्नेहमयी सास गोलोकवासिनी इन्द्रकला झा के वात्सल्य को कभी भूल नहीं पाते। अपने श्वसुर पण्डित आद्याचरण झा राष्ट्रपति सम्मानित विद्वान् की श्रद्धाभरित चर्चा करके डॉ. झा को अपार प्रसन्नता होती है। इसके साथ ही स्व. चाची मीरा देवी और स्व. अग्रजा इन्दिरा देवी को अपने जीवन में प्रतिक्षण सहायक मानकर उनका नमन करते हैं और अन्त में यह कहते हैं कि जो कुछ हूँ उसमें अपनी सहचारिणी श्रीमती मोहिनी झा का सर्वाधिक योगदान रहा है। आई.ए.

****

कक्षा में ही विवाह हो गया और दुःखों के झंझावत को आगे बढ़कर सहते हुए उन्होंने प्रतिपल जो साथ दिया वह अविस्मरणीय है। डॉ. झा कहते है कि-- "**भवानि! त्वत् पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्**" अन्त में डॉ. झा ने कहा कि उनके लिए संस्कृत ही सब कुछ है। संस्कृत वह कल्पतरु है जिसके आश्रय में सभक्ति खड़ा होकर कोई व्यक्ति जो चाहता है, प्राप्त कर लेता है।

प्रो. झा के साक्षात्कार के प्रस्तुत इस अंश से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका कितना सम्मान है अपनी महनीय गुरु परम्परा के प्रति, कितनी निष्ठा है परिवार के श्रेष्ठजनों के प्रति, कितना अनुराग है समकक्षीय लोगों के प्रति एवं कितना वात्सल्य और स्नेह है शिष्य परम्परा के प्रति। ये सारे बिन्दु प्रो. झा के उस महान व्यक्तित्व को ख्यापित करते हैं जो सदैव शिष्यों के लिए अनुकरणीय है।

बहुत कुछ न कहते हुए भी इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि आचार्य सतीशचन्द्र झा जी के विशाल व्यक्तित्व से, उनकी अनन्य संस्कृतसाधना से, उनके प्रौढ़ पाण्डित्य से विभिन्न पदों पर उनके यशस्वी कार्यकाल से एवं उनके शिष्य प्रशिष्यों की सुदीर्ध परम्परा से भावी पीढ़ी को अवगत कराने के लिए पूज्य गुरुवर के प्रति उनके शिष्यों एवं सहयोगी मित्रों द्वारा उनको समर्पित यह अभिनन्दन ग्रन्थ उनके प्रति एक सपर्या है और यह सम्मान है उस परम्परा का, उस संस्कृति का जिसके कारण हमारा मस्तक सदैव गर्व से ऊँचा रहा है।

अभिनन्दन ग्रन्थ में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न पदों पर आसीन आचार्य झा जी के शिष्यों एवं मित्रों के अतिरिक्त जिन महनीय विद्वानों ने अपने अपने आलेख एवं प्रशस्तियों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया है उनमें प्रमुख हैं प्रो. आद्याचरण झा, प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र, डॉ. गौतम पटेल, डॉ. पुष्पा दीक्षित, प्रो. उमारानी त्रिपाठी, प्रो. ओमप्रकाश पाण्डेय, प्रो. बृजेश कुमार शुक्ल, प्रो. गोपबन्धु मिश्र, प्रो. विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र, प्रो. महावीर, प्रो. उमारमण झा आदि। मैं इन समस्त विद्वानों एवं विदुषियों के प्रति हृदय से कार्तज्ञ ज्ञापित करता हूँ। इस ग्रन्थ के सह सम्पादक, आचार्य झा जी के प्रियशिष्य एवं मेरे अभिन्न मित्र डॉ.प्रसून दत्त सिंह का सहयोग अविस्मरणीय है, मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद एवं साधुवाद देता हूँ।
****

अक्षर संयोजन में श्री धर्म पाल जी एवं प्रकाशन में 'मेखला प्रकाशन' के कर्मचारी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अत्यन्त अल्प समय में इस कार्य को पूर्णता प्रदान किया। स्खलन नियति है, अनवधानतावश त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है, विद्वज्जन उनके लिए क्षमा करेंगे।

क्षमतां विदुषां निवहः,

स्खलतिर्या विहिता मे मतिमान्द्यात्।

तेषामहं समक्षं,

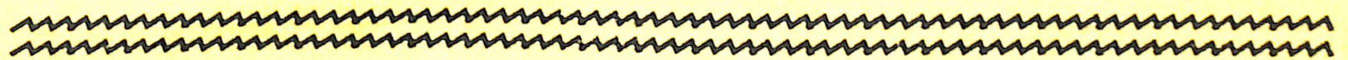
बाल एवास्मि नात्र संशीतिः।।

डॉ. शरदिन्दु कुमार त्रिपाठी
प्रधान सम्पादक

****



शुभाशंसा, व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व



अभिनन्दनीय के आराध्य गुरुदेव स्व.आचार्य जयमन्त मिश्र

सखि हे! को जानीते नाथम्।
यः कृपालुप्रभुभावदयातः कुरुते निजं सनाथम्।।1।।

रसयति सुजनं धरति कदाचन मृदुलकरे करतालम्।
नृत्यति नटति नाटयति, समये कठिने, स्वं करवालम्।।2।।

सुखयितुमना मनुज–निज–चित्तं धरते स्वकमवतारम्।
साधुजनं धर्मं परिरक्षति रचयति जगद्विधानम् ।।3।।

दूरयते दूरितं पूरयते सुकृतं साधुजनानाम्।
मायामोह–विनाशं कुरुताज्जगतोऽसाधुखलानाम्।।4।।

सखि हे! त्वं कुरु जनं सनाथम्।
यो यतते यदुनाथ–दयालवमाप्तुमिदं सुविधानम्।।5।।

आचार्य जयमन्त मिश्र

भूयाच्छतायुस्स सतीशचन्द्रः

नित्यप्रसनो मधुवागुदारः
सौहार्दपीयूषनिषक्तकायः।
स मैथिलानां धुरि शंसनीयो
जीव्याच्चिरं प्रेष्ठसतीशचन्द्रः॥1॥

यदाऽनने खेलति सूनृता वाक्
यदक्षियुग्मे करुणापयोधिः।
यन्मानसे मञ्जुलबन्धुभावो
जयेदसौ विज्ञसतीशचन्द्रः॥2॥

कार्येष्वतन्द्रोऽनलसश्च सिद्धौ
गोष्ठीप्रबन्धेषु च पूर्णदक्षः।
सत्साहितीसूत्रधरो बुधेन्द्रो
भूयाच्छतायुस्स सतीशचन्द्रः॥3॥

यो देववाणीस्फुटवक्तृतायां
काव्ये च तुल्यां प्रतिभां दधानः।
मान्यो वदान्यस्सुहृदां शरण्यः
स पण्डितेन्द्रो जयतात्सतीशः॥4॥

यो मेऽनुजस्सङ्कटमोचनाख्यो
विश्वस्तमूर्द्धन्य उपायसिद्धः।
नेताऽधुनाऽसौ श्रितसंस्कृतानां
विकस्वरः स्यादवनौ सतीशः॥5॥

पाण्डित्यदाक्षिण्यलसच्चरित्रो
वशंवदत्वाञ्चितसन्निसर्गः।
नित्यं युवाऽसौ वपुषा वचोभि-
र्जीव्याच्छताब्द स सतीशचन्द्रः॥6॥

येनाऽस्ति सत्पुत्रवती समृद्धा
राष्ट्रेऽधुना संसदि संस्कृता वाक्।
स कोविदानां नितरामभीष्टः
प्रवर्धत्तां झा-द्विजवंशरत्नम्॥7॥

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रो देववाणीसमर्थकः।
त्रिवेणीकविसंज्ञश्च शतोर्ध्वरचनाकरः॥8॥

मान्यः कुलपतिः स्वीयं बन्धुरलं शुभाशिषा।
सतीशचन्द्रमात्मीयं समोदमभिनन्दति॥9॥

शिमला
11 फरवरी 2008 ई.

सप्रणयम्
मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः
पूर्वकुलपतिः

मालवीयभवन
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००५, भारत



Office 0542-2307208
Mobile (0)9305349018

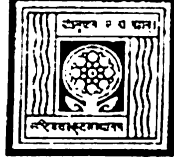
MALAVIYA BHAVAN
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI-221 005, INDIA

सानन्दः स्यात्

विद्वन्मान्यः प्रगुणगुणवान् कीर्त्तिसौजन्यधन्यो
गद्ये पद्ये विमलरचनः सत्कविर्वाग्विदग्धः।
सन्मित्राणां परममहितो बन्धुरेष प्रगल्भः
सानन्दः स्याद्विबुधवलये झाः सतीशोऽमितायुः॥

विन्ध्येश्वरीप्रसादमिश्रो 'विनयः'
वाराणसीस्थः

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
(मानित विश्वविद्यालय), लखनऊ परिसर
(मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार के अधीनस्थ)
विशाल खण्ड-4, गोमती नगर, लखनऊ - 226 010
दूरभाष-(0522-2393748), फैक्स-0522-2302993



निवास -
3, प्रीतिविहार
सुरेन्द्रनगर, पोस्ट-चिनहट
लखनऊ-227105
फोन 0522 2700122
मोबाइल 9335247769

डा० उमा रमण झा
एम.ए., आचार्य, पी.एच.डी., डी.लिट्
प्राचार्य

दिनांक :
Date : ...

विविधशास्त्रमर्मज्ञानां वैयाकरणाग्रेसराणां साहित्यरसिकानाम् अखिल-भारतीयप्राच्यविद्यासम्मेलनाध्यक्षचराणां बिहारविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागाध्यक्षवर्याणां सत्कर्मनिष्ठानां परमादरणीयानां श्रीमतां सतीशचन्द्रझामहाभागानामभिनन्दनम्।

वाचा कोमलया सुधामधुरया सम्बोधयन् सर्वदा
शिष्यान् मित्रजनान् प्रियान् बहुविधान् लोकेषु सम्मानितः।
विद्यावान् विनयी नितान्तसरलः सौन्दर्यरत्नाकरः
जीव्याद्वर्षशतं कुटुम्बसहितो मान्यः सतीशो बुधः॥1॥

कारुण्यं पटुता सदैव शुचिता मान्ये जने नम्रता
सारल्यं समता प्रमाणपरता सेवा सदाचारता।
दीने द्रव्यपतौ च पूर्णसमता नित्यं गुणग्राहिता
पूज्यं चन्द्रयुतं सतीशचरणं चुम्बन्ति सर्वे गुणाः॥2॥

शिष्याणां हितचिन्तको बुधवरो विद्वत्प्रियो धार्मिकः
नीतिज्ञो मतिमान् विशिष्टपुरुषो विद्यावतामग्रणीः।
नानाशास्त्रविचारचिन्तनरतो विज्ञेषु बद्धादरः
जीव्याद्वर्षशतं सुशिष्यवलितः श्रीमान् सतीशः सुधीः॥3॥

****

साहित्येऽतिकृतश्रमो बुधवरो लोकेषु सम्मानितः

अध्यक्षोऽखिलराष्ट्रविज्ञसदसः राराजते भारते।

नानाग्रन्थनिबन्धलेखनपटुर्वक्ता विपश्चिद्वरः

जीव्याद्वर्षशतं प्रसन्नहृदयो मान्यः सतीशः सुधीः॥4॥

शिष्या यस्य सहस्रशोऽपि सुलभाः प्रान्ते बिहारेऽधुना

बंगे चोत्कलवासिनश्च बहवो नेपालदेशे तथा।

शास्त्रज्ञा विबुधाः प्रकाण्डविदुषो गायन्ति गीतं गुरोः

सोऽयं दिव्यचरित्रचित्रितबुधो राराजते साम्प्रतम्॥5॥

विज्ञाय स्नेहरूपाय साहित्यरसिकाय च।

पदशास्त्रप्रवीणाय सतीशाय नमोऽस्तु ते॥6॥

सतीशोऽयं सतीशो वा लोके विस्मयकारकः।

शतं जीव्याच्चिरं जीव्याज्जनानामुपकारकः॥7॥



सतीशं सर्वेशं भजत सुखदं संसृतिभिदम्

सतीशं सदैवाग्रपूजां दधानं

स्मरामि प्रबुद्धं स्वकार्ये सुसिद्धम्।

सदा स्वात्म्यसौख्यं परार्थे वहन्तं

भजामो भ्रमन्तं क्षितौ भावगम्यम्॥1॥

त्वत्कार्यैर्धृतचारुकीर्तिधवलैः किं नो कृतं ह्यद्भुतं

कर्पूरीयति कज्जलं पिककुलं लीलामरालीयति।

कैलासीयति कैरवीयति पुनः श्वेतायते श्यामिका

त्वत्कीर्त्या धवलीकृतो नटवरो राधायते सर्वथा॥2॥

निलिम्पैः संपूज्यो विविधगतिदाने सुनिपुणो

विबुद्धैर्विद्वद्भिर्विमलमतिभिः सेव्यवचनः।

मुदा धन्यैः शिष्यैः सततमपि संमान्यचरितः

सतीशश्चाचार्यः सुभगसुखदो भाति विमलम्॥3॥

सदा दिव्यैर्वाक्यैः किमपि मधुरार्थान् नवनवान्

किरन्तं कर्तारं विविधनवकार्यार्थसरणिम्।

****

सदा लीनं शास्त्रे सकलशुभभावार्थकरणे

सतीशं तं विज्ञं नमत सुखदं संसृतिभिदम्।।4।।

निराकारं नित्यं निजमहिमनिर्वासिततमं

न यस्मिन्केषांचित्प्रसरति मनोवागपि कदा।

विशुद्धं तत्स्फोटं प्रकटयति शिष्याय सकलं

सतीशं सर्वज्ञं भजत सुखदं संसृतिभिदम्।।5।।

ज्वरज्वालाज्वालज्वलितवपुषां यः प्रतिदिनं

जनानामज्ञानं झटिति भवजालं जरयति।

स्वकीयानां लीलाचरितवचनानां व्यतिकरात्

सतीशं सर्वेशं व्रजत सुखदं संसृतिभिदम्।।6।।

नृणामीक्षामात्रादपि परिहरन्तं भवभयं

द्रुतं निष्कर्तारं दुरितमपि दुर्वासनहृदाम्।

सदा वै कतारं सकलसुखसंज्ञानसरणेः

सतीशं सम्पन्नं स्मरत सुखदं संसृतिभिदम्।।7।।

स्वमित्रे स्नेहार्द्रं परमगतिदं स्वस्थमतिदं

सुधासिन्धुं तृष्णाकुलितहृदये सर्वसुखदम्।

महाधीरं वीरमनवरतमाशान्तहृदयं

सतीशं सत्कार्यं चरत सुखदं संसृतिभिदम्।।8।।

सदा वै कर्तारं सकलसुखसंज्ञानसरणेः

सदा वै जेतारं सकलपरसंस्थानमतुलम्।

मुदा वै श्रोतारं विविधगुणसंपन्नचरितान्

सतीशं भावेशं भजत भुवि भावार्थगुणितम्।।9।।

श्रावं श्रावमनेकदुःखहरणं शुद्धं चरित्रं तव

पायं पायमनेकज्ञानसरितां यस्याः सदा त्वं प्रभुः।

नायं नायमनन्तकोटिसुखदं शुद्धं तवाङ्घ्रिद्वयं

स्मारं स्मारमनेकवारमपि तं सिद्धो भवेयं कदा।।10।।

आस्ये तवास्तु सततं श्रुतिवाग्विलासो

वागीश्वरी तव तनोतु यशः पृथिव्याम्।

गेहे सदास्तु तव निश्चलसिन्धुपुत्री

पूषा पुनातु पदवीं तव कर्मसाक्षी।।

गौतमपटेलः

राष्ट्रपतिसम्मानितः,

अहमदाबाद।

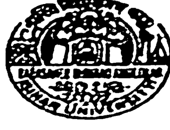


****

।। ओ३म् ।।
विद्ययाऽमृतमश्नुते

डॉ. ब्रह्मचारी व्यासनन्दन शास्त्री
प्राध्यापक, संस्कृत विभाग,
रामेश्वर महाविद्यालय,
मुजफ्फरपुर-842001
☎ 0621-212224 (कॉलेज)
0621-212900 (निवास)

Dr. Brahmachari Vyas Nandan Shastri
Lecturer, Deptt. of Sanskrit
Rameshwar College
Muzaffarpur-842001
☎ 0621-212224 (C)
0621-212900 (R)



पत्राङ्क............................ दिनाङ्क..................................

अत्र भवतां श्रीमतां प्रख्यातविदुषां बहुविधरूदावलिवलयितमहिम्नां बहुविश्रुत-सुप्रतिष्ठसंस्थाभिर्नानाभिर्नैकाधिगतप्रशस्ति-पत्रादिभिर्विस्तारितयशोराशि-धवलितपुष्पवतां बाबासाहेब-भीमराव-अम्बेडकर-बिहारविश्वविद्यालय-मुजफ्फरपुरस्य विश्वविद्यालयसंस्कृतविभागाध्यक्षवर्याणाम् अखिल-भारतीय-प्राच्यविद्यासम्मेलनस्य वर्तमानाध्यक्षमहोदयानाम्

आचार्य-डॉ.सतीशचन्द्र-झा-

महाभागानां स्वनामधन्यानां मान्यवदान्यानां
सुकृतिसुरभितं विरचितं कतिपयैः शब्दैरेतद्

अभिनन्दन-पत्रम्

'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः' 'पावका नः सरस्वती', सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'-
इत्यादिवैदिकमन्त्राणां प्रबलपक्षधरवैदिकधर्मधुरन्धर-धीर-वीर-गम्भीर-कर्मवीरसुर-भारत्याः
वरेण्यपुत्र-धर्मोचितव्यवहाराणां परिपालक-संस्कृतविद्यायाः प्रचारक-चिन्तन-शीतला-
नन्ददायिन्याः प्रतिभोपासकार्यसंस्कृतेरमर-गायक-सज्जनतायाः प्रतीक-निश्छल-
निष्कपट-बहुमुखीप्रतिभायाः धनि-वाक्पटुताग्रणि-सौम्यगुणि-संस्कृत-साहित्यस्य
शिरोमणिसहृदय-मृदुभाषि-विवेकशील-कार्यकुशल-गीर्वाणवाणी-संस्थायाः
प्रबलसङ्घठक-समुद्घोषक-प्रवाचक-सर्वप्रेरक-सुव्यक्तित्वधारकानुशासनपालक-
सर्वहितचिन्तक-सुकवि-देशप्रेमि-धर्मप्रेमि-यज्ञप्रेमि-संस्कार-प्रेमि-विद्याप्रेमि-
सङ्गीतप्रेमि-विनोदप्रेमि-निरभिमानि-कामेश्वरसिंहदरभङ्गा-संस्कृतविश्वविद्यालयदरभङ्गायाः
बहुविश्रुत-पूर्वप्रतिकुलपतिवर्येषु बाबा-साहेबभीमराव-अम्बेडकर-
बिहारविश्वविद्यालय-मुजफ्फरपुरस्य पूर्वकलासङ्कायाध्यक्षेषु चतुश्चत्वारिंशत्तमस्य
अखिलभारतीय-प्राच्यविद्यासम्मेलनस्य सम्मानितेषु अध्यक्षमहोदयेषु
विश्वविद्यालयसंस्कृतविभागाध्यक्षेषु श्रीमत्सुप्रख्यातविद्वद्वर्येषु स्वनामधन्येषु आचार्यवर्येषु
प्रो.डॉ.सतीशचन्द्रझामहाभागेषु
श्रद्धास्पदेषु चरणारविन्देषु जीवेम शरदः शतमिति
मङ्गलकामनार्थम् अभिनन्दनार्थं मया सादरं सस्नेहं सश्रद्धं
समर्पितमिदम् अभिनन्दनपत्रम्।

****

सतीशचन्द्रो जयतु

सद्भावभावितसमस्तसुधीसमाजः

तीक्ष्णामनल्पमतिमातनुते विमर्शे।

शब्दानुशासननयेऽनुपमप्रभावः

चन्द्रो यथा सुरगवीगगने विभाति।।

द्रोहं विना परहिते रमते सदैव

जन्मावनिं च मिथिलां यशसा धिनोति।

यत्नार्जितां विविधशास्त्रगतां प्रतिष्ठां

तुष्टिप्रदां बुध! तनोतु भवान् समन्तात्।।

डॉ. महेशझा
पूर्व अध्यक्षः, संस्कृतविभागः
टी. एम. भागलपुरविश्वविद्यालयः
भागलपुरम्।

आचार्य सतीशचन्द्राभिनन्दनम्

सन्नद्धः सुरवाक्सुसेवनविधौ, प्राणव्ययेनापि यः,
साहित्याब्धि-हिमांशुधारणपटुर्माहेश्वरोल्लासकः।
विद्याबुद्धिसतीपतिः सुविदितश्श्रेशो विदामग्रणीः
शस्तो विज्ञ-सतीशचन्द्र-विबुधः, सोऽयं विदां तोषकः॥1॥

चञ्चच्चन्द्रमरीचि-भासुरयशश्चित्तप्रसादाञ्चितो
विद्वन्मण्डल-मण्डनेऽतिकृतिमान्, मिथ्यामोपेक्षकः।
संसिद्धः सुविचार-सारसरणौ, सत्यप्रतिज्ञः सदा,
साध्येशः सततं समाहितमतिः श्रद्धावतामग्रतः॥2॥

विद्वत्प्रौढमतिः, सुसंस्कृतगतिः, शिक्षाजगत्सन्मतिः,
भास्वद्-वाक्प्रगतिः, सुधीततिनतिः, शिष्यप्रकर्षोन्नतिः।
काव्यालापरतिः, सदाशयपतिः सन्नेतृतादिक्पतिः,
विद्याबन्धु-सतीशचन्द्रसुमतिः, सोऽयं जयत्यग्रणीः॥3॥

जातोऽयं ननु मैथिले बुधकुले सद्धर्मकर्मान्वये,
ग्रामे चानपुराभिधे हि मिथिलाभूमण्डलांशे वरे।
विद्वत्तातपदाब्जसन्मुख-विनिर्गच्छत्सुधाशब्दतो
विद्याबीज-लसन्मतिःशुभकृतिः श्रीमान् सतीशाभिधः॥4॥

छात्रोऽयं निजकापिकार्पणतया छात्रेषु पूज्योऽभवद्
व्याख्याता, निजपाठनेन परितः ख्यातिं परां प्राप्तवान्।
ज्ञातोऽभूद् वरमालयोपकुलपो यद् विश्वविद्यालये
आचार्यः स महत्त्वमेति हि विभागाध्यक्षरूपे स्थितः॥5॥

साक्षाच्छाशनदक्ष-सक्षमबुधः स्वच्छप्रतिष्ठच्छविः
सर्वत्रामलकीर्तिसश्रितवशाल्लोकेषु सर्वप्रियः।
सद्विद्यागम-वैभवैश्च वपुषा वाचा विनीत्या महा-
मान्यः श्री... [illegible]तीशचन्द्र-विबुधः सोऽयं 'व'-पञ्चान्वितः॥6॥

मञ्चस्थः सुरसैनिकः खलदले गर्जन् भृशं भीषयन्
रुद्रः क्वापि सुदुर्जने सुरगवीविद्वेषके शूलभृत्।
बुद्धया संघटनाबलेन सुमुखं यः सर्वकारं व्यधाद्
देशे वाथ विदेशके सुरगिरः सद्गौरवस्थापकः॥7॥

सन्नीत्या विबुधाग्रणी र्जनमतः, सर्वत्र सत्त्वोज्ज्वलः
छात्रप्रीतिविवर्धनेऽपि निरतो विद्यावतां सेवकः।
नव्य-प्राच्यविभक्त-संस्कृतजुषामेकत्र संस्थापकः,
सद्यो हृद्य-नवीनरीतिक-सुधा-धाराधरो राजते॥8॥

संस्कृत-जगत्सुनेता, सममनुनेता विदां समितौ।
यस्तं सतीशचन्द्रं, सुकृतिषु चन्द्रं सभाजयामि॥9॥

डॉ. शशिनाथ झा
प्राचार्योऽध्यक्षः, व्याकरणविभागः
का.सिं.द. संस्कृत विश्वविद्यालयः,
दरभङ्गा

तस्मै श्रीगुरवे नमः

धन्याः पूज्यसतीशचन्द्रगुरवो विद्यावतां नायकाः
धर्मस्येह महत्तमस्य जगतः सञ्जायते निर्णयः
सा भूमिर्मिथिलेति नाम भुवने मोक्षप्रदा धर्मगा।
ग्रामे चानपुरेति नाम विदिते सद् विप्रसंसेविते
कृष्णाचार्यसुगेहिनी त्वजनयद् नाम्ना सतीशं शिशुम्।।1।।

न्याये व्याकरणे पितातिविमलः श्रीकृष्णचन्द्रः सुधी
माता बालविनोदिनी सुमतिदा या त्वन्नपूर्णाम्बिका।
शास्त्रज्ञानविभूषणैः प्रमुदिता योग्याः पितृव्याः प्रियाः
एतेषां विशदाञ्चले हि बबुआ चन्द्रायमाणोऽभवत्।।2।।

पूज्या यस्य महोदयस्य सदने वाणी भवानी रमा
रूद्रो विष्णु-गणेश-सूर्यसहिता वन्द्या कुलाधीश्वरी।
देवानामनुकम्पया परमया बुद्धिः सुतीक्ष्णाऽभवत्
मन्ये तस्य हृदि प्रविश्य सहजा वाग्देवता राजते।।3।।

ज्यायांसो विदुषां सताञ्च महतां तेजस्विनां धीमताम्
आदित्यो नभसस्तले विचरतां सर्वग्रहाणां यथा।
शार्दूलो विपिने यथा विहरतां राजा स्वतो जन्मतः
एवम्मे प्रतिभाति ते स्वगुरवो विद्यार्थिनां केन्द्रगाः।।4।।

सत्ये संस्कृतिनिष्ठकर्मनिचये निष्ठा परा व्यापिका

सर्वस्य प्रतिपादनाय सततं येषां क्रिया-साधना।

सर्वत्रैव सुदृश्यते तु विविधा विद्वन्मनस्तोषिणी

अन्ये के समतुल्ययोग्यसुधियो नामानि तेषां वद॥5॥

तीर्थस्थानमहो यदीयशरणं ज्ञानप्रदं तथ्यदं

जिज्ञासूनथ शिष्यवृन्दमखिलं संकर्षति प्रेरकम्।

गन्धाढ्यं कुसु[illegible] प्रचलिलं वृन्दं त्वलीनां यथा

मोक्षार्थी गुरुपादमेव शरणं तत्सद्गुरोः केवलम्॥6॥

शस्ता वाक्पटुता सुधारसयुता तथ्यान्विता तत्त्वतः

न्यस्ता कान्तपदावली सुललिता ध्वन्यात्मिका यत्र वै।

श्रुत्वा कोऽपि जनो जडोऽथ विमतिः मुग्धायते तां त्वरम्

आनन्दं परमन्तु यान्ति रसिका बाला युवानस्त्रियः॥7॥

चन्द्रो भाति यथा निरभ्रगगने तारागणे सत्यपि

शैलेन्द्रो हिमवानहो शिखरिणां गुच्छेऽतिसंख्ये प्रियः।

सम्पूज्यः प्रथमं गजेन्द्रवदनो देवाधिदेवेऽपि सः

एवम्मे गुरुदेव-पादकमलं पूज्यं तथादौ सदा॥18॥

द्रष्टव्या सहजा विनम्रसरला गीर्वाणवाणीरतिः

छात्राणामुपकारिणी च विविधा शस्या क्रियाशीलता।

शास्त्राणामवगाहने हि सततं सूक्ष्मा घनिष्ठा रुचिः

दीनानामपि दुःखविघ्नहरणे सद्यः प्रवृत्तिर्गुरोः॥9॥

****

गुप्ताः सन्ति सहस्रशो गुणचया दिव्यास्तथा दुर्लभाः
जीवानामथवा समस्तजगतां लाभाय सम्प्रेरकाः।
लोकाः स्युः सुखिनोऽथ संस्कृतपरा भावास्पदा राष्ट्रियाः
ये केचिद् गुरुसंश्रिताः समभवन् जानन्ति ते वस्तुतः।।10।।

रक्षार्थं भुवि संस्कृतस्य सततं देशात्मनः ज्योतिषः
संघर्षं पदयात्रया च विविधैर्मञ्चैः समुद्घोषणैः।
नित्यं संस्कृतमाध्यमेन लिखितुं प्रश्नोत्तरं पुस्तके
कुर्वन्तः सुनिदेशनं च रुचिरं तेभ्यो नमः सादरम्।।11।।

वःसर्वं ननु कार्यजातमनिशं भूयात्तथा मङ्गलं
देशस्य प्रगतेर्हितस्य महतः योग्यं परं सर्वथा।
आचारे व्यवहारमात्रकरणे सम्भाषणे संस्कृतं
शिष्येभ्यस्तु शुभाशिषं प्रददते प्रज्ञाप्रभामण्डिताः।।12।।

विद्या संस्कृतमातुरेव कृपया येषां मनोमन्दिरे
दिव्या कल्पलतेव सर्वफलदा भव्या कलाभिः सह।
काव्ये शब्दनिरुक्तिबद्धविषये सन्दर्भसम्मिश्रिते
अन्यत्रापि चकास्ति फुल्लवदना सान्तर्जगद्व्यापिनी।।13।।

द्यावा तुल्यमनन्तमेव चरितं चेतो विशालं परं
दाक्षिण्यं बहुकौशलं प्रियकरं सन्मित्रसंरक्षकम्।
सर्वत्र भ्रमणेन ये गुरुजना व्याप्ता भवन्तस्सदा
आकाशे हि सतीशचन्द्रचरणाः सूर्याननाः भान्ति ते।।14।।

वन्द्याद्यातनया रमा शुभगुणा पत्नी सती मोहिनी

सम्पृक्ता गुरुणा समं प्रमुदिता रूद्रान्विता पार्वती।

यस्याः सङ्गमवाप्य शैवपदवीं प्राप्नोति सर्वोन्नतां

आशीर्वादविधायिनी भगवती शिष्याय मे सर्वथा।।15।।

तां ज्येष्ठां तनयां विहाय रजनीं रेखां तथा रागिणीं

रूपां ताञ्च कनीयसीं बहुकलां मातुः पितुर्मोदिनीम्।

जामातृन् सुतसन्ततीः प्रियसुतौ राजेशरत्नेशकौ

मन्यन्ते गुरवः स्वजीवनमहो शून्यं तथा नीरसम्।।16।।

नानाशास्त्रविशारदा बहुगुणा विद्यायशो भूषिताः

आचार्या जयमन्तमिश्रसदृशाः पूज्या नमस्याः सदा।

शर्माणः कमलोद्भवाश्च सुधियोः झावैद्यनाथादयः

सन्त्यन्ये गुरूपाठका हितकरा येषां शुभाकांक्षिणः।।17।।

डॉ. वैद्यनाथ मिश्रः
जयप्रकाशविश्वविद्यालयः
छपरा



श्रीमतः सतीशचन्द्रझा-महोदयस्याभिनन्दनम्

सतीशचन्द्रो बुधवृन्दवन्द्यो ह्यवातरद् यो मिथिला-धरायाम्।
तस्य प्रकाशात् सुरभारतीयं समस्तभूमौ विकसत्यजस्त्रम्॥1॥

विद्वद्वरेण्यस्य वदान्यमूर्तेः प्रशान्तचित्तस्य च शास्त्रदृष्टेः।
जिह्वाग्रभागे सुतले सुरम्ये सरस्वती नृत्यति मोदमाना॥2॥

वैदुष्यलक्ष्मीः हृदये गभीरे तत्त्वामृते क्रीडति दीप्यमाना।
ब्रह्माण्डरन्ध्रे प्रतिभा-भवानी शास्त्राणि निर्माति च सावधाना॥3॥

उद्यद् विवस्वान् प्रतिमः प्रभाभिर्छात्रेषु व्याप्तानि तमांसि निघ्नन्।
सद्वृत्तमार्गे पथिकांश्च कुर्वन् विराजतेऽसौ सदयो महर्षिः॥4॥

लोकोत्तरानन्द-विधायिका या साहित्यविद्या पुरुषं सतीशम्।
सम्प्राप्य वैदग्ध्यगुणानुरूपं पतिं प्रहृष्यत्यभिकाभिरामा॥5॥

अभिनन्दको विद्यानाथमिश्रः
वाराणसीस्थः

विद्याचुञ्चुः कृष्णचन्द्रः

डॉ. अमरनाथ ठाकुरः

वेदकालतः विद्यागाररूपेण विश्व-विश्रुता, पदे पदे कृतैः यज्ञैः परिपूता, गंगा-गंडकी-कोशी-कमला प्रभृतिभिः सदानीराभिः आर्द्रीकृता, उत्तरस्थेन नगाधिराजेन हिमालयेन मुकुटीकृता, पदे पदे प्रशस्तैः सरोवरैः सदा शीतलीकृता, प्रहर्षितैः पर्यावरणैः काननीकृता, शाखिशाखोपविष्टाभिः ब्रह्मतत्त्वमुद्‌गिरद्भिः पक्षिभिः कोलाहलीकृता, वेदविद्याव्रतस्नातैः महर्षिभिः तीर्थीकृता, षडंगस्य वेदस्य विततस्यागमतन्त्रस्य च तत्त्वज्ञानाय अहर्निशं यतमानैः आचार्यैः वसतीकृता, विद्याव्यवसायरतैः शिष्योपशिष्यैः परिमण्डिता, अलौकिकप्रतिभालंकृतैः विविधविषयाणां कृतश्रमैः पण्डितैः परिमण्डिता मिथिला।

गुणगर्वितायाः अस्याः मिथिलायाः मस्तकभूतं मण्डलं मधुबनी। अस्य पश्चिमे भागे वर्तते चानपूरानामा ग्रामः एकः, देशे विश्रुतः। कवि-कुल-गुरोः कालिदासस्य जिह्वाग्रे नर्तनं कुर्वन्त्याः उच्चैठस्थायाः भगवत्याः उपान्ते स्थितोऽयं ग्रामः कतिपयानां प्राप्तसिद्धीनां विद्यावतामुद्-भूमिः। अयमेव ग्रामः कालिदासस्य जन्मभूमिरपि कथ्यते। अत्रैव कतिपया योगतन्त्रनिष्णाताः साधकाः जन्म अलभन्त। तेषु इदानीन्तनः जवाहरलाल-इन्दिरागाँधी-जयप्रकाश प्रभृतीनां राज-पुरुषाणां योग-गुरूः, दिल्लीस्थः विश्वायतन-योगाश्रमस्य संस्थापकः, देशे विदेशे च अष्टांगस्य योगस्य प्रचारकर्त्ता, धीरेन्द्र ब्रह्मचारी नाम्ना प्रसिद्धः स्वर्गीयः धीरचन्द्रचौधरी सञ्जातः। अस्यैव गुण-गर्वितस्य ग्रामस्य आंग्ल-भाषा-विशारदः ठक्कुरोपाह्वः अमरनाथमहोदयः पुत्रः आसीत्। तथैव संस्कृताकाशं स्वप्रतिभया धवलीकुर्वन्तः, द्वादशभिर्वर्षैः व्याकरणं श्रूयते इति चरितार्थीकुर्वन्तः, वैयाकरणरूपाः, कनिष्ठिकाधिष्ठिताः पण्डितवर्याः, कृष्णचन्द्रझा महोदयाः अस्मिन्नेव ग्रामे जन्म अलभन्त।

चानपूरायाः चन्द्रभूतोऽयं कृष्णचन्द्रः सिवान-नगरस्य बैजनाथपाण्डेय-आर्य-संस्कृत महाविद्यालये व्याकरणस्य प्राध्यापकः विभागाध्यक्षश्चासीत्। स्वकीयस्य वैदुष्यस्य कृते प्रसिद्धस्य कविशेखरबदरीनाथझामहोदयस्य शिष्योऽयं व्याख्याने प्राप्तप्रतिष्ठः आसीत्। अत्रभवतां ज्ञान-

गाम्भीर्यस्य, अध्यापनकौशलस्य विषयप्रस्तुतीकरणस्य प्रशंसा सदा सिवाने चर्चायाः विषयः भवति स्म। मिथिलावाराणस्योः मध्ये स्थिते सिवान-मण्डले विदुषां प्रशंसनीया परम्परा परिदृश्यते। परम्परायाः अस्याः निर्माणे अत्रभवतां यावज्जीवं योगदानमविस्मरणीयं वर्तते। शास्त्राणां मुखभूतस्य व्याकरणस्य अध्ययनाय समागतानां शिष्याणां महती संख्या एव संसूचयति एषां माहात्म्यम्।

वर्णेन गौरः, दीर्घकायः, स्थूलदेहः उन्नतललाटः, त्रिपुण्ड्रैरुद्भासितः, सिन्दूरविन्दुना चमत्कृतः धौतवस्त्रेण मनोज्ञः कुर्त्तया परिमण्डितः अंगवस्त्रेण रुचिरः कज्जलवर्णेन पादत्राणेन आकर्षकः पण्डितप्रवरैः नमस्कृतः शिष्योपशिष्यैः वन्द्यमानः, ताम्बूलैः सुगन्धितमुखः, शिष्यैः परिवृतः व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः गजगामी सरस्वतीपुत्रोऽयं यदा सिवानस्य प्रधाने मार्गे सायं काले परिभ्रमति स्म तदा एका अपूर्वा सारस्वती आभा चकास्ति स्म।

अर्थार्जनमस्य विद्याव्यसनस्य कदापि न लक्ष्यम्। अध्यापनस्य उत्कटलालसया परिभूतोऽयं शाब्दिकः मुजफ्फरपुरस्थं राजकीयं विद्यालयं परित्यज्य आचार्यपर्यन्तं पाठनलोभेन सिवाननगरम् समागतवान्। आकर्षकं वेतनं परित्यज्य स्वल्पवेतनस्वीकरणं प्रकटयति अत्रभवतां विद्यानुरागम्। जायेव पत्य उशती सुवासा इव शब्दं पश्यन् शृण्वन् शल्यचिकित्सां कुर्वन् अहर्निशं शब्द-संस्कारेण परमात्मनः सिद्धिं कुर्वन् जीवनं यापयामास। पृष्टे सति सः अकथयत् अहं तु उपन्यासवत् व्याकरणं पठामि। अपूर्वमानन्दमनुभवामि शान्तिं च प्राप्नोमि। अधीतमध्यापितमर्जितं यशः एव विदुषां जीवनशैली। काव्य-शास्त्र-विनोदेन यदि जीवनयापनं भवति तर्हि का हानिः। क्वचिद् वृत्तिः क्वचिन्मैत्री क्वचिदर्थकरी विद्यासम्पत्तिः कदापि निष्फला न भवति। कः कियत् पाठनपारिश्रमिकं ददाति कदापि न गणितम्। न प्रभूतं द्रव्यं प्राप्य प्रसन्नता संजाता न स्वल्पमर्थं प्राप्य खिन्ना मनःस्थितिरेषां मया दृष्टा। लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेच्छमस्य व्यवहारनीतिः।

अपूर्वा मेघाशक्तिरासीत् अत्र भवताम्। एकदा वार्तालापक्रमेण सः श्लोकार्धमपठत्। श्लोकेऽस्मिन् द्वादशराशिमाधारीकृत्य युवत्याः स्कस्याः वर्णनमासीत्। किञ्चित् अनुस्मृत्य सः अकथयत् न प्राप्यते सम्पूर्णोऽयं श्लोकः। पुनः अकथयत् तव पिता मम वयस्यः भवतः एकः पितृव्यः आसीत् लोहना-संस्कृत-महाविद्यालये पठन् ज्योतिष-शास्त्रम्। सः मम सुहृद् आसीत सः संकलयति स्म साहित्यिकं मनोरमं शृंगारपूर्णम् श्लोकम्। तस्मिन् संग्रहे मध्ये-पुस्तिकायां वर्ततेऽयं श्लोकः। यदा ग्रामेऽहं पितुः समक्षे चर्चामिमां प्रकटितवान सः सजलाभ्यां नेत्राभ्यां सुरक्षितां पुस्तिकां तां मह्यं प्रादात्। सत्यमेव स्वर्गीयस्य पितृव्यस्य

तस्मिन् संग्रहे मध्ये सुललितेन अक्षरविन्यासेन लिखितः सः श्लोकः प्राप्तः। तद्यथा--

सन्तप्ता दशमध्वजैकगतिना संमूर्च्छिता निर्जले तुर्यद्वादशवत् द्वितीयमतिमन् एकादशाभस्तनी।
सा षष्ठी कटिपञ्चमी नववधूः सा सप्तमी वर्जिता प्राप्ता चाष्टम प्रथमहे तूर्णं तृतीयो भव।।

ग्रामतः आनीतां पुस्तिकामिमां विलोक्य द्रवितोऽयं गुरुः **ते हि नो दिवसाः गताः** इति पठन् स्वकीयं बाल्यकालं स्मरन् तदान्तीन्तनं मैत्रीपूर्णं वार्त्तालापं श्रावयन्, तस्य गुण-गणं स्मारयन् मुहुः मुहुः तां पुस्तिकां विलोकयन् श्लोकं पठन् गायन् दिनार्धम् व्यतीतवान्। अत्रभवतां मेधाशक्तिम् प्रशप्रशस्तां स्मारं स्मारम् अद्यापि चकितोऽस्मि।

येषां बुद्धौ सम्पूर्णा सिद्धान्तकौमुदी निविष्टासीत्। न्यास-मदमञ्जरी-तत्त्वबोधिनी-बालमनोरमा-टीका जिह्वाग्रे स्थिता आसीत्। शाकुन्तल-मेघदूत-मृच्छकटिक-वेणीसंहार-प्रभृति काव्यानि वार्तालापे उच्छलन्ति स्म, तेषां मेधाशक्तेः का चर्चा। एषां मते तु कंठाग्रा विद्या एव विद्या भवति न पुस्तकस्था। अत्रभवतामहर्निशं संस्कृतचिन्तनं व्याकरणस्य पठनम् अहोरात्र-मर्थलालित्योद्घाटनं, वार्त्तालापे सूक्तेः सूत्रस्य, सुभाषितस्य वर्षणं स्वरसतः प्रवृत्तमासीत्। किं बहुना, अध्यापनैः शुक्लीकृत सप्तविष्टपां प्रातः स्मरणीयानां श्रीमतां गुणानुरूपमेव संस्कृतज्ञाः संस्कृतसंवर्धनाय सततं समुद्यताः, शोधप्रवीणाः संस्कृताध्यापने मनसा वाचा कर्मणा संलग्नाः स्वनामधन्याः विहारविश्वविद्यालये स्नातकोत्तरविभागाध्यक्षस्य पदमलंकृतवन्तः संस्कृतसम्मेलनप्रियाः पुस्तकानां सिद्धलेखकाः शताधिक-शोध-प्रबन्धानां निर्देशकाः शिष्योपशिष्यैः परिमण्डिता विद्याव्यवसायसंलग्नाः श्रीमन्तः सतीशचन्द्रझामहोदयाः अधिसंख्ये भारतीये विश्वविद्यालये कृतविशिष्टव्याख्यानाः सम्मानिताः सन्ति पुत्ररत्नभूताः, शिष्यप्रवरभूताश्च। अद्य अत्रभवतां मम गुरुवराणाम् अभिनन्दनग्रन्थस्य प्रकाशनावसरे सारस्वतन् इमान् सद्गुरुन् प्रति भूयो भूयः तेभ्यः सम्प्राप्ताशीरहं पौनः पुन्येन।

यस्यां च सत्यामहमेव भामि सर्वात्मना सर्वविकल्पहीनः।
यत्नैरलभ्यामतिदुर्लभां तां श्रीसद्गुरोर्नौमि दयार्द्रदृष्टिम्।।

डॉ.अमरनाथ ठाकुर
अध्यक्षः, संस्कृतविभागः
जयप्रकाशविश्वविद्यालयः, छपरा



मम साहचर्यप्रसङ्गः

डॉ. प्रभा किरण

परमादरणीयेन प्रो. डॉ. सतीशचन्द्र झा महाभागेन सह मम परिचयः वर्त्तते प्रारम्भिक-छात्र-जीवनादेव। मम पितृमहाभागः यः विहारन्यायिकसेवायां पदाधिकारिरूपेण सीवान जिलायां पदस्थापितः आसीत् तदा अहं प्रवेशिका-परीक्षोत्तीर्णानन्तरं सीवानस्य डी.ए.वी. महाविद्यालये प्राक् विश्वविद्यालयकक्षायां नामाङ्कनम् अकारयम्। डॉ. झा. महाभागस्य पित्रा सह मम पितुः आसीदतीव सामीप्यम्। प्री. युनिवर्सिटी कक्षायाम् अध्ययनकृने एव मम विवाहः सीवाने एव अभवत्। मम पतिः अभियन्ता एवं श्वसुरः एकः अवकाशप्राप्त-शिक्षा पदाधिकारी संस्कृतस्यच सुयोग्य-विद्वान् आसीत् सौभाग्यवशात् डॉ. सतीशचन्द्र झा महाभागस्य पित्रा सह मम श्वसुरस्यापि अन्तरङ्गः सम्बन्धः आसीत्। मम पत्युः कनिष्ठभ्राता डॉ. झा महाभागस्य समकालीनः छात्रः क्रीडायां प्रतिभागी आसीत्।

स्नातकप्रतिष्ठायाम् अर्थशास्त्रविषये अध्ययनस्य ममामिलाष आसीत् किन्तु मम श्वसुरस्य इच्छा आसीत् यद् गृहिणीपदमवाप्तुं तथा सुखपूर्ण पारिवारिक-जीवनाय, कला–लालित्याय च संस्कृतस्य उच्चतरमध्ययनं परमावश्यकम्। डॉ. झा महाभागस्य पिता मम च प्रारंम्भिको गुरुः स्व. प. कृष्णचन्द्रझामहाभागः एव मम विवाहसंस्कारमपि सम्पादितवान्। यतः सः आसीत् संस्कृतस्य लब्ध-प्रतिष्ठः विद्वान्। संस्कृतस्य ज्ञाने वाक्यरचने च सः एव आसीत् मम प्रारंम्भिकः गुरुः। तस्यैव पर्यवेक्षणे अहं संस्कृताध्ययनं प्रारब्धवती। यदि कदाचित् ममः अन्यत्र कस्मिंश्चिदपि कर्मणि कष्टः अभूत् तदा डॉ. सतीशचन्द्रझामहाभागः यः छात्रजीवने एव एकः प्रतिभावान् छात्रः आसीत् मां संस्कृतम् अपाठयत्।

तथा च संस्कृतस्य प्रारंम्भिकं ज्ञानं मया अनेनैव महाभागेन कारितम्। अतः डॉ. झा-महाभागेन सह मम परिचयः न तु सेवाक्रमे सहयोगि-रूपेण अपितु छात्र जीवने प्रेरकरूपेण, शिक्षकरूपेण, मित्ररूपेण एवं संस्कृतभाषायां ज्ञानप्रदातृरूपेण अभवत्। गतेभ्यः द्वात्रिंशद्

वर्षेभ्य बी.आर. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुरस्य स्नातकोत्तर संस्कृत विभागे सहैव कार्यसम्पादनस्य सौभाग्यं प्राप्तम्। अस्मिन् कालक्रमे डॉ. झा महोदयस्य मां प्रति सदा अग्रज-सदृशः व्यवहारः अतिष्ठत् एवं अस्मिन् क्रमे कदापि तीव्रमतान्तरस्य प्रश्नः एव न समायातः। अस्य महाभागस्य कर्त्तव्यनिष्ठः स्नेहसिक्तव्यवहारस्य आभासः सदा अभवत्।

स्वसहयोगिभिः सह सामूहिककार्यभावनया कथं कार्यं कर्त्तव्यम् इव्यस्य शिक्षा डॉ.महाभागादेव प्राणमुं शक्यते। अनेन महाभागेन विरचितानि विभिन्नपुस्तकानि विभिन्नसम्मेलनेषु प्रदत्तानि गम्भीरसम्भाषणानि। अनुसंधानम् अनुसंधानपर्यवेक्षकत्वं प्रति अतीव अभिरुचिः एकः श्लाघनीयः अनुकरणीयश्च विषयः अस्ति। सम्मेलने बहुवारं कार्यकारिण्याः सदस्यो भूत्वा स्वकीयं पाण्डित्यबले अयं महाभागः प्राच्यविद्यासम्मेलनस्य अध्यक्षत्वेन निर्वाचितो जातः। दरभंगायां संस्कृत विश्वविद्यालस्य प्रतिकुलपतिरूपेण स्वल्पकाले एव अनेन प्रशासनोपरि आत्मनः प्रभावः दर्शितः।

संस्कृतसाहित्यस्य अनेन मूर्धन्यविदुषा सह कार्यसम्पादनस्य सौभाग्यं मया प्राप्तम् तदिदं सर्वथा गौरवास्पदमस्ति। संस्कृतविभागस्य अनेके अध्यक्षाः सेवाकाले मया दृष्टाः परन्तु श्रीमतः झामहाभागस्य अध्यक्षत्वे संस्कृतविभागः अतीव गतिशीलो जातः। विभागे सम्मेलनं विदुषां परस्परं सम्मेलनं तथा विभिन्नानि आयोजनानि सदा प्रचलन्ति एव येन विभागः सजीवतां प्राप्नोति।

आशासे यत् सर्वकारः संस्कृतसाहित्यस्य इमं प्रकाण्डं स्थापितञ्च महान्तं विद्वांसं गरिमानुरूपालंकारेण विभूषितं कृत्वां संस्कृतसाहित्यं प्रति अवश्यमेव स्वकीयधर्मं निर्वक्ष्यति इति।



वन्दनीयाः प्रो. सतीशचन्द्रझा-महोदयाः

डॉ. वीणा मिश्रा

अस्ति भूभारापहारकधर्मोत्त्थापकाधर्मनाशकस्य विदुषां साधूनां सदाचारसद्धर्मगोप्तुर्भगवतः परब्रह्मणोऽवतारपूतोऽखिलावनिललामो भारतदेशः। तत्र क्रतुक्रियाकाण्डप्रवीणानेकशास्त्रज्ञान-पारङ्गत्-विपश्चिदग्रणी मैथिलद्विजजन्मपूतोऽपि च विबुधानन्दालयरसान्तः प्रौढज्ञानस्रोतः प्रगभमति-जनपूर्णो बिहारप्रदेशान्तर्गततानीन्तन-दरभङ्गा सम्प्रति मधुबनी मण्डलगतः 'चानपूरा' नामको ग्रामः। तस्मिन्नतिशिष्ट-विशिष्ट-पवित्रपर्यावरणे सद्धर्मोपासकबिबुधवृन्दवृन्दारकवन्द्यपादाब्जस्य व्याकरण-न्याय-दर्शन-साहित्यप्रभृति-शास्त्रज्ञाननिष्णातस्य पण्डिताग्रणीश्रीसतीशचन्द्रझा-महोदयस्य जनिरभूत्।

को न जानाति संस्कृतवाङ्मये व्याकरणादिक्षेत्रेषु कृतभूरिपरिश्रमान् पण्डितप्रवरान् विद्यावाचस्पति-सतीशचन्द्रझामहोदयान्।

'यावज्जीवनमधीते विप्रः' इति ऋषिवचोभिरनुभवानां सततपुनर्गठनमेव शिक्षा इति प्रोच्यते। मानवाः प्रतिदिनं प्रतिक्षणं परिवर्तनशीलसमाजे स्पर्धितवातावरणे च विजयाय स्वानुभवान् परिमार्जयन्ति। तत्र विदुषां 'सान्निध्यं, प्रेरणा-जीवन दर्शनञ्च प्रचोदयत्येव नः सन्मार्गे।

विविधविद्यानिष्णातानाम् अधीति-बोधाचरण-प्रसारणैरित्युक्तरीत्या स्वकीयवैदुष्येण समाकृष्ट-छात्रसम्पत्समृद्धिसम्पन्नानां शान्तिक्षान्त्याद्यात्मगुणपरिपूर्णानां संस्कृतविभागाध्यक्ष-महोदयानां डॉ.सतीशचन्द्रझा-महाशयानां कश्चन अभिनन्दनग्रन्थः प्रकाश्यत इति श्रुत्वा अमन्दानन्दमनुभवामि।

अस्य महानुभावस्य उपकारप्रवृत्तिरपि फलोन्मुखी स्वकर्त्तव्यधारणया कार्यसम्पादिनी गतिरस्ति। यः कोऽपि यमभिलाषमादायैनमभ्येति तस्येहापूर्तिरपि इमे समय-दानेनार्थसाहाय्येन च प्रकुर्वन्ति। विदुषां समादरे त्वतीवोदारहृदयाः दृश्यन्ते। इमे न खलु बहिरेव मनोहरा अपितु अन्तरङ्गोप्यतीव सरलस्वच्छकैतवोज्झितचेतास्सन्ति। अत्रास्ति वैशिष्ट्यकारणम्-

यस्य पत्नी भवेत्साध्वी पातिव्रत्यपरायणा।
स विजयी स सुखी लोके सर्वत्र विजयं लभेत॥

इत्युक्तिं चरितार्थयित्री सर्वदा सर्वकार्यानुमोक्षी, अनुगामिनी च परमधर्मपरायणार्धाङ्गिनी मनोमोहिनी वर्तते। यया सर्वदा स्वस्येश्वरोपासनया बहुदानेनाथ परिपालनेन चार्जितपुण्येन शक्तिः प्रदीयते। अतएवैतेषां साक्षात्कारोऽपि जनानां बहुप्रदोऽस्ति। तद्यथा–

''जरीहर्ति जाड्यं जनानामजस्त्रं दरीधर्ति धर्मं बिना कायकष्टम्।

परीपर्ति सर्वं मनोवाञ्छितं यच्चरीकर्ति किं श्रीमतां दर्शनेन॥''

संस्कृतस्य समुपासकः श्री झामहोदयः साम्प्रतिकानां संस्कृतविदुषां प्रातिनिध्यं बिभर्ति। झामहोदयस्य सान्निध्यमवाप्य संस्कृतस्याल्पमेधसोऽपि विद्वांसः विद्यार्थिनश्च संस्कृताध्यवसाये सदैव समुत्साहिता अभूवन्। यदा प्रभृति झामहोदयः बिहारविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागाध्यक्ष-पदमवाप्तवान्, तदाप्रभृति तत्र संस्कृतविभागे विद्यार्थिनां संख्या संवर्धिता न केवलं नूतनानां संस्कृतानुरागिणामपितुपुरातनानामपि संस्कृतविदुषां प्रोत्साहने पटुतरो झावर्यः नैकेषां वरिष्ठानां संस्कृतपण्डितानां शोधनिर्देशकः समभवत्। बिहारविश्वविद्यालयस्य स्वशैक्षणिककार्यकाले शताधिक-'संख्यकानां' संस्कृतशोधप्रबन्धानां निर्देशनं सफलतया व्यधायीति तस्यासाधारणी कर्मण्यता विद्याव्यसनिता वा स्वयमनुमातुं शक्या।

संस्कृतभाषया प्रवर्तमानः खल्वेष विद्वान् आङ्गलभाषायामपि पारङ्गतो वर्तते। स्वकीयेन व्यवहारेण यथा विद्वद्धुरीणानां मनांसि मोदयते तथैव ग्राम्यजनानामपि प्रीतिमुद्भावयति। भाषणे लेखने चोभयत्र स्वाभाविकीं सरलां सरसां च धारामाश्रयते। सांस्कृतिककार्यक्रमेषु श्रीमतामाकर्षणं सविशेषं स्मरामि। 'कात्यायनवार्तिकानां भाषाशास्त्रीयमध्ययनम्' लिखन्नपि कविताकर्मणि कमनीयां रूचिं निबध्नाति। निजकार्यपरायणः सन्नपि सदैव प्रसन्नमुद्रया समेषामपि स्वपरिचितानां कुशलक्षेमादि पृच्छा परायणोऽस्ति। विपरीतास्वपि परिस्थितिषु सर्वथा सोत्साहो भवति। विरोधकर्तारमपि व्यवहारकौशलेन विजेतुमर्हति। वस्तुतः 'व्यावहारिके सामञ्जस्ये विश्वसिति। परिहासपेशलता तु तस्य विशिष्टो गुणः गभीरातिगभीरोऽपि विषयः श्रीमतः परिहासभाषितेन सरलतामुपयाति। बहुपीडितोऽपि जनो झामहोदयं सम्मिल्य प्रसन्नतामनुभवति।

एतादृश्याः प्रवृत्त्याः प्रतिफलस्वरूप एवायं "डॉ. रामजी-मेहता-आदर्श-संस्कृत महाविद्यालय-परिवारः।" एतेषां महानुभावानाम् अस्य महाविद्यालयस्य प्रबन्ध समितेः अध्यक्षपदे सुशोभिते सति एव मामकीनं दौर्भाग्यं दैन्यं नैराश्यं च सर्वम् अस्तङ्गतम्। इतः पूर्वं महाविद्यालयस्य सर्वे सदस्याः केवलं कर्त्तव्यपालनं एव कुर्वन्त आसन् परं तेषां समक्षं स्वोदरपूर्तेरपि उपायाः नासन्।

कथं ते परिवारस्य स्वजनस्य च दायित्वनिर्वहणे सक्षमाः अभविष्यन्।

एतेषां महोदयानां शुभागमनेन अस्माकं कृते भवाब्धितरणे तरणीत्वं धृतम्। अद्य समस्तमहाविद्यालयपरिवारः सानन्दः सोल्लासः भूत्वा हृदयेन एतेषां महानुभावानां कृतज्ञतां प्रकटयन् हर्षितो भवति। इत्थं सकलेऽपि भारते लब्धयशसां भवतां कीर्तिः चिरस्थायिनी भवतु इत्यस्माकं कामना, पुनश्च भवन्तः उत्तम स्वास्थ्यं लभमानाः 'जीवेम शरदः शतम् इति उक्तिं चरितार्थां सम्पादयन्तु इति अस्मदीया भावना।'

डॉ. वीणा मिश्रा
डॉ.रामजीमेहता आदर्श सं.महाविश्वविद्यालयः
मालीघाट, मुजफ्फरपुरम्



सद्गुरुः डॉ. सतीशचन्द्रझाः

अवधेशकुमारझाः

परमसम्माननीयं डा. सतीशचन्द्रझामहोदयमधिकृत्य अभिनन्दनलेखाः प्रकाश्यन्त इति ज्ञात्वा अतीव प्रसन्नताम् अनुभवामि। डा. झामहोदयस्य सम्पूर्णं जीवनं साहित्यसेवायामेव व्यतीतमभवत्। विविधभाषाणां मर्मज्ञाः विद्वांसः पण्डितप्रवराः डा. सतीशचन्द्रझामहोदयाः नूनमेव अभिनन्दनीयाः वर्तन्ते।

महानुभावस्य भाषा, सर्वजनसहजबोधगम्या भवति डॉ. झा महान्तः सरस्वत्युपासकाः, असीमधैर्यशालिनः वाक्पटवः, तीक्ष्णबुद्धिसम्पन्नाः उत्तमा अध्यापकाः छात्रवत्सलाः, पूर्वजन्मसुकर्म-फलप्राप्तव्याः, पूजापाठनिष्णाताः सदाचारपालने निपुणाश्च सन्ति। एभिः कारणैः शिशुभ्य आरभ्य वृद्धपर्यन्तैः सर्वैरेते आद्रियन्ते पितृवच्च पूज्यन्ते, इमे बन्धव इव साहाय्यं कुर्वन्ति सखाय इव मोदयन्ति। अन्येऽसाधारणगुणाः अपि विद्यन्ते महानुभावे, ममाभिनन्दनीयस्य डॉ. सतीशचन्द्रझामहोदयस्य जन्म बिहारप्रान्तस्य मधुबनी मण्डलान्तर्गत 'बसैठ चनपूरा' इति ग्रामे मैथिलब्राह्मणपरिवारे पण्डित-श्रीकृष्णचन्द्र-झा-महोदयस्य गृहे मई 1947 तमे खृष्टाब्दे अभवत्। महोदयस्य त्रयः भ्रातरः सन्ति। पूज्यः पिता, व्याकरणसाहित्य-न्यायवेदान्तधर्मशास्त्रादि-विषयाणां मर्मज्ञाः विद्वांसः आसन्। ते प्राचीने संस्कृत-विद्यालये आचार्यपदे विराजमानाः आसन्। तस्मिन् गुरुकुले आरम्भिकीकक्षातः आचार्यकक्षापर्यन्तम् अध्यापनं भवति स्म डॉ. सतीशचन्द्रझामहोदस्य परिवारः सम्पूर्णरूपेण सुसंस्कृतः सुसमृद्धश्चास्ति। डॉ. झा महोदयस्य प्रारम्भिकी शिक्षा पितुः विद्यालये एव अभवत्। बाल्यकालादेव अयं, महानुभावः अतीव मेधावी आसीत्। अयं हि साहित्य–स्नात्तकोत्तर विद्यावारिधि, विद्यावाचस्पत्युपाधि च प्राप्तवान्। इमे हि महानुभावाः सुविख्यातानां संस्कृतशिक्षाविदां, राष्ट्रपतिसम्मानितानाम् आचार्य–प्रो.–आद्याचरणझामहोदयानां जामातरः वर्तन्ते।

डॉ. झा बी.आर.ए. बिहार-विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुरस्य संस्कृतविभागे प्राध्यापकप्रवाचक विभागाध्यक्षादिपदेषु विराजामाना भूत्वा संस्कृत मातुः सेवां कुर्वन्तः सन्ति। विश्वविद्यालयस्य

संस्कृतविभागीयानां शताधिकशोधच्छात्राणां शोधप्रबन्धाः महानुभावस्य सफलनिर्देशने पूर्णाः जाताः।

महोदयस्य सम्बन्धे एकं संस्मरणं मम स्मृतिपथे आगच्छति। यदा इमे कामेश्वर-सिंहसंस्कृतविश्वविद्यालयदरभङ्गायां प्रति कुलपतिपदे विराजमानाः आसन्। तदानीम् अहम् उपशास्त्रि कक्षायाः छात्रः आसम्। तस्मिन् समये बिहार राज्ये, मुख्यतः संस्कृतविश्वविद्यालयस्य परीक्षायां कदाचारमुक्त-परीक्षासञ्चालनम् अतीव दुष्करं कार्यम् आसीत्। किन्तु महोदयेस्यं इदम् आह्वानं स्वीकृतवान्। परीक्षायाः सफल सञ्चालनं च कृतवान्। दैवयोगात् मानवसंसाधन विकासमन्त्रालयभारतसर्वकारेण महोदयस्य नियुक्तिः डॉ. रामजीमेहता आदर्श संस्कृत महाविद्यालये प्रबन्धसमितेः अध्यक्षपदे अभवत् तस्मिन् समये महाविद्यालये बहुविधम् काठिन्यम् आसीत्। वयं सर्वे महाविद्यालयीयाः कर्मचारिणः महोदयेन सम्मिल्य स्व काठिन्यस्य सम्बन्धे यदा निवेदयामः स्म तर्हि महानुभावस्य प्रतिक्रिया एवम् आसीत् "सब दुःखक अन्त होइ छइ अह सभक दुःखक अन्त होयत" अर्थात् सर्वेषां दुःखानाम् अन्तो भवति। भवतां दुःखानामप्यन्तो भविष्यति। भगवतः कृपातः महोदयस्य सफल अध्यक्षत्वे एकैकशः सर्वं काठिन्यं दूरीभूतम्, दुर्दिनं सुदिनम् अभवत्।

महोदयस्य धर्मपत्नी श्रीमती मोहिनीझामहोदया विशेषरूपेण अभिनन्दनीया वर्तते। सा महती संस्कृतानुरागिणी, कुशलगृहिणी पतिधर्मपरायणा, शिष्यवत्सला चास्ति। सा उभय-कुलतारिणी सर्वदा वन्दनीया मातृवत् अस्मान् स्निह्यति। यदा महोदयस्य गृहे गच्छामि तदा गुरोः समक्षे परोक्षे वा सर्वप्रकारेण ममोपकारं करोति। अस्मात् कारणात् अहं गरुमातरं प्रति विशेषरूपेण कृतज्ञः अस्मि।

श्रीशङ्करमिश्रश्रीवाचस्पतिमिश्र श्रीमण्डनमिश्र डा. हरिहरझा डॉ. जयमन्तमिश्र प्रभृतीनां महापुरुषाणां जन्मस्थली इयं मिथिलाभूमि भवादृशैः विद्वद्भिः गौरवान्वितास्ति। मैथिलपरम्परायाः संवाहनार्थं सफल सञ्चालनार्थं च अस्यां मिथिलाभूमौ भूयोभूयः डॉ. सतीशचन्द्र झा सदृशाः शास्त्रनिष्ठाः संयमपरायणाः दिग्दिगन्तख्यातिप्राप्त–विद्वांसः अवतीर्णाः भवेयुः, इत्येव कामना।

अवधेशकुमारझा
मालीघाट, मुजफ्फरपुरम्



WHAT I FEEL ABOUT YOU

Drastic change you brought here
Changing the atmosphere
Service vital you have done
Never hurting anyone
Cradle of learning you made
Only in single decade
Justice real you should have
In this dark and dusty world
Harking every sort of man
Never behaving absurd
Anchor leaving in the flow
Reaching on every hollo

Dr. Mitranatha Jha
Mithila Research Institute,
Kabraghat, Darbhanga

या शुभ्रवस्त्रावृता

राजेन्द्र नानावटी, वडोदरा

संस्कृत साहित्य का एक अनमोल रत्न है कवि शूद्रक का प्रकरण मृच्छकटिकम्। उसी के तृतीय अङ्क की यह घटना है। नायक चारुदत्त और उसका मित्र विदूषक निद्राधीन हैं, तब शर्विलक नामक ब्राह्मण चोर के रूप में नायक के भवन में तस्करी करने के लिये प्रविष्ट होता है। शर्विलक स्वयं ब्राह्मण है और एक गणिका में प्रणयासक्त है। इसलिये उस गणिका को दासत्व से मुक्त कराने के लिये उसे धन की आवश्यकता है, एतदर्थ वह तस्करी करने के लिये उद्युक्त हुआ है।

अब, तस्करी आंरभ करने से पूर्व यह ब्राह्मण देवों को, शास्त्रकर्त्ताओं को, गुरुओं को नमस्कार करता है–नमः कनकशक्तये। नमो भास्करनन्दिने। नमो योगाचार्याय। अनन्तर, वह चौर्यकार्य का आरंभ करते समय कई सूक्ष्म विगतों का–चौर्यकार्य के कई पक्षों का विचार करता है–जैसे, भित्ति में छेद करने के लिये भित्ति के प्रकार कितने होते हैं, किस प्रकार से भित्ति में कैसे छेद किया जाना चाहिये, भित्ति के किस हिस्से में छेद आसानी से किया जा सकता है कहाँ वह छेद शीघ्र दृष्टि में न आये, कहाँ छेद न किया जाय, छेद का आकार कैसा हो, उसका नाप कैसे लिया जाय, छेद में से भवन में प्रवेश करने से पूर्व और तुरन्त पश्चात् आत्मरक्षा के लिये क्या सावधानी बरतनी चाहिये–आवश्यकता पड़ने पर वहाँ से बँच निकलने के लिये चौर्य से भी पहले कौन–कौन सी क्रिया सर्वप्रथम कर लेनी चाहिये, भवन के लोग वास्तव में निद्राधीन है या केवल भय के कारण या अवसर की प्रतीक्षा में आँखें मूँदकर लेटे हैं, इसका निश्चय कैसे किया जाय, धन कहाँ गोपित रक्खा होगा यह कैसे जाने, किन चीजों को चुराना, किन को न चुराना, चौर्यकर्म के पश्चात् लौटते समय पुलिस–रक्षाकर्मियों से कैसे बचा जाय, आदर्श तस्कर के क्या–क्या गुणलक्षण होने चाहिये–इत्यादि चौर्यकर्म के अनेक पक्षों का सार्थक विचार और फिर तदनुरूप आचरण

वह कुछ इस प्रकार कैसे करता है कि हमारे मन में इस बात का निश्चय हो जाता है कि हमारे यहाँ चौर्य का भी एक सुव्यवस्थित शास्त्र रहा होगा, शर्विकल ने उस शास्त्र का गाढ़ अध्ययन किया होगा, और इस शास्त्र की भी अन्य सभी शास्त्रों के ही समान किसी एक देवता से उद्भूत सुनिश्चित गुरुशिष्यपरम्परा अवश्य रही होगी।

और यही तो हमारा आश्चर्यपूर्ण प्रश्न है : चौर्य का कभी शास्त्र होता है? और उसकी भी गुरुपरम्परा? प्रकरणकार की सूक्ष्म औचित्यदृष्टि का भी हमें परिचय होता है– मूलतः तो शर्विलक ब्राह्मण ही है। इसलिये वह कभी चौर्यकर्म जैसा निकृष्ट आचरण करने लिये प्रवृत्त हो, तब भी अपने ब्राह्मसंस्कारों के प्रभाव में वह उस कार्य का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लेना, यह तो समझ में आता है पर मूल प्रश्न तो अब भी अनुत्तरिन रहता है– शास्त्र? और तस्करी का?

कुछ अधिक विचार करने पर यह भी समझ में आता है कि शास्त्र तो किसी भी वस्तु का रचा जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता कहती है–सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। कर्ममात्र की परिगति ज्ञान में है। कर्म करते हैं तो अनुभव प्राप्त होता है। उस अनुभव को व्यवस्थित स्वरूप दे दें तो वही शास्त्र बनता है। शास्त्र रचना हुई कि गुरु–शिष्ट परम्परा तो उद्भूत होगी ही। गुरु उस शास्त्र का अध्ययन शिष्य को करावे, शिष्य उसमें अपने अनुभव– अपनी व्यवस्था को जोड़ता जाय, वह अपने शिष्यों को उसका अध्ययन करावे और ऐसे ही परम्परा प्रारंभ हो जाय। इस प्रकार तस्कार विद्या का भी शास्त्र रचा जा सकता है।

पर मन का समाधान अब भी नहीं होता है। खराब वस्तु का भी शास्त्र होता है? चौर्य का शास्त्र कैसे हो सकता है? तस्कर विद्या को शास्त्रज्ञान का गौरव देना?

और यहाँ हमारे पुरखों–पूर्वजों का मूलगामी जीवनदर्शन समझ में आता है। ज्ञान कभी खराब नहीं होता। वस्तु दूषित हो सकती है, ज्ञान का प्रयोग करने वाला दुष्ट हो सकता, ज्ञान स्वयं कभी दूषित नहीं होता–नहीं बनता, वह हमेशा उज्ज्वल होता है–ज्ञान नित्योज्ज्वल है। तस्करी का ज्ञान अपने आप में खराब नहीं है, उस ज्ञान का प्रयोग करने वाले की दृष्टि संकुचित–स्वार्थदूषित हो सकती है। चोर उस ज्ञान को प्राप्त कर चोरी करेगा, रक्षाकर्मी उस ज्ञान का प्रयोग चोर को रोकने या पकड़ने के लिये करेगा। अणुविज्ञान के ज्ञान से अणुबम बनाया जा सकता है, पर उससे अणुविद्या स्वयं खराब सिद्ध नहीं होती, खराब है उस विद्या का प्रयोग करने वाले की वृत्ति, कुण्ठित है उसकी दृष्टि।

इसलिये ज्ञान स्वयं कभी कलंकित नहीं होता, कलंकित होती है उसके प्रयोक्ता की दृष्टि–वृत्ति। सरस्वती के वस्त्र तो हमेशा स्वच्छ–निर्मल ही होते हैं–या शुभ्रवस्त्रावृता।

प्रिय भाई सतीश,

एक सृष्टि पूर्ति के अवसर पर अभिनन्दनग्रन्थ के लिये हार्दिक बधाई। अभी कल ही की तो बात है। तिरानबे के पूना अधिवेशन में मैं पू. गुरुजी के पास अपने दुःखड़े रो रहा था, और तुम गुरुजी के कक्ष में आये और गुरुजी ने कहा कि तुम्हें मुझे भी तुम्हारे बन्धुवर्ग में शामिल करना है और उस दिन और आज की घड़ी। इतनी सहजता से हम मित्र बन गये कि कभी अनुभव नहीं हुआ कि हम कभी साथ पढ़े नहीं थे या हमारे बीच स्थल–काल का इतना अंतर है। व्यवहार की यही सहजता, संबंधो का यही सामीप्य कारण है कि उसके बाद हम जितनी बार मिले, कभी यह नहीं लगा कि मैं तुम्हारा सहपाठी या वयस्क या आशैश्व मित्र नहीं हूँ। कुछ नैकट्यशील मित्रों की मनश्छवि में तुम कब और कैसे शामिल हो गये, पता नहीं चला।

आचार्य की व्याख्या भी तुमसे सीखी। मैं यूनिवर्सिटी की परम्परा में पढ़ा, पाठशाला–प्रकार का परिचय मेरा दूर से रहा। मैंने तुमसे एक बार पूछा था, तुम्हारा क्या हैं? तुम्हारा प्रतिपश्न था अरे यह क्या होता है, आचार्य आचार्य होता है। सही ही है, छात्रों को अनेक और सभी शास्त्रों में मार्गदर्शन करा सके वही तो आचार्य है। आचार्य कुछ शास्त्रों में सीमित थोड़ें ही रहता है–वयं तत्त्वान्वेषान् मधुकर हताः, त्वं खलुकृती।

पर इस अभिनन्दन के तुम अकेले अधिकारी नहीं हो, भाभीजी का भी इस अभिनन्दन पर आधा अधिकार है। सती के बिना तुम सतीश कैसे बन सकते हो?

तुम्हें और भाभीजी को अनेकानेक बधाई।

तुम्हारा

राजेन्द्र नाणावटी



अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के सभापतिः डॉ. सतीश चन्द्र झा

डॉ. कृतार्थ शंकर पाठक

आचार्य बिनोवा भावे ने अध्यापकों की तीन कोटियाँ निर्धारित की है–उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम अध्यापक में है जो अपने शिष्यों को विद्या–दान के साथ–साथ उसके शील–स्वभाव, नैतिक मर्यादाएँ ओर अनुशासन पालन में, वैसे ही सतर्क–सजग एवं जिम्मेदार रहते हैं, जैसे कोई चिकित्सक अपने रोगी को जाँचोपरात उसकी चिकित्सा कर, सही दवा दे, उसके पथ्यापथ्य का निर्देश देकर कभी–कभी उसको देखने, उसके निवास–स्थान जाने की उदारता भी रखते हैं, और दिए गए निर्देशों के पालन में हुई भूलों के लिए, उन्हें डाँटने का अधिकार भी सहज ही पा जाते हैं। मध्यम अध्यापक वे हैं, जो अपने तथाकथित ज्ञान को, अपने तथाकथित शिष्यों के बीच विज्ञापित कर जल में कमल–पत्र–वत् वैसे ही रहते हैं, जैसे कोई स्वनाम–धन्य चिकित्सक अपनी व्यापारिक कुशलता रक्षा करते हुए अपने रोगियों के लिए उपचारात्मक पर्ची लिखकर अपने कर्त्तव्य का इतिश्री समझ लेते हैं। अधम अध्यापक वे हैं, जिन्हें अपने विद्या–दान के कौशल से अधिक ध्यान, अपने शिष्यों के पाकेट पर केन्द्रित रखने में ही अपनी कुशलता दीखती है, विद्या–दान के नाम पर सूचनाओं के माया–जाल में अपने शिष्य को किंकर्त्तव्य–विमूढ़ छोड़ अपने बाजारवाद के हितों की रक्षा–सुरक्षा में वैसे ही दत्त–चित्त रहते है, जैसे कोई चिकित्सक अपने रोगियों को स्वास्थ्य लाभ कराने के बजाय, उसे गंगा–लाभ करा देते हैं पर स्वास्थ्य लाभ के नाम पर खड़े अपने दलाली–साम्राज्य पर किसी प्रकार की आँच नहीं आने देते। निःसंदेह डॉ. सतीश चन्द्र झा जी उत्तम कोटि के अध्यापक हैं, आचार्य हैं। डॉ. झा जी, अपने शिष्यों के योग–क्षेम–वहन और उसकी कुशलता की रक्षा के निमित्त भी यसस्वी होते रहे हैं।

पंडित कृष्ण चन्द्र झा जी के प्राकृतिक पुत्र और पंडित आद्या चरण झा जी के

वैधानिक पुत्र डॉ. सतीश चन्द्र झा जी का शिष्यत्व ग्रहण करने का सुअवसर तो मुझे प्राप्त नहीं हुआ, पर उनहके प्राकृतिक पिता के प्रिय शिष्य और जो उनके भी प्रिय शिष्य रह चुके हैं और वे अभी डी.ए.वी. महाविद्यालय सीवान, में संस्कृत विभागाध्यक्ष के पद पर शोभायमान हैं, से सुने दर्जना धिक्य संस्मरणों तथा उनके साथ बिताए गए कई अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलनों से, जो उनका व्यक्तित्व निर्मित होतो है, चरित्र गठित होता है, स्वरूप बनता है, और उनकी छवि बनती है, वह मुझे बार–बार यह कहने के लिए विवश करती है कि डॉ. झा जी उत्तम अध्यापक हैं, सर्वोत्तम अध्यापक हैं। मैं डॉ. झा जी का इसी रूप में अभिनंदन करता हूँ। उनकी वंदना और अभ्यर्थना करता हूँ, परन्तु स्थानाभाव को ध्यान में रखकर 43वें अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन, जो संस्कृत विभाग जम्मू विश्वविद्यालय द्वारा दि.12 से 14 अक्टूबर 2007 में आयोजित था, के उन प्रसंगों तक ही अपने को सीमित रखूँगा, जिसका संबंध डॉ. सतीश चन्द्र झा जी से था।

11 अक्टूबर की शाम में, वैष्णो देवी से हमलोग (डॉ. कृष्ण चन्द्रझा 'मयंक'–दम्पति, श्री सच्चिदानंद पाठक–सपरिवार पत्नी, पोते और नाती) 43वें अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन में भाग लेने के लिए जम्मू विश्वविद्यालय के परिसर में पहुँचे। जम्मू का वाह्य–परिवेश तो भयोत्पादक है ही। सम्मेलन में प्रतिभागिता हेतु पंजीयन और एतद् विषयक अन्य कार्यवाही के लिए हम ससमान इधर से उधर भटकते रहते हैं। इसीबीच डॉ. जगन्नाथ झा जी, प्राधानाध्यापक, बेगूसराय दीख जाते हैं। वे हमारे सहायतार्थ तत्पर हो, डॉ. सतीश चन्द्र झा जी को हमारी परेशानियों से अवगत कराने के लिए व्यग्र–उग्र और हठाग्र हो जाते हैं। डॉ. झा जी अपने किसी स्थानीय मित्र के साथ उनके निजी वाहन से कहीं यात्रा करने के लिए तैयार है। प्रधानाध्यापक डॉ. झा जी, हमारी विषम परिस्थितियों से उन्हें अवगत कराते हैं। वे अपनी यात्रा रोकते हैं और संबंधित सहयोगियों को तलाश करवा, उन्हें उचित निर्देश दे, हमारी समस्याओं को समाधान कर, अपनी यात्रा आरंभ करने से पूर्व हमारा हाल–चाल लेना नहीं भूलते। अपने निर्धारित कार्यक्रम हेतु त्वरित–गमन के बीच उनकी यह व्यावहारिक पत्रिका ने अनायास ही हम सबको आत्मीयता के रंग में रंग दिया। तदुपरांत तीन दिनों तक, प्रत्येक सत्र में हम किसी–न–किसी स्थल पर अवश्य मिलते रहे और उनके अपनापर के रंग में रंगाते रहे।

मझोले–कद, थुल–थुलकाय, बड़ी–बड़ी आँखें, उन्नत–ललाट अधपके पर सजे बाल, पतली पर घनी और कड़ी मूछें, पान–युक्त हँसते ओठ, निर्भीक वाक्, स्निग्ध–

निगाह–संपन्न वाह्य–रूपाकृति वाले डॉ. सतीश चन्द्र झा, सम्मेलन–स्थल पर, सर्वत्र सार्वजनिक रूप से देखे जाते थे। उनकी हँसी बड़ी आक्रामक होती थी। फिर उनके पुराने मित्र, सहकर्मी, सहयोगी, शिष्य अथवा नव–परिचित प्रतिभागी अपने को उनसे क्यों और कैसे दूर रख पाते?

डॉ. सतीशचन्द्र झा जी अपने मित्रों, शिष्यों और सहयोगियों में अपने कामधेनु सहज सहयोग उदात्त वृत्ति के कारण भी आकर्षण के पद पर स्थापित हैं। 'अखिल भारतीय प्राच्य विद्या–सम्मेलन' के सुचारू–संचालन के निमित्त इसके संस्थापकों के द्वारा लोकतांत्रिक पदों की स्थापना और तत्–संबंधी चुनाव और मनोनयन कभी सहज स्वाभाविक–तटस्थ प्रक्रिया रही होगी, परन्तु अन्य सरकारी एवं गैर–सरकारी निकायों का चुनावी लोकतांत्रिक–उपसंस्कृति ऐसे सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संस्थाओं पर भी अब अपनी रंगीनी का जादू बिखेरने के लिए बेकाबू एवं बेचैन हो रहा है।

44वें अखिल भारतीय प्राच्य विद्या–सम्मेलन के आयोजनार्थ, 43वें सम्मेलन के समापन से एक दिन पूर्व अर्थात् 13 अक्टूबर 06 को विभिन्न पदों हेतु लोकतांत्रिक तरीके से चुनाव होना भी सुनिश्चित था। डॉ. सतीश चन्द्र झा जी भी सभापति पद हेतु स्वयं उम्मीदवार थे। उनके कई मित्र और सहयोगी भी विभिन्न पदों के लिए उम्मीदवार बन रहे थे। अपने–अपने मनोनुकूल–पद हेतु विजय होना, डॉ. झा जी के आशीर्वाद एवं सहयोग के बिना उन्हें संभव नहीं जान पर रहा था। उम्मीदवारों के बीच उनकी कृपा–प्राप्ति हेतु समीकरण बन एवं बिगडत्र रहे थे। डॉ. झा जी कभी, दशरा तो कभी विदुर और कभी चाणक्य बनते रहे। सायं काल चुनावी–प्रक्रिया समापन के पश्चात् सम्मेलन में एक गहन चुप्पी तो थी, मगर उम्मीदवारों का अपना समीकरण स्वयं उन्हें ही सफल बनाने में बेताब हो रहा था। वह रात, उम्मीदवारों के लिए बकांड–प्रत्याशा ही रही। भला उन्हें नींद क्यों आती? परिणाम तो रात में ही स्पष्ट हो गया था, परन्तु वह सार्वजनिक अगले दिन, प्रातः काल हो पाया। सफल उम्मीदवार प्रसन्न थे। उनकी छाती चौड़ी हो गई थी। असफल गमगीन तो थे ही, डॉ. झा जी पर वादा–खिलाफी का आरोप भी लगाते रहे, बावजूद इसके येण–केन–प्राकरेण उनका नैकट्य आशीर्वाद का आकांक्षी भी, वे प्रदर्शित होते रहे। सफल उम्मीदवार कृतज्ञता–ज्ञापन के साथ–साथ अगले आयोजन में उच्च–पद पर आसीन होने हेतु समीकरण भी बनाते और तोड़ते रहे। उनके लिए डॉ. झा जी का खेमा ही सर्वथा

निरापद एवं मनोवांछित फल प्रदाता लग रहा था। डॉ. झा जी स्वयं अपार मतों से सभपति पद हेतु चुने गए थे। डॉ. झा जी ही सफल और असफल उम्मीदवारों के केन्द्र-बिन्दु थे। वे दोनों पक्षों के लिए आकर्षण एवं चर्चा के विषय थे। उनके खेमे के सभी खिलाड़ी मनोनीत अथवा सफल जो हो गए थे।

समापन समारोह में, सरकारी अतिथियों के भाषणोपरांत डॉ. झा जी का लघु परन्तु ओजस्वी व्याख्यान हुआ जो सम्मेलन के प्रतिभागियों के लिए चर्चा विस्मय और बौद्धिक आह्लाद का विषय था। अन्तराष्ट्रिय विद्वानों के बीच भारत का सनातन स्वरूप उनके भाषण में साकार हो उठा। मिथिला की विद्वत्ता जाग उठी। याज्ञवल्क्य का आर्षीय चिंतन 'कश्यप-मीर' में गुंजित होता रहा। कर-तल ध्वनियों से पट्-समागार गुंजायमान होता रहा। प्रतिभागियों के हृदय में विभिन्न भाव बनते और मिटते रहे, इसका गवाह उनका मूक मुख-मंडल था।

कृतज्ञता को मूर्खता, कृतघ्नता को बुद्धिमता, सदाचार को कदाचार और कदाचार को सहाचार, नैतिकता को ढोग और अनैतिकता को व्यवहारिकता, ईमानदारी को मजबूती और बे-ईमानी को पुरुषार्थ विवेक को ताक पर रखकर, अपने लाभ के लिए प्रकृति से भी तेत रफ्तार से अपनी गति और दिशा बदलने वाले राजनीतिज्ञों, सामाजिक कार्यकर्त्राओं, स्वयंसेवी के बीच, सारस्वत साधना में लीन रहकर, विश्वविद्यालयीय भूत और वर्त्तमान के महत्वपूर्ण पदों से पदोन्नत हो, डॉ. सतीशचन्द्र झा जी वयोवृद्ध के रूप में ही नहीं, विद्यावृद्ध के रूप में यशस्वी बन, शत-जीवी हों-यही करुणानिधान दयामय प्रभु से, इन पंक्तियों के लेखक का निवेदन है, ताकि मिथिला की विद्वत् परम्परा कायम रह सके।

डॉ. कृतार्थ शंकर पाठक
हिन्दी अध्यापक
ज.म.नि.महादेवा रोड, सीवान।

पण्डित-पुण्डरीक मार्त्तण्ड : डॉ. सतीश चन्द्र झा

डॉ. कृष्णचन्द्र झा 'मंयक'

शारदा-सारदा के परमाराधक डॉ. सतीश चन्द्र झा परा के प्रकर्ष की पराकाष्ठा से पूर्ण, अप्रतिम अनूचान हैं, जिनकी कुशाग्रीय शेमुषी सदा वन्दनीय रही है। इनकी वाणी-विषयिणी-क्षमता की चारुता ने प्राज्ञों को सदैव आनन्द प्रदान किया है।

यहाँ सतीश चन्द्र नाम विवेच्य प्रतीत होता है। भगवती सती के ईश, तो चन्द्रचूड ईशानाधिपति शिव हैं, जिनकी रूप तथा लीला विषयिणी वैचित्री साधना जगत् में सतत स्मरणीय है। सती परा कोटि में परिगणिता हैं, जो दक्ष जीव के यज्ञानल में दग्ध हो जाती हैं तथा जिनका अवतरण इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया स्वरूप पर्ववती (पार्वती) के रूप में होता है जो उमा आरव्य से ही संयुक्त हैं। केनोपनिषद् में उमा ही यह स्वरूप ब्रह्म का परिचय देवताओं के समक्ष प्रस्तुत करती है। सतीश शिव वस्तुतः चन्द्र युक्त हैं। यदि आह्लादें धातु से व्युत्पन्न चन्द्र (चारु द्रमति, चिरं द्रमति) मन का अधिष्ठाता है।

चन्द्रमा मनसो जात!

चन्द्रमा जायते पुनः (श्रुति) इस प्रकार सतीशचन्द्र नाम ही निखिल के रस रहस्य से पूर्ण है, जो श्लाघनीय है।

डॉ. झा ने मिथिलात्व को रूपायित करने की सतत चेष्टा की है। मिथिला शब्द का मकार ब्रह्मा महासरस्वती है। थकार पालक विष्णु का वाचक है, जिनकी शक्ति महालक्ष्मी हैं। लकार लयकर्त्ता रूद्र का वाचक है। इस प्रकार महासरस्वती महालक्ष्मी तथा महाकाली ये तीन देवियाँ मिथिला का परिस्थ्याओं (वीथियों) में चंक्रमण करती हुई अपनी लीलानन्द को प्रकट करती हैं। इस रस-रहस्य को डॉ. झा ने आयत्त किया है। मिथिला की विदुषियों के अनुसंधान क्रम में डॉ. सतीश चन्द्र झा ने अम्भृण दुहिता भगवती वाक् तथा शंकर प्रिया भगवती उमा का स्मरण किया है, जो मिथिला की उभय देवियाँ हैं। सिनोति वशंकरोति

स्वकर्मणः भगवन्तम् सा सीता के रूप में सीतात्व सिद्ध किया जाता है। वे अपने कर्मों से पुरुषोत्तम श्रीराम को अश में करती हैं। श्रुति कथित सीतासूक्त तथा 'सीरायुजन्ति मन्त्रा' के तात्पर्य से परिचित डॉ. झा अवनिजा के अधिष्ठा-अरविन्द के मधुप सम महिमा मण्डित होते हुए दृष्टिगत होते हैं, जो अनुसन्धेय हैं। किशोरी की काया की पीतिमा तथा उज्ज्वलता का संचार श्रीराम की श्यामल काया पर हुआ तक हरि में हरित्व का आगमन हुआ। दर्शन तथा साहित्य के अप्रतिम अनूचान के रूप में समादृत डॉ. झा ने अपने वाणी विन्यास की वैचित्री को बारंबार व्यक्त किया है। याज्ञवल्क्य कथित 'मधुविद्या' के उद्गायक डॉ. झा ने मण्डन तथा वाचस्पति मिश्र के भावाद्वैतवाद् की भी साधना की है, जिसका पल्लवन मैथिली बोधयन (उपवर्ष) की वृत्तियों में परिलक्षित है।

वसिष्ठाराधिता तारा का त्रिविष्टप से प्रथमागमन मिथिलांचल के वसैढ नामक ग्राम में ही हुआ था। वसैढ चानपुरा नामक ग्राम इस दिव्य वश्त का साक्षी है द्वितीया तारा सीताराम की मध्यवर्तिनी भगवती हैं- **अद्य मे तारिणी तारा रामरूपा भविष्यति।** निशीथकालीन तुरीया सन्ध्या की अधिष्ठात्री भगवती तारा नीलसरस्वती हैं, जो मिथिला के कटरा नामक ग्राम में चामुण्डा के रूप में विराजमान हैं। यहाँ भगवती सती का वामस्कन्ध निपतित हुआ था, जिसके प्रमाण मेरूतन्त्रादि ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। डा. झा पर तारा की विशेष कृपा रही है। उनका ग्राम तारा कृपा सुधा वर्णन से पूर्ण है।

प्रथमतः मैंने डॉ. झा का अवलोकन दरभंगा में संस्कृतविश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति के रूप में किया। उनके आभामण्डित आनन ने प्रभावित किया था। देवभाषा देवापगा की प्रवाह भुग्नता की चारुता उनके मुख से प्रकट होकर, अप्रतिमानन्द स्पष्ट करती थी।

पुनः जम्मू विश्वविद्यालय में अयोजित अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन यज्ञ के प्रमुख ऋत्विज् के रूप उनका अवलोकन हुआ। प्रवचन-मंचनस्थ विराशियों के मध्य डॉ. झा नक्षत्रावली मध्यस्थ मयंक की भाँति परिलक्षित होते थे, जिनकी वाणी-विषयिणी मनोज्ञता लौक्य (देखने योग्य) एवं लातव्य (लाने योग्य) थी। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के अध्यक्ष पद हेतु चयनित डॉ. झा की कीर्तिगाथा अविस्मरणीय है।

विद्या ह वै ब्राह्मजगाम इस श्रुति के अनुसार विद्यागमन ब्राह्मणों के प्रति होता है। **आग्नेयो वै ब्राह्मणः-नाम्नी** श्रुति ब्राह्मण की अग्निधर्मिता सिद्ध करती है। अग्नि शब्दों निरुक्त में **आग्रणीर्भवति, अग्रंनयति, यज्ञेषु प्रणीयते** - इन तीनों रूपों में विवेचित हैं।

वस्तुतः डॉ. झा अग्निधमो आचार्य हैं, जिनकी पाचकता, दाहकता तथा प्रकाशकता स्तुत्य एवं अनुसंधेय है।

विविध ग्रन्थों तथा आलेखों के रचयिता आचार्य महादेव ने सहजाख्य-कारायित्री प्रतिभा के प्रकर्ष को प्राप्त किया है जो इनकी वाग्मिता में भी परिलक्षित है। शारदा की कच्छपी विपंची की मधु-ध्वनी मधुविद्या की झंकृति से संयुक्त हैं, जो मैथिली याज्ञवल्क्य की वाणी में प्रकट है--

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मह्वरस्यै

आत्मा सर्वभूतानि मधुयश्च। (मैत्रेयी के प्रति कथन ब.उप.)

वेदोक्त सुपर्णविद्या, पर्यंकविद्या भार्गवी-वारुणी विद्या, उपकोशल विद्या, संवर्गविद्या, हादि-कादि तथा सादि विद्या का रस रहस्य मिथिला मण्डल के भाव कमण्डल में सुरक्षित हैं, जिसमें साधना सुरभि की विद्यमानता है। पदवाक्यप्रमाण, पारावारपारीण मैथिल विद्वानों की मणिमाला के मध्य सुशोभित षट्पट या वैयाकरण वारिजात विभाकर के आख्य से भी विभूषित हैं।

डॉ. सतीशचन्द्र झा के पर्यवेक्षण में विविध शोधकार्य सम्पन्न हुए हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन की आरोही विधि के निष्णात ज्ञाता डॉ. झा वेदोक्त घृतनिर्णिक (तेजस्वी) कक्षीवान् (विद्वान्) की योग्यता से सम्पन्न प्रतीत होते हैं, जिनमें अवरोही विधि की पारगामिता की विद्यमानता भी है।

डॉ. कृष्णाचन्द्र झा
रीडर, हिन्दी विभाग,
सी. एम. कालेज, दरभंगा



कालजयी मेधा के धनी प्रो. सतीश चन्द्र झा

महामहोपाध्याय प्रो. जयप्रकाश नारायण द्विवेदी

सुरगिरा के चारु स्वरूप को चारुतर बनाने के लिए अनवरत कृतसङ्कल्प एवं प्रयत्नशील वैयाकरणधुरीण प्रो. सतीश झा संस्कृत जगत् के कुशल प्रहरी तथा अप्रतिम अग्रदूत हैं। आपने अपने ज्ञान, व्यवहार, प्रशासन, प्रेम, नेतृत्व, सेवा, निष्ठा, समर्पण एवं पाण्डित्यपूर्ण प्राध्यापन के पावन प्रसूनों द्वारा अमरवाक् की जो समर्चना की है तथा अन्यों के लिए अर्चना का जो अनुकारणीय सन्देश दिया है निश्चयेन उसने संस्कृत के साधकों को समुत्कृष्ट दिशा प्रदान की है।

जम्मू–कश्मीर से कन्याकुमारी तथा द्वारका से जगन्नाथपूरी व कोलकाता पर्यन्त आसेतु हिमालय व्यापक, लोकप्रिय एवं निर्भीक व्यक्तित्व सतीश भारतीय – चिन्तन – धारा के प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं के सन्धिविन्दु हैं। आपसे मेरा प्रथम परिचय तो मात्र 15 वर्षों पूर्व हेमचन्द्राचार्य उत्तर गुजरात युनिवर्सिटी, पाटणा द्वारा आयोजित संस्कृत–प्राकृत के राष्ट्रिय–सम्मेलन में हुआ किन्तु हम दोनों के मिलन का यह सिलसिला कुछ यों शुरू हुआ जैसे हम परस्पर जाने कितने जन्मों के परिचित हों–

"परिचित–से जाने कबके फिर लगे उसी क्षण हमको।"

सिद्धान्ततः किसी व्यक्ति को महान् बनाने के लिए एक ही गुण पर्याप्त है किन्तु भाई सतीश कुछ गुणों के ही आगार नहीं प्रत्युत ये बहुविध विशिष्टताओं के जीवन्त रूप हैं। आप शास्त्रीय सिद्धान्तों के गहन अध्येता कुशल प्रस्तोता, निष्ठावान् विद्वान् कर्त्तव्यपरायण प्राध्यापक, गहन अनुभूति और अभिव्यक्ति सुस्पष्ट के ख्यातनामा मनीषी अप्रतिम चिन्तक विविध शास्त्रों के अप्रतिहत पण्डित एवं व्युत्पत्तिवाद प्रभृति ग्रन्थों के जटिल बिन्दुओं को सुलझाने में समर्थ महापुरुष हैं प्रो. झा एक ओर जहाँ आदर्श मित्र हैं वही परम न्यायप्रिय

भी हैं। आपने जिन्हें अपना मित्र स्वीकार कर लिया, उसके साथ मित्रता का निर्वाह विगत पाँच–छः दशकों से निर्बाधतया करते आ रहे हैं–

''अङ्गीकृतं सुकृशतिन परिपालयन्ति।''

ठीक इसी प्रकार न्यायप्रियता भी आपके जीवन का अभिन्न अङ्ग हैं। आज से लगभग एक दशक पूर्व अमरेली (गुजरात) में "रामकथा" पर एक राष्ट्रिय सम्मेलन आयोजित हुआ। अभिराज राजेन्द्र मिश्र प्रणीत जानकीजीवनम् महाकाव्य के अन्तर्गत श्रीराम के उत्तरचरित सम्बन्धी परम्पराप्राप्त प्रतिपाद्य में कवि राजेन्द्र द्वारा कृत परिवर्तन का प्रश्न था। शोधपत्र मेरे द्वारा प्रस्तुत किया गया था, जिस पर संस्कृत रामकथा के स्वनामधन्य मनीषी विपश्चिद्वर प्रो. आद्याचरण झा ने विप्रतिपत्ति उपस्थापित की। शोधपत्र का विषय प्रामाणिक, न्यायपूर्ण एवं औचित्य सम्मिलित था। मैं विप्रतिपत्ति का परिहार पक्ष प्रस्तुत करूँ, इसके पूर्व ही विषयगत औचित्य को ध्यान में रखते हुए सतीश जी ने अत्यन्त अद्भुत शास्त्राथी शैली में अपने पूज्य श्वसुर विद्वत्तल्लज प्रो. आद्याचरण झा की विप्रतिपत्तियों का खण्डन शुरू कर दिया। यह शोध–पत्र दो घण्टों तक सम्मेलन के चर्चा का केन्द्रविन्दु रहा, जिसे प्रो. राजेन्द्र मिश्र जी के ही सुदीर्ध, मधुर एवं ज्ञानानुभव, मधुर प्रवचन के द्वारा पूर्णता प्रदान की गयी। इस प्रकार निष्पक्षतया किसी शास्त्रीय विषय के न्यायपूर्ण प्रतिपादन के लिए अपने समूचे परिवार के समक्ष विद्वात्सभा मं शास्त्राकेशरी ए.सी.झा से टक्कर ले लेना प्रो. सतीश झा द्वारा ही सम्भव हैं, यह न्यायप्रियता, निर्भीकता और निष्पक्षता यदि अन्य किसी संस्कृतज्ञ में भी होगी तो सम्भवतः मैं उन्हें नहीं जानता–

''ते के न जानीमहे।''

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, डॉ. सतीश कुमार झा ने अपनी 60–62 वर्षों के जीवन यात्रा में शिक्षा, प्रशासन एवं राजनीति के असंख्य उत्थान–पतन देखे हैं और उसके सहभागी भी रहे है। कभी अल्पव्यय में के. एस. संस्कृत युनि. दरभंगा के प्रो.वी.सी. रहे, के अध्यक्ष–उपाध्यक्ष रहे, संस्कृत विभाग के प्राफेसर अध्यक्ष रहे तो कभी अपने तेजस्वी, स्वाभिमानी स्वभाव के कारण बिहार की राज्य सरकार की कुदृशष्टि का परिणाम भी सहन करते रहे किन्तु अन्याय के समक्ष कभी नतमस्तक नहीं हुए–न्यायार्थ निर्भीकतापूर्वक सतत संघर्षशील योद्धा सतीश झा के व्यक्तित्व में एक ओर जहाँ सागर की शान्ति, गहराई एवं निर्मलता हैं, वही आवश्यकता पड़ने पर उनमें महाभारत की भयङ्कर झंझावाती तुफान भरी

ललकार भी देखी जा सकती है क्योंकि संस्कृत–संस्कृति एवं मैत्री की रक्षा के लिए "एक बार कालहुँ सन लरिहौं" की स्थिति–ला देने वाले डॉ. झा प्रवृत्त होने के पश्चात् कभी अपना कदम पीछे रखना नहीं जानते।

अल्पवय से ही संस्कृत–जगत् के बहुविध लब्धप्रतिष्ठ पदों पर प्रतिष्ठित रहने एवं देश–विदेश के शीर्षस्थ जन से सम्बद्ध रहने के बावजूद सामान्य संस्कृत सेवी को भी सहर्ष गले लगाते हुए आनन्द विभोर हो जाना सतीश बाबू का स्वभाव है यथा–

ज्यों बड़री आँखियाँ निरखि आँखिन को सुख होत।

यों रहीम सुख होत है बढ़त देखि निज गोत।।

पूर्णिमा के चन्द्र रूपी सगोत्रीय/समानधर्मी संस्कृत सेवियों को पाकर महासागर की भाँति सहजतया आह्लादित हो जाना कोई सतीश बाबू से सीख सकता हैं। आप एक ओर अखण्ड उत्साही, प्रेमी, अपनों के लिए समर्पित और विषम परिस्थितियों में भी नदी के द्वीप की भाँति निश्चल, अडिग व दृढता पूर्वक स्थिर बने रहते हैं–तो दूसरी ओर बिना किसी की परवाह किये सुस्पष्ट वक्ता भी हैं। अनवरत हँसी–मजाक की मनःस्थिति में रहकर सामान्य बाते करते–करते शास्त्रो के विशिष्ट विषयों का प्रतिपादन आपकी निजी विशेषता हैं। बातों–बातें में व्यङ्ग्यव हँसी करना ठहाका लगाना और सुहृज्जन से दिल खोलकर बातें करना, मित्रों के उत्कर्ष हेतु अनीर्ष्यभाव से प्रयत्न करना, सभी से हँसकर मिलना किन्तु मिलने के बाद न हँसना, बुद्धि के साथ–साथ शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखना, गगनगामी विद्वान् होते हुए परिवार का समुचित संरक्षक बने रहना, सतत् गतिशीलता के बाबजूद सर्वत्रा सर्वविध सन्तुलन बनाये रखना, छात्रों, प्राध्यापकों, विश्वविद्यालयीय व्यवस्था, के सदस्यों, सुहृदों एवं अनुसन्धित्सुओं के प्रति शुभदृष्टि के साथ–साथ सरल, सहज व उच्छल प्रेम की धारा प्रवाहित करते रहना आपका स्वभाव है किन्तु भगवान् वेदव्यास की निम्नांकित पंक्ति को आप कभी विस्मृत नहीं करते–

नात्यन्तं सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।

सरलास्तत्र छिन्द्यन्ते वक्रास्तिष्ठन्ति पादपाः।।

संस्कृत, हिन्दी, मैथिली, अंग्रेजी एवं भोजपूरी प्रभृति भाषाओं द्वारा विषय की सारगर्भित उपस्थापना, व्याख्यान के समय मूल विषय पर स्थिर रहना तथा भाषा पर

असीम अधिकार रखकर वक्तव्य की धाराप्रवाह एवं प्रभावशाली प्रस्तुति विषयान्तरमुक्त, सतीश बाबू ने अभिमन्यु की भाँति मानो गर्भ से ही सीखा है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त आपका घर 'अतिथिदेवो भव' की व्यावहारिक पाठशाला जान पड़ती हैं क्योंकि भयंकर गर्मी विद्युत् का पूर्ण अभाव, रात्रि का घुप अन्धकार तथा धर्मपत्नी की अस्वस्थता आदि भी आपकी अतिथि-सेवा को बाधित नहीं कर पाते।

इस प्रकार सुयोग्य पुत्रों के पिता, यशस्वी एवं शास्त्रार्थी श्वसुर के जामाता, अतिथिसेविनी पत्नी के प्रति प्रो. सतीश झा के व्यक्तित्व में यदि विद्वाधौरेय प्रो. वाचस्पति उपाध्याय की मृदुता, आह्लादकता वक्तृता, नीतिमत्ता, विचक्षणता, सुस्पष्टता, प्रशासनप्रियता तथा व्यापकता देखी जा सकती है तो दूसरी आरे प्रो. ए.सी. झा की विद्या और उनका अक्खड़पन, प्रो. जयमन्त मिश्र का गाम्भीर्य, गुरुवर विद्यानिवास मिश्र की महाभारतीय ललकार, सनातन भारतीय संस्कृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं आभिजात्य का स्वाभिमान, राधावल्लभ का प्राचीन एवं अर्वाचीन परम्परागत सन्धिबिन्दुत्व, अभिराजराजेन्द्र की स्वरमाधुरी, रमाकान्त शुल्क का स्वरगाम्भर्य, रेवाप्रसाद द्विवेदी की रचनाशीलता, ओम् प्रकाश पाण्डेय का योद्धभाव, पं. बदरीनाथ शुक्ल की नैयायिकता, पं. रघुनाथ मिश्र की व्याकरणरुचि, प्रो. श्रीनिवासरथ की सुलझी विचारधारा, बच्चूलाल अवस्थी और चारुदेवशास्त्री की व्याकरणगत आधुनिकता, सरोज बहन की मित्रता तथा शीताशु यशश्चन्द्र एवं सुधांशु जी महाराज की स्मिति प्रभृति गुणों के समुदाय भी सुस्पष्टतया प्रतिबिम्बित होते हैं।

वलिष्ठ काया के धनी, निश्चित, सतर्क एवं अप्रतिहगति से समन्वित सतीश बाबू यात्रा, अध्यापन, व्याख्यान एवं परिश्रम से कभी थकते नहीं तथा जीवन के प्रायः सर्वविध संग्राम में अचूक सरसन्धान करने वाले महारथी हैं। आपको मत्स्यभेदन के समय मात्र मत्स्य की नेत्रतारिका ही दिखायी देती है। आवश्यकतानुसार जब कभी आपको स्वजनों पर सन्धान करना पड़ता हैं, तो आपके लिए **गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्-जायते** की स्थिति आ जाती हैं। उस समय आपको किसी श्रीकृष्ण चन्द्र की आवश्यकता पड़ने लगती है किन्तु श्रीकृष्ण सदृश सारथी के मिलते ही आप अपनी बाणवर्षा से वैरी दल के छक्के छुड़ाते हुए लक्ष्य की सिद्धि में तत्पर हो जाते हैं।

आज भुजङ्गता राजनीति का आवश्यक अंग बन गयी है फिर भी आप स्वयं भुजङ्गता से कोसों दूर हैं। सर्पों से संवलित होकर भी आपकी गति सरल हैं। कौमुदी, गादाधारी,

मनोरमा और कुचमर्दिनी के पारखी होते हुए एक पत्नीव्रती हैं। मैत्री और न्यायप्रियता, स्नेहशीलता और निष्पक्षता, प्रियत्व और सुस्पष्टता, सत्यत्व और मृदुता, कटुत्व और अनुकूलता, बुद्धि और शारीरिक विभुता, संरक्षकत्व और गमनगामिता, विद्वता और प्रशासनदक्षता, वाग्मिता, स्फुटता और सारगार्भिता, नेतृत्व और पारदर्शिता, सामान्य वार्त्ताओं में विशिष्टता की उपपादनशीलता तथा ''यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे'' के मूर्तिमान् स्वरूप प्रो. सतीश झा के अभिनन्दन पर्व पर उन्हें हम सपरिवार शतायु होने की कामना करते हुए भगवान् द्वारकाधीश के चरणों में प्रार्थना करते हैं एवं पूज्यवाद जगद्गुरु शंकराचार्य् जी महराज की ओर से आशीर्वाद प्रेषित कर रहे हैं। भगवान द्वारकाधीश भाई सतीश जी को सुदीर्घ जीवन, अप्रतिहत सिद्धि, निर्विघ्न स्वास्थ्य एवं विश्वविश्रुत सफलता का भाजन बनायें जिससे वे अपनी क्रान्तिकारी प्रकृति, उत्साही निर्भीक सहृदय मन, स्वाभिमानी, संघर्षशील, न्यायप्रिय, पारदर्शी एवं व्यापक संस्कार से भावी पीढ़ी को प्रेरित कर सकें।

प्रो. जयप्रकाश नारायण द्विवेदी

डाइरेक्टर

श्रीद्वारकाधीश संस्कृत एकेडमी

एवं

इण्डोलॉजिकल रिसर्च इंस्टीयूट

जिला-जामनगर, गुजरात



बोल्ड, बिंदास और बेबाक

डॉ. शम्भु झा

उनके बारे में लिखना कतई आसान नहीं। काफी हिम्मत जुटाई तब कलम उठाई। ये किसी शेर की बायोग्राफी लिखने की तरह है। शेर के बारे में लिखने के लिए शेर का कलेजा होना चाहिए।

सर को मैं सर ही कहता हूं, गरुजी नहीं क्योंकि, वो मुझे ऐसे ही लगते हैं...बिलकुल बोल्ड! बिंदास! बेपरवाह! बेलौस और बेबाक! जिंदगी दुश्वार है तो हुआ करे वो तो लम्हों का लुफ्त लेते हैं। पल–पल कल–कल करता बहता रहता है और वो दरिया ए जिंदगी की मौजों से खेलते चले जाते हैं। किसी मनमौजी मुसाफिर की तरह जिसकी मंजिल बहुत दूर है और जिन्दगी बहुत छोटी।

उन्हें पसंद है साहित्य, संगीत और सिनेमा।

लेकिन नून–तेल–लकड़ी के चक्कर इतने बड़े हैं उनमें घूमते-घूमते बाल चांदी हो गए। अब तो रूह की पुकार ऐसी लगती है जैसे गली में कोई फेरीवाला आवाज लगा रहा हो और आप झरोखे से उसे देख रहे हों, लेकिन बुला नहीं सकते, क्योंकि आप जिम्मेदारियों के पाबंद हैं।

आप उसकी आवाज को अनसुना कर देते हैं, क्योंकि वो आपके दिल की आवाज है। अगर अपने मुल्क में विद्वानों की कद्र होती, उन्हें राष्ट्र की प्रगति का संसाधन माना जाता, तो सर को वो सब कुछ मिलता जिसके वो हकदार हैं। उन्हें अपना अधिकार पाने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ता। उन्हें परिवार पालने के लिए जद्दोजहद नहीं करनी पड़ती। बीमार होने पर इलाज के लिए सोचना नहीं पड़ता। विडम्बना है। त्रासदी है। लेकिन सच है। एक ऐसा सच जिसकी आँखों में आँखें डाल कर देखने का अभ्यास हो गया है सर को।

मैं सर के सान्निध्य में बहुत नहीं बैठा हूं। लेकिन अक्सर उनके करीब रहने पर एहसास हुआ कि 'देयर इज ए राइट मैन इन द राङ्ग प्लेस।' ज्ञान और पराक्रम का धनी यह शख्स बहुत कुछ कर सकता है जो यह कर नहीं पा रहा है। ये कैनवास इस पेंटिंग के लिए बहुत छोटा है। इ [illegible] फ़लक तो उफक तक जाता है।

सर का फंडा है 'लाइफ, एज इट कम्स।' इसलिए उनकी शख्सियत में जिंदगी के सभी रंग हैं। ब्लैक एंड व्हाइट ही नहीं, ढेर सारे रंग हैं। एक शेड ग्रे का भी है। एक चिली रेड का भी है। आपने सर का गुस्सा देखा है? एक ओसियन ब्लू है। आपने सर को रोते देखा है? एक स्काई ब्लू है। आपने उन्हें गीत गाते देखा है? एक सनफ्लावर है। आप उन्हें साहित्यचर्चा करते देखिए, तब समझ में आएगा।

सर बेधड़क हैं। बेबाक हैं। बेपरवाह और मस्तमौला।

दिल की सुनते हैं। दिल की करते हैं। जो जबान पर, वहीं दिल में। एकदम झक्कास आईना।

बोलते हैं तो जमाना सुनता है और अगर खामोश हों तो डर लगता है। उनका गुस्सा, उनकी प्यार सब कुछ धूप की तरह नजर आता हैं कभी जून की धूप तो कभी जनवरी की।

कोई गीत दिल को छू जाए तो वो गाने लगते हैं और गाते रोने लगते हैं। उन आँसुओं में भी एक गीत होता है।

उनके शिष्य देश के कोने–कोने में हैं। हर कोटि के, हर वर्ग के शिष्य। सर ने अपने सुदीर्घ कैरियर में ये चेले ही तो कमाए हैं। शिष्यों से सर का नाता किसी बच्चे और उसके अभिभावक का हो जाता है। इसीलिए वो भी अपने गुरु जी को पितृतुल्य मानते हैं। शिष्यों के इस विशाल समूह को देख कर लगता है कि सर अपने आप में एक व्यक्ति नहीं संस्था हैं।

एक और बात जो मैंने सर में देखी वो है उनकी नेतृत्व कला। वो स्वाभाविक नेता हैं। बहुत व्यवस्थित नहीं हैं। व्यवस्था तो मैनेजर का काम है। सर तो नेता हैं। रहनुमा हैं। वे 'लीड' करने के लिए बने हैं। उन्हें मालूम है कि टीम कैसे बनाई जाती है और मैदान में टीम के प्रत्येक सदस्य से 'बेस्ट परफॉरमेंस' कैसे लिया जाता है।

मुजफ्फरपुर जैसे अल्पसंसाधन शहर में उन्होंने राष्ट्रीय स्तर के कई आयोजन कराए। और हर आयोजन में सर के व्यक्तित्व की छाप साफ नजर आई।

कभी कभी मुझे कचोट होती है कि अगर सर को बड़ा प्लेटफार्म मिला होता और संसाधनों का ऐसा टोटा नहीं होता तो वो विभाग, विश्वविद्यालय और संस्कृत के लिए और भी बहुत कुछ कर पाते।

खैर मुझे यकीन है कि ये सब होगा क्योंकि सर में अभी बहुत ऊर्जा बाकी है। उम्र सेहत पर असर जरूर कर रही है, लेकिन हौसले तो जवान हैं। लहू में ललक है कुछ कर गुजरने की। दिल में कसक है सपनों को सच कर दिखाने की।

सर के बारे में लिखना शुरू किया तो कलम थमने का नाम नहीं ले रही। यादों की गगरी छलक रहीं है। और दिल के कागज पर ख्यालों के हर्फ खुद ब खुद नक्स होते चले जा रहे हैं। लेकिन क्या करूँ। स्पेस सीमित है। स्थानाभाव है। किसी शायर ने बहुत खूब कहा है कि खयालात, एहसासात और जज्बातों के लिए इस दुनिया ए फानी में हमेशा जगह कम पड़ जाती है।

भगवान् से बस यही दुआ है कि वो सर को स्वस्थ रखे। बाकी सब तो वो खुद कर लेंगे। इतना भरोसा तो भगवान् को भी होगा।

डॉ. शम्भु झा



वाग्देवतावतार डॉ. सतीशचन्द्र झा जी

सच्चिदानन्द पाठक

समय जब सारस्वत साधना में लीन होता है, तब रत्नगर्भा पृथ्वी पर नर-रत्न अवतरित हुआ करते हैं। ऐसे अक्षरपुरुष अपनी विराट् लीला से राष्ट्र और विश्व को चमत्कृत कर एक नये इतिहास का सृजन करते हैं।

"समय बड़ा बलवान है। प्रबल पर्वत झुक जाया करते हैं। लेकिन कुछ ऐसे होते हैं जो इतिहास बनाया करते हैं।" ऐसे ही शाश्वत इतिहास के पन्नों को अपनी सुकीर्ति से सुसज्जित करने की अविराम-अभिराम यात्रा के यात्री का विश्रुतनाम डॉ.सतीशचन्द्र झा है। डॉ.सतीश बाबू किसी परिचय के मुँहताज नहीं है। इनकी विद्वत्ता संभाषणकला एवं प्रबन्धपटुता अनिर्वचनीय है। वाग्देवी इनकी जिह्वा पर सुनृत्य करती हैं। इनके स्वरूप और स्वभाव का मणि-कांचन योग इनके शिखारोही व्यक्तित्व में चार चाँद लगाता है।

यद्यपि मेरा इनसे बहुत ज्यादा परिचय नहीं है। इनके सामीप्य का सौभाग्य मुझे अप्राप्त ही रहा है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनके सारगर्भित आलेखों में इनके दर्शन करता रहा हूँ। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं जम्मूविश्वविद्यालय मे आयोजित अखिल भारतीय प्राच्यविद्यासम्मेलन के सारस्वत अवसर पर इनके विराट् व्यक्तित्व को निकट से देखने परखने का सौभाग्य मिला। देववाणी परमसौभाग्यशालिनी है ऐसे प्रज्ञापुरुष को पाकर। इनकी छत्रच्छाया में देवभाषा का उत्थान उत्तरोत्तर तो होगा ही, भारत प्राचीन एवं अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के समन्वय का शाश्वत केन्द्र बनेगा। विश्ववाङ्मय को इनसे बहुत अपेक्षाएँ हैं। प्रतिकूलता में अनुकूलता को अवतरित करा देना इनकी भूयसी विशेषता रही है।

"बहुत से लोग बस अपने दुःखों के गीत गाते हैं होली हो या दीवाली सदा मातम

मनाते हैं। मगर दुनियाँ उसी की रागिनी पर झूमती हरदम जो जलती चिता में बैठकर वीणा बजाते हैं।''

ऐसे ही महामानव हैं--डॉ. सतीश बाबू। इनके वैशिष्ट्य पर विशद चर्चा मेरे परम शुभचिन्तक डॉ. जगन्नाथ झा जी निरन्तर करते रहे हैं। उन्हीं से प्रेरणा पाकर मैं उनके चरण में प्रणति निवेदन करता हूँ। मंगलमय विभु से इनके आरोग्यपूर्वक सर्वतोभद्र कल्याणकल्प सुदीर्घजीवन की मैं कामना करता हूँ।

सादर।

सच्चिदानन्द पाठक
वरिष्ठ अध्यापक
राजकीय जे.के. इण्टर विद्यालय,
बेगूसराय



अद्भुत, अद्वितीय एवम् अप्रतिम मेरे पूज्य गुरुप्रवर

डॉ. प्रसून दत्त सिंह

सूरज का एक परिचय है कि वह आग का एक ज्वलन्त पिण्ड है, जो विश्व को प्रकाशित किया करता है, किन्तु एक दूसरा परिचय भी है कि वह 'प्राणः प्रजानाम्' है। अपने श्रद्धेय सर के सन्दर्भ में यह कहना मुझे सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

1993 ई. में जब मैंने संस्कृत विषय को प्रतिष्ठा के रूप में लिया, तब उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यद्यपि तब वे विश्वविद्यालय में पदस्थापित थे और मैं लंगट सिंह कॉलेज का छात्र था। अपने प्रथम परिचय में ही मैंने पाया कि वे सिर्फ नाम के विद्वान अथवा मात्र उपाधियों के धारक नहीं हैं अपितु एक सहृदय, सधे एवं सुलझे हुये व्यक्तित्व के वाहक हैं। थोड़ी सी बातचीत के उपरान्त मैंने उनमें सादगी, सद्भावना, संवेदनशीलता, विनम्रता, आत्मीयता एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार जैसे गुण देखे जो वास्तव में महान् विभूतियों में ही पाये जाते हैं। संप्रति संस्कृत के सर्वाधिक समर्थ आचार्य के रूप में उनकी ओजस्विता, सरलता और सर्जनात्मकता स्वयंसिद्ध है।

उनके अकारण मेरे प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार ने मुझे उनसे इस प्रकार जोड़ा कि मैं निरन्तर उनके करीब होता चला गया और आद्यन्त उनके मार्गदर्शन में ही जीवन को पुष्पित और पल्लवित किया। आज के केवल मेरे गुरू ही नहीं हैं, अपितु मैं गर्व से कह सकता हूँ कि आवश्यकतानुरूप कभी वे मेरे पिता बने तो कभी धनिष्ठ मित्र, कभी साथ पढ़ने वाला सहपाठी बनकर मुझे सराहा तो कभी गलतियों के लिये समझाया और दण्ड भी दिया। मेरी प्रशंसा की, तो कभी कमियों की निन्दा भी की।

मुझे स्नातकोत्तर की कक्षाओं के वे दिन कभी नहीं भूलते जब सर अपने कक्ष से निकलकर हमारी कक्षाओं की ओर आने लगते। हम समस्त छात्र–छात्राओं को ऐसा आभास

होता कि एक गरिमापूर्ण ज्योतिपुञ्ज हमलोगों के मध्य तीव्रगति से बढ़ता चला आ रहा है। हम सभी उस घड़ी की प्रतीक्षा में रहते जब वे अपने सधे स्वर में मेघदूत के श्लोक गाते और उनकी गहन एवं विशिष्ट व्याख्या करते। पूरी कक्षा स्तब्ध भावक बना उनका व्याख्यान इस प्रकार सुनता मानो ब्रह्मा द्वारा सृष्टि को कहानी सुनायी जा रही हो। काव्यशास्त्र, व्याकरण, दर्शन और भाषा–विज्ञान जैसे गंभीर विषयों पर भी उनके व्याख्यान उतने ही रोचक और सुग्राह्य होते। इस विषयों का प्रतिपादन जब सर के द्वारा स्वतःर्स्फूत संस्कृत में किया जाता तब हम सभी मुग्ध हो जाते और मैं मन ही मन सोचा करता कि सचमुच किसी आचार्य का व्यक्तित्व इतना ऊँचा हो सकता है, जिसके समक्ष सारा कुछ हल्का मालूम पड़ने लगे।

सर के व्यक्तित्व का हर पक्ष उज्जवल एवं पारदर्शी है। उनको समझना और उनके मन को जीतना कोई कठिन बात नहीं है। यही कारण है कि वे छात्रों के बीच ही नहीं अध्यापकों के बीच भी अत्यन्त लोकप्रिय हैं। सभी लोग समान रूप से उनका सम्मान किया करते हैं। वे जब, जिन–जिन पदों पर गये हैं अपनी प्रतिभा, प्रतिष्ठा और कर्मठता से उनका गौरव बढ़ाकर आगे बढ़ते गये। उनकी यह विशेषता है कि जहाँ भी उन्हें श्रद्धा और सम्मान मिला, उनके मन का कपाट सहज ही खुल गया; सारे अन्तर मिट गये और एक निश्छल, दर्शनीय, विराट व्यक्तित्व का निदर्शन सहज सुलभ हो पाया।

वे आधुनिकता और प्रगतिशीलता में निश्वास रखते हैं। सामाजिक परिवर्तन को सार्थक मानते हैं तथा उन्हीं के साथ अपने जीवन में भी परिवर्तन लाना पसंद करते हैं। एक तरफ उनके जीवन ओर चिन्तन में जहाँ वैज्ञानिकता है वहीं अधविश्वास का प्राचुर्य भी है। भगवती की दृढ़ उपासना और उनकी पूजन–पद्धति अद्‌भुत हैं। शक्ति की ऐसी दृढ़ और कठोर उपासना उनकी आध्यात्मिक और संस्कृतिक हठधर्मिता को भी परिपुष्ट करता है।

अपने जीवन में प्रेम शब्द को उन्होंने बहुत सार्थक बनाया है। उनका मानना है कि प्रेम के बिना जीवन नीरस और अर्थविहीन है। वे खान–पान और पहनने के भी बेहद शौकीन हैं। जितना समय पुस्तकों, सेमिनारों और अध्यवसाय को देते हैं उतना ही समय परिवार को भी देते हैं। उनके साथ खुली बातें करना, उनकी समस्याओं को सुनना, छोटी–छोटी खुशियों को मनाना यही उनकी जीवन शैली है।

उनका यह व्यवहार कतई सिर्फ अपने परिवार के लिये नहीं है, अपितु सार्वभौमिक

है। वे छात्रों के अच्छे मित्र होते है और उनकी प्रत्येक समस्याओं का समाधान ढूँढ़ते हैं। उनके अथक प्रयास से ही संस्कृत–विभाग निरन्तर परिचर्चाओं, गोष्ठियों, सेमिनारों और उत्सवों का केन्द्र बनता रहा है।

सर अपने जीवन की स्वीकृति अपनी कर्मठता, कर्मयोग और अध्यवसाय को मानते हैं। क्रियाशील और संघर्षशील व्यक्ति जीवन से कभी निराश और उदासीन नहीं हो सकता; यही कारण है कि वे बहुत सी ऊँचाइयों को खो देने के बाद भी अपने जीवन के किसी भी प्रसङ्ग को सर्वाधिक करूण मानने से इंकार करते हैं।

जिस प्रकार सिंह को अपने पंजे पर विश्वास होता है और वह उसका अहंकार भी करता है, सर की विद्या भी उसी प्रकार है। जीवन में लोग धन और यश की कामना करते हैं, उन्होंने ने भी अपने परिश्रम और लगन से धन और यश दोनों की प्राप्ति की; किन्तु उन्हें पूर्ण संतोष नहीं मिल सका है। इसी असंतुष्टि की भावना और अधिक की कामना सर को जीवन–पर्यन्त संघर्षशील पथिक बनाये रखेगी।

''मालिक तुम्हारे इस दिए में तेल अभी बाकी है,

अंधकार को फाड़ने को मैं अभी और जलूँगा।''

डॉ. प्रसून दत्त सिंह
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
जमशेदपुर वर्कर्स कॉलेज,
जमशेदपुर



प्रो. सतीशचन्द्र झा : एक विलक्षण व्यक्तित्व

श्याम कुमार झा

प्रो. सतीशचन्द्र झा जी को सबसे करीब से देखने का अवसर हमें वर्ष 2000 में दक्षिण भारत के वि.वि. शैक्षणिक भ्रमण के बीच मिला। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन की तिथि 28–30 मई 2000 को ध्यान में रखकर किये गये 15 सदस्यीय इस बीस दिवसीय यात्रा में गुरुजी के व्यक्तित्व से विशेष रूप से परिचय हुआ, जिसकी छाप आज तक बनी हुई है। इस यात्रा में चेन्नै, मदुरै, रामेश्वरम्, श्रीशैलम्, पुरी, हावडा होते मुजफ्फरपुर प्रत्यागमन का अनुभव विलक्षण रहा। छात्रों के ऊपर कोई आर्थिक बोझ न पड़े, इसके लिए वे सदैव सजग रहते थे। धर्मस्थलों से उनका गहरा लगाव रहा है। श्रीशैलम् मन्दिर के प्राङ्गण में स्थित भ्रमराम्बा भगवती की आराधना करते हुए वे मानो खो गये थे। पूरे सफर में उन्होंने शिक्षक होने के साथ–साथ अभिभावकीय दायित्व का भी निर्वहन किया था। वे छात्रों को पुत्रवत् स्नेह देते थे और यही कारण है कि छात्र भी उनसे केवल वर्ग तथा परीक्षा तक सीमित नहीं रहते वरन् कुछ छात्र तो परिवार के सदस्य सा हो जाया करते।

मुझे याद है कि वर्ष 2002 में जब मुझे 'महाविद्यालय सेवा आयोग', कोलकाता से पं. बंगाल में 'व्याख्याता' पद के लिए नियुक्ति–पत्र मिला, उसे देखकर वे कितने खुश हुए थे। उन्होंने कहा था–"वर्षों बाद बिहार का कोई छात्र बंगाल में व्याख्याता बना है। उनके जीवन के कई पक्ष हैं, जिस पर लेखनी लिखने को उद्धत होती है। जहाँ तक संभव होता वे सतत् छात्रों की मदद करने की कोशिश करते रहते। उनके विभागाध्यक्ष काल में संस्कृत–विभाग, बिहार वि.वि. कई कार्यक्रमों का साक्षी बना। देश के तत्कालीन शीर्षस्थ विद्वान मुजफ्फरपुर आते रहते, यथा प्रो. वाचस्पति उपाध्याय, प्रो. राजेन्द्र मिश्र, प्रो. गोपालकृष्ण दास इत्यादि। उनके विभागाध्यक्ष काल में मुझे भी एक पुनश्चर्या पाठ्यक्रम में प्रतिभागी होने का अवसर मिला। उस समय भी वे युवा शिक्षकों को शैक्षणिक रूप से

सतत आगे बढ़ने हेतु प्रेरित किया करते थे। उनके व्यक्तित्व का एक दुर्बल पक्ष भी है–शीघ्र क्रुद्ध हो जाना। लेकिन जितनी जल्दी क्रुद्ध होते, फिर उतनी ही जल्दी शान्त भी हो जाते। चाहे किसी ने गलती ही क्यों न की हो, उसे क्षमा कर देते।

मैं मानता हूँ कि आज भी प्रो. झा के भीतर का शिक्षक जीवित है, जो समाज को कुछ देना चाहता है। अभी आप मुजफ्फरपुर के ही स्थायी निवासी हो गये हैं। विश्वविद्यालय के विविध कार्यों एवं राजनीतिक माहौल ने गुरुजी को इतना उलझाए रखा कि रचना के क्षेत्र में उनसे परवर्ती पीढ़ी को अब तक उतना नहीं मिला है, जिसकी असीम सम्भावना उनके पाण्डित्य में निहित है। मैं आशा करता हूँ कि अवकाश के काल में परवर्ती प्रजन्म को उनके ज्ञान से कुछ ऐसी निधि मिलनी शेष है, जो अपना पृथक् प्रतिमान स्थापित करेगा। ईश्वर उन्हें स्वस्थ एवं दीर्घायु रखें, इसी कामना के साथ.......।

श्याम कुमार झा
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
माथाभङ्गा महाविद्यालय,
कोच बिहार



मेरे सहधर्मचारी आचार्य सतीशचन्द्र झा जी की मंगल-जीवन-यात्रा

श्रीमती मोहिनी झा

क्या लिखूं! यह समझ में नहीं आता, लेकिन उनका जीवन कैसे बीता, यह अपने स्मरणों से लिख रही हूँ।

1960 ई. के नवम्बर मास में छपरा में मेरे पिताजी पण्डित श्री आद्याचरण झा जो उस समय राजकीय संस्कृत जिला स्कूल छपरा में प्रधानाध्यापक थे, उनके डेरे पर श्री सतीश चन्द्र झा आए। मैं बरामदे में थी और इन्होंने मुझसे पूछा कि पण्डित श्री आद्या चरणझाजी घर पर हैं? मैंने कहा-हाँ और पिताजी को सूचना दे दी। ये पिताजी से मिले। उस समय ये प्राचीन संस्कृत मध्यमा और नवीन उत्तरमध्यमा परीक्षोत्तीर्ण थे। मैट्रिक की स्वतंत्ररूप से परीक्षा देने के लिए ये जिला स्कूल छपरा में जांच-परीक्षा में शामिल होने के लिए आए। मेरे पिताजी ने नीचे एक कमरे में रहने की जगह दे दी। वहीं से हमारा परिचय हुआ। ये तो कहते हैं मुझे जीवन में पहली बार किसी लड़की को देख कर आकर्षण हुआ। मैं ग्यारह वर्ष की थी और ये 14 वर्षों के थे। आश्चर्य है कि मन में उसी दिन मैंने सोचा कि "एक दिन क्या मिले मन उड़ा ले गए! मुफ्त में उम्र भर की जलन दे गए।" "मैं तो इन बातों से अनभिज्ञ थी; इस तरह की कोई बात मेरी सोच में आ भी नहीं सकती थी। जाँच परीक्षा पास करने के बाद 1961 की मैट्रिक परीक्षा इन्होंने छपरा जिला स्कूल से पास की। इसके बाद अकस्मात् 1962 ई. के मई महीने के अन्त में मुझे ज्ञात हुआ मेरा उन्हीं से विवाह निश्चित हुआ है और फिर 10 जून 1962 को हम दोनों का विवाह मेरे पैतृक गाँव मड़रौनी (मधुबनी) में सम्पन्न हुआ। इनके पिता और मेरे पिता में पुरानी मैत्री थी। वे रामेश्वर संस्कृत उच्चविद्यालय सीवान में प्रधानाध्यापक थे। यही मैत्री सम्बन्ध मेरे विवाह का कारण तब से लेकर बाबन (52) वर्षों से यह सम्बन्ध सुख-दुःख दोनों स्थितियों में अटूट है कि ऐसे ही हम दोनों चिरकाल तक साथ निभाते रहें। उभयकुल का संक्षिप्त विवरण

यहाँ प्रस्तुत करना मुझे आवश्यक प्रतीत होता है। मेरे पिता पण्डित श्रीआद्याचरण झा संस्कृत के अत्यन्त विशिष्ट विद्वान् संस्कृत शिक्षा-परिषद् के उपनिदेशक रहे और कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय में तीन वर्षों तक प्रतिकुलपति-पद को सुशोभित करते रहे। मेरे तीन सहोदर भाई हैं-श्री मदन मोहन झा (बड़े भाई जी) कोल इंडिया में अभियन्ता के पद से सेवाविरत हुए। अभी राँची में रहते हैं। मेरा दूसरा छोटा भाई श्री सुधीर मोहन झा मुम्बई में स्टेट बैंक में जनरल मैनेजर हैं। मेरा सबसे छोटा भाई श्री सुशील कुमार झा 'सुलभ इन्टरनेशनल' की पटना शाखा में चेयरमैन है। मेरी दो बहनें बड़ी हैं–मान्या भवानी झा और मान्या कल्याणी झा मैं तीसरी हूँ–आचार्य श्री सतीश चन्द्र झा की गृहस्वामिनी। मेरी छोटी बहन है आशा ठाकुर जो बिहार राज्य के प्राथमिक विद्यालय धमियाँ पट्टी में अध्यापिका हैं। हम सातों बहन भाइयों में अत्यन्त प्रेम सम्बन्ध है और इस सबके पीछे मेरी स्वर्गीया माता–स्नेहमयी जननी अत्यन्त पूज्या इन्द्रकला झा की विशिष्ट भूमिका रही है, पिताजी राष्ट्रपति सम्मान देने वाली समिति के सदस्य रहे हैं। अनेक संस्थाओं ने इन्हें अपने पुरस्कारों से सम्मानित किया है। मेरा श्वसुर कुल मूलतः संस्कृत कुल है। मेरे स्वर्गीय श्वसुर जी पण्डित कृष्ण चन्द्र झा संस्कृत कालेज सीवान से व्याकरण के आचार्य पद से सेवा विरत हुए। वेदान्त–न्याय–व्याकरण की आचार्य परीक्षाओं में स्वर्णपदक प्राप्त थे। साहित्य–सांख्य–योग–विद्याओं में भी इनका पाण्डित्य अप्रतिम था। मेरी सासु माँ पूजनीया अम्बिका झा गत वर्ष स्वर्गीया हो गयीं। उनके निधन से हमारा पूरा परिवार मर्माहत है। इस परिवार को जो मिला वास्तविक रूप में माँ अम्बिका से ही मिला। पूज्य पिता ने संस्कृत विद्या का पाठ पढ़ाया, किन्तु मेरे परिवार का जीवन स्नेहमयी माँ के वात्सल्य की छाँव में ही पला बढ़ा। ये चार भाई हैं–इनकी एक ही बहन स्वर्गीया इन्दिरा–लक्ष्मी इस अन्वर्थ को सार्थक करती थीं। वे अकस्मात् कराल काल के गाल में समा गई। इनके बहनोई श्री राधाकान्त ठाकुर एजी ऑफिस पटना से सेवा–विरत हुए। दर्शन में एम.ए. हैं और श्री कृष्ण के परम भक्त हैं। मेरे पतिदेव के छोटे तीन भाई हैं–डॉ. प्रमोद चन्द्र झा प्रोफेसर अध्यक्ष संस्कृत–विभाग वीरकुंअर सिंह विश्वविद्यालय आरा। वे न केवल संस्कृत के विशिष्ट विद्वान हैं अपितु संस्कृत–हिन्दी–मैथिली के सुकवि हैं, दूसरे भाई डॉ. मिथिलेश चन्द्र झा मिथिला विश्वविद्यालय में चन्दौना में संस्कृत–विभाग के अध्यक्ष और उपाचार्य हैं। संस्कृत भाषण में इनकी अपूर्व क्षमता है। सबसे छोटे भाई श्री मनोज चन्द्र झा जी राम निरंजन जनता महाविद्यालय मधवापुर, मधुबनी में संस्कृत के विभागाध्यक्ष हैं। इनके तीनों अनुजों में संस्कृत भाषा की विशिष्ट वक्तृता और संस्कृत पद्यों के सुमधुर गायन की अपूर्व क्षमता है। स्व. बड़ी बहन भी मध्यमा परीक्षोत्तीर्ण

थीं, अपनी माँ अम्बिका झा की तरह ही सम्पूर्ण गीत–गोविन्द और विद्यापति पदावली कण्ठस्थ थी, वे सुमधुर स्वरों में गाती थीं। चारों भाइयों में परस्पर स्नेह और सद्भाव सदैव वर्तमान है। मैं बहुत सौभाग्यशालिनी हूँ कि मेरे पितृकुल और श्वसुरकुल दोनों में विलक्षण स्नेह सम्बन्ध अभिव्याप्त है।

हम दोनों की छः सन्तान हैं–डॉ. रजना यह संस्कृत में एम.ए. और साहित्याचार्य परीक्षाओं में प्रथम वर्ग में उत्तीर्ण है और इसने बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर से संस्कृत वाङमय में स्वप्न' इस शोध कार्य पर पी–एच.डी. उपाधि प्राप्त की है। सरल मृदुभाषिणी मेरी यह बड़ी बेटी रजनी जिसे हम प्यार से मिनी कहते हैं वस्तुतः पूरे परिवार की मुखिया है। अपने छोटे भाई–बहनों पर स्नेह–सुधा बरसाने में और अपने माता–पिता की सेवा में इसकी विलक्षण उत्कृष्टता से हम सभी अभिभूत हैं। आचार्य परीक्षा में इसने डिस्टिंक्सन प्राप्त की है। इसकी पुस्तक प्रकाशाधीन है। कुछ दिनों तक चेन्नै में शिक्षिका थी। (मैन्युअल मनी हाइयर सेकेण्डरी स्कूल चेन्नै)। कुछ दिनों तक डॉ. रामजी मेहता आदर्श संस्कृत महाविद्यालय मालीघाट में साहित्य की प्राध्यापिका के रूप में कार्य किया किन्तु एकमात्र सन्तान चि. श्री पीयूष के परिपालन में बाधा पड़ती देख इसने नौकरी छोड़ दी ओर अपने परिवार में व्यस्त हो गई। इसके पति श्री दुर्गेश नन्दन झा मेरे बड़े दामाद सिविल इन्जीनियर हैं साथ ही पोस्ट डिप्लोमा इन मैनेजमेण्ट भी हैं। आजकल अम्बुजा सीमेंट के दादरी प्लाण्ट में मैंनेजर हैं। मेरे सभी बच्चे इनका अत्यधिक आदर करते हैं और हम दोनों पति–पत्नी कैसे ठीक से रहें, मेरा परिवार कैसे ठीक से रहें, इस दिशा में इनका उचित प्रयास सदैव चलता रहता है। वस्तुतः ये दोनों बेटी–दामाद मेरे परिवार के प्राणसूत्र है।

मेरा बड़ा नाती श्री पीयूष जिसे हम प्यार से कभी क्लिन्टन तो कभी क्लिन्टू कहते हैं। हमारे अन्य नाती–नातिन पोता और पोती का बड़ा भाई होने के गुण–गौरव से समन्वित है। यह 'बाबा रामदेव इन्जीनियरगिं कॉलेज' नागपुर में सिविल इंजीनियरिंग तृतीय वर्ष का छात्र है। मेरी दूसरी सन्तान श्री राजेश चन्द्र झा "अंबुजा सीमेंट चण्डीगढ़" में जोनल हेड हैं। इतिहास में एम.ए. और एम.बी.ए. श्री राजेश बाल्यकाल से अत्यन्त मेधावी छात्र है। मैट्रिक से एम.एम. बी.ए. तक सारी परीक्षाओं में इसने प्रथम श्रेणी प्राप्त की है। इसकी पत्नी मेरी पुतोहू श्रीमती वन्दना झा रसायन विज्ञान में एम.एस.सी. और बी.एड. की परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण है। परिवार को समर्पित मेरी पुत्रवधू बच्चों की देखभाल में लगातार लगी रहती है। मेरा बड़ा पौत्र श्री विशाल झा अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि का छात्र है।

और कई प्रतियोगिताओं में उसने स्वर्णपदक प्राप्त किया है। 'फिट्जी' के द्वारा आयोजित परीक्षा में भी वह प्रथम रहा है और परीक्षा की सारी फीस 'फिट्जी' ही दे रहा है। दूसरा पौत्र श्री राहुल चण्डीगढ़ में ही चौथी कक्षा का छात्र है। प्रतिभा का वह साक्षात् विग्रह है।

मेरी तीसरी सन्तान श्री रत्नेश चन्द्र झा भणीश इतिहास में एम.ए. और मार्केटिंग में एम.बी.ए. है। विद्या और खेलकूद में भी यह लगातार उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करता रहा है। आजकल पटना में "अंबुजा सिमेण्ट के कार्यालय में उपशाखा प्रबंधक हैं। इसकी पत्नी श्रीमती नीतू झा बी.ए. ऑनर्स, बी.सी.ए. और बी.एड् है। पटना के 'रोजबंड' स्कूल में सफल शिक्षिका है। कम्प्यूटर में इसकी अत्यन्त विशिष्टता है। इन दोनों की एक सन्तान श्रेया-नीली है, वह माँ के स्कूल में ही दूसरी कक्षा में पड़ती है। रूप में मनोहारिणी स्वभाव में मीठी श्रेया पूरे परिवार की चहेती है।

मेरी चौथी सन्तान है–डॉ. रागिनी झा (बाबी) जिसने साहित्य में आचार्य और कुमाऊँ विश्वविद्यालय में संस्कृत वाङ्मय में कृषि विज्ञान विषय को लेकर पी-एच्.डी. उपाधि प्राप्त की है। इसकी पुस्तक "संस्कृत-साहित्य और कृषि विद्या" प्रकाशित है और अत्यन्त ही श्लाघनीय है। इसके पति डॉ.रत्नेश कुमार झा राजेन्द्र एग्रिकल्चर यूनिवर्सिटी, पूसा से बी.एस.सी. और एम.एस.सी. परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त हैं। पन्तनगर विश्वविद्यालय से इन्होंने पी-एचू.डी. की उपाधि प्राप्त की है। मैट्रिक से एम.एस.सी. तक इन्होंने अपनी कुशाग्र बुद्धि की छाप छोड़ी है। सभी परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी प्राप्त की है।

ये राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय पूसा में एसोसियेट प्रोफेसर हैं और वर्तमान में कृषि विज्ञान केन्द्र मांसी (सारण) में निदेशक का कार्य करते हैं। इनकी प्रतिभा और कार्यक्षमता से बिहार ही नहीं भारत के कृषि वैज्ञानिक इनका आदर करते हैं। मेरे ये बेटी-दामाद छपरा में रहते हैं, मेरे सबसे पास हैं और हमारा बहुत अधिक ध्यान रखते हैं। अगर ये बेटी-दामाद न हों तो हमारा जीना मुश्किल हो जाएगा क्योंकि कुछ भी होता है तो ये दोनों दौड़कर हमारे पास चले आते हैं। इन दोनों की दो सन्तान हैं–प्रत्यूष कुमार झा मिल्टन और अभीप्सा झा प्राची। श्री प्रत्युष ए.मी.टी. विश्वविद्यालय नोएडा में मेकेनिकल इंजीनियरिंग द्वितीय वर्ग का अत्यन्त मेधावी छात्र है। इसका मृदु और स्नेहस्निग्ध व्यवहार पूरे परिवार का आकर्षण केन्द्र है। अभीप्सा 'कृष्णमूर्ति फाउन्डेशन राजघाट' बसन्त बिहार में नवम वर्ष की छात्रा है। विद्या में तो अत्यन्त प्रतिभाशाली है ही थ्रो बॉल की प्रतियोगिता में ईस्ट जोन

में इसे स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ है। मेरी यह दौहित्री पूरे परिवार का स्नेहभाजन है।

मेरी पांचवी सन्तान है–श्रीमती रेखा झा (रुबी) इसके विषय में हमारे पतिदेव आचार्य डॉ. झा कहते रहते हैं कि यह हमारे पूर्वजन्म के सभी सुकृतों का प्रतिफल है। मैट्रिक से लेकर एम.ए. संस्कृत तक सभी परीक्षाओं में इसने प्रथम श्रेणी प्राप्त की है। बी.ए.संस्कृत ऑनर्स, एम.ए. संस्कृत संभाषण में इसकी विलक्षण प्रतिभा है। मुम्बई के थाने नगर में रहती हुई यह संस्कृत-संभाषण शिविरों में निःस्वार्थ भाव से बोलना और लिखना सिखाती है। इसके पति और मेरे तृतीय जमाता श्री प्रताप चन्द्र झा स्नेह और सद्भाव की प्रतिमूर्ति हैं। रसायन विज्ञान में प्रथम वर्ग में एम.एस.सी. है। मैट्रिक से एम.एस.सी. तक सारी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की हैं। आजकल जनरल मैनेजर कौमर्शियल पद पर हिन्द कैरियर्स प्राइवेट लिमिटेड संसारा ग्रुप मुम्बई में कार्यरत हैं। कुशल प्रबन्धक, प्रशासक और मेरे दामाद न केवल अपने प्रतिष्ठान में सम्मानित हैं, अपितु हमारे पूरे परिवार के द्वारा आदृत और स्नेह-सिक्त हैं। मेरी इस बेटी की दो सन्तान हैं–श्री प्रथम चन्द्र झा और सुश्री इषिका-प्रिंसी। ये दोनों ही भारत के विद्यालयों में उत्तमता की दृष्टि से छठे स्थान को प्राप्त श्रीमती सुलोचना देवी सिंहानियां स्कूल के छात्र है। श्रीप्रथम पञ्चम वर्ग का छात्र है। प्रथमा के विषय में इसे यह कहते हुए सुनती हूँ कि–

'वह्निरयं माणवकः' वस्तुतः यह विलक्षण प्रतिभावान हैं और ऐसी ही दुलारी है–पढ़ने में बड़ी तेज, मीठे स्वभाव की प्रिंसी-इषिकी। मुम्बई में पल रहा मेरा यह परिवार हम दोनों को इतना प्यार करता है कि लगता है जैसे गाँव में रहा हो, गाँव की सहजता में मानों पला है। हम दोनों को नाना पापा और नानी माँ कहती हैं।

मेरी सबसे छोटी सन्तान डॉ. रूपा झा टीना संस्कृत एम.ए. और साहित्याचार्य परीक्षाओं में प्रथम वर्ग में उत्तीर्ण है। इसने कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल से 'लौकिक संस्कृत-साहित्य के कुछ प्रमुख ग्रन्थों में निर्दिष्ट पाक विज्ञान एक परिचय'' विषय में पी-एच्.डी. की उपाधि प्राप्त कर चुकी है। पाक विद्या के प्रायोगिक पक्ष में प्रारम्भ से ही निष्णात रुपा ने सिद्धान्त पक्ष में भी विशिष्ट क्षमता प्राप्त की है। इसके पति श्री सतीश कुमार भारती एक्सा जेनरल इन्श्योरेन्स में सेल्स मैनेजर के पद पर कार्यरत हैं। ये रसायन विज्ञान में बी.सी.ए. और एम.बी.ए. हैं। संगीत कला और चित्रकला में भी इनकी निष्णातता इनके महत्त्व को सहज ही ख्यापित करती है। इन दोनों की अभी एक ही सन्तान

****

है। ईप्सिता जिसे प्यार से ऐंजल कहते हैं। मीठी और सुन्दर ऐंजल अभी से ही अपने वर्ग में या अपने घर में अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय देती है वह अभी से ही गुजराती, मराठी, हिन्दी, पहाड़ी, मैथिली, अंग्रेजी इत्यादि भाषाओं के संभाषण में निपुण है।

मेरी सन्तानों की एक विचित्र विशिष्टता है, किसी भी विषय के वे छात्र रहे हों किन्तु वे सभी संस्कृत बोलने में निपुण रहे हैं क्योंकि संस्कृत हमारे परिवार की पूजा है–अर्चना है साधना है।

अभिनन्दनीय आचार्य झा की शिक्षा-यात्रा में जो गुरुजन सहायक रह हैं, मेरे लिए उनकी चर्चा भी परम आवश्यक है–स्वर्गीय पण्डित कृष्णचन्द्र झाजी, पण्डित श्री आद्याचरण झा जी, आचार्य प्रवर स्व.डॉ. जयमन्त मिश्र, आचार्य श्रीयुत स्व. महावीर पाठक जी, आचार्य स्व.डॉ. वैद्यनाथ जी, आचार्य श्रीयुत कमलोद्भव शर्माजी आदि विशिष्ट विद्वान् इनके शिक्षा-भाग्य–निर्माता रहे हैं। इनके विद्या प्रभाव के सानिध्य के कारण ही आचार्य झा की शून्य से शिखर तक की यह शिक्षा–यात्रा है।

मेरे पतिदेव सहधर्मचारी सदैव कहते रहते हैं कि–शिष्यप्रसादाद्धरणीधरोऽहम्'' जिन विपरीत परिस्थितियों में इन्होंने चालीस (40) वर्षों तक विश्वविद्यालय संस्कृतविभाग में अध्यापन किया, ग्यारह वर्षों तक विभागाध्यक्ष का कार्य किया, सर्वत्र इनकी विकास–यात्रा में इनके शिष्य सदैव सम्बल रहे हैं। किस–किस का नाम ले किसे छोड़े यह समझ में नहीं आता है। इनके घनिष्ठ सम्पर्क में जो शिष्य आए, वे इनके बनकर रह गए। छाव और शिक्षक की कोई जाति नहीं होती। सभी छात्र इनके प्राणप्रिय ये और ये भी इनके प्राणप्रिय। वे आज भी जहाँ है, इन्हें अत्यधिक सम्मान देते हैं। प्रशासन में डॉ. भूषण कुमार उपाध्याय आइ.पी.एस. जो वर्तमान में महाराष्ट्र में आई.जी. हैं, कई पुस्तकों के लेखक हैं, इन्हें भगवान् की तरह पूजते हैं। डॉ. प्रभा किरण, डॉ. चित्तरंजन मिश्र (दोनों) विहार विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष रहे हैं। डॉ. वैद्यनाथ मिश्र, डॉ. अवधेश झा, डॉ. वीणा पाठक, डॉ. इन्द्रनाथ झा, डॉ. राम संयोग राय, डॉ. शक्ति शंकर मिश्र, डॉ.वेदानन्द झा, डॉ. देवानन्द झा, डॉ. जयशंकर झा, डॉ. दयानाथ ठाकुर, डॉ. शेष नाथ उपाध्याय, डॉ. केशव झा, डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय, डॉ. मनीष कुमार, डॉ. वीरेन्द्र कुमार अलंकार (अध्यक्ष संस्कृतविभाग पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़), डॉ. भैरवी, डॉ. निखिल कुमार, डॉ. दीप्ति, डॉ. सान्त्वना, डॉ. रश्मि, श्रीमती मोना, डॉ. अश्विनी कुमार शर्मा (प्राचार्य धर्म

समाज संस्कृत महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर), डॉ. आभा (प्राचार्य संस्कृत महाविद्यालय, छपरा), श्रीमती कंचन आदि अनेक ऐसे नाम हैं, सबों का नाम लिखना संभव नहीं है। भूतभावन विश्वनाथ इनके सभी शिष्यों की यशोवृद्धि करते रहें, यही प्रार्थना है।

आज जो यह अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, इनकी शिष्य-परम्परा और कुछ शिष्यवत् प्रियजनों के सर्वविद्या सहयोग का प्रतिफल है। इनमें श्रीशरदिन्दु कुमार त्रिपाठी (संपादक), श्री कमलेश झा (विशिष्ट विद्वान्) अध्यक्ष धर्मागम विभाग, का.हि.वि.वि. वाराणसी। डॉ. प्रसून दत्त सिंह, डॉ. श्री निवास, डॉ. शशिकान्त पाठक (प्राणि विज्ञान विभाग) आदि प्रमुख हैं। शिष्यों के लिए सर्वथा अभिनन्दनीय-वन्दनीय हमारे परिवार के कीर्तिपुरुष मेरे प्राणवल्लभ आचार्य सहधर्मचारी श्री सतीश चन्द्र झा के लिए मेरी कामना है कि हमारी आराध्या कुलदेवी त्रिपुरसुन्दरी माँ जगदम्बा आचार्य झा का समुन्नयन के उद्धर्व से ऊर्द्धवर शृङ्ग सादर अभिनन्दन करें।

मैं अपने जीवन के विशिष्ट गौरवमय क्षण को भूल नहीं सकती, बिना याद किए रह नहीं सकती, जब कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के आल इण्डिया ओरिएण्टल कालेज के अध्यक्ष पद पर डॉ. झा प्रतिष्ठित हुए। संस्कृत में इनके संभाषण से मुग्ध यू.पी.ए. की अध्यक्षा श्रीमती सोनिया गाँधी, हरियाणा के तत्कालीन राज्यपाल डॉ. अखलाकुर रहमान किदवई, हरियाणा के मुख्यमंत्री श्री भूपेन्द्र हुड्डा आदि ने मेरे जीवनसंगी डॉ. झा के प्रति सहज सम्मान प्रकट किया।

(श्रीमती मोहिनी झा)
मोहिनी विलास,
न्यू शास्त्रीनगर कालोनी, गली नं.2
पो. रमना, जिला-मुजफ्फरपुर-842002
(बिहार)



"नही हाथ मेरे कंचन चंदन

आदर्श शिक्षक सूररंजन

किस तरह करूँ मैं अभिनंदन

किस तरह करूँ मैं अभिनंदन।"

मेरे पिता के अभिनन्दन ग्रन्थ छपने की खुशी में मुझे जो दो लाईन लिखने का अवसर मिला है उससे मैं अपने आप को काफी भाग्यशाली समझ रही हूँ।

मैं अपने पिता प्रो. श्री सतीश चन्द्र झा की सबसे छोटी सन्तान हूँ। उनके बारे में कुछ लिखने बैठी हूँ। पर कागज–कलम हाथ में लेने के बाद भी काफी देर तक सोचती रही कि क्या कुछ लाईन लिख देने भर से ही मेरी सारी भावनाएँ जो उनके प्रति हैं, व्यक्त हो जाएँगी? अरे! उनके बारे में लिखने को बैठूँ तो सुबह से रात हो जाए फिर भी लिख न पाऊँ। वो मेरे पापा हैं इसके कारण मैं यही नहीं कह रही हूँ कि वो महान् हैं। वो सही में अपने कर्मो से महान् हैं। अपने जीवन के शुरुआती दिनो में बहुत सारी कठिनाइयों का सामना करते हुए वे इतने ऊपर आये, ये उनकी महानता ही सिद्ध करती है। कोई आम आदमी होता तो हौसला खो देता। उन्होंने आर्थिक, मानसिक, शारीरिक रूप से इतने लोगों की मदद की है जिसकी कोई गिनती हीं नहीं है। अपने पास रूपये कम ही हो लेकिन कोई मांगने आ जाए तो उसे खाली हाथ नहीं लौटाते हैं। उनकी विद्वता के बारे में क्या लिखूं? एक बार मैं पापा के साथ किसी सम्मेलन में गई थी, उनका भाषण खत्म हुआ तो "जैसे लोग हीरो–हिरोइन को चारों तरफ से घेर लेते हैं, आटोग्राफ मांगते हैं वैसे ही पापा को लोग चारों तरफ से घेर कर ऑटोग्राफ मांगने लगे। गर्व के साथ कि ये मेरे पापा हैं मेरी आँख भर आई। शास्त्र में सही कहा गया है कि–

"विद्वत्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।

स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।।"

मेरे पापा एक आदर्श बेटा, भाई पति और पिता हैं। हम सब बच्चे पापा से बहुत जुड़े हुए हैं। खास कर मैं पापा से बहुत जुड़ी हुई हूँ। हम लोगों के साथ पापा मित्र की तरह रहते हैं। मेरे लिए संसार में कोई चीज पापा से बढ़ कर नहीं है। उनके बारे में कुछ लिखना तो सूरज को रोशनी दिखाने के समान है। अतः अंतिम लाइन में मुझे भगवान् से उनकी तुलना करते हुए अपार हर्ष हो रहा है।

''माधव कतेक तोर करब बढ़ाई

उपमा तोहर करब केकरा संग

कहतऊँ अधिक लजाई

माधव ततेक तोर करब बड़ाई॥''

रुपा झा



मेरे पा-पा

मेरे पापा जैसा महान् व्यक्ति मेरी दृष्टि में कोई नहीं है। मैं नाम का ही जामाता हूँ। मुझे तो वे सदैव ज्येष्ठ पुत्र ही मानते हैं।

मेरी छोटी सी तकलीफ नहीं सहन कर सकते। जब कभी मैं संकट में पड़ा तो हर बार संकटमोचक की तरह मेरा सारा कष्ट दूर कर देते थे। मैं बहुत सौभाग्यशाली हूँ जो मुझे, इतने अच्छे पापा मिले।

यह मेरी शादी के समय कि वाक्या है। पापा मेरी शादी कि बात करने मेरे गाँव आए थे। बाबुजी से बात कर रहे थे और मेरे चाचा लोग भी बातचित में शामील थे। मैं वहाँ नहीं था, बल्की आंगन में बैठा था। चाचा आँगन में आए और मुझसे कहा "बेटा लड़की तो और भी मिल जायेगी। लेकिन ऐसा श्वसुर नहीं मिलेगा। वास्तव में उनका यह कथन अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुआ।

आज के युग में इतना स्नेही पुरुष दूसरा नहीं हो सकता। उनके विद्वता के विषय में कहना तो सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है। अपने विद्यार्थियों के प्रति इतना स्नेह, इतनी ममता हमने किसी अन्य शिक्षक में नहीं देखा। जब कभी मैं उनके पास जाता हूँ तो गर्व से मन प्रफुल्लित हो जाता है, उनकी लोकप्रियता देखकर।

जब वो प्रो. वी. सी. ये तो भी वो इतने ही सरल थे। उस समय उन्होंने अनेकों असहाय लोगों की मदद की। छोटे-बड़े सभी को वो समान स्नेह देते हैं। सरलता उनका स्वभाव है।

जब भी मैं अस्वस्थ रहता हूँ तो उनका फोन जरुर आता है। पूछते है कि क्या स्वस्थ तो हैं। उनकी आशिष भी फलीत होता है। मुझे हमेशा कहते थे कि चिन्ता न करें दुःख जरुर दूर होगा; और सच आज मैं सुखी हूँ। यह उन्हीं का आशीर्वाद हैं।

ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वे सदैव स्वस्थ एवम् प्रसन्न रहें; हमें इसी तरह स्नेह एवं आशीर्वाद प्रदान करते रहें। इतने परोपकारी तथा सर्वगुण सम्पन्न पापा को कोटिशः नमन!

-दुर्गेश नन्दन झा

हमर पापा

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देव-देव॥

वास्तव में हमर पापा हमरा लेल सभ किछु छथि। हमरा लेल भगवान् छथि।

संसारक सभ सँ श्रेष्ठपिता छथि। एहन त्यागमय स्वभाव वाला अहि पृथ्वी पर शायदे केयो दोसर हे ताह। हम अपन भाय-बहीन में सभसँ पैघ छी। अहि लेल सभसँ अधिक प्यारो भेहैत अछि।

बड़ी माँ यानी हमर दादी तुनकर बाल्यकालक अनेकानेक कथा कहने अछि। जहि में हम एकटा बातक उल्लेख करम चाहैत छी। पापा सात साल के रहैथ तहन प्रथमा के परीक्षा देने छलैथ। जाहि दिन परीक्षा रहैन्ह ओहि दिन ओ गोली खेलारत रहैथ, हुनकर काका देखलखिन तब कहलखिन्ह बबुआ आहाँ की करैत छी, आहाँक परीक्षा अछि। आओर ओ लय गेलखिन्ह परीक्षा देवय लेल। जहन परीक्षक देखलकैन्ह तब कहलकैन्ह जे "२ घंटा बीत गेल छैक आब नहि दय सकैत ही परीक्षा, ताबेत दोसर परीक्षक कहलकैक देवय दियौक, बच्चा छैक।" परीक्षक बार-बार परीक्षा देवय काल देखैत रहैन्ह। जहन सब उत्तर सही लिखैत देखलकैन्ह व कोरा में उठा क फोटो खिचलकैन्ह पेपर में से हो निकललैन्ह। ओहि परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण भेलरिवन्ह।

दया के सागर छथि। मनुष्य के कोन बात जानवरों के कष्ट सहन नहि कय सकैत छथि। यदि आधुनिक दधीचि कहल जाइन्ह तव कोनो अतिशयोक्ति नहीं। हुनकर विद्वत्ता के विषय में लिखनाई तउ असंभव अछि। एहन विद्वान् हमरा दृष्टि में दोसर नहि छथि।

****

निर्धन छात्र के घर में राखि कुछ पढ़ेनाई, नौकरी दियोनाई, हुनकर ई बात सर्वविदित छैन्ह। ''अतिथि देवो भव'' एहि वाक्य के सार्थकता हुनका सँ बेशी के कय सकैत अछि आदर-सत्कार में कोनो कमी नहीं होबय दैत छलखिन्ह। हमरा कालोनी में यदि केयो बैग लय कुछ पता पूछैत देखैक तउ हमरे घर में पठा दैत रहैक। एकता हमर माँटी एकबेर कहलखिन्ह। जे किसी को चाय का नशा होता है किसी को पान का, लेकिन हमारे सतीशजी को तो खिलाने का नशा है। वास्तव में लोग के खुआबय में हुनका समसँ बेशी आनन्द अबैत छैन्ह।

एक व्यक्ति में एतेक गुण दुर्लभ छैक जहिना विद्वान् तहिना गायक, दयावान्।

हम अपना के गौरवान्वित अनुभव करैत ही एहन जनक पाबि कम। पापा एहन आज्ञाकारी बेटा बहुत कम होइत छैक। एहन स्नेही भाय बहुत भाग्य स भेटैत छैक, हमर पापा हमर काका सभसँ बहुत स्नेह करैत छथिन्ह। एकबेर हमर 'लालकाका' कहनो छथिन्ह।। वास्तव में शिक्षक अवतार छथि। एकबेर हमर बड़की काकी से हो कहलखिन्ह जे ''भाईजी एतेक नीक हमरा परिवार में दोसर नहि अछि।''

हमर नानाजी से हो बहुत स्नेह करैत छथिन्ह पापा के लेल हुनकर कहब छैन्ह 'जे सभ सँ प्रिय छथि, कारण जे सभसँ योग्य छथि।' मामा सब के प्रति से हो पापा के बहुत स्नेह छैन्ह। सम्बन्ध के कोना निभाइल जाय ई हमर पापा सँ केयो सीखय।' हमर पापा के गुण अहि कागज पर लिखनाई असंभव अछि।

हम ईश्वर सँ यैह कामना करैत छियैन्ह जे ''जन्म-जन्मान्तर में हम हिनके पुत्री होई।''

अन्त में हम ईश्वर सँ यैह प्रार्थना करैत छियैन्ह जे हमर पापा के सदैव स्वस्थ रखियौन्ह। ओ स्वस्थ एवं प्रसन्न एहि कय अहिना परोपकार में लीन रहैभ।

अहि सन्दर्भ में एकता श्लोक याद आबि रहल अछि-

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने।।

हमर आदर्श छथि। हुनक चरण में कोटिशः नमन।

-रजनी (ज्येष्ठपुत्री)

संस्कृत

पुराणोत्तमे श्रीमद्भागवते प्रतिबिम्बितं भाषादर्शनम्

प्रो. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्रो 'विनयः'

मेघश्यामतनुप्रभां स्थिरतडिद्दीप्तोज्ज्वलां मञ्जुलां

लीलालास्यलसच्छटां मधुपृषत्सद्वर्षहर्षां पराम्।

शुष्यत्प्रीतिधुनीविवर्धनकरीं चिद्वाटिकोज्जीवनीं

चित्ते कामपि भावयेऽमृतमयीं राधामुकुन्दद्वयीम्॥1॥

तडिद्घनमिलच्छविः कुमुदबन्धुगाऽर्कप्रभा

विभाति नु विभावरीदिवससंहिता किं पुरः?

हृदि स्थितमचञ्चलं किमुत तत्त्वमेवाद्वयं

समञ्चति दृशोर्हि मे सपदि कृष्णराधाऽऽत्मना॥2॥

श्रीमद्भागवतं रसामृतनिधिर्विद्यावगाहावधिः

प्रेम्णः कोऽपि विधिर्निषेधरहितः संसाररोगौषधिः।

पुण्यानां प्रणिधिस्तथा प्रतिविधिर्दुर्वासनानामथ

प्राज्ञानामधिकारिणामनुपधिः स्वात्मा परः शेवधिः॥3॥

शुकाननरसस्फूर्तं मूर्त्तं श्रुत्यन्तविग्रहम्।

द्रुतं दीप्तञ्च तन्नौमि श्रीमद्भागवतामृतम्॥4॥

श्रीमद्भागवते भाषाशास्त्रीयं तत्त्वचिन्तनम्।

अनुस्यूतं विशेषेण यत्तत्सङ्क्षिप्यतेऽधुना॥5॥

श्रीमद्भागवतं, पुराणशास्त्रं सदपि रसप्रस्थानापरपर्यायं वेदान्तशास्त्रमप्यस्ति तस्मादस्य

किमप्यनन्यसाधारणं वैशिष्ट्यं बहुशो विस्तरेण न्यरूपपि,[1] सम्प्रति प्रसङ्गानुगुणं किञ्चिदिव प्रदर्शयामो विदुषां मनोमोदाय।

श्रीमद्भागवतस्य शास्त्रत्वं—शासनादनुशासनाच्छंसनादिति व्युत्पत्तित्रयमप्यन्वेतीत्यत्र केवलं सङ्केतयितुमेव शक्यते विस्तरपरिजिहीर्षापारवश्यात्। भाषादर्शनमत्र पारमार्थिकं व्यावहारिकञ्चो-भयविधं तत्क्रमश उल्लिख्य विमृश्यते।

पारमार्थिकं भाषादर्शनम्—अत्र ब्रह्मनिरूपणप्रसङ्गे श्रुत्युक्तसरण्या ब्रह्मणो द्वैविध्यं, शब्दब्रह्म—परब्रह्मभेदाद्। यथा—

शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान् खलु। (श्रीमद्भागवते 2/4/10)

शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि।

श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥ (तत्रैव 11/11/18)

वेदान्तवेद्यमवाङ्मनसगोचरमात्मतत्त्वमेव परं ब्रह्म तच्च शब्दागोचरं, यथोक्तं भागवतकृन्महर्षिणा—

अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम्।

अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम्॥ (2/10/34)

अपि च—

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।

अहञ्चान्ये इमे देवास्तस्मै भगवते नमः॥ (3/6/40)

नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि। (8/3/10)

वचसाऽनिरुक्तम्। (8/5/26)

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा

प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः।

शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल—

मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः॥ (11/3/36)

****

शब्दब्रह्म च भगवान्वेदो वाङ्मयात्मकमस्य विस्तरश्च–

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे।

मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुःपरम्॥ (4/29/45)

आधिदैविकदृष्ट्या भगवतस्तनुरेव वेदा अतो भगवन्मूर्त्तेरपि शब्दब्रह्मत्वमभ्युपगतं भगवता पुराणर्षिणा, यथा–

तावत्प्रसन्नो भगवान्पुष्कराक्षः कृते युगे।

दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः॥ (3/21/8)

अत्राह 'भावार्थदीपिका'–कारः श्री श्रीधरस्वामी–"शब्दैकवेद्यं यद्ब्रह्म तन्मयं वपुर्दधत्तम्प्रत्यात्मानं दर्शयामास" इति। भगवत्यङ्गाङ्गिभावो लीलात्मक एव न तात्त्विकोऽत एव वेदस्यापि नारायणाङ्गत्वमङ्गीक्रियतेऽस्माभिर्भागवतानुयायिभिः–

वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम्। (6/1/40)

इति स्वयंशास्त्रोक्तदर्शितदिशा। अस्य वेदात्मकस्य शब्दब्रह्मणः सुतरां शास्त्रीयं निरूपणमत्रोपलभ्यते, यथा–

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।

अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥ (11/21/36)

एतदेव विशदयति तत्रभवानाचार्यश्रीधरः–

"शब्दब्रह्मेति। तच्च सूक्ष्मं स्थूलञ्चेति द्विविधम् तत्र सूक्ष्मं तावत्स्वरूपतोऽपि दुर्विज्ञेयमित्याह–

'प्राणेन्द्रियमनोमयम्।' प्रथमं प्राणमयं पराख्यं ततो मनोमयं पश्यन्त्याख्यं तत इन्द्रियमयं मध्यमाख्यं वैखर्याख्यया बृहत्या वाच उत्पत्तिप्रकारं सदृष्टान्तमाह।'

एनामेव भागवतीं पद्धतिमनुव्याकरोति वाक्यपदीयकारो भर्तृहरिः–

वैखर्य्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।

अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥ (वाक्यपदीये 1/143)

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।

विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। (तत्रैव 1/1)

इति वैय्याकरणशिरोमणिरयं तत्र भवानाचार्य उत्पादविनाशरहितं पूर्वापरीभावशून्यमुपसंहृतक्रमञ्च शब्दमेव जगत उपादानकारणत्वेन मनुते यथा प्राक्प्रपञ्चितं भागवतकारेण। श्रीमद्भागवतशास्त्रं, द्वादशस्कन्धे शब्दब्रह्मात्मकत्वादोङ्कारादेव सर्ववाक्प्रपञ्चमञ्चितमभिधत्ते। ओंकारश्चात्र द्विधा- नादात्मा स्फोटरूपोऽव्यक्तः प्रथमो, व्यक्तरूपस्त्रिमात्रिकश्च द्वितीयस्तद्यथा-

समाहितात्मनो ब्रह्मन्ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते।।

ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।

यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः।।

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।

येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः।।

स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः।

स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम्।। (12/6/37,39,40,41)

'स्फुटत्यर्थो यस्मादिति' व्युत्पत्त्या स्फोटशब्दोऽत्राव्यक्तोङ्कारस्य ग्राहक इति श्रीधरस्वामिनोऽभिमतिः।[2] अस्मादेव निखिलार्थसार्थस्य प्रादुर्भावोऽयमेव च सर्वाश्रय इति भागवतराद्धान्तमेवानुसरन्ति वैय्याकरणास्तत्त्वदृशेति समञ्जसमाभाति। श्रीमद्भागवते वर्णसमाम्नायस्य विवृतिर्व्याकरणशास्त्रीयामेव सरणीं संवदते, यथाऽयं श्लोकः-

ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद् भगवानजः।

अन्तःस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम्।। (12/6/43)

अपि चैकादशे-

छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्त्रपदवीं प्रभुः।

ओङ्काराद् व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम्।। (11/21/39)

अथ शब्दार्थयोस्सम्बन्धजिज्ञासायामस्मिञ्छास्त्रे प्रत्यायकप्रत्याय्यभावसम्बन्धो व्यावहारिकः,

पारमार्थिकश्च जनकजन्यसम्बन्धः। तत्र प्रथमदृष्ट्या, 'सङ्केतग्रहो जातौ व्यक्तौवेति' प्रश्नो नैय्यायिकमीमांसकवैय्याकरणादिवादिनां शिरसि सततं व्यालम्बमानः शङ्काशिलोच्चय एव; कुतः ? जातौ सङ्केतग्रहाग्रहे तस्यामूर्त्तत्वादेकत्वाच्चाव्यावहारिकत्वकुक्षिनिक्षेपाद् व्यक्तौ तत्स्वीकारे चानन्त्यव्यभिचारदोषद्वयदुर्वारादत एतस्यापि पक्षच्छेदोऽस्माभिर्विधेय इन्द्रानुजभक्तिवर्त्मानुयायिभिः।

श्रीमद्भागवतशास्त्रं केवलं स्वकीयशुद्धाद्वैतसिद्धान्तस्य प्रतिपादकं मन्वाना वाल्लभा अत्र व्यक्तावेव सङ्केतग्रहो भागवतसम्मत इत्यङ्गीचक्रुर्यथाऽऽह 'प्रमाणरत्नाकरे' गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणः–

''**तस्मान्नाकृतिमात्रे सम्बन्धः किन्तु व्यक्तावेव सम्बन्धः। ननु व्यक्तीनामानन्त्यादेकत्र गृहीसम्बन्धस्य घटादिपदैर्घटान्तरबोधानुपपत्तिर्दुर्वारेति विशिष्टे सम्बन्धो वाच्य इति चेन्न, ब्रह्मवादे पदार्थानां सर्वेषां भगवदभिन्नत्वेन नित्यत्वात्कारणत्वेनाभिव्यक्तैरभिव्यक्तिमात्राङ्गीकारादेकस्यैवानेकधा भवनेन आविर्भवनेन तिरोभवनेन चैकस्यैव सर्वत्र सत्त्वादानन्त्येप्यदोषादेकत्रैव गृहीतायां शक्तौ निर्वाहाद् रुद्रव्यूहवदनुगताकारप्रतीतिसिद्धेश्च वैशिष्ट्यगौरवस्य वैय्यर्थ्यात्।**'' इति तन्नचारु, 'सर्वं ब्रह्मेति' पारमार्थिकत्वेऽपि व्यवहारभूमौ न सर्वस्य सर्वदा, 'घटोऽयं पटोऽय'–मित्यात्मकानुभवस्थले 'ब्रह्मेदं ब्रह्मेद' मित्याकारकबोधानुदयादथ क्वचित्कस्यचिद् ब्रह्मविदस्तद्भावस्य निरवद्यत्वेऽपि तत्र व्यवहारस्यासार्वजनीनत्वाच्चेति।

वयन्त्वत्र ब्रूमः–

जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः। (श्रीमद्भा. 6/15/8)

इति श्रीमद्भागवतोक्तरीत्या सिद्धान्तेऽस्मिन् वस्तुतो जातिव्यक्तिविभाग एव नाभ्युपगम्यते तथापि व्यावहारिक्यामवस्थायाम्, 'अयं घटोऽयमपि घट' इत्यादावनुगतप्रतीतिजननसामर्थ्यादाकृतौ जातावैव सङ्केतः सम्प्रधारयामोऽनेकसमवेतत्वेऽप्येकत्वस्वभावाद् व्यक्तेराक्षेपशालित्वाच्चेति। यत्तु जातेरमूर्त्तत्वान्नामगुणक्रियादिनिरपेक्षत्वाच्च, 'रक्तघटोऽयं चलः कर्बुनोऽयमचलो' डित्थाख्योऽयं वृषभः पुरतश्चरति डवित्थाख्योऽसौ गोष्ठे तिष्ठती''त्यादौ लोकव्यवहारे घटत्वस्य गोत्वस्योभयत्रैकत्वेऽपि व्यक्तीनां पृथक्पृथगवबोधनान्न जातौ सङ्केतग्रहः शक्यस्वीकरण इति कश्चिदाचक्षीत चेत्तन्न सम्यक्; भवत्प्रत्तनिदर्शन उभयत्र विशेषणधर्माणामेव रक्तचलडित्थादिविशेषणैर्व्यावृत्तिर्न विशेष्यरूपयोर्घटवृषभयोः, किञ्च शब्दसङ्केतेन जातिरूपस्थिरविशेष्यस्य ग्रहणादेव

अवापोद्वापप्रकियया[3] विशेषणद्वारेण तद्युक्तव्यक्तीनां भिन्नतयाऽवधारणं शक्यमिति नः सिद्धान्ते न किञ्चिद् दुष्यति।

वस्तुतः सृष्टिकर्तुर्ब्रह्मणः (प्रजापतेः) पदार्थकल्पनैव जातिः कल्पारम्भे, 'स भूरिति व्याहरत्स भूमिमसृजद्'[4] इति तैत्तिरीयब्राह्मणोक्तप्रामाण्याच्छब्दस्य सङ्केतो जातावेव, तेनैव च सृष्टिप्रस्तारस्तद्यथा श्रीमद्भागवते–

विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।
तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम्।

अनेन लोकान्प्राग्लीनान्कल्पितास्मीत्यचिन्तयत्।। (श्रीमद्भा. 3/10/4,5)

इत्यादौ लोकादीनां लोकजातानाञ्च प्रवर्त्तमानकल्पस्त्रष्टव्यानां पदार्थानामाकृतिं चिकीर्षितां बुद्धावालिख्य ब्रह्मा तान्सृजति; सृष्टिरियं शब्दपूर्विकैव-

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।। (कूर्म्मपुराणे 1/2/27)

नामरूपञ्च भूतानां कर्म्मणाञ्च प्रवर्त्तनम्।

वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।। (तत्रैव, 1/7/64)

सर्वेषां स तु नामानि कर्म्माणि च पृथक्पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।। (मनुस्मृतौ 1/21)

इत्यसकृत्स्मरणात्। इत्थं सृष्टिकर्त्तुः सृष्टेः प्राग्जातावेव शब्दसङ्केत इति युज्यते, व्यक्तीनान्तु जलबुद्बुदवदुत्पादविनाशशीलत्वात्तासु जातिगृहीतएवानुस्मर्यते मानवादिभिः। अथवा, ''यः शुक्लवासा स देवदत्त' इतिवद् 'या एवमाकृतिका सा गौः' इत्युपलक्षणेनापि व्यक्तिबोधसम्भवात्केवलायां जातौ शक्त्यङ्गीकारो निरवद्य इत्युक्तपूर्वाणां शुद्धाद्वैतिनां व्यक्तौ सङ्केतग्रह इति मतं न युक्तमुत्पश्यामः। अनेन शब्दार्थयोर्जनकजन्यभावोऽपि व्याख्यातः।

एतदनु विचार्यतेऽत्र शब्दशक्तीरभिलक्ष्य। श्रीमद्भागवते शास्त्रे मुख्या लक्षणा गौणी व्यञ्जनेति चतुष्टयी समभ्यूहितुं शक्या शब्दशक्तीनाम्। एतासां निदर्शनपूर्वकप्रतिपादनस्य नात्रावसरःप्रसङ्गान्तरात्। अथ ''कथं साहित्यशास्त्र एव केवलं किञ्चिल्लब्धप्रसरा प्राचीनशास्त्रेष्वन्यत्र

क्वाप्यनालोचितचरीयं वराकी व्यञ्जनाऽत्र भवद्भिराविष्क्रियत इति पर्यनुयोगं सङ्क्षिप्ताक्षरैरुत्तरयामः–

ओङ्काराद् व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम्।

इति मूलग्रन्थ एवात्र प्रमाणम्। पूर्वोदाहृते च द्वादशस्कन्धवचनेऽपि–

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।

येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः॥ (6/40)

इत्यत्र, 'वाग्व्यज्यत' इत्याख्यातेन 'व्यक्ति'रिति कृदन्तेन च व्यञ्जनाव्यापारस्वीकारपरत्वमेवाभिप्रेयते श्रीमद्भागवतर्षिणेति युक्तमुद्भावयामः। एतदेव च स्फुटमुपदर्शयति 'भावार्थदीपिका'–कारः श्रीश्रीधरस्वामिवर्य्यः–

ओङ्कारश्चात्र हृद्गतः सूक्ष्मोऽभिप्रेतो न त्वकारादिवर्णरूपस्तस्य व्यङ्ग्यकोटित्वात्।[5]

इमं स्फोटमव्यक्तमोङ्कारं येन वाग्बृहती व्यज्यते।[2]

इति व्यञ्जनाख्या शब्दवृत्त्यत्राभ्युपगतेत्यास्थेयमास्थावद्भिः।

श्रीमद्भागवते पूर्वोक्तद्वादशस्कन्धस्यायमाशयो यत्सूक्ष्मरूपोऽयमोङ्कारो व्यञ्जको ध्वन्यात्मिका (वैखरी-) वागभिव्यङ्ग्येति। तदेतदेव समर्थयन्नाह 'तपरस्तत्कालस्येति पाणिनीयसूत्रभाष्यप्रदीपे तत्रभवान् कैय्यटः–

"ध्वनिः स्फोटश्च, व्यङ्ग्यो व्यञ्जकश्च स्तः।"

इति शब्दशास्त्रदिशाऽपि न न प्रमाणप्रतिष्ठिता नः प्रतिपत्तिः।

सम्प्रति शब्दस्य प्रवर्तकत्वेऽपि किञ्चिद् विमृशामोऽत्र सङ्क्षेपेण। वादिभिः शब्दश्रवणान्तरभाविन्यां प्रवृत्तौ शब्दस्यैव कारणता व्यवस्थीयते। तत्र प्रवर्तकवाक्यस्य स्वरूपं वक्तुस्तात्पर्यज्ञानं लोके, वेदे तु तस्यापौरुषेयत्वात् पुरुषस्थित्यनङ्गीकाराच्छब्दनिष्ठज्ञानमाख्यातनिष्ठा शाब्दीभावना भाट्टमते, नियोगः प्रभाकरमते, इष्टसाधनताकृतिसाध्यताबलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानमिति तार्किकमत इति षट्पक्षाः सम्भवन्ति। श्रीमद्भागवते प्रवर्तकत्वन्न जडस्य शब्दस्य किन्तु वेदरूपचैतन्यशब्दद्वारेण भगवतः श्रीहरेरेव, यथोक्तं तत्रैव–

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।

वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥ (19/3/43)

****

भागवतदर्शने सृष्टिचक्रसम्प्रवर्त्तनायैव वेदानां वाङ्मयत्वम्। पर्य्यन्ते वाङ्मनोऽनिरुक्तेऽव्याकृततत्त्व एव वेदाः पर्यवस्यन्ति तत्र वेदानां ज्ञानमयत्वमेवावशिष्यते शब्दास्तत्राशब्दत्वमुपयान्ति। व्यवहारदशायामपि प्राज्ञानां कृते शब्दस्वरूपं, शब्दस्य नैका विच्छित्तयस्तास्ताः प्रवृत्तयो निवृत्तयश्च भगवन्तमेवाभिप्रयन्ति किन्तु मायामोहितमानसा जनास्तन्न जानन्ति। इदमेव वेदानां परोक्षवादत्वम्। शब्दात्मकोऽयं वेदसन्दोहः पारमार्थिक्यामवस्थायां मायामनूद्य ताञ्च प्रतिषिध्यान्ते प्रसीदतीति तत एवावगन्तव्यम्–

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।

एतावान्सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।।

मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति। (श्रीमद्भा. 11/21/43)

व्यावहारिकं भाषादर्शनम् – श्रीमद्भागवते तत्त्वप्रतिपादनस्य नैका सरण्योऽभिमतास्ताश्च तत्तद्विशेषणान्वितभाषाशब्देन तत्र तत्र विप्रकीर्णा ग्रन्थकलेवरे ता दिङ्मात्रं, यथा–

(क) परोक्षभाषा–

परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्। (श्रीमद्भा. 11/21/35)

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाऽधिगतमद्भुतम्। (तत्रैव 4/30/83)

एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणाऽनघ। (4/30/83)

इत्येतेषु बहुषु स्थलेष्वन्यत्रापि च व्यञ्जनाञ्चिता वाचोयुक्ती रूपकशैली वा परोक्षभाषेति अस्याः, 'परोक्षं मम च प्रिय' मिति भगवदुक्त्याऽभ्यर्हिततत्वमपि सिद्धयति।

(ख) 'चित्रा' 'चित्रपदार्था' वा भाषा–

यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्त्रवन्ति हि। (11/14/7)

गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम्।। (11/6/6)

"चित्रा वाचो, वेदार्थव्याख्यानविषयाश्चित्राणि शृङ्खलाबन्धप्रायाणि पदान्यर्थाश्च यासु ताभिर्गीर्भिः" इति श्रीधराचार्य्यव्याख्यानादस्याश्छन्दोऽलङ्कारभूषितत्वं चमत्कारिताशालिगद्यपद्यबन्धबन्धुरत्वञ्चाधिगम्यते।

(ग) 'माध्वीगीः' सञ्चिता भाषा–इयं व्यामोहिका भ्रमविभ्रमविप्रलिप्सागर्भिताऽऽ-

****

पातरमणीया, यया भोगिनो विषयोत्सुका मूढा विषयीक्रियन्ते–

वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः। (11/4/6)

(घ) पुष्पितावाग्रूपा भाषा-

अकोविदवादाख्या वा भाषा एवं पुष्पितया वाचा (11/21/34)

एवं पुष्पितया वाचा (11/21/34)

अकोविदः कोविदवादवादा-

न्वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः। (5/11/1)

इत्येतादृशप्रसङ्गेषु कर्म्मकाण्डमोहितानामर्थवादविभ्रान्तानामतत्त्वज्ञानां मनसि विभ्रमकारिणीं फलश्रुतिमयीं वेदवाणीमुपलक्षयति मुनिः। एवञ्च-

(ङ) ऋतञ्च सूनृता वाणी (11/19/38)

(च) श्लक्ष्णया वाचा (4/1/19)

(छ) ग्राम्यवैदग्ध्यपरिभाषया (5/10/14)

इत्युदाहरणैरन्या अपि विविधा भाषा अधिगन्तुं शक्यन्ते। तत्त्वनिरूपणदृष्ट्या, अव्ययावृत्ति-राख्यातपदावृतिर्विशेषणवैशिष्ट्यमित्यादि नैका विच्छित्तयोऽत्र भागवतभाषायां निरतिशयं सामर्थ्यं वैचित्र्यञ्चोपजनयन्ति तथैव गीतगीता-गाथा-प्रभृतिभिरपि निरूपणप्रकारैस्तास्ता भाषा अत्र विराजन्ते।

रसशास्त्रदृष्ट्या च गोपीनां मधुपगीते भ्रमरगीते वा (दशमस्कन्धस्य सप्तचत्वारिंशेऽध्याये) तेषु तेषु पद्येषु दशाङ्गचित्रजल्पमयी काचिदाविष्कृता भाषा गौडीयगोस्वामिभिर्यथा–

प्रेष्ठस्य सुहृदालोके गूढरोषाभिजृम्भितः।
भूरिभावमयो जल्पो यस्तीव्रोत्कण्ठितान्तिमः॥
चित्रजल्पो दशाङ्गोऽयं, प्रजल्पः परिजल्पितम्।
विजल्पोज्जल्पसञ्जल्पा अवजल्पोऽभिजल्पितम्॥
आजल्पः प्रतिजल्पश्च सुजल्पश्चेति कीर्त्तिताः।
एष भ्रमरगीताख्यो दशमे प्रकटीकृतः॥

(उज्जवलनीलमणेः स्थायिभावप्रकरणे 178-180 कारिकाः)

श्रीमद्भागवतशास्त्रं समाधिभाषायाः ग्रन्थः—आचार्यवल्लभादिभिः श्रीमद्भागवतस्य तत्त्वविश्लेषणपरैष्टीकाकारैः श्रीमद्भागवतं समाधिभाषायां भगवद् व्यासेन रचितमिति स्वीयसिद्धान्तग्रन्थेष्वसकृद् व्यलेखि, यथा–

व्यासस्य समाधिभाषा भागवतम्। तत्रापि यन्न लौकिकरीत्या वदति यथा— "अथौषस्युपवृत्तायाम् (श्रीमद्भा. 10/70/1) **इत्यादि नापि परमतरीत्या, "श्रुतं द्वैपायनमुखात्"** 'श्रीमद्भा. 6/14/19) इत्यादि। यावत्समाधौ स्वयमनुभूय निरूपितं सा समाधिभाषा।

(तत्त्वार्थदीपनिबन्धे शास्त्रार्थप्रकरणे सप्तमकारिकायां स्वयमाचार्यकृता 'प्रकाशव्याख्या)

अस्य निरूपणस्याधारः श्रीमद्भागवतस्यायं श्लोकः–

अथो महाभाग भवानमोघदृक्

शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।

उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये

समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम्।। (श्रीमद्भा. 1/5/13)

वस्तुतः शास्त्राणां तिस्रो भाषा भवन्ति–समाधि–भाषा–लौकिकीभाषा–परकीया भाषा चेति–

समाधिभाषा प्रथमा लौकिकी च तथा परा।

तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधास्मृता।।

इत्येषा प्राचीनोक्तिः। भागवतशास्त्रे समाधिभाषाया एव प्राधान्यं लौकिकीपरकीये त्वत्र तामेव पुष्णीतस्तस्मात्ते गुणीभूताः अत्राप्याह श्रीवल्लभाचार्यवर्यः–

लौकिकी चान्यभाषा च समाधेः पोषिके तु ते।

ते प्रमाणमभिप्रायात्सर्वथा पूर्ववन्नहि।।

(तत्त्वार्थदीपनिबन्धे, भागवतार्थप्रकरणे कारिका 12)

इत्थं पुराणोत्तमे श्रीमद्भागवते प्रतिबिम्बितं भाषादर्शनं दिङ्मात्रमुपदर्शितं सुधियामाह्लादसंवर्द्धनायेति शम्।

सन्दर्भग्रन्थः

1. श्रीमद्भागवततत्त्वबिन्दुः (डॉ.विन्ध्येश्वरीप्रसादमिश्रो 'विनयः') न्यू भारतीय बुककार्पोरेशन, दिल्लीतः प्रकाशितो ग्रन्थः

2. इमं स्फोटमव्यक्तमोङ्कारम्। (श्रीमद्भा. 12/3/39 इत्यत्र भावार्थदीपिका टीका)

3. पृथक्पृथक्स्थितिविशेषे विशेष्ये कस्मिंश्चिद्, विशेषणानां योजननिस्सारणरूपा वाक्यार्थ-बोधात्मिका मानसी काचन पद्धतिराविर्भवति शाब्दबोधप्रक्रियायामिति प्राभाकरप्रघट्टके प्रसिद्धम्।

4. तैत्तिरीयब्राह्मणे 2/2/4/2

5. श्रीमद्भा. 11/21/39 इत्यत्र भावार्थदीपिका (श्रीधरीटीका)

6. तत्रैव, 12/6/40 इत्यत्र 'भावार्थदीपिका'

आचार्य्यः

संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काये

(वैदिकदर्शनविभागे)

काशीहिन्दूविश्वविद्यालये

वाराणस्याम्



विश्वं महेश्वरे भाति संवित्स्वातन्त्र्यजृम्भितम्

प्रो. कमलेश झाः

महेश्वरस्य भगवतः प्रकाशसंज्ञा प्रथते। प्रकाशः स्वभावी, विमर्शस्तु तत्स्वभावः। नच स्वभावस्वभाविनोः वस्तुभेदो भवति। अत एव तु न भिद्यते वह्निर्दाहाद् दाहो वा वह्नेः। स्वभावादेव विमर्शरहितः प्रकाशः स्वीकर्तुं वक्तुं वा न शक्यते। विमर्शस्यैवापरं नाम विद्यते स्वतन्त्रता शक्तिश्च। सा च प्रकाशनक्रियाकर्तृत्वलक्षणा शिवसमाश्रिता विलसति। एनामेव पुरस्कृत्य शिवः स्वभित्तौ स्वेच्छया सर्वं विश्वमवभासयति। प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयेति त्रिधा संविभक्तस्य सकलस्य विश्वस्य प्रकाशमानतां यत्प्रयच्छति शिवः तदेवोच्यते शिवः स्वात्मैकात्म्येन सर्वं विश्वमवभासयति। इदमेव कारणं शिवस्य प्रकाशसंज्ञाप्रथने। मम भाति, तव भाति, देवदत्तस्य भाति–इत्येवं यद् विश्वं प्रकाशमानं भवति ततोऽयं निष्कर्षः प्राप्यते–प्रकाशात्मकतानतिरेकि विश्वमिति। प्रकाश एव विश्वस्य वास्तविक आत्मा, यतोहि प्रकाशसंलग्नस्यैव तस्य भानं जायते नान्यथा। न च कथमपि स्वीकर्तुं शक्यते प्रकाशाद् भेदो विश्वस्य। प्रकाशाद् भेदे सति विश्वस्य या प्रकाशमानता प्रतीयते सा कथंचिदपि नोपपत्तिमञ्चति। एवञ्च स्पष्टमिदमुक्तं भवति–अवभासमानमिदं घटपटाद्यात्मविश्वं प्रकाशमहेश्वरादनतिरिक्तं विद्यते।

अत्र काचन जिज्ञासा स्वरसतः समुदेति। प्रकाशनक्रियाकर्तृता प्रकाशमहेश्वरे यदुल्लसति प्रकाशस्यैव सा प्रकाशमानता, न तु विश्वस्य। तदेवं प्रकाशः प्रकाशते इत्येवानुभूतिः स्यान्न पुनः विश्वं प्रकाशते इति। तद्विपरीतं प्रतीतिरेषा प्रथते–नीलमवभासते, सुखमवभासते, घटोऽवभासते पटोऽवभासते–इत्येवमादिः। तदेवं यद् विश्वप्रकाशनं तन्न शक्यते प्रतिषेद्धुम्। तस्य चैतस्य विश्वप्रकाशनस्य कृते का वा युक्तिरुपपत्तिर्वा जागर्तीति। यद्यपि प्रकाशः शिवः विश्वन्तु न शिवः अथापि विश्वं यद् अवभासते–तत्र युक्तेः गवेषणायामारब्धायामेष निष्कर्षोऽवाप्यते संवित्स्वातन्त्र्यस्यैवैष महिमा यत्प्रकाशाभिधो महेश्वरः स्वभित्तौ अतिरिक्तायमानं विततं विचित्रं विश्वमवभासयति–इति। अयमाशयः–दर्पणभित्तिलग्नं मुखं घट–पटादिकं वा चित्रं वस्तु यत् प्रतिबिम्बति, ततोऽनतिरिक्तमपि तदतिरिक्ततया यद् भासते तद्वद् चिद्–दर्पणे चित्रविश्वप्रतिबिम्बनं

ततोऽनतिरिक्तमपि तदतिरिक्ततया स्वातन्त्र्यमहिम्ना यदवभासते तन्नानुपपन्नं विश्वस्यावभासनमिति। तद् यथोक्तम्–

निर्मले मकुरे यद् वद् भान्ति भूमिजलादयः।

अमिश्रास्तद्वदेकंस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृतयः॥[1]

रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि।

गृह्यते पञ्चभिस्तच्च चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः॥[2]

एतदत्र विशिष्यावगन्तव्यम्–देवदेवस्य संविन्महेश्वरस्य नैर्मल्यं द्विविधं भवति–मुख्यममुख्यं च। तत्र मुख्यं नैर्मल्यं नाम सर्वतः स्वच्छत्वम्। तदेतद् मुख्यं नैर्मल्यं संविन्महेश्वरे तिष्ठति। अथ यदमुख्यं नैर्मल्यं तत्तु अंशांशिकातः स्वच्छत्वम्, तदेतद् संविद इच्छया यत्किञ्चिदेव रूपं, स्पर्शः तदन्यद् वा कुत्रचिदेव दर्पणादौ विलसति। पृथिव्यप्तेजःसु एव रूपं तिष्ठति। अत एव पार्थिवविशेषे दर्पणादौ आप्यविशेषे जलाशयादौ तैजसविशेषे चक्षुरादौ च रूपस्य स्वच्छत्वात् तस्यैव प्रतिबिम्बनं जायते न तु रसादेः। अथ यत्र रसस्य स्वच्छता तत्र रसस्यैव प्रतिबिम्बनं भवति। एवं स्पर्शादेरपि विषये बोध्यम्। यथोक्तम्–

नैर्मल्यं मुख्यमेकस्य संविन्नाथस्य सर्वतः।

अंशांशिकातः क्वाप्यन्यद् विमलं तत्तदिच्छया॥[3]

सदृशं भाति नयनदर्पणाम्बरवारिषु।

तथाहि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते॥[4]

नैर्मल्यं यस्य यत्रास्ति तच्च तत्रावभासते।

सर्वनैर्मल्यसम्पन्ने चिद्रूपे सर्वमेव हि॥[5]

यथा निर्मलरूपे हि रूपस्य प्रतिबिम्बनम्।

तथैव निर्मलस्पर्शे स्पर्शस्य प्रतिबिम्बनम्॥

दन्तोदके रसस्यापि स्पर्शस्यानन्दधामनि।

घ्राणे गन्धगुणस्यापि प्रतिबिम्बं कदाचन॥[6]

एतदुक्तं भवति–आभाससारत्वाविशेषेऽपि ज्ञानशक्तिस्वभावे स्वच्छे क्रियाशक्तिस्वभावस्य अस्वच्छस्य प्रतिबिम्बनं भवति। ततश्च वस्तुतः चिदेव संवित्स्वातन्त्र्यात् बिम्बप्रतिबिम्बतया चित्रं यदवभासते तदेव विश्वमित्युच्यते न ततोऽन्यत् किञ्चनैतत्। ततश्च शिवो भातीति विश्वं भातीति च न शिवादतिरिच्यते भानम्। यथोक्तम्–

भावानां यत् प्रतीघाति वपुर्मायात्मकं हि तत्।

तेषामेवास्ति सद्विद्यामयं त्वप्रतिघातकम्।।[7]

इदमप्यत्रावधेयम्–प्रतिबिम्बभिन्नं यद् बाह्यं वस्तु घटादिकं तस्योत्पत्तौ कारणापेक्षा भवति अन्यथा सर्वं सर्वस्माद् भवेत्। किन्तु उत्पत्त्यनन्तरं वस्तुनः या स्थितिर्भवति तत्र कारणसापेक्षता नेष्यते। दृश्यते हि लोके चक्रादिकमपेक्ष्यैव घट उत्पद्यते। उत्पन्नस्य पुनरस्य घटस्य चक्रादिपरिहारेणैव स्थितिरुपलभ्यते। तद्विपरीतं प्रतिबिम्बात्मकस्य मुखादेः दर्पणादेः निमित्तस्य अपेक्षां विना स्वातन्त्र्येण स्थितिः नैवोपलभ्यते। अतः प्रतिबिम्बस्य घटादेरिव न स्वतन्त्रं, स्थायि अस्थायि स्थिरम् अस्थिरं वा रूपमिष्यते अतः बाह्याद् घटादेः भिन्नरूपता प्रतिबिम्बात्मनो मुखादेः विद्यते। अथ शशविषाणादेस्तुच्छादपि प्रतिबिम्बात्मनो मुखादेर्भिन्नरूपता भवति। अवस्तुनः शशविषाणादेरवभासनन्तु कदापि न भवति तद्विपरीतं प्रतिबिम्बात्मकं मुखादिकं तु सर्वस्यावभासते। अतः प्रतिबिम्बं बाह्यवस्तुनः घटपटादेर्भिद्यते। अवस्तुनः शशविषाणादेरपि भिद्यते प्रतिबिम्बम्। अतस्तार्तीयं रूपं प्रतिबिम्बस्य नितरामेष्टव्यम्। तदेव कीदृशमिति जिज्ञासायां गुरुभिरुक्तम्–

न देशो न रूपं न च समययोगो न परिमा

न चान्योन्यासङ्गो न च तदपहानिर्न घनता।

न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति

ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरदिशद् दर्पणविधिः।।[8]

दृष्टान्ते दर्पणप्रतिभासानां मुखादीनां दर्पणसंलग्नतया एवावस्थितिर्भवति अथापि तद्भिन्नतया प्रथनं भवति। दर्पणादन्यत्र मुखादीनान्तु नावस्थानम् न च ततः कथंचनापि पृथक्त्वं भवति। तद्वद् दार्ष्टान्तिके संविन्महेश्वरे प्रतिभासमानानामपि घटपटादीनां बाह्यवस्तूनां विश्वपदवाच्यानां भगवतैव आभासमात्रसारतया प्रथनं भवति, न पुनरेषां वास्तवं बहीरूपतया सत्त्वं भवतीति

तत्र तत्र लोकैर्योऽभिनिवेशः या वा आसक्तिर्विधीयते तत्र साधु–इत्येव- मुपदेशः स्वरसतः शैवागमदार्शनिकैराचार्यैर्विधीयते। सत्यमेवोक्तम्–

यथान्तर्निर्मलादर्शे भान्ति भावा विरोधिनः।

अनामिश्रास्तथैतस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः।।[9]

तदेवं निखिलमपीदं नीलसुखाद्यात्म विश्वं संवित्यात्मनो महेश्वरस्य एकस्य तत्त्वादप्रच्यु-तस्यानतिरिक्तं भवदपि यदतिरिक्ततया भासते तत्र तदीयस्वातन्त्र्यं विमर्शापरनामधेयं बिम्बस्थानी-यमेव परमं महः परममाहात्म्यशालि चकास्ति।

इयांस्तु विशेषः–दर्पणे पुरोभागे एव प्रतिभासो मुखादेः, खड्गे पुनरपरभागेऽपि, स्फटिके तु सर्वतः प्रसरति। अथ सर्वस्वच्छभूते संविन्महेश्वरे तु सर्वतः सर्वमेव रूपादिकमवभासते इति बोधात्मनः संविदः सर्वस्वच्छता अत्यन्तं विशदा समाभाति। आदर्पणमाच्च स्फटिकं प्रतिबिम्बनिमित्तस्य स्वाकृतिरपि भासते परं संविदो विश्वप्रतिबिम्बनिमित्तायाः यन्नैव स्वाकृत्यवभासनं तदेतदत्यन्तस्वच्छता चकास्ति। यथोक्तम्–

यथा च सर्वतः स्वच्छे स्फटिके सर्वतो भवेत्।

प्रतिबिम्बं तथा बोधे सर्वतः स्वच्छताजुषि।।

अत्यन्तस्वच्छता सा यत् स्वाकृत्यनवभासनम्।

अतः स्वच्छतमो बोधो न रत्नं त्वाकृतिग्रहात्।।[10]

यथाहि विरहिणः संकल्पादौ बिम्बाभावेऽपि तीव्रतरस्मरणादिना कान्ताप्रतिबिम्बं भातं भवति तथा बिम्बाभावेऽपि बिम्बस्थानीया ज्ञानक्रियाद्यात्मशक्तिरेव महेश्वरस्वभावभूता निमित्तमिष्यते वैचित्र्यचित्रितस्य घटादेर्विश्वस्य प्रतिबिम्बने। विमर्शरहितस्य प्रकाशस्य प्रदीपादेर्न वास्तवप्रकाशसंज्ञा चिन्मयता वा भवति। अत एव दर्पणादेः प्रतिबिम्बनिमित्तस्य जडरूपता भवति। तद्वैपरीत्येन संविदो विश्वप्रतिबिम्बनिमित्तभूतायाः पुनश्चैतन्यरूपता वास्तवप्रकाशरूपता सविमर्शत्वादेष्टव्या।

यथोक्तम्– **इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीयचिदम्बरे।**

प्रतिबिम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः।।[11]

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह

यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले।

बोधः पुनर्निजविमर्शनसारवृत्त्या

विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु।।[12]

सा चैषा विमर्शशक्तिः प्रतिभा कौलिकीति च व्यपदिश्यते। भगवान् महेश्वरः योगीव निरुपादानं संवित्स्वातन्त्र्यमहिम्ना विश्वं घटपटाद्यात्म स्वविमर्शस्थितं स्वेच्छया बहिः प्रकाशयेदिति संवित्स्वातन्त्र्यं किमपि विजयतामिति शम्।।

विश्वैकरूपविश्वात्मविश्वसर्गादिकारणम्।

परप्रकाशवपुषं स्तुमः स्वच्छन्दभैरवम्।।[13]

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. श्रीत. 3/4
2. उद्धृतं, तत्रैव विवेके
3. श्रीत. 3/9
4. तत्रैव 3/5
5. श्री पू.प्र.का. 1/355
6. तत्रैव 1/350-51
7. श्रीत. 3/10
8. तत्रैव 3/23
9. विवेके उद्धृतम् पृ.29
10. श्रीत. 3/47-48
11. तत्रैव 3/65
12. तत्रैव विवेके उद्धृतम्
13. स्वच्छन्दतन्त्रम् - 30, खण्ड-1, पृ.1

प्रो. कमलेश झाः

अध्यक्षः धर्मागमविभागः

सं.वि.ध.वि.संकायः, का.हि.वि.वि.

वाराणसी।

व्याकरणस्य विषयः

प्रो. गोपबन्धु मिश्रः

प्रत्येकं शास्त्रस्य अधिकारी, विषयः, सम्बन्धः प्रयोजनं चेति अनुबन्धचतुष्टयं भवति। अनुबन्धत्वं नाम अध्ययनविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानजनकज्ञानविषयत्वम्, अधिकार्यादिषु चतुर्षु अनुबन्धेषु एतस्याः परिभाषायाः सुसङ्गतत्वात्। एतेषु अनुबन्धेषु विषयाख्यः द्वितीयः अनुबन्धः सम्बद्धशास्त्रस्य प्रतिपाद्यः प्रमेयभूतः पदार्थः भवति। शास्त्रं तस्य विषयस्य प्रतिपादकं भवतीति कारणात् शास्त्रेण सह तस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः भवति।

'अथ शब्दानुशासनम्' इत्युक्तवता महाभाष्यकारेण 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इत्यादिवाक्येन प्रयोजनं कथितमस्ति।[1] तद्व्याख्याकारः कैयटाचार्य आह–''भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणस्य साक्षात् प्रयोजनमाह–अथ शब्दानुशासनमिति। प्रयोजनप्रयोजनानि तु रक्षोहादीनि पश्चाद् वक्ष्यति।''[2] एतां व्याख्यामनुसृत्य शब्दज्ञानं शब्दानुशासनं वा व्याकरणस्य मुख्यं प्रयोजनं मन्वानो नागेशभट्टः प्रदीपोद्योते एतद्व्याकरणशास्त्रस्य इतरान् अनुबन्धान् एवं व्याख्याति–''तत्र शब्दज्ञानरूपे प्रयोजने उक्ते विषयोऽप्युक्त एव। शास्त्रजन्यज्ञानविषयस्यैव शास्त्रविषयत्वादिति बोध्यम्। तज्जिज्ञासुरधिकारी, प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्ध इति अर्थादेव बोध्यम्।''[3] एतदनुसारमेष फलितार्थो निष्पद्यते–व्याकरणशास्त्रस्य साधुशब्दजिज्ञासुः अधिकारी, साधुशब्दः विषयः, व्याकरणशास्त्रेण सह एतस्य विषयस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः, शब्दज्ञानं च प्रयोजनम् इति अनुबन्धाः चत्वारो भवन्ति। तत्र च ''ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्''[4] इत्युक्तेः शब्दज्ञानस्य विषये शब्दे स्थितेऽपि तथा च शब्दस्य ज्ञाने जातेऽपि तस्य फलं किमिति प्रश्नः साक्षाद् उदेति। अर्थात् केवलं शब्दज्ञानं जातं चेत् व्याकरणस्य प्रयोजनं तु सिद्धम्। किन्तु प्रत्येकं प्रयोजनेन फलवता भवितव्यम् इत्येतस्माद् हेतोः एतस्य प्रयोजनस्य फलं किमिति जिज्ञासा तिष्ठत्येव। एतस्या जिज्ञासायाः समाधानप्रसङ्गे एवं कथयितुं शक्यते यत् शब्दज्ञानेन धर्मः मोक्षो वा फलरूपेण लभ्यते। तत्र प्रमाणरूपेण महाभाष्योक्तिः प्रवर्तते– ''शब्दज्ञाने धर्मः, अपशब्दज्ञानेऽधर्मः''[5] इति।

वाक्यपदीये व्याकरणस्य अष्ट विषया उक्ताः सन्ति। ते च द्विविधः शब्दः, द्विविधोऽर्थः, द्विविधः सम्बन्धः, द्विविधं च फलमिति कथिताः सन्ति।

द्विविधः शब्दः–(1) अन्वाख्येयः, (2) प्रतिपादकः च। अन्वाख्यातुं शक्यः अन्वाख्येयः, यथा–'राम' इति (रम् + घञ् इति तत्र अन्वाख्यानम्। प्रतिपादयत्यर्थम् इति प्रतिपादकः अपरः शब्दविशेषः, यथा–डित्थादिः अव्युत्पन्नः शब्दः। तत्र प्रतिपादकत्वं तु अस्ति, किन्तु अन्वाख्यानं नास्ति इति भावः।

द्विविधः अर्थः–(1) अपोद्धारपदार्थः, (2) स्थितलक्षणश्च। अपोध्रियन्ते पृथक् क्रियन्ते पदार्थाः यस्मात् सः, यथा–पठ् + ति = पठति (अत्र प्रकृतिप्रत्यययोः काल्पनिकः प्रविभागः क्रियत एव)। स्थितलक्षणो नाम अखण्डवाक्यार्थः।

द्विविधः सम्बन्धः–(1) कार्यकारणभावः, (2) योग्यभावश्च। 'घट' इति शब्दः घटरूपार्थस्य कारणम्, एष कार्यकारणभावः सम्बन्धः श्रोतुः दृष्ट्या निश्चीयते। किं च यथा घटरूपोऽर्थः 'घट' इति शब्दविशेषस्य उच्चारणे कारणं भवति, तदा एष कार्यकारणभावः सम्बन्धः वक्तुः दृष्ट्या इति निश्चेतुं शक्यते।

द्विविधं फलम्–(1) धर्मः, (2) प्रत्ययः च साधुशब्दस्य उच्चारणेन धर्मो भवति, प्रत्ययः अर्थात् अर्थबोधोऽपि भवति। असाधुशब्दस्य उच्चारणेन अर्थबोधस्तु भवति, किन्तु धर्मो न भवतीति साधुशब्दप्रयोगस्य विशिष्टमुभयनिष्ठं फलं कथितमस्ति। वैयाकरणाः साध्वसाधु इति उभाभ्यां शब्दाभ्याम् अर्थबोधो भवतीति मतं पोषयन्ति। तर्हि साधुशब्दप्रयोगे यत्नस्य फलाभावः शङ्क्य इति चेत् कथ्यते–साधुशब्दप्रयोगेणैव धर्मावाप्तिः, न तु असाधुशब्दप्रयोगद्वारा इति साधुशब्दप्रयोगे वैशिष्ट्यं वरीवर्ति। तदेव कथ्यते भाष्यकारेण–

"समानायामर्थावगतौ शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते।" इति। तथा चाऽऽह भर्तृहरिर्वाक्यपदीये–

शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।

अर्थप्रत्ययनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः॥ वा.प.1/27

उक्ताम् अष्टपदार्थीमेवंप्रकारेण आह भर्तृहरिः–

अपोद्धारपदार्था ये ये चाऽर्थाः स्थितलक्षणाः।

अन्वाख्येयाश्च शब्दा ये ये चाऽपि प्रतिपादकाः॥

कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।

धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं सम्बद्धाः साध्वसाधुषु॥ वा.प. 1/24,25

इदानीं महाभाष्यवाक्यपदीययोर्मते समीक्ष्य एवं विमर्ष्टुं शक्यते। व्याकरणं शब्दशास्त्रमस्ति। शब्द एव अर्थरूपेण विवर्तते इति विवर्तवादम् उपस्थापयता आचार्येण भर्तृहरिणैव उक्तम्। किं च सर्वविधं ज्ञानं शब्देनैव भासमानं भवतीति तदीयं वचनमेवं स्फुरति–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ वा.प. 1/123

एष शब्दः बौद्धः बाह्यश्चेति वैयाकरणाः। बौद्धशब्दं विवक्षुणा भर्तृहरिणा प्रोच्यते–

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।

आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥ वा.प.1/84

श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यात् बाह्यात् शब्दात् एष बौद्धः शब्दः विशिष्टः अभिव्यङ्ग्यः अर्थबोधक इति वैयाकरणमतम्। अतः कथिताः शब्दार्थसम्बन्धफलभेदाः यद्यपि सङ्ख्यया अष्टेति उल्लिखिताः, किन्तु सर्वे ते बौद्धं शब्दमाश्रित्यैव प्रवर्तन्ते इति कारणेन वैयाकरणनये शब्द एव विषयः, शब्दशास्त्रं च तस्य प्रतिपादक इति निष्कर्षतया वक्तुं शक्यते।

सन्दर्भसूची

1. महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्
2. प्रदीपः, महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्
3. प्रदीयोद्द्योतः, महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्
4. काव्यप्रकाशः
5. महाभाष्यम्, पस्पशाह्निकम्।

डॉ. गोपबन्धु मिश्रः

प्रोफेसर

संस्कृतविभागः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः,वाराणसी।

****

वर्तमानसमये वेदानां प्रासङ्गिकता

प्रो. महावीरः

सुविदितमेव सर्वेषामपि भारतीयानां यन्नित्यसत्येषु परमात्मनः निःश्वासभूतेषु चतुर्षु वेदेषु विश्वस्य निखिलमपि ज्ञानविज्ञानं वरीवर्ति। सृष्ट्यादौ अग्नि,-वायु,-आदित्य,-अङ्गिरानामधेयानाम् ऋषीणां परमपवित्रेषु अन्तःकरणेषु विश्वकल्याणाय एते चत्वारो वेदाः परमेश्वरेण प्रकाशिताः। न केवलं भारतीयाः विद्वांसोऽपितु वैदेशिका अपि वेदानां सर्वप्राचीनत्वमुररीकुर्वन्ति। व्याकरणमहाभाष्यकारः पतञ्जलिः वेदानां महत्त्वं गौरवञ्च उद्घोषयन् प्राह–'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' मनुस्मृतिकारः मनुरपि प्राह–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते

एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।

वेदानां सर्वज्ञानमयत्वं, धर्माधाररूपत्वं, सर्वविद्यामयत्वं, विविधविज्ञानमूलरूपत्वं च मन्वानाः मन्वादयः ऋषयः प्राहुः–

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ मनु. 2–7

सर्वेऽपि विद्वत्तल्लजाः, भारतीयाः दार्शनिकाः, आचारशिक्षाप्रवणाः स्मृतिकाराः, शब्दतत्त्वमीमांसादक्षाः वैयाकरणाः अन्ये च शास्त्रकाराः वेदानां परमप्रामाण्यं प्रतिपदम् उद्घोषयन्ति।

स्मृतिकाराणां मतमिदं यद् ब्राह्मणैः एकनिष्ठतया वेदाध्ययनरतैर्भाव्यम्। एतद् वेदाध्ययनमेव विप्राणां परमं तपः। यश्च वेदमतिरिच्य अन्यस्मिन् शास्त्रे बद्धादरो न सः द्विजः। यथा–

वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥ मनु.2–166

वेदं देवादीनां नेत्रं निगदन्ति। तद्यथा-

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।

अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥ मनु.12/94

श्रुतीनां विषये भारतीयंदार्शनिकेषु सर्वोच्चपदे प्रतिष्ठिताः शंकराचार्यपादाः ऊचुः 'महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति।'

वेदशब्दः ज्ञानार्थकाद् विद्धातोः घञ्प्रत्यये कृते सति निष्पद्यते। एवं वेदशब्दो ज्ञानार्थकः। विद् सत्तायाम्, विद् विचारणे, विद्ऌलाभे, विद् चेतनाख्याननिवासेषु इति धातुभ्योऽपि घञि वेदशब्दः निष्पद्यते। एवं वेदाः ज्ञानराशित्वाद् शाश्वतस्थायिनः, ज्ञाननिधयः, मानवहितसाधकाः, कर्त्तव्याकर्त्तव्यबोधकाः, संस्कृतेराधारभूताः, शुभाशुभनिदर्शकाः, जीवनोन्नायकाः आचारसंचारकाः, सुखशान्तिसाधकाः, ज्ञानालोकप्रसारकाः, कलाकलापप्रेरकाः, आशायाः आश्रयाः, नैराश्यविनाशकाः, चतुर्वर्गावाप्तिसोपानस्वरूपाश्च सन्ति। न केवलं संस्कृतभाषाविरचिते वाङ्मये अपितु सर्वास्वेव भारतीयभाषासु श्रुतिमहत्त्वं सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रतिपाद्यते।

केचन अज्ञानान्धकारनिमीलितलोचनाः वेदभानोः महत्त्वं न विदन्ति। ते तु वेदाः केवलं कर्मकाण्डस्य उपासनायाः, पूजायाः वा ग्रन्थाः इति मन्यन्ते। परमस्माकं सुदृढोऽयं विश्वासो यद् वेदेषु सर्वेषां मानवानां यद्यत् कल्याणकरं तत् तत् सर्वं निहितं वर्तते। इदमेव कारणं यद् युगाद् युगान्तराणि व्यतीतानि, कालेन कवलीकृताः नैकाः संस्कृतयः सभ्यताश्च परं वैदिकी संस्कृतिः अद्यापि जीवति, न केवलं जीवति अन्यान् अपि जीवयति। रामायण–महाभारत–मनुस्मृति–गीतादिग्रन्थेषु श्लोकानां संख्या प्रतिदिनं वृद्धिंगता, तेषु–तेषु ग्रन्थेषु बहूनि पद्यानि पठित्वा भ्रमतीव मनः, परं चतुर्षु वेदेषु एकमात्रापरिवर्तनमपि नाभवत्, का कथा मन्त्रपरिवर्त्तनस्य, तत्र हेतुः वेदानां नित्यत्वं, संशयविपर्ययरहितनिर्भ्रान्तज्ञानमयत्वम्। वेदेषु कस्यापि एकस्य देशस्य, धर्मस्य, कालस्य वा वर्णनं नास्ति। तत्र न केवलं ब्राह्मणानाम् अधिकारः नापि च भारतीयानामेव, ते तु समेषां विश्वस्थानां मानवानां कृते वर्तन्ते। प्राचीनतमे काले वैदिकज्ञानस्य महत्त्वमासीत् अद्यापि वर्तते, भविष्यति कालेऽपि तन्महत्त्वं तथैव स्थास्यति।

आधुनिकाः जनाः कथयन्ति–वर्त्तमाने वैज्ञानिकयुगे, संगणकयुगे वा नास्ति वेदानां प्रासङ्गिकता, वेदास्तु केवल पुस्तकालयानां, पुरातत्त्वसंग्रहालयानामेव वा शोभां वर्धयन्तु, मन्ये तैः वेदाः नाधीताः वेदार्णवे न आलोडितम्। यदि श्रद्धया वेदाध्यनमकरिष्यन् तर्हि वेदविरुद्धं नावदिष्यन्।

अद्यतनीये हिंसादुराचारभ्रष्टाचाराकुले भयावहे विकरालकाले यदि केनापि माध्यमेन प्रेम्णः, अहिंसायाः, मित्रतायाः, सदाचारस्य, विश्वबन्धुत्वस्य च प्रतिष्ठा भवितुमर्हति, तर्हि वेदानामालोकेनैव।

आसीत्कोऽपि स्वर्णिमः कालः भारतवर्षस्य यदा अत्रत्याः सर्वेऽपि जनाः परस्परं संस्कृतं भाषन्ते स्म। तदा न केवलं मानवाः पशुपक्षिणोऽपि वेदमन्त्रोच्चारणमकुर्वन्। तस्मिन् रमणीयकाले गेहे-गेहे वेदमन्त्रध्वनिः श्रूयतेस्म, सर्वत्र यज्ञानां धूमेन पर्यावरणं शुद्धमासीत्। अत्रत्यः महीपतिः तदा उच्चस्वरेण समुद्घोषितवान्–

न मे जनपदे स्तेनो न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अद्य तु वेदाः विच्छिद्यन्ते,धर्मः विध्वंस्यते, आचारः विनाश्यते, भ्रातृभावः, मैत्रीभावः, मातृभावो वा विलयं गच्छति। परिवारेषु, समाजे, राष्ट्रे विश्वे वा अनुदिनं हिंसा, अशान्तिः एधते। भगवती श्रुतिः निगदति–

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

तथा च– **अनुव्रतः पितुः पुत्रः मात्रा भवतु सम्मना।**
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम्॥

वेदाध्ययनरतो यो मानवो प्रतिदिनं प्रातरुत्थाय गायति–

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पति प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्वं इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह॥

सः किं कदापि कस्यापि अहितम् अप्रियं वा करिष्यति। स तु सर्वथा प्रार्थयते–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

परमेशभक्तस्य वेदाध्ययनरतस्य मनसि भावोऽयं जागर्ति–

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

शिवसङ्कल्पमनाः, देवमनाः पुरुषः कामयते–

विश्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।

याश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि।।

सः मुहुर्मुहुः भगवन्तं करुणासागरं प्रार्थयते–

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

वेदे उपदिष्टम्–मनुर्भव, ज़नय दैव्यं जनम्।

अर्थात् हे मानव! प्रथमं त्वं मानवतां धारय, तदनन्तरञ्च दिव्यगुणोपेतां सन्ततिं जनय।

अथर्ववेदस्य सुविख्याते भूमिसूक्ते ऋषिः निगदति–

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

वसुधैव कुटुम्बकम्, यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

अद्य जनाः परस्वमपहृत्य धनवृद्धिमिच्छन्ति, भोगेच्छा, धनेच्छा सततं वर्धमाना सर्वान् अशान्तान् करोति। धनं, पर धनं कामयमानाः किं किं पापकर्म न कुर्वन्ति? शोणशोणितेन धरां रञ्जयन्ति। वेदः उपदिशति–

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

यस्य धनस्य प्राप्त्यर्थमस्माभिः पापकर्माणि क्रियन्ते तन्न कस्यापि जनस्य, ततु विनाशशीलम्। कल्याणमीप्सुभिः जनैः प्रार्थना क्रियते–

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।

अर्थात् सर्वाभ्यः दिग्भ्यः कल्याणकराः विचारा आयान्तु।

तथा च– **विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।**

यद् भद्रं तन्न आसुव। यजु. 30.3

अर्थात् हे सवितः। अस्माकं जीवने यानि–यानि दुरितानि पापानि सन्ति, तानि अपाकृत्य यद् भद्रं कल्याणकरं तत् प्रापय।

वेदमाता अमृतपुत्रान् अतीव प्रेम्णा उपदिशति–

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। अथर्व.3.30.1

****

आधुनिकयुगनिर्माता महर्षिः दयानन्दसरस्वती उपदिशति–

'वेदः सर्वासां सत्यविद्यानां पुस्तकं वर्त्तते। वेदस्य पठनं, पाठनं, श्रवणं, श्रावणं च समेषां मानवानां परमो धर्मः।'

वेदेषु ये आदर्शाः पदे–पदे प्रतिपादिताः यानि जीवनमूल्यानि निर्दिष्टानि, याः याः विद्याः प्रकाशिताः, तत् सर्वं त्रिकालसत्यं, प्रत्येकं युगे सर्वथा–सर्वथा विश्वकल्याणकरं वर्तते।

भगवती श्रुतिः प्रेरयति–

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय।। अथर्व.19.6.31

मानवजीवनस्योद्देश्यं केवलं आहारनिद्राभयमैथुनमेव नास्ति। चरमोद्देश्यमस्ति–प्रभुप्राप्तिः, आनन्दावाप्तिः। श्रूयतां श्रुतिसन्देशः–

इयं ते यज्ञिया तनूः। यजु.4.13

अस्माभिः कदापि विपथगामिभिः नैव भाव्यम्। वैदिकाः ऋषयः निगदन्ति–

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।

मान्तः स्थुर्नो अरातयः।। ऋग् 10.57.1

एवं वेदानां प्रासङ्गिकता यथा पुराकाले आसीत् तथैव वर्तमानकालेऽपि विद्यते।

यदा संसारोऽयं वेदानुकूलमाचरिष्यति तदैव अक्षय्यां कीर्तिं सुखं शान्तिं च प्राप्य अमृतत्वमपि अधिगमिष्यति इत्यत्र न मनागपि सन्देहावसरः। इममेव भावं मनसि निधाय ताभिः ताभिरनेकाभिः संस्थाभिः वेदवेदाङ्गविदाम् अन्ताराष्ट्रियसम्मेलनम् आयोज्यते।

जयतु संस्कृतम्, जयतु वेदवाणी।

प्रो. महावीर

एम.ए. (वेद,संस्कृत,हिन्दी) डी-लिट्

अध्यक्षः-संस्कृतविभागः, सङ्कायप्रमुख-प्राच्य विद्या संकायः,

गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालयः, हरिद्वार (उत्तरांचल)

उपाध्यक्षः-उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी



संस्कृतविद्यानां सदापूर्णा खनिः मिथिला

डॉ. उमारमण झा

मिथिला सर्वतः पुण्या सुराणामपि दुर्लभा।
अतस्तीर्थेषु सर्वेषु मिथिला पूज्यते सदा।।

विदितमेव विदुषां समेषां यत् मिथिला वैदिककालादेव संस्कृतविद्यायाः मुख्यतमम्, अन्यतमं च प्रधानं केन्द्रमासीत्। अत्रैव ज्ञानोपार्जनाय सुदूरेभ्यः कुरु–पाञ्चालादिदेशेभ्यो ब्राह्मणाः जनक–याज्ञवल्क्यादीनां सकाशं समागतवन्त इति ब्राह्मणेषु उपनिषत्सु पुराणादिषु च बहुत्र प्रमाणरूपेण उल्लेखः समुपलभ्यते। मैत्रेयी–गार्गीप्रभृतयः तत्त्वजिज्ञासवः मैथिलराजस्य जनकस्य सभायां समागत्य समलङ्कृत्य च याज्ञवल्क्यादिभिः सह आध्यात्मिक–विषयालोचनमकुर्वन्निति नाविदितं विदुषाम्। इतिहासपुराणेष्वपि विशिष्ट–पण्डितमण्डल–मण्डित-मिथिला आसीदित्यपि स्पष्टमेव। अत्रैव बहवो वेदमन्त्रद्रष्टारः गौतमो रहूगणो वामदेवोऽन्ये च बभूवुः।

एवं भूते ज्ञानाग्निपवित्रीकृते उज्ज्वलीकृते च दिङ्मण्डले मिथिलामण्डले आचार्यानुशासनं समुपलभ्यापि तद्भाष्यव्याख्याने कथमप्यसमर्थः सुरेश्वराचार्य एव वाचस्पतिमिश्ररूपेण जन्मान्तरं गृहीत्वा पूर्वजन्मकृत–सङ्कल्पपूर्त्यै पुनरपि मिथिलायामेव जन्म लेभे इति च किंवदन्तीति किमत्र चित्रम्। प्रस्तुतनिबन्धे तस्याः मिथिलाया एव संकेतः प्रस्तूयते।

उदयनाचार्यः गंगेशोपाध्यायः, वर्धमानोपाध्यायः, पक्षधरमिश्रः, रुचिदत्तोपाध्यायः, श्रीधरठक्कुरः, भगीरथठक्कुरः, भवनाथमिश्रः (अयाचीमिश्रः), शंकरमिश्रः, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो धर्मदत्त (बच्चा) झा प्रभृतयः अनेके विद्वांसः मिथिलामेव जन्मना अलंकृत्य संस्कृतस्य अभिवृद्धिं चक्रुः। तत्रापि उदयनाचार्यस्य गर्वोक्तिः–

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः।

उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा

नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः।।

एकदा उदयनाचार्येण ईश्वरं प्रति सगर्वमुक्तम्–

ऐश्वर्य–मदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।

समायाते पुनर्बौद्धे मदधीना तव स्थितिः।।

श्रूयते यदस्य श्लोकस्य पठनानन्तरं सहसैव देवद्वारमुद्घाटितम्। उदयनाचार्यस्तु देवांश एव आसीत्।

भगवानपि तत्रैव मिथिलायां जनार्दनः।

श्रीमानुदयनाचार्य–रूपेणाऽवततार ह।।

अद्यापि मिथिलायां तु पाठयन्ति गृहे गृहे।

विद्वांसः शास्त्रसंपन्नाः.........।।

वाचस्पतिमिश्रः शंकरमिश्रश्च साक्षाद् देवस्वरूपौ एव। पक्षधरमिश्रस्तु पुनः ततोऽपि विशिष्ट इति केनापि उक्तम्–

शंकर–वाचस्पत्योः शङ्कर–वाचस्पती सदृशौ।

पक्षधरप्रतिपक्षी लक्ष्यीभूतो न च क्वापि।।

अस्यैव पक्षधरस्य सकाशं आगत्य प्रसिद्धनैयायिकाः वासुदेवसार्वभौमाः रघुनाथ-शिरोमणिप्रभृतयश्च नवद्वीपादागत्य न्यायशास्त्रमधीतवन्तः। श्रूयते यत् सदा रघुनाथशिरोमणिः (एकाक्षः) पक्षधरमिश्रसमीपं प्रथमत आगतवान् तदा पक्षधरेण प्रश्नः कृतः–

आखण्डलः सहस्त्राक्षः विरूपाक्षस्त्रिलोचनः।

अन्ये द्विलोचनाः सर्वे को भवानेकलोचनः।।

रघुनाथशिरोमणिना समुत्तरितम्–

योऽन्धं करोत्यक्षिमन्तं यश्च बालं प्रबोधयेत्।

तमेवाध्यापकं मन्ये तदन्ये नामधारिणः।।

वस्तुतोऽस्य म.म.पक्षधरमिश्रस्य नाम जयदेवमिश्र एव आसीत्। शास्त्रार्थे प्रबलपक्षधारणत्वात् पक्षधर इत्युपाधिना भूषितो विद्वद्भिः। अस्यैव जयदेवस्य प्रसन्नराघवाख्यं नाटकम्, चन्द्रालोकश्च प्रसिद्धौ ग्रन्थौ वर्तेते।

मैथिलपण्डितो भवनाथमिश्रः (पं.अयाचीति) शंकरमिश्रस्य पिता अतीव कर्मनिष्ठः प्रकाण्डपण्डितः शास्त्रज्ञमूर्धन्यश्च आसीत्। तेनैव स्वयमुक्तं वार्धक्यकाले–

अधीतमध्यापितमर्जितं यशो न शोचनीयं किमपीह विद्यते।
अतः परं श्रीभवनाथशर्मणो मनो मनोहारिणि जाह्नवीतटे।।

तस्यैवात्मजः म.म.शंकर मिश्रः बाल्यकाले एव राज्ञः सभायां स्वकीयं पाण्डित्यं प्रदर्शयन्नाह–

बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।
अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम्।।

महामहोपाध्यायो गंगेशोपाध्यायस्तु नव्यन्यायस्य पिता एव आसीत्। तेषां पाण्डित्यं तु पाश्चात्यैरपि स्वीक्रियते। तस्य 'तत्त्व–चिन्तामणि' ग्रन्थस्य आदिम एव मंगलश्लोकस्तस्य पाण्डित्यं सूचयति–

अन्वीक्षानयमाकलय्य गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां मतं
चिन्तादिव्य–विलोचनेन च तयोः सारं विलोक्याखिलम्।
तन्त्रे दोषगणेन दुर्गमतरे सिद्धान्त–दीक्षा–गुरु–
र्गंगेशस्तनुते मितेन वचसा श्रीतत्त्व–चिन्तामणिम्।।

पुनश्च कथयति–

यतो मणेः पण्डितमण्डनक्रिया प्रचण्ड–पाखण्ड-तमस्तिरस् क्रिया।
विपक्षपक्षेण विचारचातुरी न च स्वसिद्धान्तवचोदरिद्रता।।

गंगेशोपाध्यायमहाभागैः न्यायशास्त्रे एका नूतना एव प्रणाली प्रचालिता यत्र अवच्छेदकता–प्रकारतादीनां बाहुल्यं वर्तते। यथा–'यत्र यत्र धूमस्तत्र वह्निरि'ति साहचर्यनियमो व्याप्तिः इत्यस्य कृते लिख्यते चिन्तामणिग्रन्थे–

प्रतियोग्यसमानाधिकरण–यत्समानाधिकरणात्यन्ताभाव–प्रतियोगितावच्छेदका–ऽवच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।

पूर्वमीमांसाशास्त्रेऽपि जैमिनिः प्रभाकरमिश्रः मण्डनमिश्रः, शालिकनाथमिश्रः, वाचस्पतिमिश्रः, सुचरितमिश्रः, पार्थसारथिमिश्रः, परितोषमिश्रः अन्ये च बहवो मीमांसकपण्डिताः मिथिलायामभवन्। विद्यापतेः पुरुषपरीक्षायाः भूमिकायां उल्लेखो वर्तते यत् एकस्मिन् तडागयाग–समये 1400 मीमांसकाः समुपस्थिता आसन् यत्र पक्षधरमिश्रोऽपि स्वशिष्येन रघुनाथशिरोमणिना सह समागत आसीत्। मिथिलायाः वर्णने केनापि उक्तम्–

जाता सा यत्र सीता सरिदमलजला वाग्वती यत्र पुण्या

यत्रास्ते सन्निधाने सुरनगरनदी भैरवीचेशलिंगम्।

मीमांसा–न्याय–वेदाध्ययनपटुतरैः पण्डितै–र्मण्डिता या।

भूदेवो यत्र भूपो ग्गजनवसुमती सास्ति मे तीरभुक्तिः।।

अत एव नूनमेव 'मिथिला मीमांसा–न्याय–वेदाध्ययन–पटुतरैः मण्डिता' आसीत्। मिथिलायाः द्वादशनामसु ज्ञानपीठमपि एकं नाम वर्तते।

मीमांसकप्रवराणां मण्डनमिश्राणां नाम नाविदितं विदुषाम्। एतेषां सकाशं शास्त्रार्थं कर्तुं समागताः श्रीशङ्कराचार्या इत्यपि जनश्रुतिः प्रसिद्धा एव। यदा मण्डनमिश्रस्य ग्रामं प्रविश्य श्रीशंकराचार्येण 'मण्डनमिश्रस्य गृहं कुत्र वर्तते?' इति एका दासी पृष्ठा, तदा साऽब्रवीत्–

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति।

शिष्योपशिष्यैरुपगीयमानमवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम।।

श्रुत्वेदं शंकराचार्याः चकितचकिता अभवन्। श्रूयते यन्मण्डनमिश्रस्य शंकराचार्यस्य च शास्त्रार्थकाले मण्डनमिश्रस्य पत्नी भारती एव मध्यस्था आसीत्। शंकराचार्यस्तया भारतीदेव्या कामशास्त्रविषयके प्रश्ने पराजित इति।

मिथिलायाः विषये भवभूतेः श्लोकः स्मर्यते–

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां

विपर्यासो जातो घनविरलभावैः क्षितिरुहाम्।

बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं

निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं जनयति।।

मैथिलप्रवरस्य शालिकनाथमिश्रस्य पाण्डित्यमपि अद्वितीयमासीत्। ग्रन्थारम्भे एव स लिखति–

स्वाध्यायविधिवाक्यार्थविचारे प्रयतामहे।
प्रभाकरगुरोर्दृष्ट्या मीमांसारम्भसिद्धये।।

पार्थसारथिमिश्रोऽपि मीमांसाशास्त्रस्य अद्वितीयः पण्डितः। न्यायरत्नमालायां स लिखति–

भुवनत्रयविख्यात–श्रीमज्ज्ञानात्मसूनुना।
तत एव श्रुतं प्राप्य विश्रुतः पार्थसारथिः।।

शास्त्रदीपिकायां पुनः स एव लिखति–

[illegible]यभासतमच्छन्नशास्त्रतत्त्वार्थदर्शिकाम्।
कुमारिलमतेनाहं करिष्ये शास्त्रदीपिकाम्।।

सूत्रार्थसंग्रहे परितोषमित्रस्य अन्येषाञ्च उल्लेखो यथा–

जैमिनि–शबर–कुमारिल–सुचरित–परितोष–पार्थसारथयः।
उम्बेक–विजयकारो मण्डन–वाचस्पती च विजयन्ताम्।।

संस्कृतस्य काव्यसाहित्यक्षेत्रे गोवर्धनाचार्यः गोकुलनाथउपाध्यायः उमापतिः ज्योतिरीश्वरठक्कुरः, कविकोकिलविद्यापतिः, केशवमिश्रः भानुदत्तमिश्रः, मुरारिमिश्रः, गोविन्ददासः, गोविन्दठक्कुरः अन्ये च बहवो विद्वांसो मिथिलायां बभूवुः। आर्यासप्तशतीग्रन्थे उदयनाचार्यस्य गुरुः गोवर्धनाचार्यः मैथिलपण्डितस्य नीलाम्बरस्य विषये लिखति–

यं गणयन्ति गुरोरनु यस्यास्ते धर्म–कर्म संकुचितम्।
कविमहमुशनसमिव तं तातं नीलाम्बरं वन्दे।।

गोवर्धनाचार्यस्य भ्राता बलभद्राचार्यस्तु–

उदयन–बलभद्राभ्यां सप्तशती शिष्यसोदराभ्यां मे।
द्यौरिव रविचन्द्राभ्यां प्रकाशितां निर्मलीकृत्य।।

मिथिलायाः राज्यमपि पाण्डित्यबलेनैव प्राप्तम्–

आसीत् पण्डितमण्डलाग्रगणितो भूमण्डलाखण्डलो
जातः खण्डबलाकुले गिरिसुताभक्तो महेशः कृती।
शाके रन्ध्रतुरंगमश्रुतिमही–संलक्षिते हायने
वाग्देवी–कृपया शुचेन मिथिलादेशः समस्तोऽर्जितः।।

तस्यैव महेशठक्कुरस्य भ्राता भगीरथठक्कुरः विशतितमे एव वर्षे दुर्धर्षस्तार्किक आसीत्–

विंशाब्दे–जयदेवपण्डितकवेस्तर्काब्धिपारंगतः।
श्रीमानेष भगीरथः समजनि श्रीचन्द्रपत्यात्मजः॥
श्रीधीरातनयेन तेन रचिता श्रीमन्महेशाग्रजः।
श्रीदामोदरपूर्वजेन जयतादाचन्द्रमेषा कृतिः॥

मिथिलादेशे गार्गी–मैत्रेयि–सुलभा–सुनयना–भारती–लखिमा–चन्द्रकलाप्रभृतयः स्त्रीपण्डिता-श्चाप्यभवन्।

विंशतितमे खृष्टशताब्देऽपि म.म. डा. गंगानाथ झा–म.म.डा. जयदेव मिश्र–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–बच्चा झा–खुद्दी झा–दीनबन्धु झा–कविशेखरबदरीनाथ झा–डा. उमेश मिश्र–म.म.रामेश्वरझा प्रभृतयो बहवो विद्वांसः मिथिलादेशेऽभवन्।

एवमेव महामहोपाध्यायः कृष्णसिंहठाकुरः, महामहोपाध्यायः परमेश्वर झा, महामहोपाध्यायो राजेशमिश्रः, महावैयाकरणो मुक्तिनाथठाकुरः, नैयायिको विश्वनाथ झा, नैयायिको लोकनाथ झा, कइनाइ झा, वैयाकरणः खड्गनाथ झा, महावैयाकरणो लालजी झा, महामहोपाध्यायो मुरलीधर झा, महामहोपाध्यायः शशिनाथ झा, महामहोपाध्यायः चित्रधरमिश्रः, महावैयाकरणः चुम्मे झा, महामहोपाध्यायो दुःखमोचन झा, कविचन्द्रमणि झा, पण्डितप्रवरः त्रिलोचननाथमिश्रः, कविचन्द्रमणि झा, महावैयाकरणः शिवशंकर झा, अन्ये च शतशः शास्त्रमूर्धन्याः अस्मिन्नेव शताब्दे अभवन्। संक्षिप्तनिबन्धेऽस्मिस्तु स्थालीपुलाकन्यायेन केवलं मैथिलविदुषां दिग्दर्शनमेव कारितम्। किंबहुना–

साद्या शक्तिर्विमलमिथिलाधाम्नि कङ्कालिकेति
ख्याता सीता जनकतनया सच्चिदानन्दरूपा।
शैवं चापं त्रिभुवनमदव्रातहृत्कं विधाय
पूर्णानन्दं दशरथसुतं रामचन्द्रं निनाय॥

डॉ. उमारमण झा
राष्ट्रपतिसम्मानितो
लखनऊनगरम्



वैदिकं स्वरविज्ञानम्

डॉ. ब्रह्मचारी व्यासनन्दनः

चतुसृषु वेदसंहितासु वैदिकस्वराणां विशिष्टं महत्त्वं विराजते। वैदिकमन्त्राणामुच्चारणक्रमे एतेषाम् उदात्तानुदात्तस्वरितस्वराणां वैज्ञानिकता अर्थपरिवर्त्तनदृष्ट्या अतिविशिष्टा। प्रातिशाख्येषु शिक्षाग्रन्थेषु च विशेषस्वरनियमानां विवेचनं प्राप्तं भवति इत्यस्मिन् प्रसङ्गे प्रातिशाख्यकाराणां शिक्षाकाराणाञ्च मतव्यतिरिक्तं वैयाकरणानां मतमप्युपलभ्यते। वैदिकभाषायाः स्वरविषयकनियमानां तेषाञ्च वैशिष्ट्यानां पूर्णरूपेण विवेचनं कृतं वैयाकरणैरपि। महाभाष्यकारेण भगवता पतञ्जलिना वैदिकस्वराणां व्याकरणस्य प्रयोजनसन्दर्भे वैज्ञानिकविश्लेषणं कुर्वता इत्थं भणितम्–

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।। (महाभाष्ये पस्पशाह्निके)

अस्मिन् मन्त्रे महाभाष्कारेण शब्ददुष्टत्वं कतिविधं भवति इति प्रतिपाद्य तस्य किं दुष्फलमिति[1] प्रतिपादितम्। यस्मिन् मन्त्रे यः स्वरः साधुः तमुपेक्ष्य अनवधानतया स्वरान्तरस्य प्रयोगोऽपि शब्दसत्यत्वमेव। यथा–"इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" इत्यत्र शुद्धमन्तोदात्तं स्वरं विहाय आद्युदात्तः स्वरः ऋत्विग्भिः प्रयुक्तः। एवञ्च मन्त्रे शब्दसत्यत्व, संश्लेषात् यजमानस्य वृत्रस्य एव वधो जातः।

मन्त्रस्थपदानामर्थनिर्धारणे स्वराणां सम्यगुच्चारणमेवावश्यकं भवति। मन्त्रेषु स्वराणां स्थानपरिवर्त्तनद्वारा अर्थपरिवर्त्तनं जायते। स्वरेषु स्थानकारणत्वात् अस्य नामकरणं नित्यस्वरः समासे प्रकृतिस्वरो वा भवति। वैदिकवाङ्मयस्याधिकांशभागे गेयकारणत्वात् प्रयुक्तानाम् अच्-धर्मस्वराणां त्रिविधं स्वरूपं विद्यते तन्नाम त्रैस्वर्यम्। महर्षिणा पाणिनिना त्रैस्वर्यं प्रति त्रीणिसूत्राणि विरचितानि–उच्चैरुदात्तः (पा.सू.1.2.29), नीचैरनुदात्तः (पा.1.2.30), समाहारः स्वरितः (पा.1.2.31)। उदाहरणं यथा क्रमानुसारम् – अ, अ, अ।

एतेषां त्रयाणां स्वराणां परिचयो विधेयः सर्वप्रथमम्–

उदात्तः—उदात्तो हि उच्चस्वरः मन्यते। "उच्चैरुदात्तः" इति सूत्रेण उच्चस्वरेण उदात्तस्य उच्चारणं भवति तैत्तिरीयप्रातिशाख्यानुसारं गात्राणां दीर्घता, स्वरस्य कठिनता, कण्ठविवरस्य च संवृतता एव उदात्तस्योच्चारणकारणं भवति। दृश्यताम्–

आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य। (तै.प्रा. 22.9)

अनुदात्तः—अनुदात्तो हि निम्नस्वरः कथ्यते। "नीचैरनुदात्तः" इति सूत्रेण निम्नस्वरेणानुदात्तस्य उच्चारणं भवति। तैत्तिरीये प्रातिशाख्ये इत्यस्मिन् सन्दर्भे कथितमस्ति यत्–गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैः कराणि शब्दस्य। अपि च–

अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि। (तै.प्रा. 22.10)

स्वरितः—स्वरितस्तु मध्यमः स्वरः मन्यते वैयाकरणैः। भगवता पाणिनिना "समाहारः स्वरितः" इतिसूत्रद्वारा अस्य विधानं कृतम्। अयं स्वतंत्रः स्वरो वा, अथवा उदात्तानुदात्तयोः समाहार एवाऽस्ति इत्यस्मिन् विषये बहुविवादाः वर्त्तन्ते। वस्तुतस्तु अयं स्वतंत्रः स्वरः इति निश्चप्रचम्। यथा त्रपुताम्रयोर्मध्ये संयोगकारणत्वात् कांस्यस्योत्पत्तिः जायते तथैव उदात्तानुदात्तयोः समाहारस्वरूपः अयं स्वरः निष्पन्नः परन्तु भिन्नः स्वरः भवति। अस्मिन् स्वरितस्वरे कति उदात्तांशः तथा च कति अनुदात्तांशः इत्युपरि प्रातिशाख्यकारैः शिक्षाकारैः वैयाकरणैश्च पर्याप्तं विवेचनं कृतम्।

स्वराणां परिचयक्रमे उव्वटकैय्यटवैंकटमाधवादीनाञ्च विचारः अतिव्यापकोऽस्ति।

आधुनिकवेदभाष्यकारेण महर्षिदयानन्दस्वामिना स्वरव्यवस्थाविषयः विचारितः। तेन भणितम्–

"अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विधा, उदात्तषड्जादिभेदाः सप्त-सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलि प्रदर्शितानि लिख्यन्ते–

स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रुक्षता, अणुता कण्ठस्य संवृत्तता, **उच्चैः कराणि उदात्तविधायकानीति यावत् शब्दस्य।** अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति

नीचैः कराणि अनुदात्तविधायिकानीति यावत्–शब्दस्य। त्रैस्वर्य्येणाधीमहे, त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा–शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते–कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा। एव-मिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुण,य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। ते एते तन्त्रे तरनिर्देशे (अतिशयार्थबोधके तरप् प्रत्ययस्य निर्देशे) सप्त स्वराः भवन्ति। उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः,स्वरिते यः उदात् सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः।'' 'उच्चैरुदात्त' इत्याद्युपरि।। (अ.11पा.2, 32)

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ.385)

प्रातिशाख्येषु शिक्षाग्रन्थेषु च स्वरितस्य कतिपयभेदाः प्राप्नुवन्ति। ऋग्वेदप्रातिशाख्ये, कौहलि शिक्षायाम्, माण्डूकी शिक्षायाम्, नारदीय-शिक्षायां शैशिरीय-शिक्षायाञ्च स्वरितस्य सप्तभेदाः निर्दिष्टाः सन्ति। वाजसनेयिप्रातिशाख्ये याज्ञवल्क्य-शिक्षायाञ्च स्वरितस्य अष्टभेदाः प्राप्यन्ते अस्माभिः। तेषां नामानि सन्ति–(क) जात्यः (ख) प्रश्लिष्टः (ग) क्षैप्रः (घ) अभिनिहितः (ङ) तैरोव्यञ्जनम् (च) तैरोविरामकः (छ) पादवृत्तम् (ज) ताथाभाव्यः। तेषां स्वरितभेदानां संक्षेपतः परिचयः ईदृशो भवति–

(क) जात्यस्वरितः–स्वतन्त्रस्वरितान्तर्गते असन्धिजरूपे केवलं एकः स्वरितः तन्नाम जात्य–स्वरितः। जात्यस्वरितः अनुदात्तपूर्वः तिष्ठति। जात्यस्वरितस्य विशेषता भवति यत् यः स्वरः निश्चितरूपेण संयुक्तवर्णे एव भवति, यस्य परवर्त्तिवर्णः य् व् वा भवति।

यथा–कन्या क्व। पाणिनिना जात्य–स्वरितकृते 'तित्स्वरितम्' (पा.6.1.182) सूत्रम् विरचितम्।

(ख) प्रश्लिष्टस्वरितः–लौकिकसंस्कृते यः दीर्घसन्धिः वृद्धिसन्धिश्च कथ्येते तयोः प्रातिशाख्येषु शिक्षाग्रन्थेषु च 'प्रश्लिष्ट–स्वरितः' कथितमस्ति।

यथा– दिवि + इव = दिवीव ('ई' स्थाने)

स्रुचि + इव = स्रुचीव ('ई' स्थाने)

दिक्षु + उप = दिक्षूप ('ऊ' स्थाने)

(ग) क्षैप्रस्वरितः–लौकिकसंस्कृते यः यण्सन्धिः कथ्यते तं सन्धिं प्रातिशाख्येषु शिक्षाग्रन्थेषु च 'क्षैप्रस्वरितः' कथयन्ति।

यथा– त्रि + अम्बकम् = त्र्यम्बकम्

नु + इन्द्र = न्विद्रः

हि + अग्ने = ह्यग्ने

(घ) अभिनिहितस्वरितः–लौकिकसंस्कृते यः पूर्वरूपसन्धिः अस्ति, तं सन्धिं प्रातिशाख्येषु शिक्षाग्रन्थेषु च अभिनिहितस्वरितनाम्ना कथयन्ति।

यथा– ते + अवर्धन्त = तेऽवर्धन्त

सः + अब्रवीत् = सोऽब्रवीत्

ब्राह्मणः + अस्य = ब्राह्मणोऽस्य इत्यादयः।

ऋग्यजुरथर्वसंहितासु त्रैस्वर्यस्य एतत् रूपं मिलति। परन्तु सामवेदस्य गानसंहितायाम् अस्याभावः दृश्यते। अस्यां संहितायां सप्तस्वरपद्धतिः विद्यते। सामगाने प्रयुक्ते स्वरसप्तके ये स्वराः सन्ति तेषां नामानि–क्रुष्ट–प्रथम–द्वितीय–तृतीय–चतुर्थ–मद्र अतिस्वार्याश्च। अपरं नाम विद्यते शिक्षाग्रन्थे–षड्ज-ऋषभ-गान्धार–मध्यम–पञ्चम–धैवत–निषादाश्च। उदाहरणं यथा–

अग्ने आ याहि वीतये गृणीना हव्यदातये।

नि होता सरिसे बर्हिषि॥ (साम. 1/11/11)

सामगानपरम्परायां क्रुष्ट्वादय एव सप्तस्वराः प्रचलिताः सन्ति। तत्र स्वराङ्कनप्रक्रिया एतादृशी भवति–एकतः सप्ताङ्काः (1,2,3,4,5,6,7) निर्दिष्टाः भवन्ति मन्त्राणामुपरि मन्त्रान् पदानि वा अन्तरा च। अवरोह 1,2,3,4,5 एते अङ्काः निर्दिश्यन्ते तथा च आरोहक्रमे 5,4,3,2,1 लिख्यन्ते। हस्तसञ्चालनमाध्यमेन वीणादिवाद्ययन्त्रद्वारा च पञ्च–सप्तस्वराणामर्थवैचित्र्यं वैज्ञानिकं रहस्यञ्च प्राप्येते। एको सामगानमन्त्रः द्रष्टव्यः–

काऽऽस्तवा। सत्यो3 मा उदानाम्। मा हिष्ठो। मात्सादन्ध। सा। सा। औ हो हाइ। दृढा। चिदा। रुजौहो 3। हुम्मा। वाऽ सो 325हायि।।

वेदरक्षार्यं प्रकृति-विकृतिपाठाः–संसारेऽस्मिन् सर्वेषु लौकिकग्रन्थेषु प्रक्षेपाः सञ्जाताः किन्तु वैदिकग्रन्थेषु चतुर्षु वेदेषु न कोपि प्रक्षेपो मिलति अस्य साक्षात्कारणमस्ति उदात्तादिभिः स्वरैः सह प्रकृतिविकृतिपाठाः प्रचलिताः सन्ति। वेदरक्षार्थम् एतादृशाः पाठाः प्रसिद्धाः सन्ति।

प्रकृतिपाठान्तर्गते त्रयः पाठाः विद्यन्ते–संहिता–पद–क्रमाः।

यथा– **अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।**

होतारं रत्न–धातमम्। (ऋग्वेद 1/1/1) इति संहितापाठः।

अग्निम्। ईडे। पुरोहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्। होतारं। रत्नधातमम्–इति पदपाठः।।

अग्निम्। ईडे। ईडे अग्निम्। ईद्रे पुरोहितम् पुरोहितं यज्ञस्य। यज्ञस्य देवम्। देवम् ऋत्विजम्। ऋत्विजम् होतारं। होतारं ऋत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् इति रत्नधातमम्। इति क्रमपाठः।

क्रमपाठे पञ्चभेदाः भवन्ति अनुक्रम–उत्क्रम–व्युत्क्रम–अभिक्रम–सक्रमाश्चेति।

विकृतिपाठाः – विकृतिपाठान्तर्गते अष्टौ पाठाः आयान्ति।

तेषां नामानि – जटा–माला–शिखा–रेखा–ध्वज–दण्ड–रथ–घनाश्च।

उक्तञ्च–

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।

अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः।। (अष्टवि।)

मन्त्रार्थरक्षार्थम् एतेषां पाठानां विशिष्टं महत्त्वं भवति।

विस्तारभयात् एतेषां पाठानामुदाहरणानि मया न प्रदत्तानि।।

वेदार्थे स्वराणां महत्त्वम्

ध्वनिः वर्णानां प्रकृतिः। ध्वनेः द्वे रूपे स्तः–सामान्य–ध्वनिः तथा च विशिष्ट–ध्वनिः। सामान्यध्वनेः अर्थेन सह कोऽपि सम्बन्धो नाऽस्ति। विशिष्टो ध्वनिः एव ध्वनिः कथ्यते वेदार्थसन्दर्भे। वैदिकभाषायां सर्वेषाम् उदात्तानुदात्तस्वरितस्वराणां सम्बन्धः विशिष्टध्वनिना सह भवति।

वैदिकभाषायां प्रयुक्तेषु उदात्तादिषु स्वराघातः भवति परन्तु मन्त्रार्थक्रमे बलाघातः आयाति। ये स्वर–नियमाः सन्ति ते एव स्वराघातनियमाः। बलाघातस्य सम्बन्धः अर्थेन सह

अस्ति। 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इति बलाघातकारणेन स्वरपरिवर्त्तनं सञ्जातम्, तस्मात् कारणात् अर्थोऽपि परिवर्त्तनं सगातः।

स्वरद्वारा पदस्वरूपज्ञानम्

चत्वारि पदानि सन्ति–नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। एतेषाम् चतुर्णाम् पदानां स्वरूपज्ञानक्रमे स्वरः निर्णायकः भवति। इत्यस्मिन् आचार्यस्य वेङ्कटमाधवस्य कथनं महत्त्वपूर्णमस्ति। तेन कथितम्–

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।

एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्यर्थाः स्फुटा इति॥ (स्वरानु. 1.8.12)

वेङ्कटमाधवस्यं स्पष्टं मतमस्ति यत् नामाख्यातयोर्विभागः स्वरेणैव भवति। यथा–'किम्' शब्दस्य प्रथमैकवचने 'कः' इति पदं वर्तते। कृ धातोः लुङ्लकारे 'अकः' रूपं भवति। अटः अभावे 'कः' इति पदमवशिष्टम् अस्ति। इदं 'कः' इति रूपं सर्वनामरूमस्ति, कृ धातोः रूपमस्ति वा, अस्य निर्णयः वैदिकस्वरमाध्यमेनैव संभवति। यदि कः उदात्तयुक्तः भविष्यति तर्हि इदं सर्वनामपदं भविष्यति, यदि अनुदात्तो कः भविष्यति तर्हि इदं क्रियापदं रूपं भविष्यतीति।

(2) उदातः विभक्तेः स्वरूपस्यापि निर्णायकः भवति। एकाच् व्यञ्जनान्तप्रातिपदिकानां द्वितीयाबहुवचने तथा च पञ्चम्यां षष्ठ्यां च एकवचने समानानि रूपाणि भवन्ति।

यदि पदम् आद्युदात्तः भवेत् तर्हि तद् द्वितीयाबहुवचने भवति। एवञ्च उदात्तः प्रत्ययांशे विद्यते तर्हि तद्रूपं पञ्चम्यां षष्ठ्यां वा भविष्यति।

यथा – वाचः, वाचः।

(3) प्रथमायां सम्बोधने च रूपयोः साम्यं पदं भवति। उभयोर्विभागं स्वरः करोति।

यथा – जनासः – 'मनुष्य' – अन्तोदात्ते भूते सति।

जनासः – 'हे मनुष्याः' – आद्युदात्ते भूते सति।

(4) स्वरस्य लिङ्गनिर्धारणेऽपि स्वरः सहायको भवति। केचित् शब्दाः एतादृशाः सन्ति येषां पुल्लिङ्गे नपुंसके च समानानि रूपाणि प्रचलन्ति। एतेषां शब्दानां यत्पदम् आद्युदात्तः भवति तत्पदं नपुंसकं भवति। तथा च यत्पदं अन्तोदातः भवति तत्पदं पुल्लिङ्गं जायते।

यथा – रक्षः (नपु.), रक्षः (पु.)।

ब्रह्मन् (न.), ब्रह्मन् (पु.)।

एवमेव, यशस् (न.) कीर्तिः यशस् (पु.) – यशस्वी।

अपस् (न.) (कार्यम्), अपस् (पु.)

(5) समासपदानां निर्धारणाय स्वराणां सर्वाधिका उपयोगिता।

यथा – इन्द्रशत्रुः – अन्तोदात्तः विद्यते – तत्पुरुषसमासः।

इन्द्रशत्रुः – आद्युदात्तः विद्यते – बहुब्रीहिसमासः।

एवं प्रकारेण सिद्धं भवति यत् स्वरपरिवर्त्तनद्वाराऽपि मन्त्रार्थपरिवर्त्तनं करोति याज्ञिकः ऋत्विक्।

इत्यस्मिन् सन्दर्भे भगवता पतञ्जलिना 'स्थूलपृषती' इति पदमुधृत्य एतत् रहस्यं प्रतिपादितम्। यज्ञप्रकरणे कर्मकाण्डे एकं वाक्यमायाति–

''स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत''

अस्मिन् विषये संदेहः भवति। 'स्थूलपृषती' इत्यस्य पदस्य विग्रहः जायते – स्थूला चासौ पृषती – कर्मधारय तत्पुरुंषसमासे स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा – बहुब्रीहिसमासे वा सुष्ठु प्रयोगः भविष्यति, अस्य निर्धारणं केवलं स्वरमाध्यमेनैव संभवति।

एवञ्च पदार्थ-निर्णये वाक्यार्थनिर्णये च स्वराणाम् उपयोगिता स्पष्टीभूता भवति। अतस्तु उदात्तषड्जादीनां वैदिकस्वराणां मन्त्रार्थरक्षार्थं मन्त्रार्थबोधार्थसन्दर्भे च महती विशेषता परिलक्ष्यते इत्यस्मिन् विषये नास्त्यत्र कश्चिद् विसंवादः।

॥ शमित्योम् ॥

डॉ. ब्रह्मचारी व्यासनन्दनः
वरीयः प्राध्यापकः, संस्कृतविभागः
रामेश्वर महाविद्यालयः,
मुजफ्फरपुरम्



आधुनिकसंस्कृतकवितायां समसामयिकं जीवनवर्णनम्

डॉ. लालाशंकर गयावालः

आधुनिकं संस्कृतवाङ्मयं परमललितं सुविशालञ्च। एतस्य पारम्परिकीधाराः समग्रे विश्वे प्रवहमाणाः दरीदृश्यन्ते। एतस्यामेव परम्परायामेका परम्परा वर्तते समसामयिक-कविता-परम्परा। समसामयिकं नाम समसामयिकं जीवनवर्णनम्। तत्र दैनन्दिन-घटनासु घटितं वृत्तमाधारीकृत्य कवेः भावोद्रेकात् प्रस्फुटितानां रचनानां चित्रणं समसामयिकं वर्णनम्। स्वातंत्र्योत्तरभारते आधुनिकाः कवयः न केवलं पारम्परिकीं पद्धतिमनुसृत्य दृश्यश्रव्यानुगतरचनानां रचनां कुर्वन्त्यपितु एतेषां वर्तत एकं समसामयिकमपि जीवनवर्णनं यस्मिन् समसामयिकपरिस्थितीः वर्णयितुं विविधप्रकारान् प्रस्तोतुं स्वमनोगतान् भावान् प्रकटयितुं निरन्तरमुद्विग्नाः वर्तन्ते। यत्र दरीदृश्यन्ते ते ते भावाः ताः ताः घटनाप्रभृतयः तानि तानि समस्यारूपाणि काव्यानि। तेषु कविषु केचन प्रमुखाः वर्तन्ते–डा. रामकरणशर्मा, डा. रेवाप्रसादद्विवेदि, बच्चूलाल अवस्थी, अमीरचन्द शास्त्री, कमलेशदत्तत्रिपाठी, राजेन्द्रमिश्र, श्रीनिवासरथ, राधावल्लभ त्रिपाठी, रमाकान्त शुक्ल, हनिश्चन्द्ररेणा पुरकर, केशवचन्द्र दास, हर्षदेवमाधव, हरिराम आचार्य, प्यारेमोहन शर्मा, मोहनलाल शर्मा अन्ये चैतत् प्रभृतयः।

डा. राधावल्लभः लिखति कालेन चलन्त अस्माकं कवयः समसामयिकभावबोधं प्रति सचेतसः जाताः सन्ति। एते एकत्र प्राचीनपरम्पराभिः स्वसम्बन्धं योजितवन्तः सन्ति, अन्यत्र राष्ट्रस्य परिवर्तनक्षणायापि स्वं स्वरं प्रदत्तवन्तः सन्ति। स्वतंत्रतान्दोलनात् प्रागपि जायमानानां घटनानामुपरि संस्कृतस्य प्राक्तनकविभिः ये भावाः कवितारूपेण प्रदर्शिताः ते तस्य कवेः जीवनदर्शनमेव भवतु नाम तत्र स्वतंत्रतासंग्रामस्य 'कुरु वा मर' असहयोगान्दोलनं, चौरा-चौरी काण्डम् अन्यत् वा।

समकालीनसमाजस्य प्रतिघटनयाऽत्मसाद् भूत्वा आत्मसंवेदनया तस्यै घटनायै यथार्थशब्दं प्रददाति कवितारूपेण। अतएव स्वातंत्र्योत्तरभारते पाकिस्तानबंगलादेशयोर्युद्धसमये, खाड़ीयुद्धसमये, इमरजेंसीसमये आतङ्कवाद कश्मीर समस्या–कारगिलयुद्ध–मुम्बईकाण्ड–हवाला–पोखरण–भूकम्प–

झञ्झावात–अमेरिकायामातङ्कवादाक्रमण–भारतीयसंसदुपर्यातङ्कवादाक्रमणादि नूतनविषयेष्वपि संस्कृतकविभिः कविताः लिखिताः। वितगदशकद्वये संस्कृतकविभिः समसामयिकघटनानां गूढ़संवेदन शीलतायाआधारे, अनुभवप्रामाणिकतायाआधारे यथार्थानुभूतेराधारे कविताः रचिताः। एकस्याः घटनायाः स्थितेश्च वर्णनं भिन्न–भिन्नप्रकारेण कविभिः कृतम्। निश्चयमेव तेषामन्तर्दृष्टिः भिन्न–भिन्नतत्त्वानामीक्षणं करोति।

संसद्भवनोपर्यातङ्कवादाक्रमणविषये श्रीहरिश्चन्द्रेणपुरकरेण लिखितं यत् अमेरिकायामुपर्या-क्रमणेन कुपितः बुशः शीघ्रमेव तालिबानं प्रत्याक्रमणं कृतवान्। अस्माकं सर्वोच्चसंस्था वदति संसदोपर्यातङ्कवादाक्रमणे जाते वयं संयमस्य पाठं पाठयामः। तेन लिखितम्–

एकेनैव महाक्रमेण कुपितैः श्रीमद्बुशैः सत्वरं
तालीबानकुशासनोपरि महाघोराक्रमोऽनुष्ठितः।
अस्माकं दशकद्वये तु निहिताः षष्टिः सहस्रजनाः
संसच्च प्रहृता तथापि नितरां तैर्बोध्यते संयमः।।
उच्चै राष्ट्रियमानबिन्दुकथिते संसत्सभामन्दिरे
ह्याक्रान्तेऽपि महोग्रवादिकितवैर्यैः संयमो बोध्यते।
पाकस्तैः प्रथमं हि संयमकृते सम्बोधनीयः सुहृद्
अस्मत्संयम एव पूरित इति प्रोक्तं महामन्त्रिभिः।।[1]

डा. रेवाप्रसादद्विवेदिनः 'विधेर्होमोनिषेधानले' तथा मधुसूदनपेन्नामहोदयस्य 'नरमेधः कविताद्वयं।। सितम्बर 2001 तमवर्षे अमेरिकायामुपरिकृतस्यातङ्कवादाक्रमणस्य जीवन्ती शाश्वता चाभिव्यक्तिर्वर्तते। एतादृशाः कविताः समसामयिक-घटनाक्रमधारायां प्रवाहिताः समसामयिक-कविताः कवेः जीवनदर्शनं प्रस्तौति। तत्र श्रीद्विवेदिना लिख्यते–

यद् वै मानवहातनोपनगरे पुंजातिकीर्तिध्वज–
प्रख्यातं व्यवसायकेन्द्रभवनद्वन्द्वं कृतं भस्मसात्।
अस्यार्थः खलु कः, स एष सुमहान् निर्माणकाये विना
शस्याघात उतास्ति कश्चन विधेर्होमो निषेधानले।।[2]

मधुसूदनपेन्नामहोदयेन 'नरमेधः' कवितायां लिखितम्–

सेप्तेबर्मास–पूर्वार्धे दिने चैकादशे तथा।

मानवनव्यविध्वंसे, नरमेधोऽभवन्नवः।।[3]

कलिङ्गप्रान्ते प्रकृत्याः प्रचण्डोद्दामप्रकोपेन प्रकम्पिताः न केवलं तत्रस्थाः एव निवसन्तः जनाः, अपितु अनया विभीषिकया दूरप्रदेशविराजमानानामपि दंदह्यते चेतः। एकत्र श्रीहरिश्चन्द्ररेणापुरकरेण यत्र भीषणझंझावातैः छिन्नभिन्नानां सामाजिकानां मार्मिकं यथार्थञ्च चित्रणम् 'अहो दौर्भाग्यमुत्कलानाम्'[4] कवितायां कृतं तथैव सुन्दरराजेण 'भयानकं यत् भुवनेश्वरेऽभूत्'[5] कवितायामुत्कलराजधान्याः भयानकं चित्रणं चित्रितम्। बिहारप्रदेशवास्तव्येन शशिनाथ झा महोदयेनापि 'कलिङ्ग महावात' तथा 'प्रकम्पनः' कवितयोर्माध्यमेन कलिङ्गमहावात-प्रकम्पनस्य सजीवं मार्मिकं च वर्णनं विहितम्। श्रीझामहोदयेन लिखितम्–

महावातचक्रेषु बुद्धिर्हता हा

महाभूतसंक्षोभसम्पद्गता हा।

तदैवागता हन्त झञ्झा कराला

विपत्तौ विपच्चैव हा हा विशाला।।[6]

समसामयिकमर्मचित्रणे सुपटुः कविः बनमाली विस्वालः कलिङ्गप्रदेशवास्तव्यः। एतेन कलिङ्गप्रदेशेन घटितातिचक्रवातघटनया दुर्घटितानां वृत्तानां तैराक्रान्तमानवानां दुर्दशायाः असह्यपीडायाः आत्मसाक्षात्कारम् एव कुर्वन् स्वानुभूतिमिव वर्णयति–

न कुत्रचिल्लता नाथवा पादपः

जलमग्ना धरा आविर्भूत अष्टमः समुद्रः

यत्र राजा तत्रापि दरिद्रः

जीवितानां कंगलानाम् आकाशेऽस्ति दृष्टिः

विमानेभ्यो भविष्यति कदा खाद्यवृष्टिः।।[7]

एतेषां कवीनां जीवनं दर्शनं न केवलं स्वान्तः सुखाय अपितु अन्येऽपि सुखिनः भवेयुः तदर्थमेव भूतभावनं पतितपावनं परमेश्वरं प्रार्थयन्ते उत्कलवासिनः कल्याणाय रक्षणाय मङ्गलाय च–

हे भूतभावनविभो भवतापहारिन्

संसार-रंगनटनाटन सूत्रधार।

सर्वस्व लुप्तपरितप्त-हतोत्कलीयान्

संरक्ष तारय कृपां कुरु देवदेव॥[8]

अहोमङ्गलं सङ्गतं तत्र भूयात्

सहा सज्जनानां गतिस्तत्र यायात्।

सदाशारतानां सदा सारवत्त्वं

कलिङ्ग–प्रजानां 'सदाशा–रवत्वम्॥[9]

जगतः समग्रचेतनया चिन्तितोऽस्माकं कविः प्रतिपलघटितघटनाभिः एकक्षणमपि स्वं विलगं न करोति अत्र एतेषां कवीनां जीवनवर्णनं समसामयिकघटनासु सम्पृक्तम् इव प्रतिभाति। "कारगिलविजयो"परि "अर्वाचीनसंस्कृतम्"[10] तथा 'दूर्वा' पत्रिकायाः "कारगिल विशेषाङ्कः" कारगिलसमरे वीरगतिप्राप्तानां सैनिकानां श्रद्धाञ्जलिरूपेण समर्पितः। यस्मिन् सैनिकान् प्रति तेषां मानवदर्शनमेव प्रकटीभवति। नैकैः कविभिः कारगिलविजयोत्सवे स्वकीया भावना प्रकटिताः तत्राभिराजराजेन्द्रमिश्र, रमाकान्त शुक्ल, हरिश्चन्द्ररेणापुरकर, मोहनलाल पाण्डेय, नरोत्तम चतुर्वेदि, प्यारेमोहन शर्मा, शशिनाथ झा, रवीन्द्र कु.पण्डा, बनमाली बिस्वाल प्रभृतीनां कवीनां राष्ट्रस्य रक्षार्थं स्वं सर्वस्वं समर्पिवतः सैनिकान् प्रति तेषामभिव्यक्तयः दृश्यन्ते। कारगिलविजयानन्दस्याभिव्यक्तिः मुखरितः डा. रमाकान्तशुक्लेन "प्रणम्याः कारगीलवीराः" इति कवितायाम् अमुं विजयं कविना "भारतस्य विजयोऽयम्" इति उद्घोषितम्–

जयन्त्येतेऽस्मदीया गौरवांकाः कारगिलवीराः।

समर्च्या आसतेऽस्माकं प्रणम्याः कारगिलवीराः॥[11]

क्रुद्धं हिंसा बलं जितं किल सत्याहिंसा बलतः।

आंग्लशासनखलूच्चारितं भारतस्य विजयोऽयम्॥[12]

"अन्तिमः प्रमाणः" इति कवितायां युद्धे हतानां सैनिकपरिवाराणां मर्मवेदना अतीव

कारुणिककविदृष्ट्या उपस्थापिता श्रीबनमालिविस्वालेन–

सैनिकैः वरयात्रिभिः वरः समागतः।

शवयात्रायान्तु समागतं शवं कारगिलतः॥[13]

गुर्जरप्रदेशे भूकम्पवर्णने श्रीरामदवे महोदयस्य 'अहो गुर्जरभूमिकम्पैः प्रणाशः कवितायां गुर्जरप्रान्तस्य विभीषिकायाः मार्मिकं संवेदनापूर्णं च चित्रणं प्रस्तुतं यत्र सर्वत्र हाहाकारं कुर्वन्तः विलपन्तः करुणंक्रन्दन्तः जनाः कथं? अत्र कवेरभिव्यक्तिर्वर्तते–

वृद्धाः रुदन्ति सुतमृत्यु-विषाद-विद्धाः।

वामा रुदन्ति निजभर्तृवियोगखिन्नाः।

क्रन्दन्ति चात्र शिशवो जननीवियुक्ता

हा हाभितो विलपनं परिलक्ष्यतेऽत्र॥

हे द्वारिकेश! कृतगुर्जरदेशवास!

करुणार्णवस्य करुणा कथमस्तमेता।

नोदेति येन परितो परिवीक्ष्य नाशम्

आक्रन्दनञ्च करुणाजनकं जनानाम्॥[14]

शिवसागरत्रिपाठिनः[15] नारायणशास्त्रिकाङ्करस्य च रचना "परमाणुपरीक्षणम्" कवितायां भारतेन पोखरणक्षेत्रे कृतस्य परमाणुपरीक्षणस्य औचित्यम् आवश्यकतां च प्रदर्शयति। श्री काङ्कर वाजपेयीमुखेस्योपयोगित्वं भणति–

शान्तिविकासकार्येषु स्वसुरक्षोपकरण निर्माण एव।

उपयोगोऽस्य करिष्यत इति चाप्युद्घोष्य साधुकृतम्॥[16]

श्री मोहनलालपाण्डेयेन 'कश्मीरो भारताङ्गम्' तथा 'वाजपेयी–मुशर्रफ शिखरवार्ता' नाम्ना कविते लिखिते। शिखरवार्ताविषये तेन लिखितम्–

कविरटलबिहारी वाजपेयी प्रमन्त्री

रुचिरशिखरवार्तां भागरायां विधातुं।

जनरलपरेवज पाकराष्ट्रस्य नाथं

सचिव समिति युक्तः प्राहण्यच्छान्तिसिद्धयै॥[17]

राधकृष्णशास्त्रि 'पाकमुद्दिश्य' कवितायां पाकिस्तानेन कुनीतिमनुसृत्य कश्मीरं प्राप्तुमिष्यते परं राष्ट्ररक्षातत्परैः भारतीयसैनिकैः सर्व प्रयासाः विफलीकृताः। स्वं सर्वस्वं समर्पितान् वसुधागौरववर्धकान् वीरान् प्रति श्रद्धांजलिमर्पयन् कविः लिखति–

विधाय सर्वस्व-समर्पणं मुदा

रक्षन्ति ये मातृभुवं हि ते भटाः।

धान्यैर्धनैश्चापि तथाविधा जनाः

पाकप्रणाशाय जयन्तु सन्ततम्॥[18]

इत्थं स्वातन्त्र्योत्तरभारते समसामयिक-संस्कृतकवितासु कवेः जीवनवर्णनं पश्यामः। एथा समसामयिककविता हर्षदेवमाधवेन 'प्रयोगशील नई कविता' उक्ता। रवीन्द्रकुमारपण्डामहोदयो नूतनप्रयोगं अन्यभाषासाहित्येन प्रभावितं स्वीकुरुते।[19] निश्चयमेव कवेः सद्यः प्रसूतवेदनामयं समसामयिकं जीवनवर्णनं स्वीकरणीयम् इति। सहृदयपाठकानामावश्यकता वर्तते ये स्वनवनवोन्मेषशालिप्रज्ञया एतेषामास्वादनं कुर्युः।

सन्दर्भ-ग्रन्थाः

1. अर्वाचीनसंस्कृतम् - 241
2. तत्रैव - 24.1
3. तत्रैव - 24.1
4. तत्रैव - 22.1
5. तत्रैव - 22.1
6. तत्रैव - 22.1

7. दृक् - अंक-3
8. तत्रैव - 22.1
9. तत्रैव - 22.1
10. तत्रैव - कारगिलविशेषङ्कः - 21.3
11. तत्रैव - 22.3
12. तत्रैव - 22.3
13. ऋतुपर्णा, पृ.147
14. भारती - 51.6
15. स्वरमङ्गला - 23.1.3
16. तत्रैव - 24.3
17. भारती - 51.11
18. स्वरमंगला - 24.3
19. दृक् अङ्क - 5, पृ.52

डॉ. लाल शंकर गयावालः
संस्कृतविभागाध्यक्षः
कामेश्वरी देवीराजकीकन्यामहाविद्यालयः
भरतपुरम् (राजस्थान)



अष्टाध्यायीस्थसूत्राणां वर्गीकरणम्

डॉ. सुरेश्वर झा

संस्कृतवाङ्मये सत्स्वपि श्रौतसूत्र–गृह्यसूत्र–न्यायसूत्र–मीमांसासूत्राद्यनेकसूत्रेषु व्याकरणसूत्रस्य महत्त्वं सर्वातिशायि वर्तते, सर्वशास्त्रोपकारकत्वात्। तथा ह्युक्तम्–

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्

ब्राह्मयाः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।

यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य धीमान्

शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी।।

यद्यपि–

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।

पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः।।

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।

सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्।

इत्यादिप्रसिद्धश्लोकानुसारेण नैकानि व्याकरणानीति श्रूयते। तथापि–

सम्प्रत्युपलभ्यमानेषु व्याकरणेषु महर्षिपाणिनिना विरचितम् अष्टाध्यायी, पाणिनीयाष्टकम्, पाणिनीयशब्दानुशासनम् इत्याद्यनेकनामभिर्विश्रुतं पाणिनीयव्याकरणमेव सर्वतः प्राचीनं लौकिक–वैदिकोभयशब्दान्वाख्यायकं विद्वद्भिः स्वीकृतम्, अध्ययनेऽध्यापने च प्रचलितमस्ति।। पाणिनीयव्याकरणं पञ्चाङ्गमस्ति।। अस्य च पञ्चाङ्गानि निम्नलिखितानि सन्ति–

1. सूत्रपाठः 2. धातुपाठः 3. गणपाठः 4. उणादिपाठः 5. लिङ्गानुशासनं च।

पाणिनीयव्याकरणस्य पूर्णता, रहस्यज्ञानं च कात्यायनकृतवार्तिकेन, पतञ्जलिकृतमहाभाष्येण च भवतीति पाणिनीयव्याकरणं "त्रिमुनि व्याकरणम्" इत्यपि कथ्यते।

पाणिनीयव्याकरणे सत्स्वप्यनेकाङ्गेषु तत्र सूत्रपाठः सर्वप्रधानो विद्यते, अङ्गान्तराणां तदर्थत्वात्। वार्तिकस्य, महाभाष्यस्य चाऽऽधारः सूत्रपाठ एव। सूत्रपाठे सूत्राणां संख्याविषये विवादे सत्यपि एतत् कथयितुं शक्यते यत् पाणिनीयाष्टके सूत्राणां संख्या चतुःसहस्रात् किञ्चिन्न्यूना वर्तते।

एतेषां सूत्राणां व्याख्याकारैः षट्, सप्त वा वर्गाः कृताः सन्ति। एषां पाणिनीयाष्टकसूत्राणां वर्गीकरणविषये निम्नलिखितः श्लोकोऽतीव प्रसिद्धोऽस्ति–

संज्ञा च पारेभाषा च विधिर्नियम एव च।

अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

इति श्लोकानुसारेण सूत्राणां निम्नलिखिताः षड् वर्गा भवन्ति–

1. संज्ञासूत्राणि 2. परिभाषासूत्राणि 3. विधिसूत्राणि 4. नियमसूत्राणि 5. अतिदेशसूत्राणि 6. अधिकारसूत्राणि चेति। उपर्युक्त एव श्लोकः किंचित्पाठान्तरेण एवमपि पठितो दृश्यते–

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।

अतिदेशोऽधिकारश्च निषेधः सूत्रसप्तकम्॥

उपर्युक्त- श्लोकानुसारेण पाणिनीयसूत्राणामेकः सप्तमोऽपि वर्गो निष्पद्यते, यस्मिन् वर्गे निषेधसूत्राणि आयान्ति।

निषेधसूत्राणामपि एकः पृथग्वर्गः इति नागेशोऽपि स्वीकरोति। अत एव परिभाषेन्दुशेखरस्य यथोद्देशपरिभाषाया व्याख्यानक्रमे तेन स्पष्टीकृतं यद् भाष्यकारेण 'क्ङिति च' (1.1.5) इति निषेधसूत्रविषयेऽपि 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' इति परिभाषायाः सञ्चारः कृतस्तद् निषेधसूत्रे परिभाषासादृश्येन परिभाषात्वाऽऽरोपात्। तथा ह्युक्तं तत्र नागेशेन–'निषेधवाक्यानामपि निषेध्यविशेषा-काङ्क्षतत्वाद्विध्येकवाक्यतयैवान्वय इति परिभाषासादृश्यात् परिभाषात्वेन व्यवहारः 'क्ङिति च' 1.1.5 इति सूत्रे भाष्ये।" इति।

यथोद्देश–कार्यकालेतिपक्षद्वयस्य संज्ञा–परिभाषामात्रविषयकत्वेऽपि 'क्ङिति च' (1.1.5)

इत्यत्र भाष्ये कार्यकालपक्षोपन्यासेन निषेधवाक्येष्वपि परिभाषात्वमारोप्यते इति नागेशस्याशयः।

एवं हि 'क्ङिति च' (1.1.5) इत्यत्रत्यं भाष्यम्– "अथवा–कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्। यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्, पुगन्तलघूपधस्य गुणो भवति' इत्युपस्थितमिदं भवति 'क्ङिति न' इति।

प. दीनबन्धुझाविरचिते पाणिनीयव्याकरणतत्त्वप्रदीपेऽपि प्रतिषेधस्य एको वर्गः स्वीकृतोऽस्ति। तत्रोद्धृतः श्लोको निम्नलिखितो विद्यते–

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।

प्रतिषेधोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

श्लोकेऽस्मिन् यद्यपि अतिदेशस्य स्थाने प्रतिषेधस्य पाठो दृश्यते, तथापि अत्रापि स्पष्टमेव यत् प्रतिषेधस्यापि एको वर्गः स्वीक्रियते आचार्यैः।

अतः सूत्राणां सप्त वर्गाः स्वीकार्याः। यद्यपि सूत्राणां प्रकारान्तरेणापि वर्गीकरणं कर्तुं शक्यते। तद्यथा–

1. सामान्यसूत्राणि 2. विशेषसूत्राणि च।

तथा हि पस्पशाह्निके भाष्येऽप्युक्तं– 'कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः? किञ्चित्सामान्य-विशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत्? उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्त्तव्यः, कश्चिदपवादः' इति।

पुनश्च लौकिकवैदिकशब्दसिद्धि–दृष्ट्यापि पाणिनीयाष्टकसूत्राणां वर्गीकरणं कर्तुं शक्यते। एतदनुसारेण सूत्राणां निम्नलिखिता वर्गा भविष्यन्ति–

1. लौकिकशब्दसाधकानि सूत्राणि
2. वैदिकशब्दसाधकानि सूत्राणि
3. लौकिकवैदिकोभयविधशब्दसाधकानि सूत्राणि चेति।

लौकिकशब्दसाधकानि सूत्राणि पृथक्कृत्य आचार्यपुरुषोत्तमदेवेन 'भाषावृत्तिः' नामको ग्रन्थः प्रणीतः। वैदिकशब्दसाधकानि सूत्राणि पृथक्कृत्य भट्टोजिदीक्षितेन वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याः स्वरवैदिकीप्रक्रियाभागः विरचितः। वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्या एव स्वरवैदिकीभागतोऽवशिष्टा

अधिकतरभागाः लौकिकवैदिकोभयविधशब्दसाधकानां सूत्राणां व्याख्यानात्मकाः सन्त्येव।

एवं हि विविधप्रकारेण सूत्राणां वर्गीकरणं सम्भवति तथापि 'संज्ञा च परिभाषा च' इति प्रसिद्ध–श्लोकानुसारेणैव पाणिनीयसूत्राणां वर्गीकरणं प्रमुखतया गृह्यते। अत एव लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशेन 'अइउण्' इत्यादि माहेश्वरसूत्राणां कस्मिन् वर्गे समावेश इति जिज्ञासायाः समाधानाय उक्तम्– 'एषां क्रमबोधकत्वेऽप्यादिरन्त्येनेत्यनेनैकवाक्यतया वृत्तिपरिच्छेदकत्वेन संज्ञासूत्रत्वम्' इति।

एवमेव म.म. पण्डितराज डॉ. श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी' महाभागेनाऽपि ऋजुपाणिनीयम्' इति ग्रन्थस्य प्रस्तावनायां 'सूत्रों के प्रकारभेद' इति शीर्षके निबन्धे संज्ञादिवर्गा एव आदृताः। अतोऽत्रापि पाणिनीयाष्टकसूत्राणां निषेधवर्गेण सह सप्तवर्गान् स्वीकृत्य तेषां संक्षेपेण विवरणमिह प्रस्तूयते। निषेधवर्गेण सह सूत्राणां निम्नलिखिता सप्त वर्गा भवन्ति–

1. संज्ञासूत्रम् 2. परिभाषासूत्रम् 3. विधिसूत्रम् 4. नियमसूत्रम् 5. अतिदेशसूत्रम् 6. निषेधसूत्रम् 7. अधिकारसूत्रम् चेति।

एषां संक्षेपेण विवरणम्

1. संज्ञासूत्रम् – 'वृद्धिरेचि' (6.1.88) आद् गुणः (6.1.87) इत्यादिसूत्रेषु प्रयुक्तैः वृद्ध्यादिशब्दैः येषां बोधो येन सूत्रेण भवति, तत्संज्ञासूत्रम्। तथा चोच्यते–शक्तिनियामकत्वं संज्ञासूत्रत्वम्। यथा 'वृद्धिरादैच्' (1.1.1) इति सूत्रेण बोधो भवति यद् आकारः, ऐकारः, औकारश्च वृद्धिसंज्ञका भवन्ति, अतः 'वृद्धिरादैच्' (1.1.1) इति संज्ञासूत्रमुच्यते। एवमेव 'अदेङ् गुणः' (1.1.2), 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (1.1.7) 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' (1.1.8) इत्यादीनि सूत्राणि।

अत्रोल्लेखनीयं यत् संज्ञासूत्राणि प्रायः प्रथमाध्याये एव पठितानि सन्ति। कानिचिदेव संज्ञासूत्राणि तत्तत्प्रकरणविशेषे लाघवदृष्ट्या पठितानि दृश्यन्ते। प्रथमाध्यायाद् अग्रिमेष्वध्यायेषु याः संज्ञा बोधिताः सन्ति ता निम्नलिखिताः सन्ति–

समासः, अव्ययीभावः, तत्पुरुषः, द्विगुः, बहुव्रीहिः, द्वन्द्वः, आमन्त्रितम्, सम्बुद्धिः, प्रत्ययः, उपपदम्, कृत्, कृत्यः, सत्, सार्वधातुकम्, आर्धधातुकम्, तद्धितः, गोत्रम्, युव, तद्राजः, विभक्तिः, अभ्यासः, अभ्यस्तम्, आम्रेडितम् इति।

प्रथमाध्याये याः संज्ञा बोधितास्ताः निम्नलिखिताः सन्ति–

वृद्धिः, गुणः, संयोगः, अनुनासिकः, सवर्णम्, प्रगृह्यम्, घु, घः, संख्या, षट्, निष्ठा, सर्वनाम, अव्ययम्, सर्वनामस्थानम्, विभाषा, सम्प्रसारणम्, लुक्, श्लुः, लुप्, टि, उपधा, वृद्धम्, ह्रस्वः, दीर्घः, प्लुतः, उदात्तः, अनुदात्तः, स्वरितः, अपृक्तः, कर्मधारयः, उपसर्जनम्, प्रातिपदिकम्, धातुः, इत्, नदी, घि, लघु, गुरु, अङ्गम्, पदम्, भम्, अपादानम्, सम्प्रदानम्, करणम्, कर्म, अधिकरणम्, कर्ता, हेतुः, निपातः, उपसर्गः, गतिः, कर्मप्रवचनीयः, परस्मैपदम्, आत्मनेपदम्, प्रथमः, मध्यमः, उत्तमः, एकवचनम्, द्विवचनम्, बहुवचनम्, विभक्तिः, संहिता, अवसानम् इति।

एतदतिरिक्ता अण्–अक्–अच् इत्यादयः सुप्, सुट्, आप्, तिङ्, तङ्, त्न्, कृञ्, मात्रच् चेत्यादयः एवं संज्ञाः सन्ति याः 'आदिरन्त्येन सहेता' (1.1.71) इति सूत्रेण सह अइउण् इत्यादिमाहेश्वरसूत्राणां, स्वौजस् (4.1.2), तिप्तस्झि (3.4.78) इत्यादिसूत्राणां चैकवाक्यतया पाणिनिना स्वशास्त्रे बोधिताः, प्रयुक्ताश्च।

तेन कतिपयेष्वन्यविधेष्वपि सूत्रेषु संज्ञासूत्रत्वं स्वीक्रियते। तथाहि उक्तं नागेशेन लघुशब्देन्दुशेखरे 'अइउण्' इत्यादिसूत्राणां विषये, 'स्वौजस्' इति सूत्रविषये च 'एषां क्रमबोधकत्वेऽपि 'आदिरन्त्येन (1.1.71) इत्यनेनैकवाक्यतया वृत्तिपरिच्छेदकत्वेन संज्ञासूत्रत्वम्। क्रमस्य संज्ञाद्वारैवोपयोगात्। एकवाक्यता चादिरकारादिरन्त्येनेता तत्सदृशेन णकारादिना सहोच्चार्यमाण आद्यन्ताक्षिप्तानां संज्ञेति। 'स्वौजस्' (4.1.2) इत्यादीनामप्येतदेकवाक्यतया सुबादिसंज्ञासूत्रत्वं, स्वादिविधायकत्वञ्चेति बोध्यम्' इति।

पाणिनीयाष्टके कतिपया एवमपि प्राचीनव्याकरणतन्त्रीयाः संज्ञाः प्रयुक्ताः सन्ति यासां बोधकानि सूत्राणि न निर्दिष्टानि सन्ति। ताश्च सन्ति–आङ्, औङ्, प्रथमा, द्वितीयेत्यादयः।

2. परिभाषासूत्रम् –'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा' इति लक्षणानुसारेण अनियमप्रसङ्गे येन सूत्रेण नियमो विधीयते, तत्सूत्रं परिभाषासूत्रम्। परिभाषासूत्रं विधिशास्त्रेणैकवाक्यतयैव लक्ष्यसाधनोपयोगीति कथ्यते–स्वदेशे लक्ष्यासंस्कारबोधजनकत्वे सति विधिसूत्रैकवाक्यतया साधुत्वप्रकारकबोधोपयोगि–बोधजनकत्वं परिभाषात्वम् इति। 'समर्थः पदविधिः (2.1.1) इति सूत्रे उद्योते परिभाषालक्षणविषये एकः श्लोक उद्धृतो नागेशेन, स चायम्–

एकदेशस्थिता शास्त्रभवने याति दीपताम्।

परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते॥

एतदनुसारेण परिभाषा एकदेशस्थिता सती सम्पूर्णशास्त्ररूपं भवनं स्वकीयार्थप्रकाशेन प्रकाशयति दीपवत्।

परिभाषासूत्रं यथा–'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (1.1.66) इति सूत्रम्। तथा हि 'इको यणचि' (6.1.77) इति सूत्रेण अजुपश्लिष्टस्य इको यण् विधीयते, अचीत्यत्र औपश्लेषिकेऽधिकरणे सप्तमीविधानात्। उपश्लेषस्यार्थो भवति–समीपवृत्तित्वम्। समीपवृत्तित्वं च पूर्वस्येव परस्यापि, अव्यवहितस्येव व्यवहितस्यापि चेति तत्रानियमप्रसङ्गात् 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (1.1.66) इति सूत्रेण नियमः क्रियते–अजुपश्लिष्टस्य पूर्वस्यैव, अव्यवहितस्यैव च इको यण् भवतीति।

अथापि 'इको यण् भवति' इत्युक्ते 'इकः समीपे यण् स्यात्' 'इकः स्थाने वा' इत्यनियमप्रसङ्गे 'षष्ठी स्थाने योगा' (1.1.49) इति परिभाषासूत्रेण नियमः क्रियते यद् अनिर्धारितसम्बन्धविशेषा षष्ठी स्थानेयोगा भवतीति स्थानेपदस्योपस्थित्या सूत्रस्यार्थो भवति 'इकः स्थाने यण् भवति' इति।

एवमेव 'स्वौजस्' (4.1.2) इति सूत्रेण स्वादीनां यद् विधानं क्रियते, तत्र कस्मात् प्रातिपदिकात् कस्मिन्नर्थे का विभक्तिरिति अनियमप्रसङ्गे 'कर्मणि द्वितीया' (2.3.2) 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (1.4.22) 'बहुषु बहुवचनम्' (1.4.21) इत्यादिभिः परिभाषासूत्रैः नियमः क्रियते येन 'स्वौजस्' (4.1.2) इति सूत्रस्यार्थो भवति–एकत्वादिविशिष्टकर्माद्यर्थयोग्य-प्रातिपदिकाच्चेद्विभक्तिस्तदा द्वितीयाया एकवचनमेव, द्विवचनमेव, बहुवचनमेव वेति।

एवमेव 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (1.3.12) इति सूत्रेण 'तिप्तिस्झि' इति सूत्रास्यार्थो नियम्यते, तेन अनुदात्तेतो, ङितश्च धातोरेवात्मनेपदं भवति।

3. विधिसूत्रम् – विधीयते कार्यं येन स विधिः। विपूर्वाद् धाधातोः 'उपसर्गे घोः कि' (3.3.92) इति सूत्रेण करणे किप्रत्यये कृते विधिशब्दो निष्पद्यते। येन सूत्रेण इष्टप्रयोगसिद्ध्यर्थ साक्षात्कार्यविधानं क्रियते तत्सूत्रं विधिसूत्रं कथ्यते। अत एवोच्यते–साक्षाल्लक्ष्यसंस्कारकसाधुत्वप्रकारकबोधजनकत्वं विधिसूत्रत्वमिति। यथा 'इको यणचि (6.1.77) इति सूत्रम्। अनेन हि 'सुद्ध्युपास्यः' इत्यादीष्टप्रयोगसिद्ध्यर्थं साक्षाद्यण्कार्यं विधीयते। एवमेव 'अत इञ्'(4.1.95)इति सूत्रेण दाशरथिः इत्यादिप्रयोगाणां सिद्ध्यर्थं साक्षादिञ्प्रत्ययो विधीयते।

यद्यपि संज्ञासूत्रमपि संज्ञाया विधानं करोति तथापि तस्य गणना विधिसूत्रे न भवति,

तेन साक्षात् कस्यापीष्टप्रयोगस्य सिद्ध्यर्थं कस्यापि कार्यस्य विधानाभावात्।

पाणिनीयाष्टके विधिसूत्रातिरिक्तानि सर्वविधानि सूत्राणि विधिसूत्राणामुपकारकत्वादङ्गभूतानि भवन्ति, विधिसूत्राणि च प्रधानभूतानि।

यद्यपि 'कर्मणि द्वितीया', 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यादीनि परिभाषासूत्राणि, द्वितीयेत्यादि-विधायकानीति व्यवह्रियते, एवमेव 'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः', 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इत्यादीनि संज्ञासूत्राण्यपि समासविधायकानि सूत्राणीति व्यवह्रियन्ते, तथापि विधिसूत्रत्वेन मुख्यरूपेण तानि सूत्राणि परिगण्यन्ते यैः प्रत्ययः, आगमः आदेशो वा विधीयते। यतो हि 'कर्मणि द्वितीया' इत्यादीनि सूत्राणि 'स्वौजस्' इतिविधिसूत्राणि नियमयन्ति न तु कस्यचित्प्रत्ययस्य, आगमस्य, आदेशस्य वा विधानं कुर्वन्ति; अतः मुख्यरूपेणैतानि विधिसूत्राणि न भवितुमर्हन्ति अपि तु एतानि नियमसूत्राण्येव।

एवमेव 'द्वितीया श्रितातीत' इत्यादिभिः समासविधायकसूत्रैः न कश्चित्प्रत्ययः, आगमः, आदेशो वा विधीयते अपि तु 'कृष्णं श्रितः' इत्यादीनां समाससंज्ञा विधीयते, तदनन्तरं, कृत्तद्धितेति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञा, ततः 'सुपो धातु–प्रातिपदिकयोः' इत्यनेन सुब्लुक्, पुनश्च विभक्तिकार्ये कृते 'कृष्णश्रितः' इत्यादीष्टप्रयोगसिद्धिर्भवति। तत्र 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सूत्रेण साक्षाल्लुगादेशः, 'स्वौजस्' इति सूत्रेण च सुप्प्रत्ययश्च भवति, इति कृष्णश्रित इति प्रयोगे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्याद्यादेशप्रत्ययागमविधायकानि सूत्राण्येव विधिसूत्रवर्गे आयास्यन्ति, न तु द्वितीया श्रितेत्यादि समाससंज्ञादिविधायकान्यपि।

अत एव 'कर्मणि द्वितीया' (2.3.2), 'द्वितीया श्रितातीत' (2.1.24) इत्यादीनां सूत्राणां पाठः पाणिनिना संज्ञापरिभाषाप्रकरणात्मकयोः प्रथमद्वितीयाध्याययोर्मध्ये कृतः।

अतः परं तृतीयाध्यायतः समाप्तिपर्यन्तं प्रायेण विधिसूत्राणां क्षेत्रं वर्तते, यैः मुख्यरूपेण प्रत्ययः, आगमः, आदेशश्च विधीयन्ते। ततः पूर्वं कतिपयान्येव सूत्राणि दृश्यन्ते यैः आदेशादयोऽपि विधयो भवन्ति। तद्यथा 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (1.2.47) इत्यादिना ह्रस्वविधानम्, 'इद् गोण्याः' (1.2.50) इत्यनेन इदादेशविधानम्।

4. नियमसूत्रम् – 'पतिः समास एव' (1.4.8) इति सूत्रे काशिकावृत्तेः व्याख्यानग्रन्थस्य न्यायस्य 'सिद्धे सत्यारभ्यमाणो विधिर्नियमार्थः' इति वचनानुसारेण पूर्वतः स्थितेन सूत्रेण सिद्धस्य कार्यस्य पुनर्येन सूत्रेण विधानं क्रियते तत्सूत्रं नियमसूत्रम्। यथा 'पतिः समास एव'

(1.4.8) इति सूत्रम्। अनेन सूत्रेण 'भूपतिना' इत्यादौ घिसंज्ञा विधीयते, सा घिसंज्ञा हरिशब्दवत् भूपतिशब्दस्य 'शेषो घ्यसखि' (1.4.7) इति पूर्वसूत्रेण सिद्धैव। पुनर्यत् घिसंज्ञाया विधानं 'पतिः समास एव' (1.4.8) इति सूत्रेण क्रियते तन्नियमं करोति–'पतिशब्दः समास एव घिसंज्ञो भवति' इति। तेन असमासे पत्या, पत्ये इत्यादौ घिसंज्ञा न भवति।

एवमेव 'राजभ्याम्' इत्यादौ 'सुपि च' (7.3.102) इति सपादसप्ताध्यायीस्थदीर्घविधायक-सूत्रदृष्ट्या प्रवृत्तस्य 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (8.2.7) इति त्रैपादिकशास्त्रस्य असिद्धत्वं 'पूर्वत्रासिद्धम्' (8.2.1) इति सूत्रेण सिद्धमेव, पुनर्यद् 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति' (8.2.2) इति सूत्रेण नलोपस्यासिद्धत्वातिदेशः क्रियते, तन्नियमार्थो भवति यत् सुब्विध्यादिष्वेव नलोपोऽसिद्धो भवति, नान्यत्र। तेन 'राजाश्व' इत्यादौ राज + अश्व इत्यवस्थायाम् 'अकः सवर्णे दीर्घः' (6.1.101) इति सपादसप्ताध्यायीस्थसूत्रदृष्ट्यापि त्रैपादिकनलोपस्यासिद्धत्वाभावेन सवर्णदीर्घो भवत्येव।

कुत्रचित्सूत्रांशोऽपि नियमार्थो भवति। यथा 'कृत्तद्धितसमासाश्च (1.2.46) इति सूत्रे 'समास' इति सूत्रांशः। नियमः सजातीयापेक्षो भवति। तेन समासग्रहणेन नियमो भवति 'यत्र सङ्घाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद् भवति तर्हि समासस्यैव, न तु वाक्यस्य' इति। तेन 'देवदत्तः ग्रामं गच्छति' इत्यादेः वाक्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञा न भवति। वाक्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सूत्रेण सुब्लुगापत्तिरूपदोषः स्यात्।

नियमेनानिष्टस्य निवृत्तिर्भवति इति 'अन्यनिवृत्तिफलकत्वं नियमत्वम्', 'इतरव्यावर्तकत्वं वा नियमत्वम्' इत्यपि कथ्यते।

5. अतिदेशसूत्रम् – अतिदेशशब्दस्यार्थो भवति–आरोपः। अतद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानमारोपः कथ्यते, अर्थात् यस्मिन् पदार्थे यो धर्मो न भवति, तत्र यत्तद्धर्मयुक्तं ज्ञानं भवति, तज्ज्ञानमारोपः, अतिदेशो वा कथ्यते।

आरोपो द्विविधो भवति–आहार्यारोपः, अनाहार्यारोपश्च। बाधकालीनमिच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यारोपो भवति, यथा 'मुखं चन्द्रः' इति। अन्यस्मिन् अन्यधर्मावभासः अनिच्छयाऽपि यत्र भवति तत्र अनाहार्यारोपः, यथा शुक्तौ रजतज्ञानम्।

व्याकरणशास्त्रेऽतिदेशशब्देनाऽऽहार्यारोपस्य ग्रहणं भवति, यतो हि अतिदेशसूत्रेण यस्य धर्मस्यारोपः क्रियते, तत्र प्राक्रियाज्ञानवतामयं बोधो भवत्येव यदारोप्यमाणो धर्मस्तत्र नास्ति।

स धर्मस्तत्र प्रयोगसिद्ध्यर्थमिच्छयाऽऽरोप्यते। यथा 'रामाय' इत्यादौ यादेशे सुप्त्वधर्मो नास्ति, सुप्रत्याहारे तस्य पाठाभावात्। तथापि 'सुपि च' इत्यनेन दीर्घकार्यार्थं सुप्त्वं तत्राऽऽरोप्यते। अत एवोच्यते–आरोपबोधत्वमतिदेशत्वम्।

अतिदेशस्योदाहरणं यथा 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' 1.1.21) इति सूत्रम्। 'सत्यन्यस्मिन् यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते 'सत्यन्यस्मिन् यस्मात्परं नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्त इत्युच्यते' इति 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (1.1.20) इति सूत्रस्थभाष्यानुसारेण यथा 'कर्त्तव्यम्' इत्यत्र प्रत्ययाद्युदात्तत्वं भवति तथा औपगवः' इत्यत्र न स्यात् 'अ' इति प्रत्यये परभागे वर्णान्तरासंत्त्वेन तत्र प्रत्ययादित्वव्यवहाराऽसम्भवात्। एवमेव यथा 'वृक्षाभ्याम्' इत्यत्र 'सुपि च' इति सूत्रेण अदन्तस्य अङ्गस्य दीर्घो भवति, तथा 'आभ्याम्' इत्यत्र न स्यात्, 'अ' इत्यस्मात् पूर्वभागे वर्णान्तरासत्त्वेन अदन्तत्वव्यवहाराऽसम्भवात्।

अतः 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति सूत्रेण उभयत्राऽसहाये अकारे आदित्वस्याऽन्तत्वस्य चाऽऽरोपेण 'कर्त्तव्यम्' इत्यत्रेव 'औपगवः' इत्यत्र प्रत्ययाद्युदात्तत्वम्, 'वृक्षाभ्याम्' इत्यत्रेव 'आभ्याम्' इत्यत्र 'सुपि च' इत्यनेन दीर्घत्वं च सिद्ध्यति।

पाणिनीयाष्टके यद्यपि सर्वेषु अध्यायेषु अतिदेशसूत्राणि प्रकीर्णानि सन्ति तथापि प्रथमाध्यायस्य द्वितीये पादे ङित्त्वकित्त्वाऽतिदेशविधायकानि सर्वाधिकानि सूत्राणि सन्ति। अतिदेशसूत्रेषु 'असिद्धवदत्राऽऽभात्' (6.4.22), 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (8.2.1) इमे द्वे सूत्रे स्तः, ये अधिकारत्वेन स्वीकृत्य तयोर्विशालं क्षेत्रं निर्मितं सूत्रकारेण। तत्र 'असिद्धवदत्राऽऽभात् (6.4.22) इति सूत्रस्य क्षेत्रम् (6.4.22) तः 6.4.175) सूत्रपर्यन्तं स्वीकृतम्। पूर्वत्रासिद्धम् '(8.2.1) इत्यस्य च क्षेत्रं सम्पूर्णा त्रिपादी।

पाणिनीयाष्टके द्विविधरूपेण अतिदेशसूत्राणि पठितानि दृश्यन्ते–(1) वतिनिर्देशसहितानि (2) वतिनिर्देशरहितानि च। यथा 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (1.1.20), स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (1.1.56) 'काले भववत्' (4.2.34) इत्यादीनि वतिनिर्देशसहितानि अतिदेशसूत्राणि। 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (1.2.1), 'सार्वधातुकमपित्' (1.2.4) 'गोतो णित्' (7.1.90) इत्यादीनि वतिनिर्देशरहितानि सूत्राणि। अतिदेशबोधनाय वतिना निर्देश आवश्यको न वा? वतिना निर्देशे, तद्रहितनिर्देशे च कोऽपि भेदोऽस्ति न वा? इति विषये यथाप्रसङ्गं भाष्ये, प्रदीपे, शब्दकौस्तुभे, न्यासे, अन्येषु च ग्रन्थेषु विचारः कृतोऽस्ति। 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (1.2.1) इति सूत्रे भाष्ये उक्तं यत्–विनाप्यतिदेशबोधकवतिना अतिदेशस्य बोधो भवत्येव

****

एवं हि तत्रत्यं भाष्यम्–'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते' तद्यथा–एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह। तेन मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति। एवमिहाप्यङित्तं ङिदित्याह, ङिद्वदिति गम्यते। अकितं किदित्याह, किद्वदिति गम्यते।' इति।।

भाष्यस्यैवाशयः गाङ्कुटादिसूत्रे न्यासकारेणैवं प्रकटितः–'अतिदेशोऽयमिति। यद्येवम् वतिना निर्देशः कर्त्तव्यः, अन्यथा तदर्थो नावगम्येत; नैतदेवम् परपदार्थे हि प्रयुज्यमानाः शब्दाः वतिमन्तरेणापि वत्यर्थं गमयति'। यथा 'सिंहो माणवकः', 'गौर्वाहीकः इति।'

वतिना निर्देशे, तद्रहितनिर्देशे च कोऽपि भेदोऽस्ति न वेति विषये 'असिद्धवदत्राऽऽभात् (6.4.22) इति सूत्रे कैयटेन स्पष्टीकृतं यत् तयोर्न कोऽपि भेदः। एवं हि तत्रत्यः कैयटग्रन्थः–

'इह क्वचिदुपमानोपमेययोरभेदं विवक्षित्वा सामानाधिकरण्येन निर्देशः क्रियते–अयं बह्मदत्त इति। शास्त्रेऽपि षत्वतुकोरसिद्धः, लिट् कित्, गोतो णित् इति च। तत्र सामर्थ्यादतिदेश-प्रतिपत्तिः। क्वचित्तु प्रतिपत्तिलाघवाय भेदोपक्रमे वतिना निर्देशः क्रियते–ब्रह्मवदयमिति। इहापि असिद्धवदत्राऽऽभात् इति।' इति।

'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (1.1.56) इति सूत्रे शब्दकौस्तुभेऽपि विषयोऽयं विचारितः। तदनुसारेण स्थानिवत्सूत्रेण आदेशस्य स्थानी संज्ञा मा भूदित्यर्थं वत्करणमावश्यकम्।

वस्तुतो यत्रोपमानोपमेययोरभेदविवक्षा तत्र वतिरहितनिर्देशः, यत्र भेदविवक्षा तत्र वतिना निर्देश इति भेदाभेदयोर्विवक्षाभेद एव वतिना निर्देशे तद्रहितनिर्देशे च, न तु तात्त्विको भेदः।

6. निषेधसूत्रम् – अस्मिन् वर्गे तानि सूत्राणि आयान्ति यानि सामान्यसूत्रप्राप्तकार्याणां विषयविशेषे वारणम् अर्थात् निवृत्तिं कुर्वन्ति।

यथा 'न धातुलोप आर्धधातुके' (1.14) इति सूत्रम्। तथा हि 'इको गुणवृद्धी' (1.1.3) इति सूत्रसहकारेण यथा लविता, पविता इत्यत्र 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (7.3.84) इति सूत्रेण लूञ् धातोः, पूञ् धातोश्चोकारयोः गुणो भवति तथैव यङन्त लोलुवः, पोपुवः इत्यत्रापि गुणः प्राप्नोति। तत्र 'न धातुलोप आर्धधातुके' इति सूत्रेण निषेधाद् गुणो न भवति। एवमेव यथा 'मार्ष्टी' इत्यत्र वृद्धिर्भवति तथा मरीमृजः इत्यत्र वृद्धिर्न भवति एवमेव 'न तिसृचतसृ' इति सूत्रेण निषेधात् यथा कर्तृणाम्, हर्तृणाम् इत्यत्र दीर्घो दृश्यते तथा तिसृणाम्, चतसृणाम् इत्यत्र दीर्घो न भवति।

यद्यपि नियमसूत्रेणापि निवृत्तिर्भवति, निषेधसूत्रेणापि तथापि नियमसूत्रेण विषयविशेषाणां विधानद्वारा अनिष्टस्य निवृत्तिर्भवति। अतः नियमः निवृत्तिफलको भवति न तु साक्षान्निवर्तकः। निषेधसूत्रं तु विषयविशेषाणां निवृत्तिमेव करोति न तु विषयविशेषाणां विधानमपि। अतः निषेधसूत्रं साक्षान्निवर्तकं भवति।

पाणिनीयाष्टके निषेधसूत्राणां पाठः प्रायः विधिसूत्रानन्तरमेव दृश्यते। केवलम् इड्निषेधसूत्राणां पाठः इड्विधायकसूत्रेभ्यः पूर्वमेव दृश्यते। तद्यथा 'नेड् वशि कृति' (7.2.8) इति इड्निषेधप्रकरणं पठित्वा 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः (7.2.35) इत्यादीनि इड्विधायकसूत्राणि पठितानि सन्ति। अत्र किं कारणमिति भाष्यकारेण विचार्य निर्णयः कृतो यत्–'ऋतो भारद्वाजस्य' (7.2.63) इत्येतस्मान्नियमात् 'तुष्टोथ, दुद्रोथ, शुश्रोथ इत्येतेषु प्रयोगेषु पपिथ, ययिथ इत्यादाविव इट् प्राप्यते। तस्य निषेधः सामान्यसूत्रानन्तरं पठितैः निषेधसूत्रैः न सम्भवति, निषेधसूत्रैः सामान्यसूत्रेण प्राप्तकार्यस्यैव निषेधदर्शनात्। यदि पुनः 'नेड् वशि कृति' (7.2.8) इतीड्निषेधप्रकरणे 'कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि' (7.2.13) इति इड्निषेधसूत्रमपि इड्विधायकसूत्रेभ्यः पूर्वं पठ्यते तर्हि सूत्रमिदम् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (7.2.35) इति सामान्यसूत्रेण प्राप्तस्येटो निषेधं करिष्यत्येव सहैव 'ऋतो भारद्वाजस्य (7.2.63) इति नियमाद्, विशेषविहितस्यापीटो निषेधं करिष्यति। एवं हि इण्निषेधप्रकरणे पठितैः सूत्रैः येन केनापि विधिना प्राप्तस्येटो निषेधो भवतु' इत्येतदर्थमेव विधिसूत्रेभ्यः पूर्वमेव इण्निषेधसूत्राणि पठितानि। अत्रत्यं भाष्यमित्थम्–'नेड् वशि कृति (7.2.8)।।

किमर्थं पुरस्तात्प्रतिषेध उच्यते, न विध्युत्तरकालः प्रतिषेधः क्रियते। तद्यथा अन्यत्रापि विध्युत्तरकालाः प्रतिषेधा भवन्ति। क्वान्यत्र? 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' (1.3.14), 'न गतिहिंसार्थेभ्यः' (1.3.15) इति। 'देवताद्वन्द्वे च' (7.3.21) 'नेन्द्रस्य परस्य' (7.3.22) इति।.......। नैवं शक्यम्, इह हि तुष्टोथ, दुद्रोथ 'ऋतो भारद्वाजस्य' (7.2.63) इत्येतस्मान्नियमादिट् प्रसज्येत।......। एवमपि सामान्यविहितस्यैवेटः प्रतिषेधो विज्ञायेत, विशेषविहितश्चायं थलीति। पुरस्तात्पुनः प्रतिषेधे सत्यनारभ्यापवादोऽयं भवति। येन यावानिण्नाम तस्य सर्वस्यैव प्रतिषेधः सिद्धो भवति।'

7. अधिकारसूत्रम् – उत्तरोत्तरत्र गमनमधिकार इति प्रसिद्धवचनानुसारेण अधिकारसूत्रं तत्कथ्यते यस्य व्याख्यानतो निर्णीतावधिपर्यन्तमुत्तरोत्तरसूत्रेषूपस्थितिर्भवति। यथा 'कारके' (1.4.23) इति सूत्रम्। अस्याऽधिकारः 'तत्प्रयोजको हेतुश्च (1.4.55) इति सूत्रं यावत्।

पाणिनीयाष्टके बहूनि अधिकारसूत्राणि सन्ति, तद्यथा–प्रत्ययः (3.1.1), परश्च (3.1.2), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (4.1.1), तद्धिताः (4.1.76) इत्येषां सर्वेषां सूत्राणामधिकारः, पञ्चमाध्यायपर्यन्तं भवति। 'धातोः' (3.1.91) इति सूत्रस्याधिकारः तृतीयाध्यायसमाप्तिपर्यन्तम्। स्त्रियाम् (4.3.3) इति सूत्रस्याधिकारः 'समर्थानां प्रथमाद् वा' (4.10.82) इति सूत्रं यावत्। 'समासान्ताः' (5.4.68) इति सूत्रस्य पादपर्यन्तम्। संहितायाम् (6.1.72) इत्यस्य 'पारस्करप्रभृतीनि च' (6.1.157) इति यावत्। 'अङ्गस्य' (6.4.1) इत्यस्य सप्तमाध्यायान्तं यावत्। 'पदस्य' (8.1.16) इति सूत्रस्य 'इडाया वा' (8.3.54) इति यावदधिकारो भवति। एवमेव पाणिनीयाष्टके 'असिद्धवदत्राऽऽभात् (6.4.22), पूर्वत्राऽसिद्धम् (8.2.1), कृदतिङ् (3.1.95) विभाषा (2.1.11), प्राक्कडारात्समासः (2.1.3), प्राग्रीश्वरान्निपाताः (1.4.56) पदात् (8.1.67) इत्यादीनि प्रसिद्धानि अधिकारसूत्राणि दृश्यन्ते।

अधिकारसूत्रेण स्वदेशे किमपि लक्ष्यं न साध्यतेऽपि तु स्वकीयाधिकारक्षेत्रेषु स्वकीयोपस्थितिप्रदानेन तत्तत्सूत्रस्यार्थमधिकं करोति इति एतादृशसूत्राणाम् 'अधिकारः' इति नामान्वर्थमस्ति। 'स्वरितेनाधिकारः' (1.3.11) इति सूत्रे भाष्ये 'एवमिहाप्यधिकमयं कारं करोतीत्युच्यते' इति कथनेनापि अस्यान्वर्थत्वं सूचितं भवति।

अधिकारसूत्रस्य लक्षणं दृश्यते न्यायकोशे–'स्वदेशे लक्ष्यसंस्कारकवाक्यार्थशून्यत्वे सति विधिसूत्रैकवाक्यतापन्नत्वमधिकारत्वम्' इति।

अधिकारसूत्रस्य प्रयोजनविषये महाभाष्ये उक्तं यद् अधिकारत्वेन निर्दिष्टं यत् पदं, पदसमूहो वा तस्य निर्देशोऽग्रिमेषु सूत्रेषु कर्त्तव्यो न भवतीति महल्लाघवं भवति। तथा ह्युक्तं 'स्वरितेनाधिकारः (1.3.11) इति सूत्रे भाष्ये 'अधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थः।' इति।

कारके (1.4.23) इति सूत्रस्य पदमञ्जर्यनुसारेण अधिकारोऽनेकप्रकारको भवति। तद्यथा–

1. संज्ञाधिकारः – प्रत्ययः (3.1.1) इत्यादि।
2. विशेषणाधिकारः – शेषे (4.2.92) इत्यादि।
3. स्थान्यधिकारः – एकः पूर्वपरयोः (6.1.84) इत्यादि।
4. निमित्ताधिकारः – ङ्याप्प्रातिपदिकात् (4.1.1), धातोः (3.1.91) इत्यादि।

5. निमित्ताधिकारः – आर्धधातुके (2.4.35) इत्यादि।

6. आदेशाधिकारः – अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः (8.3.55) इत्यादि।

यथापूर्वं प्रदर्शितमधिकारसूत्राणि बहूनि सन्ति पाणिनीयाष्टके। तेषु प्राक्कडारात्समासः (2.1.3), प्राक्क्रीताच्छः (5.1.1), प्रागिवात्कः (5.3.70) प्राग्दीव्यतोऽण् (4.1.83) प्राग्रीश्वरान्निपाताः (1.4.56) आकडारादेका संज्ञा (1.4.1) इत्यादीन्यल्पीयांस्येव सूत्राणि सन्ति येष्वेवं निर्देशो विद्यते यदस्याधिकारः कुत्र यावद् विद्यते। बहूनि सूत्राणि एवमेव सन्ति येषामवधिः कुत्र यावदिति निर्देशो नास्ति। अवधिनिर्णयः कथं भविष्यतीति जिज्ञासायां स्वरितेनाधिकारः (1.3.11) इति सूत्रे महाभाष्ये उक्तं यद् व्याख्यानेन अवधिनिर्णयः कर्त्तव्यः इति।

अधिकारसूत्रेषु यथाऽन्यत्र विनाप्यवधिनिर्देशेनावधिनिर्णयो व्याख्यानेन भवति तथैव प्रागादिघटिताधिकारसूत्राणामपि अवधिनिर्णयो व्याख्यानेन सम्भवति तथापि यत् तत्तत्सूत्रेषु प्रागादिग्रहणं कृतं तस्य प्रयोजनं काशिकादिग्रन्थेषु यथावसरं विचारितम्। तद्यथा 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (1.4.56) इति सूत्रे काशिकायामुक्तम् –'प्राग्वचनं समावेशार्थम्। गत्युपसर्गकर्मप्रवचनीयसंज्ञाभिः सह निपातसंज्ञा समाविशतीति' इति। एवमेवान्येषामपि अवधिनिर्देशकपदानां विशिष्टप्रयोजनमूह्यम्।

एवं हि नानाग्रन्थानां पर्यालोचनपूर्वकं प्रणीतेनानेन शोधपत्रेण संस्कृतवाङ्मयस्य विविधेषु शास्त्रेषु निष्णातानाम्, भारतस्य निधिभूतायाः संस्कृतभाषायाः प्रचाराय, प्रसाराय च मनसा, वाचा, कर्मणा च समर्पितानाम्, मुजफ्फरपुरनगरे विद्यमाने बी.आर. बिहार विश्वविद्यालये संस्कृतविभागस्य पूर्वविभागाध्यक्षाणां, कामेश्वरसिंहदरभंगासंस्कृतविश्वविद्यालयस्य प्राक्तनप्रतिकुल–पतीनां डॉ. सतीशचन्द्रझामहाभागानां भूयो भूयः सादरमभिनन्दनं करोमि।

डॉ. सुरेश्वर झा
प्राचार्यः, स्नातकोत्तरव्याकरणविभागः
कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृतविश्वविद्यालयः
दरभङ्गा (बिहार)



वर्त्तमानसमये व्याकरणस्य शैक्षणिक-पद्धतिः

डॉ. शशिनाथ झा

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्।।

इतिवाक्यपदीयब्रह्मकाण्डोक्तदिशा साधुशब्दज्ञानं व्याकरणस्य मुख्यं लक्ष्यं वर्तते। अत एव व्याकरणशास्त्रस्यापरं नाम शब्दानुशासनमस्ति। अनुशिष्यन्ते = अपशब्देभ्यो विविच्य बोध्यन्ते साधुशब्दा अनेनेति तस्य व्युत्पत्तिः। साधुशब्दज्ञानाय अनेकानि व्याकरणानि काले-काले रचितानि। तेषां स्वस्वोद्देश्यं पृथग्विधं वर्तते। तथाहि–सकलशब्दव्युत्पादनं हि ऐन्द्रव्याकरणस्य लक्ष्यं, शब्दानां धातुमूलकत्वसाधनं शाकटायनव्याकरणस्य लक्ष्यं, लाघवम् आपिशलव्याकरणस्य लक्ष्यं, अतिलाघवेन लौकिक–वैदिकोभयविधशब्दबोधनं पाणिनीयव्याकरणस्य लक्ष्यं, लौकिकशब्दबोधनं चान्द्रादिव्याकरणस्य लक्ष्यं, बालकादिऋजुमत्युपकारः सारस्वतव्याकरणस्य लक्ष्यं, सामान्येन संस्कृतभाषायां प्रवेशः कतिपयाधुनिकव्याकरणानां लक्ष्यं वर्तते।

संस्कृतभाषा चिरन्तनकालादेव पाणिनीयव्याकरणानुशासितमिति सर्वविदितमेव। एतत्प्रभावादेवेयं भाषा पुरातनी सत्यपि नित्यनूतनाऽथ च प्रवर्धमानावलोक्यते। अन्याः प्राक्तन्यो भाषा लुप्ता दुर्बोधा वा सञ्जाता अनुशासनाभावात्, परन्तु संस्कृतभाषा पाणिनीयानुशासनवशादेव अमरवाणीति प्रथिता, साम्प्रतमपि प्रचलितास्ति। इत्त्थं पाणिनीयव्याकरणस्य प्रभावातिशये विद्यमानेऽपि अन्यान्यपि कातन्त्रचान्द्रादिव्याकरणानि क्षेत्रविशेषे प्रचलितानि जातानि। परन्तु पाणिनीयं व्याकरणं सम्पूर्णे भारते देशान्तरेऽपि व्यापकरूपेण व्यवहृतमस्त्येव।

साम्प्रतं पाणिनीयव्याकरणस्य शैक्षणिकपद्धतिस्त्रिपथगावलोक्यते–

(1) प्राचीनव्याकरणम्, (2) नव्यव्याकरणम्, (3) आधुनिकव्याकरणञ्चेति।

साम्प्रतिक–विश्वविद्यालयीयपाठ्यक्रमे प्रधानविषयरूपेण यत्र व्याकरणशास्त्रस्योल्लेखो

दृश्यते तत्र नव्य–प्राचीनयोरुल्लेखो वैकल्पिकरूपेणास्ति। प्रथम–मध्यमपरीक्षयोस्तृतीयवैकल्पिकतया सारस्वतव्याकरणस्योल्लेखो भवति, परन्तु शास्त्रिवर्गे आचार्यवर्गे च न तथा, तत्र प्राचीन–नव्ययोरेवोल्लेखोऽस्ति।

सामान्यविषयरूपेण (न तु प्रधानविषयरूपेण) यत्र पाठ्यक्रमे व्याकरणाध्ययनस्य व्यवस्था भवति तत्र भट्टोजिदीक्षितस्य वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, मध्यकौमुदी, वरदराजस्य लघुकौमुदी च अंशतो निर्धारिता, अथ च आधुनिकव्याकरणानि पाणिनीयाश्रितानि, पाश्चात्यशैलीसमाश्रितानि वा पाठ्यन्ते।

साम्प्रतं पाठ्यक्रमे निर्धारितानां व्याकरणशिक्षणपद्धतीनां परिचयः समीक्षा च प्रस्तूयेते–

(1) **प्राचीनव्याकरणम् –** अत्र पाणिनेरष्टाध्यायी, काशिकावृत्तिः, न्यासः, पदमञ्जरी, सम्पूर्णं महाभाष्यं प्रदीपोद्योतसहितं, माधवीया धातुवृत्तिः, सम्पूर्णं वाक्यपदीयञ्चेति ग्रन्था अध्याप्यन्ते। आरम्भे शब्दमात्रा अष्टाध्यायी कण्ठस्थीक्रियते। तदनु सूत्राधारेणैवार्थज्ञानं सोदाहरणं क्रियते। सम्पूर्णग्रन्थानुशीलनेनैव शब्दसाधनिकानुगमः सम्भवति। सूत्रज्ञानात् पृथग् वार्तिक–भाष्याद्यनुगमः काशिकावृत्तिद्वारा भवति। अत्राध्ययने पर्याप्तधैर्यस्य आवश्यकता भवति। पाणिनेः स्वाभविकाध्ययनमनयैव पद्धत्या सम्भवति। सप्तदशशताब्दात् पूर्वमनयैव पद्धत्या सर्वे विद्वांसः सफलीभूताः। सर्वतोभावेन समर्पिताश्छात्राः साम्प्रतमपि अनया पद्धत्या योग्या भवन्ति। कण्ठस्थायामष्टाध्याय्यामियं पद्धतिरतीव सुगमा लाघवेन बोधनक्षमा चास्ति।

परन्तु तादृशधैर्यस्य अभावे पद्धतिरियं नोपकारिका, अपितु उद्वेजिकैव। किञ्च सकलशास्त्रेषु यन्नव्यतायाः पदार्पणं जातं, यथा–न्याये, मीमांसायां, वेदान्ते च तस्य अस्यां पद्धतौ समावेशो नास्ति। अर्थात् तत्तत्पदार्थस्य सूक्ष्मतया अनुगमः प्राच्यपरम्परयैवात्र भवति, न तु नव्यशैल्या। यथा – किन्नाम उपदेशत्वम्? आद्योच्चारणत्वम्। तत्त्वं च अज्ञातस्वस्वरूपोच्चारणत्वम् इत्यादि। किञ्चैकस्य प्रयोगस्य सम्पूर्णसाधनिका एकत्रास्यां दुर्ल्लभा। सा हि प्रक्रियाग्रन्थेषु सिद्धान्तकौमुद्यादिषु वर्तते। सामान्यतश्छात्रा एतदेव वाञ्छन्ति।

(2) **नव्यव्याकरणम् –** अत्र वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, तद् व्याख्याग्रन्थाः = प्रौढमनोरमा–शब्दरत्नम्, लघुशब्देन्दुशेखरः सपरिष्कारः, भूषणसारः, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा, परिभाषेन्दुशेखरः सपरिष्कारश्चेत्यादयो ग्रन्थाः पाठ्यन्ते। महाभाष्यं नवाह्निकं, वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डञ्चेत्युभयप्रणालीपाठ्यग्रन्थौ स्तः।

नव्यव्याकरणे प्रक्रियाग्रन्थः (सिद्धान्तकौमुदी) आधारोऽस्ति। तत्र प्रयोगसिद्ध्यनुसारं पाणिनीयसूत्राणि समुपस्थापितानि भवन्ति। अतः पाणिनेः सूत्रपाठक्रमोऽत्र समादृतः समाश्रितश्चापि, सूत्रोपन्यासः प्रयोजनानुसारं तिष्ठति, न तु पाणिनेः क्रमानुसारम्। तेन अनुवृत्तिज्ञाने पूर्वापरज्ञाने काठिन्यमापतति। अतएव तत्साधनाय सूत्रस्य वृत्तिः कण्ठस्थीक्रियते। यद्यपि तत्र गौरवग्रस्ततास्ति, तथापि फलमुखगौरवस्यादोषावहत्वात् तत्स्वीकृतमत्र। सिद्धान्तेकौमुद्यां वृत्तौ भाष्यसिद्धान्तो निगूढो भवति। अर्थात् प्रक्रियापेक्षी भाष्यसिद्धान्तः सकलोऽप्यत्र सन्निहितः। किञ्च प्रयोगसाधने आवश्यकानि वार्तिकानि परिभाषाश्चात्र संगृहीतानि सन्ति। अतः सिद्धान्तकौमुदी मुनित्रयसिद्धान्तप्रतिपादकतया सम्पूर्णं व्याकरणमस्ति। अतएवोक्तं–

कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः।

कौमुदी यदि चायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः॥ इति।

एतत्क्रमे यावान् ग्रन्थांशः पठ्यते, तेन तावान् प्रयोगः पूर्णरूपेण सिद्धो भवति। अर्थात् यत् पठितं, तत्फलं सद्य एव भवति। इति सद्यःफलदातृत्वेन एतत्क्रमस्य सर्वत्र समालम्बनं भवति। व्याकरणस्य मुख्यं प्रयोजनं साधुशब्दज्ञानं प्रक्रियाक्रमे सारल्येन साध्यते, अत एव व्याकरणस्यार्थोऽत्र नैव न्यूनीभवति। सूत्रार्थसूक्ष्मतायां बृहद्विचारः रूपसिद्धेरनन्तरस्य कृत्यं वर्तते।

बहूनां धारणेयं भ्रान्तिमूला यत् नव्यव्याकरणस्य काठिन्यमेव छात्राणां पलायनस्य कारणमस्ति। वस्तुतः पलायनस्य अनेकानि कारणानि भवन्ति–मन्दबुद्धित्वम्, धैर्याभावः, प्रवृत्त्यभावः, अर्थलिप्सानैराश्यमित्यादीनि। उत्तमाधमाद्यधिकारिभेदेनाध्यापनव्यवस्था सकलप्रणालीवद् नव्यव्याकरणेऽप्यस्ति।

प्राचीन–नव्यव्याकरणयोर्भेदकतत्त्वम्

(क) कालगतभेदः–षोडशशताब्दात् पूर्वं प्राचीनव्याकरणस्य, ततः परं नव्यव्याकरणस्य युगमस्ति।

यद्यप्यधुनापि प्राचीनं प्रचलति।

(ख) शैलीभेदः–प्राचीने अष्टाध्यायीक्रमो नव्ये तु रूपसिद्ध्यनुसारं सूत्राणां स्वकीयः क्रमोऽस्ति।

(ग) विचारभेदः—अर्थवत्त्वं, प्रातिपदिकार्थः, शक्तिरित्यादिविषये मतभेदोऽप्यस्ति।

(घ) भाषागतवैलक्षण्यम्—यत्र प्राचीने सर्वव्यवहार्या भाषा समाश्रिता तत्र नव्ये परिष्कृता भाषाङ्गीकृतास्ति। यथा—'नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः' इत्यस्य बोधो नव्यव्याकरणे इत्थं कार्यते – "प्रातिपदिकोच्चारणनिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकतावदुपस्थितिविषयताश्रायत्वमिति।"

(3) पारम्परिकम् आधुनिकव्याकरणम् – पाणिनीयव्याकरणाधोरण साम्प्रतिक–सामान्यजिज्ञासूनां कृते कतिपयव्याकरणग्रन्था निर्मिताः। तेषु कतिपये सम्पूर्णाः, कतिपये च संक्षिप्ताः सन्ति। संक्षिप्तेषु पं. रामचन्द्र झा शर्मणः संस्कृतव्याकरणम्, डॉ. जयमन्त मिश्रस्य संस्कृतव्याकरणोदय इत्याद्याः सन्ति। तदाधारेण संस्कृतभाषाप्रवेशः सुकरो भवति। सम्पूर्णव्याकरणत्वेन पं. ईश्वरचन्द्रविद्यासागरस्य संस्कृत व्याकरणकौमुदी, डॉ. मोरेश्वर रामचन्द्र काले महोदयस्य 'हायर संस्कृतग्रामर', पं. चारूदेवशास्त्रिणः 'संस्कृतव्याकणचन्द्रोदयः', डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्रिणः 'चन्द्रसंस्कृतव्याकरणम्' इत्याद्याः ग्रन्थाः सन्ति। तेषु विद्यासागरमहोदया पाणिनिमनुसृत्यापि बहुत्र स्वकीयानि सूत्राणि प्रत्ययादीनि प्रकल्पन्ते। परन्तु बोधनशैली सुगमा वर्तते। पं. चारुदेवशास्त्रिणो व्याकरणं साम्प्रतिकयुगे सर्वाधिकं महत्त्वपूर्णमस्ति। तत्र सुगमबोधनशैली यद्यपि समाश्रिता, परन्तु विविधपर्यासोद्धरणात्मकान्युदाहरणानि बुधजनवेद्यानि साधारणजिज्ञासूनां कृते काठिन्यमाविष्कुर्वन्ति। उच्चतमकक्षाश्रिता एनं ग्रन्थमाश्रित्य व्याकरणानुशासनज्ञानपूर्वकं चारु प्रयोगं कर्त्तुं प्रभवो भवितुमर्हन्ति। ते उच्चस्तरीयप्रयोगं कर्त्तुं शक्नुवन्ति।

(4) पाश्चात्याधारितं संस्कृतव्याकरणम् – पाश्चात्यैः ह्विट्ने प्रभृतिभिस्त-दनुसारिभिर्भारतीयैरपि सरलया शैल्या व्याकरणानि रचितानि। तदाधृत्य संस्कृतभाषाज्ञानं झटिति जायते। किन्तु तत्र ज्ञाने दृढ़ता आत्मविश्वासश्च न भवति। तत्र शब्दरूप–धातुरूप-प्रभृतीनां बृहत् सूची भवति। तदभ्यासे भूयान् परिश्रमो भवति, तथापि ज्ञाने पूर्णता न जायते।

(5) पाणिनीयेतरव्याकरणम् – सारस्वतादि लौकिकप्रयोगबोधकानि व्याकरणा-न्यपि स्वस्वोद्देश्यानुसारं साधुशब्दज्ञानसम्पादकानि भवन्ति।

(6) व्याकरणशिक्षणे नवीनदृष्टिः – डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्रि–ब्रह्मचारिमहोदयेन 'संस्कृतव्याकरणं नवीन रूपे' इत्याख्यो ग्रन्थो हिन्दीभाषायां लिखितः। तत्र व्यावहारिकी सरलशिक्षणपद्धतिः प्रकाशिता। मुख्यतया तत्र विषयप्रतिपादने पौवापर्यप्रसङ्गः समवतारितो येन प्रतिपत्तिलाघवं प्रदर्शितं भवति। यथा–सुबन्तप्रकरणे विभक्तेः स्वरूपपरिचायकं रूपमनुक्तवैव

अदन्तशब्दरूपप्रतिपादनं न समुचितमिति तेन प्रतिपादितम्। यतो हि तत्र बहूनां विभक्तीनामादेश एव भवति। अत एव सर्वप्रथमं जलमुच्शब्दः पाठनीयो यत्र विभक्तयः संयुक्ताः स्पष्टं श्रूयन्ते। परन्तु एतेन बहुसारल्यं नैव जायते। सूत्रं विना बोधिते विषये दृढतया इदमित्त्थं कथयितुं न शक्यत इत्यपि विभावनीयम्।

निष्कर्षः—अधिकारिभेदेन, प्रयोजनभेदेन समेषां व्याकरणग्रन्थानां, समासां पद्धतीनाञ्च समुपयोगः समुचित एव। स्वोद्देश्यानुरूपमेव छात्रैः पद्धतिश्चेतव्या। ये छात्राः सामान्यतः कार्यनिर्वाहकं संस्कृतज्ञानं वाञ्छन्ति ते पं. रामचन्द्रझामहोदस्य व्याकरणं पठन्तु। ये मुनित्रयसिद्धान्तं सूक्ष्मेक्षिकया सपरिष्कारं ज्ञातुमिच्छन्ति ते नव्यव्याकरणं पठन्तु। ये परिष्कारभीताः समग्रं व्याकरणं समधिगन्तुं वाञ्छन्ति ते प्राचीनव्याकरणं समाश्रयन्तु। अधिकारिभेदेन सर्वे पक्षाः व्यवस्थिताः सन्ति। मनोयोगो धैर्यञ्च सर्वपद्धतौ परमावश्यकमिति।

डॉ. शशिनाथ झा
प्राचार्यः (व्याकरणे विभागाध्यक्षः)
का. सिं. द. संस्कृत विश्वविद्यालयः
दरभङ्गा (बिहारः)



प्रभासक्षेत्रस्य तान्त्रिकदृष्ट्या महत्त्वम् - एका नूतना प्रस्थापना

डॉ. रवीन्द्रकुमार खाण्डवाला

संस्कृतसाहित्ये प्रभासक्षेत्रस्य महिमा वेदैः महाकाव्यैः पुराणैः गीतः। अयं महिमा अवाङ्मनसगोचरः अस्ति। श्रीकृष्णसम्बद्धम् प्रभासक्षेत्रम्, मुक्ताहारे कौस्तुभमणिसदृशं सर्वललामभूतं वर्तते। किन्तु अत्र यन्माहात्म्यं वर्णितं तदेव निरूपयितुं न मे प्रयत्नः। किन्तु भगवत्या हिमगिरिनन्दिन्याः त्रिपुरसुन्दर्याः कृपाकटाक्षेण या कृपा मयि अनुभूता तया कृपया प्रभासक्षेत्रस्य अपूर्वमहिमानं स्थापयितुं मम मतिः गिरिजया एव प्रेरिता इति मन्ये।

द्वादशज्योतिर्लिङ्गेषु सोमनाथस्य गणना सर्वप्रथमं कस्मात् कार्या इत्यत्र कथयन्ति यत् अत्र भगवता सोमेन दक्षशापपीडितेन क्षीणेन क्षीणमहिम्ना चन्द्रेण तपः कृतम् अपि च शिवप्रसादः लब्धः किन्तु किम् इयं केवलं पुराणानां कल्पिता कथा अस्ति? चन्द्रेण कीदृशं तपः कृतम्? केन मन्त्रेण सिद्धिमार्गः लब्धः[1] कस्मात् तेन प्रभासक्षेत्रे एव तपस्या कृता? भारते वाराणसी तु शिवस्य साक्षात्कारकारिणी नगरी अस्ति, यस्यां शशिमौलिः स्वयं पार्वत्या सह विराजते। अतः वाराणसीं त्यक्त्वा इन्दोः अत्र कथमवस्थानमभवत् इति केनापि ग्रन्थेन न स्पष्टीकृतम्। अतः पौराणिकीं कथां मत्वा वयं प्रभासक्षेत्रस्य चन्द्रस्य तपसः रहस्यं ज्ञातुं न कदापि प्रयतामहे।

अधुना तद्रहस्यं पराम्बायाः कृपया उद्घाट्यते। ऋग्वेदस्य श्रीसूक्तम् अत्र किञ्चित् सूचयति। अस्मिन् सूक्ते पञ्चम्याम् ऋचायां निर्देशो वर्तते, यथा–

चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम्।
तां पद्मिनीं शरणमहं प्रपद्ये, अलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणे॥[2]

अस्मिन्नेव सूक्ते एकः अन्योऽपि मन्त्रः सूचयति यत् प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् किन्तु अत्र पाठभेदेन प्रादुर्भूतः सुराष्ट्रेऽस्मिन् इत्यपि अवगम्यते। अस्य विशदा चर्चा भुवनेश्वरीपीठेन

प्रकाशिते श्रीसूक्ते वर्तते। अधुना यदा विचारयामः तदा 'प्रभासां' शब्देन सह 'चन्द्राम्' इत्यस्य संयोगः चमत्कारजनकः अस्ति। चन्द्रेण प्रभासक्षेत्रे पुनरपि यशः प्राप्तम्, पुनरपि तस्य मूर्तिः यशसा ज्वलन्ती जाता। चन्द्रेण पद्मिन्याः अर्थात् त्रिपुरसुन्दर्याः उपासना कृता। सोमेन उमया सहितः शिवः उपासितः तेन असौ समग्रे ब्रह्माण्डे प्रतिष्ठितः जातः।

यदि कोऽपि कथयेत् यत् अत्र 'प्रभासाम्' इत्यस्य पदस्य अर्थः प्रभासक्षेत्रे कथं भवति, अयं तु दुराकृष्टः अर्थः, तन्न। वयं समाधानं करिष्यामहे। अस्मिन् सूक्ते सप्तम्याम् ऋचायां 'सुराष्ट्रस्य' शब्दस्य निर्देशो वर्तते। अयं निर्देशः न केवलम् आकस्मिकः। ऋग्वेदे सोमनाथस्य निर्देशः अन्यत्रापि वर्तते यथा–

यत्र गङ्गा च यमुना च यत्र प्राची सरस्वती।

यत्र सोमेश्वरो देवस्तत्र माममृतं कृछन्दो परिस्त्रव॥[3]

अतः भगवान् श्रीसोमनाथः वेदकालेऽपि प्रसिद्ध एव आसीत्। श्रीयन्त्रं चन्द्रविद्यायन्त्रं कथ्यते। **शाक्ततन्त्रे सादिविद्या चन्द्रोपासिता विद्या अस्ति। सा विद्या तन्त्रग्रन्थेषु–**

स ह क ए ई ल ह्रीं
स ह क ए ई ल ह्रीं
स ह क ए ई ल ह्रीम्। इति सादिविद्यामन्त्रः।[4]

तैत्तिरीये आरण्यके अरुणोपनिषद् इत्याख्या उपनिषद् वर्तते।[5] अस्याः ऋषिः अरुणकेतुः वर्तते। वस्तुतः इयं श्रीविद्या एव अमृतप्राप्तिविद्या, यया भगवता सोमेन पुनर्जीवनं प्राप्तम्। अपि च तस्य शापः दूरीभूतः।

प्रभासक्षेत्रं विशिष्टक्षेत्रम् अस्ति। अत एव सोमेन अत्रागत्य सादिविद्यायाः दर्शनं कृतम्। स एव अस्याः विद्यायाः ऋषिः। श्रीयन्त्रं सोमात्मकम् अपि कथ्यते। इदं यन्त्रं कथं सोमात्मकम् इति कोऽपि पृच्छेत् चेत् अस्य रहस्यस्य उद्घाटनं सौन्दर्यलहर्याः लक्ष्मीधराटीकायाम् अस्ति।6 श्रीयन्त्रस्य मध्ये बिन्दुः शक्तिशिवयोः सामरस्यस्थानम् बैन्दवस्थानम् अथवा भगवत्याः मणिद्वीपस्य पर्यङ्कः कथ्यते। अयं बिन्दुरेव शक्तिशिवयोः परमाद्वैतं सूचयति। श्रीविद्यायाः षोडशीमन्त्रः केवलं गुरुकृपया प्राप्यते। इयं षोडशी कला एव भगवती महात्रिपुरसुन्दरीरूपा पराम्बा राराजते। भगवता शङ्कराचार्येण द्वादशज्योतिर्लिङ्गस्तोत्रे सोमनाथस्य वर्णनं साकूतं कृतम्, यथा–

सौराष्ट्रदेशे विशदेऽतिरम्ये ज्योतिर्मयं चन्द्रकलावतंसम्।

भक्तिप्रदानाय कृपावतीर्णं तं सोमनाथं शरणं प्रपद्ये॥

अत्र 'सौराष्ट्रदेशे' इति पदं 'प्रादुर्भूतः' सुराष्ट्रेऽस्मिन्' इति अनेन पदेन सादृश्यं भजते। किन्तु 'कलावतंसम्' इत्यस्य पदस्य कोऽर्थः? वस्तुतः भगवान् शङ्कराचार्यः सौन्दर्यलहर्याः प्रणेता रहस्यमिदं जानाति यत् चन्द्रकलासु या कला अवतंसभूता सा षोडशीविद्या एवास्ति। षोडशीविद्या न कदापि वर्धते, न कदापि लीयते, न वा कदापि क्षीयते। सैवामृतविद्या। तस्या एव उपासना सोमेन कृता। सा नित्या पराम्बा एव 'चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीम्' इति मन्त्रेण श्रीसूक्ते वर्णिता। सोमेन प्रभासक्षेत्रे आगत्य सोमनाथस्य अर्थात् उमासहितस्य शिवस्य उपासना कृता। 'ओम्कारः' वस्तुतः अ, उ, म् इति वर्णत्रयेण उमा सोमः इति शब्दयोरपि वर्णविपर्ययेण जनकः।

यस्मिन् क्षेत्रे सादिविद्या सफलीभूता, उद्भूता अपि च सोमाय चैतन्यमयी जाता, तदेव क्षेत्रं प्रभासक्षेत्रम् अस्ति। अतएव इदं रहस्यं जानता कृष्णेन स्वदेहोत्सर्गः प्रचण्डे ज्योतिर्मये क्षेत्रे कृतः। वस्तुतः बलरामस्य पातालप्रदेशः कुण्डलिन्याः जागृतिं सूचयति अपि च कृष्णस्य देहोत्सर्गः पराशक्तेः आरोहणं साकूतं सूचयति। इत्यलम्।।

सन्दर्भग्रन्थः

1. शिवपुराणम् द्विचत्वारिंशत्तमेऽध्याये।

2. श्रीसूक्तम्, पञ्चमो मन्त्रः

3. खिलसूक्तम् ऋग्वेद – /11315

4. श्रीसूक्त, श्रीयन्त्र अने श्रीविद्या, डॉ. हर्षदेव माधव, श्रीयाणी अकादमी चाँदखड़। अहमदाबाद, प्रथम संस्करणम्, 2008 (गुर्जरगिरायाम्)

5. सौन्दर्यलहरी श्रीशङ्कराचार्यः (लक्ष्मीधरव्याख्या समलङ्कृता) सम्पादकः–श्री एन. एस. वेङ्कटनाथाचार्यः, प्राच्यविद्या संशोधनालयः, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर चतुर्थ आवृत्ति,

6. तदेव

डॉ. रवीन्द्रकुमार खाण्डवाला
संस्कृतविभागः
श्री एच.के.आर्ट्स कालेज, अहमदाबाद



भारतीय परम्परायामास्तिकस्वरूपम्

डॉ. भगीरथ मिश्रः

"अस्ति नास्ति दिष्टं मति" रिति सूत्रबलादस्ति मतिर्यस्य, नास्तिमतिर्यस्य तथा दिष्टं मतिर्यस्यासौ आस्तिकः, नास्तिको दैष्टिकश्च क्रमेण ठक् प्रत्ययान्निष्पन्नोभवति। यद्यपि एतावद् व्याख्यानमात्रेण आस्तिकपदेन आस्तिकमात्रस्य बोधो न भवति। यतो हि मम पुत्रः अस्ति इति मतिस्तु आस्तिकवत् नास्तिकेष्वपि भवितुमर्हत्येव। यदि ईश्वरः अस्ति इति मतिर्यस्य इत्याकारिका व्युत्पत्तिरत्र स्वीकृता भवेत् तर्हि नास्तिकाः वा आस्तिकाः वा सर्वे एव दार्शनिकाः ईश्वरत्वेन कमपि विशेषमवश्यमेव स्वीकुर्वन्ति।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,

बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।

अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,

सोऽयं वो विदधातु वाञ्छति फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

एवम्भूतः श्लोकः हनुमन्नाटकस्य प्रारम्भे एव उपलभ्यते। हनुमन्नाटकनामा ग्रन्थः हनुमत्प्रणीत इति श्रूयते। अत्र त्रैलोक्यनाथपदेन कर्म अपि उक्तं भवति। उदयनाचार्येणापि न्यायकुसुकाञ्जलौ लिखितम्...."सर्वज्ञ इति सौगताः, निरावण इति दिगम्बराः, लोकव्यवहार सिद्धइति चार्वाकाः किं बहुना यं कारवोऽपि विश्वकर्मेत्युपासते।" अस्यां स्थितौ ईश्वरोऽस्तीति मतिर्यस्य इति कथनेन आस्तिकपदेन बौद्धादीनां नास्तिकादीनां व्यावृत्ति र्न भवति। अतश्च आस्तिकपदेन एतादृशं व्याख्यानं उपयुक्तं भवेद् येन नास्तिकादीनाम् आस्तिकपदेन व्यावृत्तिः संगच्छेत। अतश्च कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः क्षित्यङ्कुरादिकस्य, सर्वगतत्वाद् व्यापकः, नित्यः सर्वान्तर्यामी, जीवगतयोर्धर्माधर्मयोरधिष्ठातृत्वेन हृदिस्थः, ग्रहनक्षत्रादीनां अङ्गुल्यानिर्देशेन स्थापकः यः अस्ति इति मतिर्यस्य अर्थात् एतादृशो विश्वासो यस्य सएव आस्तिकपद वाच्यो

भवति, नान्यः। तथा च यथा आस्तिका ईश्वरवादिनः परलोकवादिनोऽपि न तथा नास्तिकाः। यतोहि सर्वे नास्तिका आत्मनो नित्यत्वं न स्वीकुर्वन्ति। आत्मनो नित्यत्वे एव वेदानां पुराणादीनां धर्मशास्त्रादिग्रन्थानां साफल्यं संगच्छते। यदि आत्मा नित्यो न स्यात् तर्हि जीवेन कृतस्य कर्मणः फलं नोपभुज्येत। अस्यां स्थितौ धर्मशास्त्रस्य पुराणादिकथायाश्च नैरर्थक्यं स्यात्। नहि चैत्रेण कृतस्य कर्मणः फलं मैत्रः उपभुङ्क्ते। अतएव आत्मनो नित्यत्वं अनित्यत्वञ्चाधिकृत्यैव इमे नास्तिका इमे च आस्तिका इति व्यवहारो जायते। यद्यपि वेदानाम् अंशतः प्रामाण्यं नास्तिका अपि अभ्युपगच्छन्ति। सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म इति कथचित् श्रुनिम् अंशतः स्वीकृत्य नास्तिका अपि आत्मनो ज्ञानरूपतां स्वीकृतवन्तः। योगाचारमते आत्मा ज्ञानरूपः परन्तु सः क्षणिकः। तस्य मते यत्सत् तत् क्षणिकमिति नियमरूपां व्याप्तिं स्वीकृत्य आत्मनः क्षणिकत्वं तेन प्रतिपादितम्। यद्यपि एतन्मते विज्ञानातिरिक्तं न किमपि वस्तुजातं वर्त्तते। तन्मते ज्ञानसुखादिकं तस्यैवात्मनः आकारविशेषः। आकारविशेषश्चात्र–वस्तुतः "तदभिन्नत्वे सति तद् भिन्नत्वेन प्रतीयमानत्वम्।"

शून्यवादिमाध्यमिकमते ज्ञानमेवात्मा किन्तु स आकारशून्यः। निराकारज्ञानमेव आत्मा इति कृत्वा माध्यमिकः शून्यवादी कथ्यते। सौत्रन्तिकमते ज्ञानमेवात्मा, किन्तु एतन्मते बाह्यं जगदस्ति, किन्त्वनुमेयम्। वैभाषिकमते बाह्यं जगदस्ति, किन्तु नानुमेयमपितु प्रत्यक्षभूतमेव।

उपर्युक्तकथनेन इदं सिद्धं भवति यच्चतुर्विधेषु बौद्धेषु आत्मनः नित्यता नैवास्ति, इति कृत्वा सर्वे बौद्धाः नास्तिका इति सिध्यति। अतएव परलोकः अस्ति इति मतिर्यस्य सोऽप्यास्तिक इति कथनस्यावसरो जायते। जैनदर्शनेऽपि आत्मा ज्ञानरूपः। स च नित्यः, परन्तु एतन्मते आत्मा न सर्वथा नित्यः अपितु परिणामिनित्यः, अर्थात् यथा यथा शरीरं विवर्द्धते तथा ज्ञानरूपः आत्मापि वर्द्धते। एवं यथा–यथा शरीरमपक्षीयते तथा–तथा ज्ञानरूपः आत्मापि अपक्षीयत इति क्षयापक्षयाभ्यामात्मनो नित्यत्वं आस्तिकाः नैव स्वीकुर्वन्ति। आस्तिकाः सर्वे एव पूर्वोक्तं तत्स्वरूपं स्वीकृत्य स्वात्मानं धन्यं मन्वते। एवञ्च यः एतादृशं परमेश्वरमुपास्ते स आस्तिकः कथ्यते। परमेश्वरस्य भक्तिमार्गे श्रद्धाया अतीव महत्त्वं विद्यते। यत्र श्रद्धैव नास्ति सः कथमपि आस्तिक इति वक्तुं न शक्यते। उक्तञ्च गीतायाम्–

अश्रद्दधानाः पुरुषाः धर्मस्यास्य परन्तप।

अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

सोऽपि मुक्तः शुभाँल् लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

श्रद्धावशादेव भक्तिः जागर्त्ति। भक्तिमार्गस्य मूलं श्रद्धैव वर्त्तते। गुरूपनिषद्वाक्येषु विश्वासः एव श्रद्धा कथ्यते। भक्तिश्च सगुणब्रह्मविषयः मानसव्यापारः। श्रद्धा गुणानधिकृत्य प्रवर्त्तते। श्रद्धायां न तावद् व्यक्तिविशेषः कारणम्, अपितु तद्गत–गुणाः एव कारणत्वेन परिगणिताः भवन्ति। प्रेम तु व्यक्तिविशेषमधिकृत्यैव प्रवर्त्तते। तत्र गुणस्य अपेक्षा न भवति। रासपञ्चाध्याय्यामेतदभिप्रायेण प्रेम्णः महत्त्वं व्यासेन प्रादर्शि।

भगवता कृष्णेनापि आस्तिक्यस्य महत्त्वकथनव्याजेन श्लोकोऽयं स्वयमेवोक्तः–

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।

अत्रायं भावः–तपस्वी सन्नपि यः अभक्तः अनुरागहीनः, तस्मै मदुक्तः उपदेशो न देयः। एवं यः तपस्वीभक्तश्च किन्तु अशुश्रूषुः, तस्मै अपि मदुक्तः उपदेशो न देयः। तपस्वी भक्तः शुश्रूषुश्च यः अस्ति किन्तु माम् अभ्यसूयति तस्मै कदापि मदुक्तः उपदेशो न देयः। ''यो माम् अभ्यसूयति'' इत्यंशमधिकृत्य मधुसूदनसरस्वतीस्वामिना–

''नास्तिक्यान्मयि मनुष्यत्वबुद्धया दोषारोपेण यो जनः मां निन्दति तस्मै मदुक्तः उपदेशो न देय'' इति भगवदभिप्रायः प्रकटीकृतः किं बहुना भगवता शंकराचार्येणापि गीताभाष्ये ''यो मामभ्यसूयति'' इत्यंशमादाय–

''मयोक्तं संसारविच्छित्तयेऽतपस्काय तपोरहिताय न वाच्यम् इति। तपस्विनेऽप्यभक्ताय गुरुदेवभक्तिरहिताय कदाचन कस्यांचिदपि अवस्थायां न वाच्यम्। भक्तः तपस्व्यपि सन्नशुश्रूषुर्यो भवति तस्मा अपि न वाच्यम्। न च यो मां वासुदेवं प्राकृतं मनुष्यं मत्वाभ्यसूयत्यात्म-प्रशंसादिदोषाध्यारोपेण ममेश्वरत्वमजानन्न सहतेऽसावप्ययोग्यस्तस्या अपि न वाच्यम्'' इति व्याख्यातम्।

परमेश्वरं प्रति श्रद्धावन्तमनुरागवन्तमास्तिकं सर्वथैव परमेश्वरो रक्षतिअनुगृह्णाति च। अनुरागः सगुणब्रह्मविषयकः मानसव्यापारः। स चिन्तनरूपः। आपत्तिकाले येन रूपेण भक्तः परमेश्वरं अनुचिन्तयति तद्रूपेणैव परमेश्वरः अनुगृहीतुं भक्तस्य शरीरं प्रविशति। उक्तञ्च तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्रपादेन–

''भूतावेशन्यायेन ईश्वरो भक्तशरीरं प्रविशति।''

अत्र अपरो विचारः प्रस्तूयते–भक्तिः बहुविधा भवति। केचन भक्ताः देवव्रताः भवन्ति। ते च देवान् प्राप्नुवन्ति। केचन भक्ताः राजसाः पितृव्रताः भवन्ति। ते पितॄन् प्राप्नुवन्ति श्राद्धादिवशात्। केचन तामसा भूतव्रताः भवन्ति। ते च राक्षसादीन् प्राप्नुवन्ति। इतः परमपि भक्तो द्विविधः–सगुणब्रह्मोपासको निर्गुणोपासकश्च। तत्र सगुणोपासकस्य चित्ते अनुरागात्मिका वृत्तिर्जायते। सा च वृत्तिर्यदा निरवच्छिन्ना भवति सैव निरवच्छिन्ना भक्तिरनन्या भक्तिः कथ्यते। इतः परं या भक्तिः निर्गुणं ब्रह्म अधिकृत्य, तं प्रति योऽनुरागः स न तावद् वृत्तिविशेषः। उपाधिविशिष्टस्यैव ब्रह्मणः चित्ते वृत्तिस्वीकारात्। अत्र "निरवच्छिन्नत्वं नाम भगवच्चरणारविन्द-चिन्तायाः क्षणमात्रस्यापि कृते वियोगाभाव एव। अतएव–

"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

इति अर्जुनं प्रति भगवतः श्रीकृष्णस्योक्तिः संगच्छते।

इदमत्राकूतम् –कर्मयोगे–भक्तियोगे–ज्ञानयोगे वा सर्वत्रैव प्रेरकत्वेन श्रद्धैव मूलकारणम्। श्रद्धावशादेव कर्मणि निष्कामे प्रवर्त्तते मानवः। यतो हि निष्कामकर्मणः न तावत् किमपि फलं भवति, अपि तु अन्तःकरणशुद्ध्यर्थमेव प्रवर्त्तते मनुष्यः। कर्म एव योगः–कर्मयोगः, स च सन्ध्योपासनादि निर्विकल्पकसमाध्यनुष्ठानरूपः। "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" इत्यादिना वाक्येन सन्ध्योपासनादीनां नित्यकर्मत्वं प्रतिपादितम्। कर्मणि नित्यत्वं फलविशेषशून्यत्वे सति अकरणे प्रत्यवायजनकत्वम्। एवञ्च फलाभावेऽपि मानवः सन्ध्योपासनादौ अनुष्ठानादौ च यः प्रवर्त्तते स श्रद्धावशादेव। उक्तञ्च "आचार्यवचनेषु अदृष्टार्थेषु विश्वासः श्रद्धा" इति। "भ्रम-प्रमासाधारणास्तिक्यबुद्धिःविश्वासः। प्रमात्मिकास्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा।" एवं ज्ञानार्थं युज्यत इति ज्ञानयोगः इति कथ्यते। ज्ञानयोगश्चात्र श्रवणमनननिदिध्यासनरूपः। अत्रत्यं निर्दिष्टं ज्ञानं विलक्षणं न तावत् इन्द्रियजन्यम्। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इति मन्त्रोक्तं श्रवणं श्रुतिवाक्यस्यैव। मननं चात्र अनुमानरूपमेव। उक्तञ्च–

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः"

एवञ्च अविरलक्रमेण अर्थात् निरवच्छिन्नरूपेण आत्मनश्चिन्तनं निदिध्यासनम्। तेन अज्ञानस्य नाशो भवति। जीवात्मा मुक्तिं लभते। अस्मिन् ज्ञानयोगे यस्य पुरुषस्य'' तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय इति वाक्ये विश्वासः श्रद्धा वा स्यात् स एव ज्ञानयोगे प्रवर्त्तते। ज्ञानयोगस्यापि वस्तुतः श्रद्धैव मूलम्। श्रद्धाहीनः पुरुषः विद्वद्वरेण्योऽपि मुक्तिं न लभते। यथा–हिरण्यकशिपु–कंस–रावण प्रभृतिषु आस्तिक्यं व्याहन्यते। अतएव ते परमेश्वरं प्रति श्रद्धाहीनत्वादेव कुकर्मणि प्रवृत्ता आसन्। अथच तद् वशादेव आस्तिककोटौ न ते परिगणिताः।

किं बहुना श्राद्धकल्पेऽपि–

गोत्रं नो वर्द्धतां दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च श्रद्धा च नो मा व्यगमत् बहुदेयं च नो भवेत् ....इत्यादि।

एतन्मतं पोषयन् कविकुलचक्रवर्त्ती विशाखदत्तः मुद्राराक्षसे इत्थमभिहितवान् यत्–

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः

प्रज्ञाविक्रमशालिनोपि हि भवेत्किं भक्तिहीनात्फलम्।

प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये

ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च।। 1/15

व्यवहारेऽपि विश्वासघातः श्रुतिमथमायाति, न खलु श्रद्धाघात इति सार्वजनीनोऽनुभवः। अतः श्रद्धावान् एवास्तिक इति सर्वजनसम्मतम्।

डॉ. भगीरथ मिश्रः
प्राचार्योऽध्यक्षश्च
स्नातकोत्तर दर्शन विभागः
कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालयः,
दरभंगा (बिहार)

मिथिलायां गीतिकाव्यपरम्परा

डॉ. विजयचन्द्र झा

प्रकाशितेषु काव्यतत्त्वेषु गीतितत्त्वम् अन्यतमम् मन्यते। उक्तञ्च भारतीये नाट्यशास्त्रे– 'जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतिमेव च।' इत्यादि।

साम्नां विशेषः स्वरो गीतिः। स स्वरोऽतीवप्रियो देवानाम् किमुत मानुषाणाम्। तदुक्तं गीतायां भगवता श्रीकृष्णेन–'वेदानां सामवेदोऽस्मि' इति।

एवं गीतिमयम्, गेयम्, गीतिप्रधानं वा काव्यं गीतिकाव्यमिति व्युत्पत्त्या लभ्यम् अर्थमादाय प्रसिद्धिसत्त्वात् विवेचनमारभ्यतेऽस्माभिः।

काव्ये रसभावयोः प्राधान्यात् काव्यं द्विविधं स्वीकर्त्तुमुचितम् –रसप्रधानं काव्यं सरसकाव्यम्, भावप्रधानञ्च काव्यम् भावकाव्यमिति। तत्र रसप्रधाने रसास्वादनाय समुचित–विभावा–नुभावादिवर्णनमपेक्ष्यते। भावप्रधाने तु ईषद्–विभावादिवर्णनमपेक्ष्यते। अतो हेतोः रसप्रधानं काव्यं बृहदाकारकं महाकाव्यादिरूपं विरच्यते, भाावप्रधानं काव्यं तु खण्डकाव्यम् एकदेशिवर्णनरूपम्। एषु खण्डकाव्येष्वेव गीतिकाव्यम् समायाति। एवं भावप्रधानं पद्यात्मकम् एकदेशानुसारि गीतिमयञ्च काव्यं गीतिकाव्यमित्यङ्गीकर्त्तुमुचितम्।

जयदेवानन्तरम् अनेकशताब्द्याः परं पञ्चदशशताब्द्यां जातः गीतगौरीपति-काव्यकर्त्ता भानुदत्तः। गीतगौरीपति--काव्ये गौरीपतेः शिवस्य भक्तिगीतानि स्तोत्राणि च प्रणीतानि कविना। विविधच्छन्दोमूलकानि राग–तालमयानि गीतानि अतीव मनोहराणि दश सर्गेषु निबद्धानि सन्ति। उक्तञ्च कविना काव्यसमाप्तौ–गौरीपतेर्गीतिरियं सुरम्या इत्यादि। उदाहरणार्थम् एका गीतिपङ्क्तिरत्र प्रस्तूयमानाऽस्ति–गुर्जरीरागेण रूपकताले–

सकुतुकसरभससविनयसस्मितविरचितबहुविधरङ्गम्।

मुकुलितविकसितमुहुरावर्तितनर्तितनयनतरङ्गम्।

प्रियसखि किमुरसि वहसि महेशम्।

हिमकरकिरणकलापकरञ्जितकैरवकोमलवेषम्।। 2/1

एवमेवात्र गीतानि विविध–राग–तालमयानि दृश्यमानानि सन्ति। वसन्तरागे रूपकतालेऽन्या गीतिर्द्रष्टव्या–

रतिरसविकलितमणिमयनूपुरयुगलतरङ्गिततालम्।

फणिपतिविततफणावलिपरिहृतमणिगणविरचितजालम्।

सायं समयविहितनटवेषम्।

चेतो मम चिन्तय हि महेशम्।। 3/1

एकमन्यदुदाहरणमपि द्रष्टव्यम् –देखाखरागेणैक–तालिताले–

त्वमसि किरीटं त्वमसि पटीरम्।

त्वं सन्तापहुताशे नीरम्।

मनसिजलेख त्वं मम सकलम्।। 17/1

इह कविना राग–तालोल्लेखपुरस्सराणि गीतानि निबद्धानि। यद्यपि एतानि सर्वाणि भक्तिगीतानि सन्ति किन्तु गीतिकाव्यस्य विकासायात्र बहवो मार्गा उन्मीलिता अत्र गीतिसमाप्तौ कविमणितिः प्रयुक्ता यथा विद्यापतिप्रभृति–मैथिलीगीतिकारैः प्रयुज्यमाना आसीत्। एवञ्चात्र वसन्तादिप्रकृतिमनुसृत्य विविधदेशीयताल–लयमनुसृत्य गीतानि रचितानि। एतानि तत्त्वानि परवर्त्तिनां गीतिकाराणां प्रेरकाणि जातानि। प्रायेण गीतिकाव्यस्य भक्तिगीति प्रकृतिगीति, राष्ट्रगीति राजभक्ति–गीति (वीरुत् इति), शृंगारगीति, विरहगीति इत्यादि प्रविभागाः विकसिताः सञ्जाताः।

भक्तिगीतिपरम्परायामेव जातः बालकवि-कृष्णदत्तः गीतगोपीपतिः काव्यकर्त्ता। अस्य समयः अष्टादशशताब्द्यां प्रतिपाद्यते। अस्मिन् गीतगोपीपतिः काव्ये गीतगोविन्द' मिव राधा–कृष्णयोः प्रेमवर्णनम् मधुरमयम् पनिबद्धम्।

एवमेव भगवद्भक्तिगीतिपरम्पराया कविशेखरबदरीनाथझा आविर्बभूव। अस्य समयः

20 शताब्द्या समापतति। अनेन संस्कृतगीतिरत्नावली विरचिता।

गीतिकाव्यस्यन्यप्रविभागे राजभक्ति (वीरुत्) गीतिकाव्ये कविना प्रायेण स्वाश्रयस्य राज्ञो वीरगाथा निबद्ध्यते। महामहो. गोकुलनाथोपाध्यायेन स्वाश्रयदातुः श्रीनगराधीशस्य फतेहसाहस्य गुणानां गानं हरिगीतिकावृत्ते कृतम्, यथा–

त्वयि चलति सङ्गरभूमिसीमनि भूमिसीमशरासने
वद को न मुञ्चति दम्भमथवा को न तिष्ठति शासने।

एवमेव मदनहरावृत्ते–

लघुतरपदपाता जवजितवाता पुर इव जाता।
पतगपते दीनैकगते इत्यादि च।

तत्र विरुदावली संकलनात्मिकाऽस्मद्गुरुचरण डॉ. त्रिलोकनाथझासम्पादिता खण्डवलाराजविरुदावली सम्प्रति मुद्रिता। अस्याम् अनेकेषां कवीनाम् वीरुद्गानानि विलसन्ति। अस्यां त्रिशतोऽप्यधिकानां वीरुत्काराणां रचना संकलिताऽस्ति। तत्र केषाञ्चन वीरुद्गानानि उल्लेख्यानि, अन्यानि च काव्यानि न पुनः गीतकानि। एषु चित्रकवेः माधवविरुदावली, नारायणकवेः राघवविरुदावली, अज्ञातनाम्नः कवेः सुन्दरविरुदावली प्रमुखानि सन्ति। एभ्यः कानिचन उदाहरणानि प्रस्तूयन्ते–

राघवविरुदावल्याम्–

त्वयि चलति विजेतुं भुवनमसेतुं निन्दन्तं सरितं परितः।
परिहृतशिशुदारा भुक्ताहारा निविशन्ते रिपवो विपिनम्।

माधवविररुदावल्याम्–

गिरितुङ्गमतङ्गजवृन्दविनिन्दित–
तुन्दिलदिग्गजकायतते सुजनैकगते।
प्रविनम्रसबालमहीपतिसभाल–
किरीटकृताघ्रिनते मिथिलाधिपते।।

सुन्दरविरुदावल्याम्–

जय नयकारक खलदलहारक
हारकलितमिथिलाधिपते हतवैरितते।

शरणागतपालक सुतशतलालक

भालवलितवरहीरतते जयभूमिपते।।

आधुनिकेषु गीतिकाव्येषु विविधप्रकाराणि गीतिकाव्यानि कर्त्तुं प्रयत्नः परिलक्ष्यते। तत्र पण्डित–आनन्दझाद्वारा आनन्दमधु–मन्दाकिनी तदीयगीतिकाव्यसंग्रहात्मिका प्रणीता। अस्याम् भक्तिगीति, प्रकृतिगीति, राष्ट्रगीति, राजस्तुतिगीति इति प्रकीर्णगीतयः विलसन्ति। उदाहरणम्– अभियानगानम्–

व्रज त्वमद्य सत्वरं चल त्वमद्य सत्वरम्।

धीर वीर सैनिक व्रज त्वमद्य सत्वरम्।।

शान्तिगीतिः–

परा शान्ते देवता त्वम्।

निखिलविश्वस्यैकता त्वम्।।

एवमेवाचार्यरामचन्द्रमिश्रमहाभागेन काश्चिद् गीतयः ग्रथिताः। तत्रैकमुदाहरणम्, यथा– काश्मीराक्रमणम्–

येन भूमण्डलेन स्वखण्डने देशोऽस्मदीयो दिवं सुन्दरीं निन्दति,

शारदादेशमास्थापयत्केशरं काव्यरूपं सदा सौरभं निन्दति।

अयं महानुभावः सीतामढ़ीमण्डलान्तर्गतपकड़ी-ग्रामनिवासी वैदेहीचरित-महाकाव्यप्रणेता 20 शताब्द्यां विद्यमानः आसीत्।

अस्यामेव परम्परायां पं. जीवनाथमहाभागेन काव्यलहरी-ग्रन्थे प्रकीर्णकाव्यानि संग्रथितानि। एषु काश्चन गीतयः यथा स्वागतगीतिः अभिनन्दनगीतिः विलसति यथा–

स्वागतगानम्–

प्रभो भज भूरि–भूरि विजयम्।

भाग्यरवेरिह नः पश्यामो धुरि साम्प्रतमुदयम्। प्रभो.।

सकलनृपालैराद्रियमाणं गुणगणगौरवमाश्रियमाणम्।

त्वामासाद्य वयं बिभरामः परमं प्रीतिचयम्। प्रभो.।

भक्तिगानं यथा–

त्रिभुवनपते नाथ जय जय पुरारे।

स्वीकृतगरलपान प्रियवृद्धवृषभयान।

शशधरविलसमान जय जय पुरारे।। इति।

अयं जीवनाथः महावैयाकरणदीनबन्धुसुतः 20 शताब्द्यामवर्तत महाराजाधिराजकामेश्वर-सिंहस्याश्रये। अनेन कामेश्वरप्रतापोदयम् वीरुत्काव्यमपि लिखितम्। अस्येयं काव्यलहरी अधुना यावत् अप्रकाशितैव तिष्ठति।

साम्प्रतिकेषु [illegible] आचार्यरामजीठक्कुरः विविधगीतिरचनाकारः परिचितोऽस्माकम्। अनेन राष्ट्रगीतिः प्रकृतिगीतिः, प्रकीर्णगीतयश्च ग्रथिताः प्रकाशनमपेक्षन्ते। अस्य आर्याविलासनामकं मुक्तकं गीतिमयं मम दृग्गोचरीभूतम्। तत उदाहरणार्थम् प्रस्तूयते–आर्याविलासस्य पद्यद्वयम्–

जयति जवाहरलालः भारतभूमेर्विमुक्तिहेतोर्यः।

कमलामिव निजकमलां विहाय देशार्थमाददे विपदम्।।

भारतवीरसुपुत्रं गुर्जरतिलकं स्वदेशसम्मानम्।

बल्लभपटेलविदितं स्मरामि सत्यव्रतं महात्मानम्।।

एवं मिथिलायां गीतिकाव्यस्य निरवच्छिन्ना परम्परा दरीदृश्यते। अस्या विकाशश्च बहुमुखोऽवलोक्यते। आशासे कविभिरियं परम्परा अग्रेऽपि सारयिष्यते विकासस्य च क्रमो न व्याहन्येत इत्यलम्।

सन्दर्भग्रन्थाः

1. भानुदत्तग्रन्थावली–भानुदत्त
2. एकावली–म.म. गोकुलनाथ
3. आनन्दमधुमन्दाकिनी–पं. आनन्दझा
4. काव्यलहरी–पं. जीवनाथझा

5. काव्यकल्लोलिनी–कविशेखरबदरीनाथझा
6. आर्याविलासः–डॉ.रामजीठाकुर
7. दीनबन्धुस्मृतिग्रन्थः
8. खण्डवलाराजविरुदावली–डॉ.त्रिलोकनाथ झा
9. संस्कृतसाहित्येतिहासः–आर्चाबलदेव उपाध्यायः
10. संस्कृतसाहित्येतिहासः–आचार्यवाचस्पति गैरोला
11. The Glory that was mithila–Dr. Triloknath jha

डॉ. विजयचन्द्र झा
प्राध्यापक,
ल.प्रि.रा.ल.संस्कृतमहाविद्यालय,
समौल, मधुबनी

श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रयुक्तानां सम्बोधनपदानामौचित्यम्

डॉ. अरविन्दकुमारतिवारी

श्रीमद्भगवत्कृष्णमुखारविन्दनिस्सृतगीता सकलमानुषकल्मषहारिणी गङ्गेव निखिलजनमनःपावनी तीर्थभूमिरिव सर्वधर्मसम्भावहृदया भगवन्मायेव सकृदपि पठतो मनुजान् कृतार्थयन्ती भारतवर्षगरिमाणं रक्षयन्ती विद्योतमानास्ति सौदामनीवेह जगति न कं मोहयति जगदान्धकारावच्छिन्नजनं मार्गं दर्शयन्ती मोचयति। जानन्ति प्रेक्षावन्तो विद्वांसः श्रोतारो मन्तारश्च यदियं श्रीमद्भवगद्गीताहवेऽर्जुनाय प्रोक्ता मोहोपहितचेतसे मोहापहितचेतसा श्रीकृष्णेन महाभारते। अये विमर्शनशीलविशालबुद्धयो बुद्धिमत्स्वपि यदि वक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्णः श्रोता चार्जुनस्तदा प्रतिपदं सार्थकमेव मन्तव्यं वार्त्तालापीयमिति चिन्तयामि, तत्रापि वर्णसंयोजकः श्रीमान् व्यासस्तर्हि सर्वमपि समुपादेयमेव न लेशमात्रमपि परिहेयमित्यनुमिनोमि सनातनमार्गानुसारी। बहुधा प्रतिरविवासरं मालवीयभवने मनीषिणां गीताप्रवचनं श्रोतुमुपस्थित एकाग्रचितेन यत्किमप्यश्रौषं तेन हृदये महानानन्दोऽजायत, तदानीमेव विचारितमासीन्मया यत्सम्बोधनपदमाश्रित्य निबन्धो लेखनीयः सम्प्रति लिखितः।

श्रीमद्भवगद्गीतायामेकविंशत्युत्तरद्विशतसम्बोधनपदानि प्राप्तानि प्रायशः। तानि सन्तीमानि– सञ्जय 1, आचार्य 1, द्विजोत्तम 1, अच्युत 3, अनन्त 1, अनन्तरूप 1, केशव 8, मधुसूदन 4, जनार्दन 5, वार्ष्णेय 1, अर्जुन 19, पार्थ 27, परन्तप 10, अरिसूदन 1, भारत 21, कौन्तये 23, पुरुषव्याघ्र 1, पुरुषर्षभ 2, महाबाहो 14, कुरुनन्दन 3, धनञ्जय 8, अनघ 2 (अर्जुनाय), कुरुसत्तम 1, कुरुप्रवीर 1, केशिनिषूदन 1, पाण्डव 5, तात 1, भरतसत्तम 1, भरतश्रेष्ठ 1, भरतभ 5, पुरुषोत्तम 3, भूतभावन 1, भूतेश 1, देवदेव 1, देव 1, देवेश 1, देववर 1, जगत्पते 1, जगन्निवास 3, भगवन् 1, कुरुश्रेष्ठ 1, गुडाकेश 2, कमलपत्राक्ष 1, परमेश्वर 1, प्रभो 1, योगेश्वर 1, राजन् 3, विश्वेश्वर 1, विश्वरूप 1, महात्मन् 1, विष्णो 2, सव्यसाचिन् 1, हृषीकेश 2, यादव 1, सखे 1, अप्रतिमप्रभाव 1, सहस्रबाहो 1, विश्वमूर्ते 1, महीपते 1, गोविन्द1

एतेषु सम्बोधनपदेषु श्रीकृष्णम्प्रति अच्युताऽनन्ताऽनन्तरूपाऽप्रतिमप्रभाव–केशव–कृष्ण–मधुसूदनारिसूदन–जनार्दन–माधव–वार्ष्णेय–महाबाहु–पुरुषोत्तम–भूतभावन–भूतेश–देवदेव–देव–देववर-देवेश–जगन्निवास–जगत्पति–भगवत्–कमलपत्राक्ष–परमेश्वर–प्रभु–योगेश्वर–विश्वेश्वर–विश्वमूर्ति–केशिनिषूदन–विश्वरूप–महात्म–हृषीकेश–यादव–सखि–सहस्रबाहु–गोविन्दपदानि षट्त्रिंशत्प्रकारकाणि प्रयुक्तानि प्राप्तानि।

अर्जुनम्प्रति अर्जुन–पार्थ–परन्तप–भारत–कौन्तेय–भरतश्रेष्ठ–कुरुनन्दन–कुरुप्रवीर–कुरुसत्तम–कुरुश्रेष्ठ–धनञ्जयानघ–पाण्डव–गुडाकेश–सव्यसाचि–पुरुषव्याघ्र–पुरुषर्षभसम्बोधनपदानि दृष्टानि सप्तदशप्रकारकाणि।

द्रोणाचार्यम्प्रति आचार्य–द्विजोत्तमसम्बोधनपदद्वयं प्रयुक्तमस्ति।

सञ्जयं प्रति सञ्जयसम्बोधनपदमेकमेवोक्तम्।

धृतराष्ट्रं प्रति भारत–राज–परन्तप–महीपतिसम्बोधनपदानां चतुष्टयं प्रयुक्तमस्तीति लभ्यते।

यद्यपि प्रकारत्वेन सर्वाधिकं सम्बोधनपदं भगवतः श्रीकृष्णस्यैव दृश्यते तथापि सङ्ख्यादृष्ट्यार्जुनस्य सर्वाधिकानि प्राप्तानि। इमानि सर्वाण्यपि साभिप्रायसूचकानि यथावसरं यथाकालं प्रयुक्तानि दृष्टानि सार्थकान्येव। नैकमपि सम्बोधनपदं मया व्यर्थमालक्षितम्। अधुनादौ भगवन्तं प्रति प्रयुक्तसम्बोधनपदानामौचित्यं प्रदश्र्यते।

श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रथमं सम्बोधनपदं 'सञ्जय'[1] इति वर्तते। पदमिदं गीतापाठकानामवधानताधायकं मन्तव्यं सावधानस्यैव ज्ञानग्राहकत्वात्, निरवधानस्तु विवेच्यग्राह्यज्ञानाद् भवति दूरमिति सर्वविदितम्। द्वितीयं पदं सम्बोधनं 'आचार्य'[2] तृतीयं 'द्विजोत्तम'[3] इत्यस्ति। अत्र ज्ञेयं यत् यावन्नारभ्यतेऽर्जुनकृष्णसंवादस्तावद् गीताया पीठिकाभागः कथन्न मन्यन्तामिति। वस्तुतो गीतारम्भस्तु 'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत!।'[4] इति कथनात्स्वीकरणीयः। अतो धनुर्धरोऽपि धर्मधुरीणः, शस्त्रप्रवीणोऽपि शास्त्रकुशलो न विस्मरति मङ्गलवचनाचरणम्। अस्मादेव कारणात्प्रथमन्तेन 'अच्युत' सम्बोधनं प्रयुक्तम्। यथोक्तं मङ्गलविषय यत् 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति।[5] जनैरहमुपहास्यतां गतो युद्धक्षेत्रे किमर्थं मङ्गलं कारणीयमिति विमृशन्। मङ्लन्तु ग्रन्थप्रणयने आचर्य्यते। अये मान्याः। अर्जुनोऽपि विलिखन्नस्ति स्वरणकौशललेखन्या विशालेतिहासरूपात्मकं महाभारतम्, अतस्तेनाचरितं मङ्गलमिदम्। द्वितीयमच्यु-

तसम्बोधनपदमेकादशाध्याये 'विहारशय्यासनभोजनेषु[6] प्रमादात् त्वं मया कदाचिदसत्कृतोऽसि, अपमानितः सन्नपि न त्वया स्वस्वरूपात् प्रच्यवितव्यमिति त्वयि अच्युतत्वमौचित्वमेव भजते, तस्मात्तवमच्युतोऽसि। एवं भवति लोके कदाचित्कुपितं मित्रं गुह्यमपि प्रकाशयति यदपमानितं मित्रं मैत्रीं भिनत्ति हृदि वैरं पालयति च, परन्तु त्वन्तु जानासीदं समग्रमपि विस्मृत्य सखायं मनुसे माम्। अतस्त्वमच्युतो मन्यत इत्यपि मत्वार्जुनेन अच्युतसम्बोधनं प्रयुक्तमिदं माध्यमिकं मङ्गलं मन्यतामिति। तृतीयमच्युतसम्बोधनमन्तिमे भागे गीताया अष्टादशाध्याये चतुरतया प्रयुक्तमवाप्यते। उपदेशाधिगमे स्वस्मृतिमापन्नोऽर्जुनो नष्टमोहो स्थितस्सन्नापगतसन्देहो भगवन्तं श्रीकृष्णं सम्बोधयन् दर्शयति यद् यस्यां कस्यामपि परिस्थितौ त्वं स्वस्वरूपावस्थितो न मां हास्यसीति। अच्युतपदमीश्वरवाचकमपि सर्वज्ञातम्। अतः आरम्भे मध्येऽवसाने चार्जुनेन मङ्गलाचरणरूपात्मकमच्युतसम्बोधनं व्यधायि।

केशवसम्बोधनं[7] विमृश्यते, प्रशस्ताः केशा यस्यासौ केशवः, किमर्थमात्मकल्याणभिपश्यन्नर्जुनः सुहृदं केशवं ब्रूते! चिन्त्यतां मन्ये त्वं मधुराधिपतिरसि, त्वं सर्वसुन्दरस्सन् केशान् प्रसाधयितुं मया बहुधालक्षितोऽसि। अहं चिन्तितस्तिष्ठामि प्रतिपलं मम सर्वाः क्रियाः सूत्रवद् भवन्ति, परन्तु त्वं चिन्तारहितः सन् केशान् सज्जयसि न सम्यङ्मन्त्रयसे इति पूर्वमहमनेकवारमपश्यं त्वन्मित्रभूतत्वात्, तस्माद्धे केशव! इदानीमहं सङ्कटापन्न इति त्वं जानासि, सर्वाण्यपि लक्षणानि वैपरीत्यं भजन्ते। अहमात्मकल्याणं न पश्यामि युद्धेऽस्मिन् इति त्वं जानीहि। अन्यच्च लोके सखा स्वमित्रं प्रति तद्वेशभूषागुणरूपादिभिरपि सम्बोध्यमानो दृश्यत एव। अतस्तद्वदेवात्रापि स्वीकर्तव्यम्।

कृष्णसम्बोधनपदमधुना विचार्यते–कृष्धातोर्नक्प्रत्यये कृष्णशब्दो निष्पद्यते। किञ्च कृष्वादि-परस्मैपदधातोरपि नक्प्रत्यये निष्पन्नोऽयं कृष्णशब्दश्श्यामो वर्णः स्वीक्रियते। किञ्चाकर्षति सर्वानसौ कृष्ण इत्यपि कथन्नाङ्गीकरणीयम्। श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टौ कृष्णसम्बोधनपदानि प्रयुक्तानि। प्रथमं 'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण! न च राज्यं सुखानि च।'[8] अत्र प्रयुक्तं कृष्णसम्बोधनपदं सर्वथौचित्यं भजते, विजयराज्यसुखानि सर्वानपि जीवानाकर्षन्त्येव, तदप्राप्तौ चानिष्टमपि कारयन्ति, परन्तु नामहर्जुन एभिराकृष्टो भविष्यामि। यद्यपि त्वमपि अखिलानकार्षसि तथापि नाहं त्वद्वचोभिरधुना येन केनापि प्रकारेणाकर्षितो भविष्यामीति ज्ञायताम्। 'एवमधर्माभिभवात्कृष्ण! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः'[9] इति स्थाने अधर्मस्याकर्षणत्वं सर्वज्ञातं कुलक्षये समुत्पन्नोऽधर्मो वर्णसङ्करत्वं जनयिष्यतीति, नाहन्तुं मधुरवाक्याकृष्टो युद्धं करिष्य इति ध्वनयति। एवमेव प्रकारेण यत्र[10] कुत्रापि कृष्णसम्बोधनपदं श्रुतं पठितं तत्र–तत्रेदमेव कदाचिन्मनो मे पश्यति।

माधवसम्बोधनं परिशील्यते–अहो! अवलोकनीयमिदं पदं 'तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्। स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्यां माधव!।।'[11] अविद्योपहितचैतन्यौतन्योऽर्जुनोऽ-विद्यापतिं माधवं सम्बोधयन् ब्रवीति यन्मायाया धव इति माधवः। अये माधव! अत्र मां स्वजनमोहो बाधमानोऽस्ति। त्वमेव मायाया अविद्यायाः स्वामी वर्तसे, अज्ञाननिकेतनं मां बोधयेति। माधवसम्बोधनपदमेकवारमेव श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रयुक्तमित्यनेनापि मायापतिरेक एव न बहव इति सूचितम्।

मधुसूदनारिसूदनसम्बोधनपदद्वयपि सर्वथौचित्यपरमेव 'कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन! इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन!।।'[12] मधुनामको दैत्यस्त्वया मारितो न कश्चित्पूजनीयो हतस्त्वयेति। शत्रवो मार्यन्ते न पूज्याः, दोषा वाच्या गुरोपि यद्यपि सर्वज्ञातं वचनन्तथापि वाच्या न मारणीया, यदि मारणीयास्तत्रापि इषुभिः! नाहमिदं स्वीकरोमि। अतएव सम्बोधनद्वयमत्र वक्तव्यसावेक्षं समुचितं प्रतिभाति।

वार्ष्णेयसम्बोधनमर्जुनेन वर्णसङ्करसम्भावनावसरे प्रयुक्तम्। अत्र वर्णसङ्करेण कुलनाशो भविष्यति। यन्न मे रोचते। त्वमसि वृष्णिवंशोद्भवः। अतः स्त्रीषु दोषो मा गच्छेत् पितरश्च विलुप्तपिण्डोदकक्रिया न भवेयुरेतदर्थं मया वंशरक्षा चिन्तनीया। वृष्णौ भवः वार्ष्णेय इति पदस्य सार्थकतावश्यमेव मन्तव्या। यद्यपि स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।[13] इत्यत्र स्त्रीषु दुष्टासु हे कृष्ण! जायते वर्णसङ्करः। इति क्रियतां न तथापि कापि क्षतिः, परन्तु वार्ष्णेयपदप्रयोगेण वंशसूचनवैशिष्ट्यं न बोधयितुं शक्यते कृष्णपदेन। वार्ष्णेयपदं कुलनैरन्तर्याभिव्यञ्जकं न तु व्यक्तिमात्राभिधायकम्।

गोविन्दसम्बोधनपदमर्जुन एकमारमेव गीतायामकरोत्, यस्याभिप्रायो मम मते वर्तते यदर्जुने आत्मनः इन्द्रियाणां वशीत्वं दर्शयति 'किन्नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।'[14] गोविन्दपदस्येन्द्रियाध्यक्ष इत्यर्थोऽपि मन्तुं शक्यते। इन्द्रियनिग्रहावसरे इन्द्रियनिग्रहरूपसम्बो-धनं कथं नौचित्यं प्रकटयित। एवम्प्रकारेणान्यान्यपि श्रीकृष्णम्प्रति प्रयुक्तानि सम्बोधनपदानि सर्वथा समुचितान्येवाभान्ति।

अधुनार्जुनम्प्रति श्रीकृष्णकथितानि सम्बोधनपदानि विविच्यन्ते।

श्रीकृष्णेन श्रीमद्भगवद्गीतायां सर्वप्रथमम् अर्जुन[15] इति सम्बोधनं प्रयुक्तमित्यवलोक्यते। साभिप्रायमिदं पदम् अर्जुनशब्दस्य सर्वशुक्लवाचकत्वात्। शुक्ले वर्णे लाञ्छनाभावो मतः। अतस्त्वमुर्जुनस्त्वयि कलङ्काः कथमुपस्थिताः? अनेन सार्थकमिदं सम्बोधनम्।

द्वितीयं सम्बोधनपदं भगवता 'पार्थ'[16] इति प्रयुक्तम्। पृथायाः पुत्रः पृथाशब्देऽपत्ययार्थेऽणि कृते निष्पन्नः पार्थशब्दो मातृपक्षं समुद्घोषयति। मन्मतमिदं यदिदमुक्त्वा सूचयति भगवान् यत् अर्जुन मा भव नपुंसकोऽधुना त्वमाहवेऽस्मिन्। न जानासि ते जन्मदात्री कियद् दुःखमनुभूतवती, कियतीं पीडाञ्च सोढवती। साम्प्रतमपि प्रतिपलं सहमाना वर्तते। अतस्त्वमनुचितं मा कुरु। लोकेऽपि श्रूयते कश्चिद् वदति कमपि प्रेरयन् यस्मिन् कस्मिन् प्रतिज्ञातकर्मणि यदि त्वं निजमातृदुग्धमपिबस्तदा योद्धव्यम्। ततो मातृशब्दश्रवणोद्विग्नस्तत्कालमेव योद्धुं प्रवर्तते कलहावसर इति सुप्रसिद्धमेव।

[17]कौन्तेयसम्बोधनपदमिह चतुर्थं विमृश्यते, सरहस्यं सप्रयोजनं प्रयुक्तमिदं विलक्षणं सम्बोधनं पार्थसम्बोधनवदस्ति। कुन्तीशब्दादपत्यार्थे ढकि निष्पन्नोऽयं कौन्तेयो मातृजनितदुःखाभिव्यञ्जनतत्परः। युद्धविरतमर्जुनं युद्धाय शाब्दीभावनया प्रवर्तयितुमयमेवैकोपायः समुचित इति बहुधा प्रयुक्तमिदं पदं भगवता।

[18]परन्तपसम्बोधनपदं भगवता यथोचितमाविष्कृतमिह परिशील्यते–परं शत्रुं द्विषं वा तापयतीति परन्तपः, अर्थात् हे अर्जुन! असह्यं सहसे कठिनं कार्यं सरलतया कुरुषे, शत्रून् रणक्षेत्रे पातयसि, परन्तु हृदयदुर्बलतया पराजितो जातः कथम्? इदं तुच्छं हृदयदौर्बल्यं त्वया त्यक्त्वा सद्य एवोत्थातव्यमिति। परन्तपसम्बोधनपदेन बोध्यते। तस्मादस्य सार्थक्यमौचित्यञ्च।

भारतसम्बोधपदेन वंशगौरवं व्यनक्ति भगवान्। भरतशब्दादणि भारतशब्दो निष्पन्नः। यत्रापि प्रयुक्तमिदं पदं तत्र-तत्र भरतवंशीयराज्ञां वशांस्येव सारगर्भिततया गीतानि। भीष्मादयो भरतवंशोद्भवा ये आजीवनमखण्डब्रह्मचर्यव्रतमपालयन्। इमान् स्मर पश्य महापुरुषान्। एकस्त्वमसि यच्छीतोष्णसुखदुःखदान् मात्रास्पर्शाननित्यानुत्पत्तिविनाशशीलान् तापानमसमर्थोऽसि सोढुम्। अनेन प्रकारेण कुरुप्रवीर[19]–कुरुनन्दन[20]–कुरुसत्तम[21]–कुरुक्षेष्ठ[22]–भरतर्षभ[23] भरतश्रेष्ठ[24]–भरतसत्तम[25]–पुरुषव्याघ्र[26]–पुरुषर्षभ[27] सम्बोधनपदानि यथावसरं प्रयुक्तानि अनुसन्धेयानि। एषां पदानां प्रयोगेण 'कुलं वृत्तेन रक्ष्यते' इति बोधितम्। त्वमेव कुरुवंशरक्षकोऽसि तस्माद्धर्मयुद्धं कुरुष्व। ननूपस्थितेष्वपि भीष्मादिषु कथमर्जुनः कुरुसत्तम इति प्रोच्यते। कुरुषु ये सज्जनास्तेष्वन्यतमः इति कुरुसत्तमः। न भीष्मादीनां भगवतो मित्रत्वभाग्योपलब्धिः केवलमर्जुनस्यैव तस्मादिदं सार्थकमुचितञ्चेति कथन्न मननीयम्।

[28]धनञ्जयसम्बोधनपदेनाभिव्यञ्जितं यदनलः सङ्गं सम्पर्कमागतं वस्तु ज्वालयति तथैव त्वमपि सङ्गं विषयासक्तिं ज्वालय, नाशय। किञ्च ज्वलन् धनञ्जयः समत्वामचरति कथमित्युच्यते। ग्रामे नगरे वा समुत्थितो धनञ्जयो न गणयति जनं तत्सामर्थ्यम्, सर्वानेव ज्वालयित्वा

****

भस्मसात्कुरुते, तथैव सिद्धिविषये समत्वमाचर। अन्योऽपि अर्थोङ्गीकरणीयोऽस्य धनञ्जयसम्बोधनपदस्य। धनञ्जयत्यसौ धनञ्जयः। त्वत्कृते यश एवं धनं तस्मात्त्वं यशोधनः, अर्थात्त्वं यशस्वी जेतासि रणे सपत्नानिति सर्वमालोच्य युद्धं कुर्विति।

[29]पाण्डवसम्बोधनं श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चवारमेव प्रयुक्तम्। यथा–यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव!।। अत्र पाण्डुशब्दादपत्यार्थे कृतेऽणि पाण्डवशब्दो निष्पद्यते। अनेन बोधयति भगवान् यत्ते पिता पाण्डुरज्ञानजन्यमोहमपुगतः शापेनास्तङ्गमितरतिसुखो मृत्युङ्गतः, परन्तु न त्वं तादृशो भवाज्ञानशरणं गच्छेति भावः। किञ्च लोके श्रूयतेऽयोग्यपितृनाम्नापि पुत्र आकार्यते। न पाण्डुर्विख्यातो निजेन कर्मणेति धिया कदाचित्प्रोक्तवान् भगवान् स्यादिति।

[30]गुडाकेशसम्बोधनं द्विवारं प्रयुक्तं भगवता श्रीकृष्णेन। कुडाका नाम निद्रा तां जयति योऽसौ गुडाकेशः। निद्रा तन्द्रा वा तमोगुणाधिक्यादाविर्भवति। अत्र भगवान् बोधयितुमीहते यत् त्वं सर्वथा सत्त्वसम्पन्नो भव न तमोगुणोपेत इति। किञ्च न कोऽपि त्वत्समानो यो जयेन्निद्राम्। सर्वे जन्तवो निद्रावशीभूताश्शेरत एव। परन्तु त्वां सर्वशक्तिमतीं तां निद्रामपि विजितवानसि तथापि युद्धक्षेत्रं प्रविश्य तमोगुणोद्भूतमाययान्यथा कर्तुमिच्छसि। अतस्त्वं विसृज्यं सशरं चापं शोकसंविग्नमानसस्सन्नधुना रथमुपविश्यानुचितं कथं कुरुषे?

[31]सव्यसाचिसम्बोधनपदमिदं निमित्तमात्रत्वसाधने भगवता प्रयुक्तं, तेनोक्तं यत् कौरवा मयैवेते मारिताः पूर्वमेव, त्वं केवलं सव्येनापि हस्तेन शरान् चालयसि चेदिमे मृता मरिष्यन्त एव। अतो वामहस्तेन शरचालकः सव्यसाची शब्दः सव्यसाचिन् सम्बोधने सार्थकमस्ति।

[32]अनघसम्बोधनपदस्यार्थो निष्पापो भवति, सर्वथौचित्यमार्गगामी भगवान् जानाति यत् ज्ञानयोगं कर्मयोगं चोभावपि रागद्वेषादिरूपाज्ञानावच्छिन्नहृदय एव विगतकल्मषोऽधिगन्तुमर्हति। तस्मादवसरेऽस्मिन्नघपदं प्रयुक्तमवलोक्यते। किञ्च योगविषयं स एव हि ज्ञातुं शक्नोति यो भवेत्पापवृत्तिशून्यः। अन्यच्च न त्वं मारयिता कौरवान् तस्मात्त्वमनघोऽसि ततः सार्थकमिदं सम्बोधनम्।

[33]आचार्यसम्बोधनपदमेकवारं दुर्योधनेन द्रोणाचार्यम्प्रति प्रयुक्तम्। अत्र पदमिदं व्यङ्गनिष्ठं प्रतिभाति मध्यमपुरुषैकवचनक्रियाप्रयोगात्। यथा–पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्। व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।। अत्रापरमपि तवेतिपदं गुरुजनविरुद्धमिति मन्ये। अतोऽत्रासौ दुर्योधनः पाण्डवसैन्यबलदर्शनभीतिमान् सन्नेवाचार्यसम्बोधनं प्रयुक्तवान्। अन्यथा–पश्यतु पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्। व्यूढां द्रुपदपुत्रेण भवच्छिष्येण धीमता। वक्तव्यमासीत्। अनेनैव गुरोरादरो दर्श्यते। न तु 'ते' तव पदप्रयोगेण गुरोः सम्मानो भवति।

[34]द्विजोत्तमसम्बोधनपदद्वारासौ कुबुद्धिर्मन्दमतिर्दुर्योधनो मध्यमपुरुषैकवचनान्तां क्रियां प्रयुङ्क्ते, 'निबोधत'। अत्रैव 'ते' पदमपि कथितम्। यथा–अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम। नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते।। अन्यथा

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् बोधतु द्विजोत्तमा। नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान् ब्रवीम्यहम्।। सन्निकृष्टेऽभिमुखे 'द्विजोत्तम' किञ्च 'ते' पदप्रयोगोऽनुचितो न प्रतीयतेऽन्धेनापि इति।

[35]महीपते सम्बोधनं विचारणीयमस्ति। यद्यपि धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जयप्रयुक्तं तथापि धृतराष्ट्रो न महीपतिः तस्य पृथ्व्या एकदेशाधिपतेः। पदमिदन्तु मम मत्यार्जुनेन कदाचित् वराहावतारे महीरक्षणतया विष्णोरवतारश्रीकृष्णम्प्रति प्रयुक्तं स्यादिति वदामि। श्रीकृष्णस्यैव महीपतिवाचकत्वात्।

[36]राजन् सम्बोधनं सञ्जयेन धृतराष्ट्रम्प्रति प्रयुक्तम्, स एव धृतं राष्ट्रं येन विग्रहवानिति। वारत्रयं राजन् पदप्रयोगात् स्पष्टीभूतं यन्महीपते सम्बोधनं न सञ्जयो धृतराष्ट्रं प्रति अपितु अर्जुनः श्रीकृष्णम्प्रति प्रयुक्तवानासीदिति।

सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीतायां 1–1
2. तत्रैव 1–2
3. तत्रैव 1–7
4. तत्रैव 1–21
5. व्याकरणमहाभाष्यपस्पशाह्निके।
6. श्रीमद्भगवद्गीतायां 11–42
7. तत्रैव 1–31, 2–54, 3–1, 10–14
8. तत्रैव 1–32
9. तत्रैव –41
10. तत्रैव 5–1, 6–34,37,39, 11–41, 17–1
11. तत्रैव 1–37
12. तत्रैव 2–4 (मधुसूदनप्रयोगः 1–35, 2–4, 6–33, 8–2)
13. तत्रैव 1–41

14. तत्रैव 1–32

15. तत्रैव 1–28,2–2,2–45,3–7,4–5,9,37, 6–16,32,46, 7–16,26 8–16,27, 10–32,39,42, 11–54 18–9,61

16. तत्रैव 1–25,2–3,32,39,55,72, 3–6,22,23,6–40,7–1,8–8,1419,22,27,9–12,32,11–5,17–26,28,

17. तत्रैव 2–14,37,60,3–9, 5–22, 6–35, 7–8, 8–6,16, 9–7,10,13,27,31, 13–1,31,14–4,7,16–20,22,15–48,50,60

18. तत्रैव 2–3,4–2,5,4–32,7–27,9–3,10–40,11–54,18–41

19. तत्रैव 11–48

20. तत्रैव 2–41,64–3,14–13

21. तत्रैव 4–3

22. तत्रैव 10–19

23. तत्रैव 7–16,8–23,13–26,14–12,18–36

24. तत्रैव 17–12

25. तत्रैव 18–3

26. तत्रैव 18–3

27. तत्रैव 2–15,3–41

28. तत्रैव 2–48,49,4–41,7–7,9–9,12,18–29,72

29. तत्रैव 4–35,6–2,11–55,14–42,16–5

30. तत्रैव 10–20,11–7

31. तत्रैव 11–33

32. तत्रैव 3–2,14–6

33. तत्रैव 1–2,

34. तत्रैव 1–7,

35. तत्रैव 1–21,

36. तत्रैव 11–9,18–76,77

डॉ. अरविन्दकुमारतिवारी
संस्कृतप्रवक्ता
आदर्शवैदिकविद्यालयइण्टरकालेज,बागपत

****

सांख्यदर्शनस्य वैशिष्ट्यम्

डॉ. देवनारायण झा

अथेदानीं सांख्यदर्शनस्य वैशिष्ट्यविषयमधिकृत्य कश्चन विचारः प्रस्तोतुमुपक्रम्यते। इह हि विरञ्चिप्रपञ्चिते संसारे समेषां प्रेक्षावतां जनानां दुःखनिवृत्तिपुरस्सरं निरतिशयसुखावाप्तौ सोत्साहं प्रवृत्तिर्दृश्यते। तत्र न केवलं मुमुक्षुरेव यतमानः संलक्ष्यते, अपिपामरोऽपि जनो निरतिशयसुखावाप्तिलक्षणस्य मोक्षस्य कृते यततेतरामिति। सा च मोक्षावाप्तिर्विधिमुखेन निषेधमुखेन वा आत्मज्ञानमन्तरा न भवितुमर्हतीति पक्षः सर्वसिद्धान्तवेद्यो विद्यते। अत एव दर्शनशास्त्रमर्मज्ञैः शास्त्रकृद्भिर्दर्शनाख्यो ग्रन्थो न्यबन्धि। न हि लौकिकेभ्यो वस्तुभ्यः कथमपि चिरस्थायि–सुखावाप्तिप्रत्याशा कर्त्तव्येति समीचीनः पन्थाः प्रतिभाति। सत्सु विविधेषु दर्शनेष्वात्मतत्त्वप्रतिष्ठापकेषु स्थितस्य गतिश्चिन्तनीयेतिसिद्धान्तमुररीकृत्य सांख्यदर्शनदिशा कश्चन सिद्धान्तः संसाध्यते। तत्रभवन्तस्तत्त्वविदो विद्वांसो जानन्त्येव यत्सांख्यदर्शनं निरीश्वरसांख्यदर्शनमित्युच्यते। तस्य प्रणेता कपिलो मुनिर्वर्तत इति दार्शनिकाः प्रमाणयन्ति, स्वीकुर्वन्ति च। एतन्मते पदार्थमात्रस्य संक्षेपतश्चत्वारो भेदाः सम्भवन्तीति तदीयः सर्वमान्यः सिद्धान्तः। तच्च प्रकृतिः, विकृतिः, प्रकृति–विकृतिः तदुभयरहितः पदार्थश्चेति। यद्यपि विश्वस्मिन् तत्त्वज्ञानप्रतिपादकानि सन्ति बहूनि दर्शनानि, यथा–न्याय–वैशेषिक–पूर्वमीमांसोत्तरमीमांसायोगाख्यानि प्रधानभूतानि षड्दर्शनानि–इति। तेषु प्रथितेषु षड्विधदर्शनेषु सर्वोत्कृष्टतमं सर्वशास्त्रनिष्यन्दभूतं सांख्यदर्शनमिदमादिमं स्थानं लभत इति बुधा आमनन्ति। तत्र सर्वे विचारदक्षाः प्राणिनः स्वकीयसामर्थ्यबलात्सूक्ष्मविचारदृष्ट्या वा जगतः सत्यत्वस्वरूपावबोधाय सर्वोत्कृष्टतां गतस्य सांख्यदर्शनस्य वैशिष्ट्यं स्वीकुर्वन्ति। श्रीमता भगवता श्रीकृष्णेनापि भागवताख्ये महापुराणे देवहूतिमधिकृत्य निसर्गदुर्बोधं ज्ञानप्रदं सांख्यतत्त्वं समुपदिष्टं तन्नाविदितं तत्त्वविदां शेमुषीजुषां जनानामिति। ततश्च प्रसिद्धेयं परम्पराऽऽधुनाप्यविच्छिन्नगत्या शिष्योपशिष्यैरनुगीयमाना प्रवर्धमाना च समवलोक्यते। इत्थञ्च सर्वदर्शनस्वतन्त्रे वाचस्पतिमिश्रः सांख्यतत्त्वकौमुद्यां प्रतिबोधयति यदस्य शास्त्रस्य प्रवर्त्तकः सूत्रप्रणेता वा सर्वप्रथमोऽत्रभवान् कपिलो महामुनिः सर्वज्ञान–विज्ञान–वैराग्यैश्वर्यादि–सम्पन्नो जगदिदं स्वजन्मना समलञ्चकार। तदनन्तरं यथाक्रमं शास्त्रमिदम् ईश्वरकृष्णेनाधिगतमिति।

तेन च विदुषा सप्ततिसंख्याककारिकोपेता सांख्यकारिका निर्मिता। सा च अधुनापि प्रमाणभूता विद्यते। वस्तुतस्तु भारतेऽध्यात्मविद्याया विकासः सांख्याशास्त्रद्वारैव सर्वत्र संजात इति– अद्वैतिनः शङ्कराचार्यादयोऽपि मन्वते। यथैव प्राचीनाः सांख्यशास्त्रस्य महत्त्वम् उररीकुर्वन्ति तथैव अर्वाचीना अपि तस्य दर्शनस्य महन्महत्त्वं संसाधयन्ति।

अतश्चास्य वैशिष्ट्यं सर्वत्र शास्त्रे विजृम्भते। इत्थञ्च यानि पञ्चविशतितत्त्वानि सांख्ये प्रतिपादितानि सन्ति तान्येव योगशास्त्रेऽपि परिगणितानि सन्ति। अत एव सांख्ययोगयोः समानतन्त्रत्वं प्रतिपादितवता भगवता श्रीकृष्णेन गीतायामुक्तम्

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।। (गी. 5–4)

तत्रेदं प्रतिपादितं भवति यत् सांख्यमते प्रकृतिरेव जगत्कर्त्रीति। सैव मूलप्रकृतिरपि कथ्यते। मूलप्रकृतिश्च सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था इत्युच्यते। सांख्यानां पदार्थविभागप्रकारस्तु ईदृशो विद्यते।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः।। (सां.का.3)

सांख्यमते मूलप्रकृतिः स्वतन्त्राः वर्तते। वेदान्तदिशा प्रकृतेः स्वातन्त्र्यं नाभ्युपगतमस्ति। तन्मते मायैव प्रकृतिशब्दवाच्या विद्यते। वेदान्तमते जगन्निमित्तोपादानकारणत्वं ब्रह्मणः प्रतिपादितमस्ति। सांख्यदर्शने गुणत्रयात्मिकायां प्रकृतौ गुणवैषम्यान्महदादिक्रमेण सूक्ष्मस्थूलभौतिकादिजगतः संसृष्टिः सञ्जायत इति मतं स्वीकृतम् अस्ति। इत्थञ्च प्रकृतेश्चेतनत्वाज्जगदुत्पत्तिकारणसामर्थ्ययोग्यताविरहाच्च तन्मतखण्डनायैव भगवता व्यासेन ईक्षतेर्नाशब्दम् इति सूत्रयाञ्चक्रे। सूत्रार्थस्तु अशब्दं शब्दप्रमाणशून्यं स्वतन्त्रं=प्रधानं न जगत्कारणम्। जगत्कारणस्येक्षितृत्वश्रवणविरोधाद् इति। वस्तुतस्त्वत्र सांख्यदर्शने पञ्चविशतितत्त्वानि स्वीकर्त्तव्यानि भवन्तीतिधिया प्रत्यक्षानुमानशब्दात्मभूतानि त्रीणि प्रमाणानि स्वीकृतानि सन्ति। तद्यथा–

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।। (सां.का. 4)

महादर्शभूतस्यास्य दर्शनशास्त्रस्य सिद्धान्तपक्षः सत्कार्यवादमादायैव प्रवर्तते। अत्र दर्शने

कारणावस्थायामपि कार्यं सूक्ष्मरूपेण तिष्ठति। यदुक्तम्–

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।

शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ (सां.का.९)

अत्रायमाशयो यद् अत्र जगति यद् यत् क्रियमाणं भवति तद् तत् सदेव भवति। यदेवं न भवति तत् क्रियमाणमपि न भवति यथा शशशृङ्गादिकम्। किं बहुना इतोऽपि सत्कार्यवादः समाश्रियते यद् घटार्थी उपादानकारणमेव उपादत्ते न त्वन्यत्किञ्चित्। इतोऽपि कार्यं सद् भवति यत् कारणे सूक्ष्मरूपेण कार्यं तिष्ठति अत एव सर्वस्मात् सर्वस्योत्पत्तिर्न सञ्जायते। इतोऽपि कार्यं यद् विज्ञायते यत् कार्यात् पूर्वमपि कार्योत्पादिका शक्तिः कारणेषु तिष्ठति। इतोऽपि कार्यं सद् भवति यत् सर्वं खलु कार्यं कारणात्मकं भवति। नहि खलु बालुकाभ्यस्तैलोत्पत्तिर्दृश्यते। अमुमेवाभिप्रायं मनसि निधाय भगवता श्रीकृष्णेन गीतायां स्वकीयाभिप्राय ईदृश एव प्रकटीकृतः। यथा–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ (गी.2/16)

इत्थञ्च सत्कार्यवादसिद्धान्ताभ्युगमदिशैव सितकाभ्यस्तैलोपलब्धिर्न जायते प्रत्युत तिलेभ्यस्तैलं दुग्धेभ्यो दधि सञ्जायते परिणमते वा। अत्र च शास्त्रे परिणामवाद एव स्वीकृतो विद्यते। अत एव च सांख्यदर्शने प्रकृतौ परिणामरूपा क्रियाऽपि स्वीकृता विद्यते। सांख्यदर्शने द्विविधा क्रिया स्वीक्रियते – एका स्पन्दरूपा अपरा च परिणामरूपा। परिणामरूपा क्रिया मूलप्रकृतावेव तिष्ठति। न हि क्रियां विना जगतः समुत्पत्तिः। संभवेति विज्ञाय परिणामरूपा क्रिया मूलप्रकृतावकामेनैव स्वीकृता सांख्यतत्त्वविद्भिरिति। सा च प्रकृतिः कार्य–कारणरूपेण सत्त्वादिरूपगुणानां समुद्रेकवशात् परिणमते इति तत्त्वविदां सरणिः। किं बहुना इह संसारे कार्यमात्रस्य गुणत्रयात्कत्वेऽपि क्वचित् सत्त्वगुणस्याधिक्यं, क्वचिद् रजोगुणस्य, क्वचित् तमोगुणस्याधिक्यं समनुभूयते। अत एव जगदिदं त्रिगुणात्मकं सत्त्वगुणादिप्रधानं कथ्यते। अत एव देवीभागवतेऽपि तथ्यमिदं निरूपितं दृश्यते। तद्यथा–

गुणत्रयकृतं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्।

विना गुणैर्न संसारो वर्तते किञ्चिदप्यसौ॥ (देवीभा. 6.31.48)

अत्र दर्शने प्रतिपादितः पुरुषः सर्वथा उदासीनो निर्गुणः किन्तु चेतनः द्रष्टा साक्षी चेति सांख्यसिद्धान्तसिद्धः। सांख्यमते आत्मनोऽनेकत्वं ज्ञानरूपत्वं व्यापकत्वञ्च प्रसिद्धमिति। एतन्मते सुख–दुःखादिकं बुद्धावेव आविर्भवति। अत्रेदमवधेयं भवति यत्सांख्यदर्शने कस्यापि पदार्थस्य नाशो जन्म च न भवति किन्तु आविर्भाव–तिरोभावावेव पुरुषश्च आध्यासिको भोक्ता वर्तते न तु वास्तविक इति। अत्र भगवता भर्तृहरिणाप्यवादि–

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।

भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः।। (वा.प. 1/4)

अत एव उभयोः सम्बन्धः आध्यासिक एव स्वीकृतो विद्यते। एतन्मते सुखदुःखादीनि बुद्धिगतानि एव सन्ति किन्तु बुद्धौ प्रतिबिम्बवशादेव पुरुषोऽपि तानि समनुभवति। उक्तञ्च वाचस्पतिमिश्रचरणैः–

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमियपरिशेषम्।

अविपर्ययाद्विशुद्धः केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।। (सां.तत्त्वकौ.2)

तद्यथा न्यायशास्त्रदिशा सुखदुःखादय आत्मनि तिष्ठन्ति। वेदान्तरीत्याऽन्तःकरणस्य मनसो धर्मत्वं सुखदुःखादीनां संसाधितं वर्तते तथैव सांख्यदर्शनदिशा सुखदुःखादयो धर्मा बुद्धावेव सन्तिष्ठन्ते। इयान् एवात्र विशेषः। पुरुषस्तु भेदाग्रहात् प्रकृतिगतं दुःखत्रयं स्वस्मिन् मन्यमानस्तदापकरणाय कैवल्यमभीप्सति। पुरुषपदवाच्यश्चात्र जीव एव स्वीक्रियते। जीवातिरिक्तो नास्ति कश्चन ईश्वरपदार्थः। अत एव दर्शनमिदं निरीश्वरसांख्यदर्शनमित्युच्यते। युक्त्या विचार्यमाणे मतमिदं विद्योतते यत्त्रिविधदुःखनिवृत्तिः कथं स्यादिति। सांख्यदर्शने आधिदैविकम् आधिभौतिकम् आध्यात्मिकञ्चेति त्रिविधं दुःखं प्रसिद्धमस्ति। अत्रेदं बोध्यं यत् पुरुषो द्रष्टा चेतनः किन्तु प्रकृतिश्चेतना जडीभूता विद्यत इति। प्रकृतौ क्रियाशक्तिर्विद्यते किन्तु दर्शनशक्तेरभावादुभयोः समागमादेव सर्गकृतं कार्यं पूर्णतामधिगच्छतीति सांख्या समनुन्वते। ततश्चेदं निर्णीतं भवति यद् यदवधि पुरुषस्य विमोक्षो न भवति तदवधि जरामरणजं दुःखमनुभवन्नेव पुरुषोऽवतिष्ठते। मोक्षश्च विवेकख्यातिवशादेव सञ्जायते। विवेकख्यातिश्च प्रकृतिपुरुषयोर्भेदज्ञानरूपा। सांख्यरीत्या व्यक्ताव्यक्तपुरुषादीनां विज्ञानं नाम यदैव जायते तदैव मोक्षावाप्तिः सञ्जायते। यदुक्तम्–

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।

अविपर्ययाद्विशुद्धः केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।

अत्र चैतद् विभावनीयं भवति यद् निसर्गरम्या कोमला सलज्जा प्रकृतिस्तथैव पुरुषं प्रति आत्मानं प्रदर्श्य निर्वृतिमुपैति यथा रंगभूमौ समागता काचन नर्तकी स्वकीयां नृत्यकलां प्रदर्श्य निर्वृतिमधिगच्छतीति। यथा–

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।

पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥ (सा.का. 59)

एतन्मते जगतः असत्यत्वं नैव अभ्युपेयमस्ति जगदिदं यत्त्रिगुणात्मकं दृश्यते तस्य कारणमव्यक्तमेव बोध्यम्। नहि कुत्रचिद् वस्तुविद् वस्तुनि अभावजन्यत्वं स्वीकृतमस्ति किन्तु प्रत्यक्षादिगोचरत्वेन भावजन्यत्वमेव। कार्यस्य कारणात्मभूतत्वमेव स्वीकारात्। अत्रेदमनुसन्धेयं भवति यत्सांख्यमते द्विविधः परिणामो भवति। तत्र कदाचित् क्रियात्मकः परिणामो यथा महदादौ। उक्तञ्च साधर्म्यवैधर्म्यनिरूपणावसरे–

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ (सां.का.10)

अत्रेदं नैव विस्मर्त्तव्यं यत् प्रकृतौ प्रधानीभूतायाम् अर्थात् मूलप्रकृतौ स्पन्दात्मिका क्रिया नैव तिष्ठतीति। यतो हि मूलप्रकृतिर्व्यापिका सिद्धा सांख्यमतेऽवगम्यते। किं बहुना इदानीन्तने प्राचीनकाले वा एतादृशं स्थानं तत्त्वं वा नासीद् न वा विद्यते यत्र सूक्ष्मरूपेण प्रकृतेरस्तित्वं न स्यादिति। अत एव च सांख्याचार्यमते साकल्येन उक्तं संगच्छते यद् जगदिदं त्रिगुणात्मकं वर्तत इति। एतादृशं स्थानं नास्ति यत्र गुणत्रयस्य एकत्र सम्मेलनं न स्यात्। अत एव त्रिषु गुणेषु सत्स्वपि कुत्रचित् सत्त्वगुणस्याधिक्यं क्वचित् रजोगुणस्य, कुत्रचिच्च तमोगुणस्य। उक्तञ्च ईश्वरकृष्णेन–

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥ (सां.का.18)

अत्रायमभिप्रायो यत् सांख्यमते न्यायदर्शनवद् आत्मा पुरुषविशेषोऽनेकविधः स्वीकृतो विद्यते। अतएव लोके दृश्यते यत्कश्चित् पुरुषः सत्त्वगुणप्रकृतिकः संसारस्योपकारमेव वाञ्छति कदाचिदपि परेषामनुपकारं कर्तुं नैव समुत्सहते अयमेव पुरुषः साधुपदवाच्यो भवति। कश्चित्पुरुषः क्रोधाग्निना सर्वदैव परेषां दुःखं दित्सुः आस्ते। कश्चित् पुरुषस्तमोगुणप्रकृतिको

भवति। अत्र हि सांख्यमतेनैव भगवता श्रीकृष्णेन गीताया त्रिविधः पुरुषो निरूपितः। तद्यथा–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः।।

एवञ्च क्षरः पुरुषः भूतपदवाच्यः। अक्षरो जीवपदवाच्यः। ईश्वरः परमात्मपदवाच्यो भवति। आत्मनि परत्वम् अकारणकरुणाकारित्वमेव। ईश्वरो वा साधुर्वा परेषां साधुवादेन कल्याणमेव वाञ्छति। यद्यपि सांख्यदर्शनं निरीश्वरवादत्वेन प्रतिपादितमस्ति तथापि तन्मते प्रकृत्या सह पुरुषविशेषस्य संयोगवशादेव सृष्टिर्भवति–इति तु यत्र तत्र सर्वत्र व्याख्यानेनावगतं भवर्ति। परञ्च विचार्यताम्–सांख्ययोगौ न तावत् पृथग् वर्तेते। एवं हि पृथगिति कथनेन इदमेव ज्ञातं भवति यद् यथा पातञ्जलयोगदर्शने ईश्वरस्य अस्तित्वं स्वीकृतमस्ति न तथा तस्य अस्तित्वं सांख्यमते स्पष्टतया विद्यत इति। यथा न्यायदर्शनं वैशेषिकदर्शनञ्च पार्थक्येनापि समानतन्त्रत्वेन स्वीकृतमस्ति तत् कस्य हेतोः। तत्र इदमेव तथ्यं प्रतिभाति यत् यत्तत्त्वं प्रमेयरूपं न्यायदर्शनं स्वीकरोति तदेव तत्त्वं वैशेषिकदर्शनमपि, किन्तु इयानेव द्वयोर्विशेषः परिलक्ष्यते यत्सांख्यदर्शनम् ईश्वरस्यास्तित्वविषये भवतु नाम उदासीनं किन्तु तत्कथनस्याभिप्रायो वर्तते यद् यथावेदान्तदर्शने माया अविद्या वा चेतनाधिष्ठिता चैतन्यवशादेव जगदिदं सृजति न तथा सांख्यमते। सांख्यमते प्रधानीभूता प्रकृतिः स्वतन्त्रा न तावच्चेतनाधिष्ठिता। इदमेव कारणं वर्तते यत्प्रकृतौ प्रधानत्वं सांख्याचार्यैः स्वीकृतम्। तत्र सांख्यमते या प्रकृतिः सैव वेदान्मतेऽविद्या माया वा। केषाञ्चिद् आचार्याणां मते अविद्या माया च पृथक्–पृथक् वर्तते किन्तु केचन आचार्यास्तयोरभेद इति स्वीकुर्वन्ति। अत एव भामतीकारेण वाचस्पतिमिश्रेण अविद्यापदेन एकः मायाविशेषः स्वीकृत अपरश्च संस्कारविशेषः। किन्तु सांख्यमते एकविधैव प्रकृतिः। इदं च न विस्मर्त्तव्यं यत् प्रारम्भे एव ईश्वरकृष्णेन–

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।

अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्।। (सा.तत्त्व कौ.)

इत्युक्तं सङ्गच्छते। अत एव संक्षेपतः सांख्यमते त्रिविध एव पदार्थः। कश्चित् प्रकृतिरूपः कश्चित् विकृतरूपः। कश्चिच्चानुभयरूपः। प्रकृतित्वञ्च तत्त्वान्तरोपादानकत्वम्।

अत एव गोघटादीनां तत्त्वपरिगणने न तावत् सांख्याचार्यैः परिगणनं कृतम्। एतत् कारणवशादेव इदं दर्शनं सांख्यं संख्याप्रधानमिति कथ्यते। वेदान्तमते पुरुषो न तावदुदासीनः। एतन्मते पुरुषः उदासीनो भवति। अत्र नये बिम्बप्रतिबिम्बभावः स्वीकृतो विद्यते। सांख्यमते यज्ज्ञानं तच्च न बुद्धिस्तन्न ज्ञानमिति। अन्यमते ज्ञानं पृथग् बुद्धिरपि पृथग् भवति। एतन्मतखण्डनायैव न्यायदर्शने गौतमीयं सूत्रं सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिर्ज्ञानम् इति समानाधिकरण्येन उक्तं वचनं संगच्छते। किन्तु एतन्मते बुद्धावेव ज्ञानं भवति ज्ञानं चात्र वृत्तिरूपम्। अन्येषां दार्शनिकानां मते बुद्धिर्गुणरूपम्। सांख्यमते बुद्धावेव सुखदुःखादिकं सर्वम् आविर्भवति। तच्च बुद्धौ प्रतिबिम्बवशादेव पुरुषोऽनुभवति। तत्र पुरुषविशेषः प्रतिबिम्बते। एतस्मात् कारणात् प्रतिबिम्बभावस्तु न तावद् वास्तविकः अपितु अवास्तविक एव। अत एव पुरुषस्तु पुष्करपलाश-वन्निर्लेप इत्युक्तं सङ्गच्छते। एतन्मते विवेकस्य मोक्षप्राप्तिमार्गे साधनत्वेन प्राधान्यं स्वीकृतमस्ति। विवेकश्चात्र प्रकृतिपुरुषयोर्भेदः। एतच्च सर्वं प्रारम्भे एव ईश्वरकृष्णेन साभिप्रायं प्रतिपादितम् – यथा–

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानाद्॥ (सां.का.2)

अत्र कारिकायाम् इदमेव ईश्वरकृष्णेन निगदितं यद् व्यक्तं = महदादिकम्, अव्यक्त = प्रधानं ज्ञश्च = पुरुषः। एतत् पदार्थत्रयस्य भेदपरिज्ञानादेव मोक्षो भवतीति सांख्यमतानुसारिव्याख्यानम्। इति दिक्।

डॉ. देवनारायण झा
प्राचार्यः, साहित्यविभागे
का.मि.द.सं. विश्वविद्यालयस्य।

उपमानप्रमाणम्

किशोरनाथ झा

यथार्थतः ज्ञातस्य पदार्थस्य सादृश्यात् सर्वथा अज्ञातस्य अदृष्टस्य च पदार्थस्य साधनम् उपमानं भवतीति नैयायिकस्य सिद्धान्तः। महर्षिः गोतमोऽभिलपति–प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्। 1/1/6। प्रसिद्धस्य यथार्थतया ज्ञातस्य साधर्म्यात् समानो धर्मः सधर्मस्तस्य भावः साधर्म्यम् तस्मात् अर्थात् सादृश्यात् साध्यस्य सर्वथा अज्ञातविषयस्य साधनमुपमानं भवतीति सूत्रतात्पर्यम्। यथार्थस्य पूर्वतो ज्ञातस्य गोः सादृश्यात् पूर्वतः अज्ञातस्य गवयस्य साधनं भवत्युपमानप्रमाणेन। इयमत्र प्रक्रिया नागरिकेण जिज्ञासिते गवये आरण्यकस्तमवबोधयति गोसदृशो गवयो भवति। पश्चात् गतारण्यो नागरिकः गवयं वीक्ष्य तत्र गोः सादृश्यं पश्यन्नारण्यकवाक्यमसौ स्मरति पश्चात् गवये गवयशब्दवाच्यतामसौ निश्चिनोति। अत्र संज्ञा–संज्ञिसम्बधस्य निर्णयः अस्योपमानस्य फलं प्रमाणान्तरेण न संभवति। अत्रोपमितिज्ञानस्वरूपं तु अयमेव पशुः गवयपदवाच्यो विद्यत इति नैयायिकाः। अतएंव न्यायभाष्यकृदाह–'अस्य (पशोः) गवयशब्दः संज्ञा' इति संज्ञा–संज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते। अस्यानुमोदनं सन्दृश्यते न्यायवार्त्तिके समाख्या संबन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इति हि तत्पंक्तिः।

अत्र पूर्वपक्षः कस्यचन दार्शनिकस्य यत् प्रत्यक्षशब्दज्ञानातिरिक्तं तृतीयं ज्ञानं नात्र भासते; अत उपमितिज्ञानं तत्करणमुपमानं वा प्रमाणं न स्वीकरणीयम्। तथाहि गोः सदृशो गवयो भवतीति शाब्दज्ञानम्; यतो हि विश्वस्तव्यक्तिमुखात्श्रुताच्छब्दादुत्पन्नम्। पुनश्च दृश्यमानोऽयं पशुः गोसदृशः इति प्रत्यक्षज्ञानमेव पुनश्च गोसदृशोऽयं गवय इति चक्षुषैव दृश्यते। एतज्ज्ञानद्वयातिरिक्तं किमपि ज्ञानं नास्त्येवेहेति उपमितिः किमप्यपूर्वं ज्ञानं नास्ति।

अत्र न्यायवार्त्तिककारोऽभिदधाति–"साधूपपादितं भवता किन्तु उक्तज्ञान-द्वयानन्तरं तृतीयं ज्ञानं भवति अस्यैव पशोः गवय इति संज्ञा। नैतज्ज्ञानं संज्ञायाः प्रत्यक्षं शाब्दंवा। अस्यैव ज्ञानस्योपपत्तये प्रमाणमुपमानं नैयायिकाः स्वीकुर्वन्ति। तस्मात् उदयनाचार्यः न्यायकुसुमाञ्जलौ निगदति–

संबन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः॥ 3/10

अवधेयमेतत् न्यायवार्त्तिकदिशा यथा गौस्तथा गवय इति पूर्वश्रुतारण्यकवाक्यस्य स्मरणेन सहकृतं सादृश्यप्रत्यक्षं भवत्युपमानम्। अस्याव्यवहितपरक्षणे गोसदृशः पशुः (गवय पशुः) गवयशब्दवाच्यो भवति इति निश्चीयते। भाष्यकारः न्यायमञ्जरीकृज्जयन्तभट्टश्च यथा गौस्तथा गवयः इति पूर्वश्रुतवाक्यमेवोपमानमर्थादुपमितिकरणमिति संलपतः आचार्योदयनस्तु वार्त्तिकमनुगच्छति अतएव आरण्यकस्य पूर्वश्रुतवाक्यार्थस्मरणं व्यापारमिह मनुते।

वैशेषिकाः नाङ्गीकुर्वन्ति प्रमाणमुपमानम्। उपमानं शाब्दज्ञान एवान्तर्भवति। तथा चात्र प्रशस्तपादः आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव इति कण्ठतोऽभिलपति।

न्यायभूषणकारोऽपि न मनुते प्रमाणत्वेनोपमानम्। एष्वेवोपमानार्थापत्तिसंभवाभावैतिह्यादीनामन्तर्भावः। तत्र यथा गौस्तथा गवय इत्युपमानं शब्देऽन्तर्भूतम् इति न्यायसारपंक्तिः। भूषणेऽत्र निगदितम् –अत्र यथा गौस्तथा गवय इत्युपमानं शब्दान्तर्भूतं वाक्यरूपत्वात् अग्निमानयेत्यादिवाक्यवत्। उपमानरूपत्वेन भेदे तु विध्यर्थवादानुवादादिभेदादपि प्रमाणभेदप्रसंगस्ततः प्रमाणानामानन्त्यं स्यात्। (पृ. 417)

पुनश्चाग्रेऽभिलपति–तत्र वाक्यजन्यज्ञानजनितसंस्कारजनित-स्मृतिसहकारिणेन्द्रियेण जनितं सारूप्यज्ञानमुपमानम्, संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः तत्फलमिति –तदप्ययुक्तम्। यतः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रागेवाप्तवचनादुत्पन्ना गवयदर्शने तत्स्मृतिरेवेति। तथाहि कथं जानीषेऽयं गवय इत्येवं पृष्टः केनचित् वनेचरवचनादवगतो भवत्येवमेवोत्तरमभिधत्ते न तूपमानेन जानामीति। तस्माद् भूषणकृतः दृष्टौ नोपमानं भवति प्रमाणमित्यवगम्यते।

केचन दार्शनिकाः उपमानमनुमानमेव मन्वते। महर्षिर्गौतमः न्यायदर्शनस्य द्वितीयेऽध्याये (2/1/44–46) सूत्रेषु समाधानमुपमानपरीक्षावसरे साधु प्रतिपादितवान्।

यथा दृष्टेन धूमेनादृष्टस्याप्यग्नेरनुमानं जायते तथा दृष्टगवा अदृष्टस्य गवयस्यानुमानं भवितुमर्हति तदर्थं कावश्यकता उपमानस्येति चेत् गवयज्ञानं नोपमितिः। अस्यैव पशोः नाम गवय इति ज्ञानमुपमितिः। एतच्च ज्ञानं कथमप्यनुमानं भवितुं नार्हति।

प्राचीनकालादेव संशयोऽयं जागर्ति यद् वस्तुयुगलयोः व्यक्तियुगलयोः सादृश्यज्ञज्ञानेनोपमितिर्भवति–इत्युक्तमाचार्यैः नैयायिकैः। किन्तु सादृश्यं व्यक्तेः वस्तुनोर्वा त्रिधाभवति–1 अत्यन्तसादृश्यं यथा गोयुगलयोः। अत्रैवायात्युदाहरणमनन्वयालंकारस्य 'रामरावणयोर्युद्धं

रामरावणयोरिव' 2 इति। बहुलांशेषु सादृश्यम् यथा गोमहिषयोः 3) अंशतः सादृश्यं पर्वतप्रस्तरकणयोः। एतानि सादृश्यानि समादाय किमपि ज्ञानमुपपादयितुं शक्यम्। यथाऽयं गौस्तथा परोऽपि गौः। एतस्मात् ज्ञानादन्यज्ज्ञानं भवितुं न शक्नोति। यथा पर्वतस्तथा प्रस्तरकणोऽपि कठिन इति ज्ञानादपि किमपि न जायते ज्ञानम्। फलतः सादृश्यज्ञानेनोपमितिज्ञानं जायते–इति कथनं कथं सङ्गतिमेतीतिचेत् अत्रोच्यते। नैयायिकः नाभिदधाति अत्यन्तसादृश्याज्ञानात् बहुलांशसादृश्याज्ञानात् एकांशतः सादृश्यज्ञानात् सञ्जायते उपमितिज्ञानमिति। किन्तु प्रसिद्धसादृश्य-ज्ञानादुपमितिर्जायत इत्युक्तम्। बहुलांशतः सर्वांशतः अल्पांशतः सादृश्यस्य विद्यमानत्वेऽपि यावत् सादृश्यं तत् सर्वथाज्ञातं न भवति तावदुपमितिं न जनयति। सर्वथा विदितं तु सादृश्यं जनयत्येवोपमितिम्। तत् सादृश्यं बहुलांशतः अल्पांशतोऽत्यन्तंवा भवतु सर्वथा। ज्ञातं सत् उपमितिं जनयति इति नैयायिकानामयमाशयः कीदृशं सादृश्यमहं जानामीति तु प्रकरणादवगम्यते। शंकागतानि त्रिविधानि सादृश्यान्यपि यथावसरं ज्ञानान्तराणि जनयन्त्येव किन्तु तान्युपमितानि न भवन्ति। यथा गौस्तथैव अयं गौरत्र गोः बलवत्तरता ज्ञायते। यथा पर्वतस्तथा प्रस्तरकण इत्यत्र सत्पदार्थत्वमुभयत्र ज्ञातं भवतीति।

उपमितिज्ञानात्पूर्वं ज्ञानद्वयमावश्यकं यथा गौस्तथागवय इत्येकं ज्ञानम्। अयं दृश्यमानः पशुः गोसदृशः इति तु द्वितीयम्। अत्र जिज्ञासा जायते किं ज्ञानमत्रोपमितेः साक्षाद्धेतु किञ्च सहकारि इति। अयं दृश्यमानः पशुः गोसदृशः इतिज्ञानं मुख्यं साक्षाद्वा कारणम्। यथा गौस्तथागवय इति ज्ञानस्य स्मरणं भवति सहकारि। अस्यात्र भवत्युपोद्बलकं तात्पर्यटीका-पंक्तिः– पिण्डस्य हि गवयशब्दवाच्यतां पुरुषोऽतिदेशवाक्यस्मरणसहकारिणः प्रत्यक्षात् गवयगताद् गोसादृश्यात् प्रजानन् तेन प्रज्ञाप्यते इति प्रमाणव्यापारः।

मीमांसकस्य दृष्टिः काचिदन्या प्रतीयते। गवयत्वविशिष्टगवयपशौ गवयशब्दस्य वाच्यत्वं बोधयत् गवयपदम् उपमानफलमुपमितिर्न भवति। किन्तु गवयपशौ गोः सादृश्यस्य प्रत्यक्षानन्तरं पूर्वदृष्टः गौः अस्य गवयस्य सदृश इत्येवंरूपेण गोपदार्थे प्रत्यक्षदृष्टगवयस्य सादृश्यज्ञानं भवति। तच्चोपमानफलमुपमितिर्भवति अस्यां प्रक्रियायां पूर्वदृष्टस्य गोः प्रत्यक्षाभावे तत्र गवयसादृश्यस्य प्रत्यक्षं भवितुं नार्हति। मीमांसकस्य दृष्टौ दृश्यमानसादृश्यजन्यं गवय सादृश्यज्ञानमुपमानमित्युपमानस्य भवति लक्षणम्। तथाच मीमांसाभाष्यम् –दृष्टगोः पुरुषस्य तत्सदृशगवयं पश्यतो यद्गोविषयकं गवयगतसादृश्यज्ञानं तदुपमानं यथा गवयदर्शनं गोः स्मरणस्येति शम्।

–किशोरनाथ झा

सौन्दर्यलहरी तन्त्रागमश्च

विमलेन्दु कुमार त्रिपाठी
आशीष कुमार राय

इह हि साधनादृष्ट्या तन्त्रागमस्य भारतीयदार्शनिकविचारसरणौ अद्भुतं स्थानमस्ति। तन्त्रागमस्य दार्शनिकविचाराः अत्यन्तमुदात्ताः तथाहि साधनापद्धतिः उपादेयाऽस्ति। साधनापद्धतिरियं अन्यपद्धत्यपेक्षया विस्तृता, वैचित्र्यपूर्णा प्राचीना चावलोक्यते। साधनादृष्ट्या निर्विवादरूपेण वक्तुं शक्यते यत् भारतीयदर्शनसाहित्ये तन्त्रागमसाहित्यम् अत्यन्तं समृद्धमस्ति। साहित्येऽस्मिन् साधनायाः विभिन्नस्वरूपाणां दिग्दर्शनं भवति। प्रायशः समेऽपि सम्प्रदायाः साधनायाः द्वैविध्यमङ्गीकुर्वन्ति। प्रथमा बहिरङ्गपद्धतिः द्वितीयाऽन्तरङ्गपद्धतिश्च। बहिरङ्गसाधनापद्धतौ सार्वभौमविधिविधानस्य प्रधानता वर्तते एवञ्चास्याः अधिकारी सर्वजनसाधारणोऽपि भवितुमर्हति। अस्यामधिकारिणः विशेषयोग्यता नैवावलोक्यते। तत्रैवान्तरङ्गसाधनापद्धतौ विशिष्टाधिकारिणः कृते विशिष्टाः नियमाश्च सन्ति।

तन्त्रागमः एवं तन्त्रागमस्य साधनायाः परिप्रेक्ष्ये यदि वयं 'सौन्दर्यलहरी' इति स्तोत्रकाव्यम-वलोकयामश्चेद् वक्तुं शक्नुमः यदस्य काव्यस्य महनीयता सर्वोऽपरि वर्तते।

आचार्यशङ्करः ज्ञान–विज्ञान–तपः–क्रियाचार–विचारादीनां प्रतिमूर्ति–स्वरूपः आसीत्। अनेन बहूनां ग्रन्थानां प्रणयनं कृतम्। येषु केचन दर्शनशास्त्रसम्बद्धाः, केचन च स्तोत्रकाव्यात्मकास्सन्ति। दर्शनशास्त्रस्य विशेषतोऽद्वैतवेदान्तेऽस्याप्रतिहतगतिरासीदिति सर्वैरनुज्ञायते एव। इदं तु सुविदितमेव विदुषां यत् स्तोत्रकाव्यानां स्वीयमतीव वैशिष्ट्यपूर्णं स्थानं भवति काव्येषु। तथा चात्र भूयसीसंख्यात्मकानिस्तोत्रकाव्यानि सन्ति, किन्तु तेषु समेष्वपि स्तोत्रकाव्येषु आचार्यशङ्करप्रणीतं "सौन्दर्यलहरी" नाम्ना परिज्ञायते, अवशिष्टानि समस्तानि पद्यानि "सौन्दर्यलहरी" इत्यभिधानेन व्यवह्रियन्ते।

आचार्यशङ्करस्य आगम–शास्त्रेऽपि देशिकत्वमासीदीति निर्विवादम्। यदि वयं कथयामः

यत् सौन्दर्यलहरीनामकं स्तोत्रकाव्यमागमशास्त्रस्याकरमिति चेन् नेयं काचिदतिशयोक्तिः तथा च भाषा–भावच्छन्दो–रसालङ्कारादिदृष्ट्या स्तोत्रकाव्यस्यास्य दिव्यता, महनीयता, अलौकिकता, वैज्ञानिकता पदे पदे दृष्टिगोचरीभवति एव।

भारतीयसाधनापद्धतौ बहिरङ्गसाधनायाः द्योतकः ''निगमः'' तथाहि अन्तरङ्गसाधनायाः बोधकः तन्त्रागमः भवति। अतएव हारीतस्मृतावुक्तमस्ति यत्–

श्रुतिर्द्विविद्या वैदिकी तान्त्रिकी च।

भारतीयसंस्कृति–सभ्यता–धर्म–दर्शन–ज्ञान–विज्ञानादि–समग्रविषयाणां साङ्गोपाङ्गपरिज्ञानाय आहोस्वित् सामान्यपरिचयाय निगमागमयोः ज्ञानं परममावश्यकं भवति।

''तन्त्र'' शब्दस्य निष्पत्तिः तन् धातोः 'ष्ट्रन्' प्रत्यये कृते जायते। अन्यत्र तन् धातोः त्रैरक्षणे धातोर्वा ''तन्त्र'' शब्दः निष्पद्यते।

''तन्यते विस्तार्यते बहूनाम् उपकारः येन सकृत् प्रवर्तितेन तत् तन्त्रम्।'' अनेन परिज्ञायते यत् तन्त्रशब्दः अर्थविस्तारेण साकं तन्त्रसाधकानां रक्षकोऽस्ति।

तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान्।

त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते।।

एवम्प्रकारेण शब्दोऽयं शास्त्र–सिद्धान्तानुष्ठान–विज्ञान–विज्ञान–विषयकज्ञानैः सार्द्धं एतेषां विषयाणां प्रसारस्यापि योग्यतां वहति। लोकव्यवहारे तन्त्रशब्दः मन्त्र–कीलक–कवच–जप–पूजा–पाठाद्यर्थे प्रयुक्तो भवति, तथाऽस्यैव द्वितीयं नाम 'आगमः' अभूत्।

वाचस्पतिमिश्रेण योगभाष्यस्य तत्त्ववैशारदीटीकायामस्य निरुक्तिरित्थं विहिताऽस्ति–

''**आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोः उपायाः स आगमः।**''

अभिप्रायोऽयमस्ति यद् यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसो उपायाः मतिमवसरन्ति सः आगमः कथ्यते।

''**निगम्यते ज्ञायतेऽनेनेति निगमः**'' अर्थात् वेदः।

निगमे सिद्धान्तपक्षस्य प्रधानता, आगमे व्यवहारपक्षस्य प्राधान्यं भवति। निगमागमयोर्यद्

मुख्यं भेदकतत्त्वमस्ति तद् खल्विदमस्ति यन् निगमः त्रिवर्णानां (ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्यानाम्) कृतेऽवाप्यते तत्रैव आगमः समेषां शूद्र–स्त्रीत्यादिनां कृतेऽपि साधनामार्गं प्रशस्तीकुरुते।

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।

मतं च वासुदेवेन तस्मादागम उच्यते॥

आगमस्थ 'ग' कारस्य व्याख्या त्रिविधरूपेणाऽवाप्यते। तद्यथा–प्रथमः शिवमुखात् निःसृतः द्वितीयः पार्वतीकर्णविषयीभूतः तृतीयश्च पुत्रकार्तिकेयस्य मतत्त्वेन प्रसारितः इति।

"विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये" अनेन शिववचनेन सिद्ध्यति यत् कलियुगे मोक्षावाप्तेः उतवा वेदोक्तानाम् अनुष्ठानानां साधनत्वेन आगम एव राराजते। "आगम" शब्दस्य प्रयोगः अनेकेष्वर्थेषु भवति। प्रसिद्धकोशकारेण वामनशिवराम आप्टे महोदयेनास्य शब्दस्य एकत्रिंशदर्थाः प्रदत्तास्सन्ति।

महाकवि कालिदासेनप्यागमः निम्नवत् चित्रितः–

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्ना पन्थानः सिद्धिहेतवः।

त्वय्येव निपतत्योघा जाह्नवी या इवार्णवे॥

"तन्त्रविद्यायाः" कौलाचारानन्तरं 'श्रीविद्यायाः' उपासकानामपि विशेष आचारो वर्तते। सः 'समयाचार' नाम्ना परिज्ञायते। आचार्यशङ्करः अस्यैव समयाचारस्य अनुयायित्वेन राराजते। आचारेऽस्मिन् अन्तर्यागस्य प्राधान्यं तिष्ठति। समयाचारो नाम हृदयाकाशे चक्रभावनां कृत्वा पूजाविधानम्। अतएव तन्त्रे उक्तमस्ति यत्–

वाक्सिद्धिर्द्धिविधा प्रोक्ता शापानुग्रहकारिणी।

महाकवित्वरूपा च भवस्तेन द्वयात्मकः॥

भगवत्याः पराम्बायाः उपासनया वाण्यां सिद्धिद्वयमायाति प्रथमा शापानुग्रहात्मिका द्वितीया महाकवित्वरूपा।

आचार्यशङ्करः तथ्यमिदं स्वयमेव निर्दिशति–

कवीन्द्राणां चेतः कमलवनबालातपरुचिं।

भजन्ते ये सन्तः कतिचिदरुणामेव भवतीम्॥

विरिञ्चिप्रेयस्यास्तरुणतरश्रृङ्गारलहरी ।

गभीराभिर्वाग्भिर्विदधति सतां रञ्जनममी।।

प्रस्तुतेऽस्मिन् पद्ये पराम्बाभगवत्याः आराधनया काव्यसर्जना संजायते इति निरूपितमस्ति।

तत्राचार्येण सौन्दर्यलहर्याः प्रथमे पद्ये आगमिकतत्त्वस्य सूक्ष्मविवेचनं प्रस्तुतम्। तद्यथा–

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।।

अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि।

प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति।।

पद्यस्यास्य भावोऽयमस्ति यद् यदा शिवः शक्तया सह युक्तः सञ्जायते तदैव स्वामीत्वेन संतिष्ठते, यदि तया सह वियुक्तो भवति तदा तस्मिन् स्पन्दमपि न जायते। ब्रह्मा–विष्णु–शिवादिदेवैः आराध्यां त्वामकृतपुण्यः स्तोतुं प्रणन्तुं वा कथमर्हति।

परञ्चात्र यद्यागमिकदृष्ट्या विचार्यते चेत् वक्तुं शक्यते यत् यदा "शिव" पदस्य 'इकारः पृथगवतिष्ठति तदा "श्व" इति पदं मृतकवदाभाति किंतु नियोजने कृते शिवः शिवत्वेन राराजते। अयञ्च खल्विकारः शक्तिबीजः।

वर्णाः द्विविधाः स्वर–व्यञ्जत्वेन। 'अ'कारतः अः' यावत् षोडशस्वराक्षराः, इमे शक्त्यक्षराः कथ्यन्ते। 'क'कारतः 'ह'कार' पर्यन्तं पञ्चत्रिंशत् वर्णाः व्यञ्जनत्वेनाभिधीयन्ते, इमे शिवाक्षरपदवाच्याः भवन्ति। पद्येऽस्मिन् "शिव" शब्दस्य देवशब्दः विशेषणमस्ति। "न चेदेवं देवो" इत्यत्र दिवुक्रीडाधातोर्निष्पन्नदेवशब्देन द्योत्यते यत् समग्रसृष्टिः लीलात्मिका वर्तते।

महाकविना कालिदासेनापि उक्तमस्ति यत्–

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।

यथा शब्देन सह अर्थः सम्पृक्तः तथैव शिव–शक्तयोः ऐक्येन समग्रसंसारः निर्मितः वर्तते।

तनीयांसं पांसुं तव चरणपंकेरूहभवम्।

विरञ्चिः सञ्चिन्वन् विरचयति लोकानविकलम्।।

वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्त्रेण शिरसाम्।

हरः संक्षुभ्यैनं भजति भसितोद्धूलनविधिम्।।

पद्येऽस्मिन् भगवत्याः पराम्बायाः चरणपङ्केरूहभवतनीयांसः पांसोः माहात्म्यं प्रकटितमस्ति। प्रकृतपद्ये समागतात् 'पङ्करूह' शब्दात् 'हकारस्य ग्रहणं क्रियते', 'चरण' शब्दात् 'रकारस्य ग्रहणं तथा 'तनीयांस' शब्दात् इकारानुस्वारयोः ग्रहणं कृत्वा मायाबीजरूपा 'ह्रीं' शक्तिर्निर्मीयते। 'प्रणव' इत्यपरनाम्ना इयमेव ज्ञायते। भगवतारूद्रेण इमे पांसवः भस्मीकृताः, भस्मीकृत्य स्वशरीरे भस्मलेपनद्वारा अविद्यायाः संहारः कृतः येन शिवतत्वं प्रकटितम्।

अतएव वेदेऽपि प्राप्यते–

''जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म।''

''तवचरणपङ्केरूह''–इत्येनन–पद्यांशेन महामायायाः चरणचतुष्टयस्य बोधो जायते। तानि च चरणानि शुक्ल–रक्त–मिश्र–निर्गुणरूपात्मकानि सन्ति। सत्वप्रधानम् = शुक्लम्, रजःप्रधानम् = रक्तम्, तमःप्रधानम् = मिश्रम्, गुणातीतम् = निर्गुणम् इति।

शुक्लरक्तयोः चरणयोः स्थानमाज्ञाचक्रमस्ति यद् भ्रूमध्येऽवस्थितो भवति। मिश्रस्य चरणस्य स्थानं हृदयकमलेऽस्ति। निर्गुणं सहस्रदले आभाति। भगवत्याः पराम्बायाः पादचतुष्ट्य-मवाप्यते। तत्र शुक्लसत्त्वप्रधानपादः विष्णुनाऽवाप्तः, द्वितीयः रजःप्रधानरक्तः पादः ब्रह्मणाऽवाप्तः, तृतीयः मिश्रः तमःप्रधानरूद्रेण प्राप्तः, आन्तिमश्चतुर्थश्च पादः निर्गुणः सदाशिवेनावाप्तः। भगवत्याः इमे चत्वारोऽपि पादाः धर्मार्थकाममोक्षभेदात् उपासनायास्सन्ति।

नरं वर्षीयांसं नयनविरसं नर्मसु जडं।

तवापाङ्गालोके पतितमनुधावन्ति शतशः।।

गलद्वेणीबन्धाः कुचकलशविस्त्रस्तासिचया।

हठात् त्रुट्यत्काञ्च्यो विगलितदुकूला युवतयः।।

प्रस्तुतेऽस्मिन् पद्ये भगवत्याः दृष्टिमाहात्म्यं विज्ञापितमस्ति। यत् तव कृपाप्रसादात् वृद्धोऽपि युवा सञ्जायते तथा बहव्यः युवतयः तामहमहमिकया अवलोकयन्ति।

इत्थं वयमवलोकयामः यत् शङ्कराचार्यविरचित 'सौन्दर्यलहरी' नामके स्तोत्रकाव्ये आगमिकतत्त्वानां बाहुल्यमस्ति। काव्येऽस्मिन् ''दुर्गासप्तशती'' समागत–कवचार्गला–कीलकादिषु सम्प्राप्तस्य ''ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे'' मंत्रस्यास्य अलौकिकता, वैज्ञानिकता,

उपादेयता च सूक्ष्मरूपेण निरूपिताऽस्ति। एवमेव ''श्रीविद्यायाः उपासना, श्रीयन्त्रस्यप्रयोगः, त्रिपुरसुन्दर्याः, उत्पत्तिरित्याद्यनेकविषयाणां वैज्ञानिकं, सूक्ष्मं, सजीववर्णनमिह समुपलभ्यते। आचार्यशङ्करेण मातुः पराम्बायाः अलौकिककार्यवर्णने, तथाहि स्वरूपवर्णने च अनेकेषामलङ्काराणां प्रयोगः कृतः। एतेषु उपमातिशयोक्त्युत्प्रेक्षा–व्यतिरेकादयोऽलङ्काराः मुख्यरूपेण काव्येऽस्मिन् निबद्धा वर्तन्ते।

सन्दर्भग्रन्थ

1. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, एकादशखण्ड, उ.प्र.सं. संस्थान, लखनऊ
2. हिन्दूधर्मकोश, सम्पादक–राजबली पाण्डेय, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ,1988
3. रघुवंशम्, सर्गः दशमः, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी
4. वाचस्पतिमिश्रकृत योगभाष्यस्य तत्त्ववैशारदी टीका
5. सौन्दर्यलहरी, व्याख्याकार : पण्डित हरिदत्त शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 2005
6. सौन्दर्यलहरी, व्याख्याकार : डॉ. सुधाकर मालवीयः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

विमलेन्दु कुमार त्रिपाठी

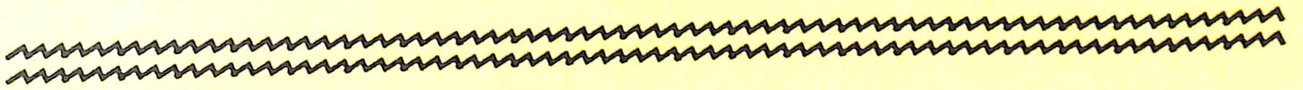
आशीष कुमार राय

शोधच्छात्रः (U.G.C. J.R.F.)

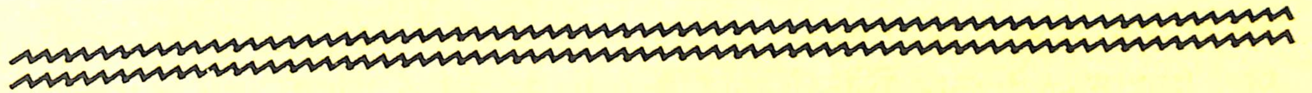
संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।





हिन्दी



मीमांसादर्शन

आचार्य आद्याचरण झा

पृष्ठभूमि

षड्दर्शनों में मीमांसादर्शन अत्यन्त कठिन वक्र तथा अति विस्तृत है। उसमें पूर्व-मीमांसा उत्तरमीमांसा ये दो खण्ड हैं। पूर्व मीमांसा कर्मकाण्ड है और उत्तरमीमांसा 'ज्ञान काण्ड' है। परन्तु इस पूर्व उत्तर में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। क्यों कि विविध–असंख्य-फल कामनायुक्त विधान को मीमांसा 'कर्मकाण्ड' कहते हैं। वहीं सर्वथा निष्काम कर्ममय ब्रह्मज्ञान निरूपण करने वाला ब्रह्मकाण्ड वेदान्त है।

विषय-प्रवेश

उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही 'मीमांसा' दर्शन की मीमांसा संभव है।

(1) भारतीय वाङमय में वेदमन्त्रों की व्याख्या वाह्यरचना के प्रतिकूल कोई भी मत मान्य नहीं है, यही भारतीय मनीषा का चरम सिद्धान्त है। वैसे भारतीय दर्शन इतने उदार आयाममय हैं कि सभी प्रकार के विचारों, मतों का आदर करते हैं, कराते हैं व्याख्या करते हैं। परन्तु निष्कर्ष में वैदिक परम्परा 'ब्रह्मणो निःश्वसितं वेद'–परब्रह्म के श्वास से निर्गत अपौरुषेय वेदमन्त्रों को ही चरम मान्यता दी गयी है।

(2) 'विद् ज्ञाने'–धातु से निष्पन्न 'वेद'–मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनाम'' अर्थात् मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग को 'वेद' कहते हैं। इनमें मन्त्रभाग कर्मकाण्ड–मीमांसा है। और ब्राह्मणभाग ज्ञानभाग 'वेदान्त' है। जहाँ मन्त्रभाग विविध काम्यकर्मो के सकामफलेच्छा युक्त कर्मों का कर्मकाण्ड है, वहीं सर्वथा फलेच्छारहित निष्काम कर्म ब्राह्मणभाग ज्ञानकाण्ड 'वेदान्त' है।

(3) कदाचित् ब्राह्मणभाग शब्द से सामान्य ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–आदिवाला ब्राह्मण का भ्रम कदापि नहीं हो। वह सामान्य कार्य--विभागवाली जाति है। यहाँ ''परब्रह्मणः–

सकाशादागतः शब्दः'' या ब्रह्म जानाति–ब्रह्मतत्त्वं प्रतिपादयति इति 'ब्राह्मणः'–ब्राह्मण भाग है।

(4) विषय विश्लेषण–मान विचारे धातु से ''मान बधदान.....(पाणिनि सूत्र 3.1.6) सूत्र से सन् प्रत्यय, अ एवं टाप् प्रत्यय तथा अभ्यास के पूर्व ह्रस्व इकार को दीर्घ ईकार प्रत्ययों से ''मीमांसा'' शब्द की निष्पत्ति हुई। इसका अर्थ है पुनः पुनः विचारणा–विश्लेषण। पौनः पुन्य अर्थ में ''सन् प्रत्यय'' सनन्त प्रकरण–(सिद्धान्त कौमुदी) से सिद्ध है। इसी का विवेचन अति संक्षेप में किया जा रहा है।

(क) ''तत्र पूर्वमीमांसा द्वादशाध्यायात्मिका–जैमिनि प्रणीता यज्ञकर्मकाण्डनिरूपिका''–अर्थात् जैमिनि मुनि प्रणीत कर्मकाण्ड निरूपण करने वाली 12 बारह अध्यायों वाली 'मीमांसा' है।

(ख) इसमें संकर्षण द्वारा निर्मित 4 चार अध्यायों का उपासना काण्ड षड्दर्शनों में नहीं है। यथाः–''अपराध्यायचतुष्टयं संकर्षणप्रणीतमुपासनाकाण्डं षड्दर्शनबहिर्भूतम्।''

(ग) अब शेष बारह अध्यायों वाले 'मीमांसा–शास्त्र' का संक्षिप्त दिग्दर्शन निम्नांकित है। यह 'अधिकरणमाला' नाम के ग्रन्थानुसार है।

1. ''विध्यर्थवादि रूपं धर्मे प्रमाणं निरूपितम्''–विधि–विधेय रूप में धर्म-प्रामाण्य का निरूपण करना।

2. ''यागदानादिकर्म-भेदः''–अर्थात् यज्ञ, दान आदि कर्मों के भेद।

3. ''प्रयाजादीनां दर्शपूर्ण–दर्श मासार्थकर्त्वेन तच्छेषत्वम्''–अर्थात् प्रयाज आदि नाम के यज्ञ में दर्शपूर्ण–दर्श मासक रूप में यज्ञ का शेष होना। (यहाँ ये शब्द विशुद्ध वैदिक शब्द–संकेत हैं– 'यज्ञ')।

4. ''गोदोहनस्य पुरुषार्थप्रयुक्त्या अनुष्ठानं न तु क्रत्वर्थप्रयुक्तम्''–अर्थात् यज्ञ में गोदोहनादि पुरुषार्थ धर्म अर्थादि प्रयोजनार्थ अनुष्ठान है। लेकिन क्रतु–यज्ञ प्रयुक्त नहीं।

5. ''क्रम–नियम–विधेयत्वादयः''–अर्थात् यज्ञ में क्रम–नियति–विधेय आदि का निर्धारण करना।

6. ''क्रतुरधिकारो नान्धादेः''–अर्थात् यज्ञ के अधिकारी अन्ध आदि व्यक्ति नहीं हो सकते।

7. ''प्रत्यक्षवचनेनाग्नि-होत्रादिनाम्ना तथा अनुमितवचनेन च सामान्यातिदेशः''–अर्थात् अग्निहोत्र यज्ञ आदि प्रत्यक्षवचन से विशेष रूपेण यज्ञवचन और सामान्य रूप में अनुमानादि से भी यज्ञ करणीय है।

8. ''सौर्यं चरुं निर्वपेत्''–अर्थात् किस देवता के लिये कौन सा चरु हवन-सामग्री देय है, इसका विधान है। वह चरु अन्य देवता के लिये नहीं होगा।

9. ''अग्नये जुष्टं वयामि''–इस मन्त्र में अग्नि पद के स्थान पर 'सूर्याय जुष्टं वयामि' अर्थात् सूर्य के उद्देश्य से भी हवन करे ऐसा व्यवहार विधेय है।

10. ''स्वयं निर्मितवेदिनिरूपाणादिः''–अपने से यज्ञ कर्ता द्वारा वेदी निर्माण का विधान आदि का विस्तार से नियम।

11. ''बहुनामाग्नेयादीनां प्राधान्यानां सकृदनुष्ठितेन प्रयाजाद्यङ्गेनोपकारः''–अर्थात् बहुत आग्नेयादि यज्ञ में प्रधान यज्ञ को एक बार करने से प्रयाजादि यज्ञ अङ्ग रूप में सहायक हैं।

12. इस बारहवें अध्याय में यज्ञों के प्रतिपाद्य विषयों के विस्तृत विवरण हैं।

यहाँ ज्ञातव्य है कि उत्तम द्वादशाध्यायों में प्रदत्त विधानों का प्रत्येक अध्याय 4+4 चार–चार खण्डों में कुल 48 खण्डों में विशाल विवरण है। 12 बारह अध्यय संकेत मात्र हैं। मीमांसा कर्मकाण्ड में हजारों प्रकार के यज्ञीय विधान हैं जो अति विस्तृत हैं। यहाँ मीमांसा का परिचय मात्र दिया गया है।

पूर्वमीमांसा–उत्तर मीमांसा का शास्त्रीय विश्लेषण

(क) 'सर्वदर्शन संग्रह' के निम्नोद्धत प्रमाणों से पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा के विषयों का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

यथा– **मीमांसाको द्विधा कर्म–ब्रह्म मीमांसकः स्मृतः**
वेदान्तो मन्यते ब्रह्म कर्म भाट्ट–प्रभाकरौ
अद्वैतवादी वेदान्ती प्रमाणं तु यथा तथा
सर्वमेतदिदं ब्रह्म वेदान्तोऽद्वैतवादिनम्।

(ख) 'मीमांसा' हि वेदविचारशास्त्रम् अधिकरणसंहितात्मकं कर्म–मीमांसा शास्त्रम्

****

जैमिनिना प्रणीतं वेदस्यापौरुषेयत्वं वर्णानां नित्यत्वं च व्याख्यातम्। ततश्च वेदस्यापौरुषेयतया समस्तशङ्कानिराकरणत्वेन स्वतः सिद्धं धर्मे प्रामाण्यमिति।

अर्थात् मीमांसा दो प्रकार का है कर्ममीमांसा और 'ब्रह्ममीमांसा'। इसमें वेदान्त ब्रह्म मानता है तथा कुमारिलभट्ट–प्राभाकरादि कर्ममीमांसा। फलतः अद्वैतवादी वेदान्ती हैं–सब ब्रह्ममय है। मीमांसा वेदविहित कर्मो का विचारशास्त्र है जो वेद का अपौरुषेयत्व एवं नित्यत्व भी सिद्ध करता है।

(ख) 'मीमांसा' को ''वाक्य प्रमाण'' कहा गया है। जहाँ ''पदवाक्यप्रमाणपारावारीण'' यह विशेषण दिया जाता है वहाँ–पद=व्याकरण वाक्य=मीमांसा प्रमाण=न्याय'' ये अर्थ विवक्षित हैं।

''वाक्य प्रमाण–मीमांसा का विस्तार''

(ग) छः वेदाङ्गों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष हैं, इनमें 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्''–व्याकरण प्रधान अंग है। इसी में पद, वाक्य का अति विस्तृत शास्त्रीय विवेचन है। व्याकरण शास्त्रानुसार शब्द नित्य ब्रह्मस्वरूप है। शब्द–ब्रह्मात्मिका ही यह सृष्टि है। 'मीमांसा' भी शब्द को नित्य वेद को अपौरुषेय मानते हुये कर्मकाण्ड की अति विस्तृत विचार–धारा है। इसी में पूर्व–उत्तर मिलाकर 6 दर्शन हैं–न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा–कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड–वेदान्त।

(घ) ''मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनाम''

मन्त्र और ब्राह्मण इन दो भागों को वेद कहते हैं। मध्यभाग–कर्मकाण्ड पूर्वमीमांसा है। जिसका परिचय उपर्युक्त है। ब्राह्मण–भाग, ब्रह्म विचार–भाग उत्तर मीमांसा वेदान्त है। यहीं यह स्पष्ट जान लेना है कि 'ब्राह्मण' का अर्थ परब्रह्मणःस्वासान्निर्गतः अथवा ब्रह्म जानाति ब्रह्मणः नित्यतां प्रतिपादयति–यह अर्थ है। (ब्राह्मण–क्षत्रिय वैश्य आदि कार्य विभाजक जाति प्रणाली के ब्राह्मण शब्द से 'ब्राह्मण–वेद' का कोई दूर दूर का भी संकेत नहीं है।)

(अ) यहाँ 'मीमांसा' शास्त्र पर विचार किया जा रहा है। उसी के कुछ शेष महत्त्वपूर्ण अंशों पर निम्नांकित विचार प्रस्तुत है। महर्षि जैमिनि प्रणीत 'मीमांसा सूत्र' में वेद विहित विधि ही प्रमाण है, यह ''प्रामाण्यवाद प्रकरण'' में कहा गया है। उसी प्रसंग में शबरस्वामी

ने अपने 'शाबर भाष्य' में स्पष्ट रूप में कहा है कि वेदान्त विधि ही प्रामाणिक हैं। वह 'स्वतः प्रमाण' है, उसे (वेद को) अन्य प्रामाण्य ज्ञान अपेक्षित नहीं है।

(आ) मीमांसाशास्त्र की व्याख्यायें लगभग एक हजार हैं। इनमें दो सर्वप्रधान हैं। और अन्य भी कुछ महत्वपूर्ण हैं। जिनके नाम सिद्धान्त यों हैं। 1. कुमारिलभट्ट 2. प्रभाकरमिश्र (उनके मतानुयायी प्राभाकर)

(इ) कुमारिल के मतानुसार ज्ञान का प्रामाण्य उत्पत्ति। कार्य और ज्ञप्ति ये तीन हैं। यथा–कपालद्वय संयोग से घट बनता है–फलतः कपालों का धर्म 'घट' में स्वतः आ जाता है। घट से जलानयन आदि कार्य घट की स्वतः उद्भूत अपनी शक्ति है–जिसे 'ज्ञप्ति' कहते हैं। ज्ञानप्रामाण्य के तीनों भेद यहाँ हैं।

(ई) शाबर भाष्य की टीका में ''प्रभाकर'' के मत यत्र तत्र आंशिक रूप में उपलब्ध हैं। किन्तु शालिकनाथ मिश्र की 'प्रकरण पत्रिका' टीका में ''शुक्तौ रजत भ्रमः'' सितुए में चाँदी का भ्रम होना और अन्त में शुक्ति का ज्ञान होना भ्रम होने वाले व्यक्ति का ''अविवेक'' है। फलतः इनके मत में 'ज्ञान' स्वप्रकाश है, उसका स्वत् प्रामाण्य'' सिद्ध है।

(उ) कुमारिल के मतानुसार 'घट' ज्ञान होने के बाद घट पर ''मया घटो ज्ञातः''–मुझे घट का ज्ञान हुआ ऐसा घट में–'ज्ञातता' नामक धर्म उत्पन्न होता है। इस तरह कुमारिल और प्राभाकर में व्याख्याजन्य भिन्नता स्पष्ट है।

(ऊ) यहाँ प्राभाकर 'अर्थापत्ति' नाम का एक और प्रमाण मानते हैं। क्योंकि जहाँ दृष्ट–श्रुत अर्थ स्पष्ट नहीं हो वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण से उसका ज्ञान संभव है। यहाँ भी कुमारिल प्राभाकर में मत भिन्नता है।

किन्तु प्रकारान्तर से दोनों अर्थापत्ति मानते ही हैं। (विस्तारभय से विश्लेषण नहीं किया जा रहा है।) इन विश्लेषणों से मीमांसा शास्त्र प्रत्येक दर्शनों के तर्क वितर्कों से इतना विशाल है कि किसी एक निबन्ध में सबों की व्याख्यायें संभव नहीं हैं।

(ए) मीमांसा के व्याख्याकारों में वाचस्पति मिश्र, पार्थसारथि मिश्र, उदयनाचार्य, जयन्त भट्ट, शालिकनाथ मिश्र प्रभृति सबों के मत में परस्पर विभिन्नतायें हैं। इतना ही नहीं अन्त में महाकवि तर्क–कर्कश–शास्त्र दर्शन शास्त्रों के भी उतने ही बड़े पण्डित थे जितने

काव्यशास्त्र के। उन्होंने अपने "खण्डन खण्डखाद्य" नाम के विशालकाय ग्रन्थ में मीमांसा शास्त्रीय 'वेद' को स्वतः प्रामाण्य नहीं माना है। वहीं वाचस्पति, शालिकनाथ प्रभृति मनीषियों ने शब्द को नित्य ब्रह्म स्वरूप माना हैं। किन्तु न्याय, वैशेषिक, सांख्य दर्शनों ने शब्द को अनित्य माना है।

मीमांसा–वाक्य शास्त्र है। वाक्य तीन प्रकार के होते हैं। प्रभु–सम्मित, सुहृत् सम्मित्, तथा कान्तासम्मित्।

'वेद' प्रभु सम्मित वाक्य है, उसमें कोई हेर–फेर संभव नहीं है और न लक्षणा व्यंजना शक्ति की ही अपेक्षा है। क्यों कि ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र (विश्व के प्रथम वाक्य) "अग्निमीले पुरोहितं" को सर्वथा समानार्थक "बह्निमीले पुरोहितं"–नहीं कर सकते। चूँकि वेद–विहित वाक्य प्रमाण मानने वाले वाक्यप्रमाणरूप मीमांसा पर विचार के समय व्याकरण के 'स्फोटवाद' को विस्फोट और काव्य शास्त्र के लक्षणा–व्यंजनात्मक वाक्य विचारणीय नहीं हैं।

"मीमांसा" शास्त्र के दो कठिनतम मत"

(1) कुमारिल भट्ट के "अभिहितान्वयवाद" तथा प्रभाकर के "अन्विताभिधान वाद"। इन दो मतों के संक्षिप्ततम विश्लेषण के विना मीमांसा–दर्शन पर विचार अपूर्ण रहेगा। अतएव इन पर थोड़ा प्रकाश दिया जा रहा है।

(2) कुमारिल भट्ट–का अभिहितान्वय वाद तथा प्रभाकर के अन्विताभिधान मत का 'वेदान्त' दर्शन एवं वेदाङ्गों में प्रमुख व्याकरण–शास्त्र से कोई सामंजस्य नहीं है। किन्तु साहित्य शास्त्र के सभी प्रमुख रस–अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थों में उक्त दोनों मतों पर विस्तृत व्याख्यायें हैं। लेकिन उन्हें भी दोनों मत पूर्णतः मान्य नहीं हैं। फलतः मीमांसानुसार क्रमशः दोनों मतों के विवरण दिये जा रहे हैं। अत्यन्त कठिन इन दोनों मतों को यथासंभव सरल–हिन्दी में करने का प्रयास किया जा रहा है।

(1) अभिहितस्य=उक्तस्य अन्वयं वदति यः स "अभिहितान्वयवादी तस्य विचारः "अभिहितान्वयवादः।" यथाः–छात्रः पठनाय विद्यालयं गच्छति अत्र छात्र–कर्तृक–पठन कर्मकविद्यालयाधिकरणकगमनानुकूलो व्यापारः।

अर्थात् जिन शब्दों के प्रयोग किये गये हैं–वे अपने अपने अर्थ को व्यक्त कर निवृत्त हो जाते हैं। उनको तात्पर्य शक्ति द्वारा छात्र कर्ता पठन कर्म विद्यालय = अधिकरण और गमनरूप व्यापार कर अर्थ हुआ "छात्र पढ़ने के लिये विद्यालय जाता है।" तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कथित शब्द का परस्पर सम्मिलित अर्थ एक तात्पर्य नाम की विशेष शक्ति द्वारा होता है।

(2) अन्विताभिधानवादः–अन्वितस्य मिलितस्यैव अन्वयं वदति यः सः अन्विताभिधानवादी तस्य विचारः अन्विताभिधानवादः। यथाः–"छात्रः पठनाय विद्यालयं गच्छति"–अत्र छात्र-कर्तृक–पठन कर्मक–विद्यालयाधिकरणक–गमनानुकूलो व्यापारः' इति समुदितार्थ एव प्रतीयते।

अर्थात् एक शब्दार्थ दूसरे शब्दार्थों से मिलित अर्थ का प्रतिपादन करता है। पृथक् पृथक् नहीं। इसलिये एक तात्पर्य नामक पृथक् शक्ति की कल्पना अनावश्यक गौरवपूर्ण है, निरर्थक है। व्याकरण–न्याय–मीमांसा शास्त्रों के विश्रुत विद्वान् जयन्त भट्ट ने अपने "न्यायमञ्जरी" ग्रन्थ में इसका विस्तार से विचार किया है।

आचार्य आद्या चरण झा
राष्ट्रपतिसम्मान प्राप्त
पूर्व प्रतिकुलपति, का.सिं.सं.वि.
दरभंगा, बिहार



कालिदास के काव्यों में लोकचेतना

अभिराज राजेन्द्र मिश्र

यद्यपि 'लोक' शब्द भारतीय-साहित्य में अनेक अर्थों एवं सन्दर्भों में व्यक्त है तथापि, उसका सर्वमान्य एवं सर्वबोधगम्य अर्थ है-मर्त्यलोक, पृथ्वी-लोक अथवा समाज। इसी अर्थ में प्रायः सभी प्राचीन शास्त्रकारों, कवियों एवं विचारकों ने लोक शब्द का प्रयोग किया है।

आचार्य भरत (ई. पू. चतुर्थ श.) नाट्यधर्मी एवं लोकधर्मी शब्दों की व्याख्या करते हुए स्पष्टतः कहते हैं कि 'नाट्यधर्मी' उन घटनाओं को कहते हैं जो यथार्थ नहीं होतीं, जो रूढियों अथवा कविसमय (**Poetic Convestions**) मात्र हैं, जो शास्त्रीय देशनायें मात्र हैं। परन्तु 'लोकधर्मी' वे घटनायें हैं जो सामाजिक यथार्थ हैं, जो सचमुच समाज का स्वभाव हैं और जो घटती हैं, जो काल्पनिक नहीं होतीं।

धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमाः।
लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम्।।
स्वभावभावोपगतं शुद्धं त्वविकृतं तथा।
लोकवार्त्ताक्रियोपेतमङ्गलीलाविवर्जितम्।।
स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरूषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता।।
अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्त्वाऽतिभाषितम्।
लीलाङ्गहाराभिनयं नाट्यलक्षणलक्षितम्।।
स्वरालङ्कारसंयुक्तमस्वस्थपुरूषाश्रयम् ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।

आसन्नोक्तं च यद्वाक्यं न शृण्वन्ति परस्परम्।
अनुक्तं श्रूयते यच्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥
शैलयानविमानानि चर्मवर्मायुधध्वजाः।
मूर्तिमन्तः प्रयुज्यन्ते नाट्यधर्मी तु सा स्मृता॥ नाट्य.13.65-72

आचार्य भरत द्वारा परिभाषित लोक, स्पष्ट रूप से हमारे चारों ओर व्यवस्थित दृश्य अथवा अदृश्य समाज है, वह समाज जो पिण्डज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज सृष्टि से ओतप्रोत है।

महाकवि कालिदास भी प्रायः इसी अर्थ में 'लोक' शब्द का प्रयोग करते हैं। कुछ सन्दर्भो से यह रहस्य स्पष्ट हो जाता हैं-

1. आम्रीमञ्जुलमञ्जरी वरशरः सकिंशुकं यद्धनु-
ज्यां यस्यालिकुलं कलङ्करहितं छत्रं सितांशुः सितम्।
मत्तेभो मलयानिलः परभृता यद्वन्दिनो लोकजित्
सोऽयं वो वितरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः॥ (ऋतु.6.38)

2. नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः॥ (कुमार.1.36)

3. तद् ब्रूत वत्साः किमितः प्रार्थयध्वंसमागताः।
मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मस्ववस्थिता॥ (कुमा.2.28)

4. स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः॥ (रघु.4.8)

5. वाचस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत् समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य॥

(रघुवंश. 14-61)

6. **अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः।** (शाकु. अंक-5)

7. **स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः**

प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवं विधैव॥ (शाकु. 5.7)

8. **यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना।**

माविष्कृतोऽरूणपुरस्सर एकतोऽर्कः।

तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां

लोको नियक्यत इवात्मदशान्तरेषु॥ 4.2

10. **वत्से! त्वमिदानीमनुशासनीयासि। वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्।**

11. **लोको न मृष्यतीति।** उत्तररामचरितम्

उपर्युक्त सन्दर्भे में, महाकवि कालिदास द्वारा किये गये 'लोक' शब्द के दस प्रयोग प्रस्तुत हैं--लोकजित्, लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपम्, लोकानां रक्ष, लोकाभ्युदयाय, लोकस्य मन आददे, लोकवादश्रवणादहासीः, लोकतंत्राधिकारः, खिद्यसे लोकहेतोः, लोको नियम्मत इव तथा लौकिकवा (लोकज्ञाः पाठान्तर) वयम्। कालिदास के प्रायः आठ सौ वर्ष बाद पैदा होने वाले महाकवि भवभूति भी 'लोक' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में कर रहे है, जिस अर्थ में कालिदास ने किया है। और वह अर्थ है-समाज अथवा संसार। वस्तुतः प्रत्यक्ष दृश्यमान लोक ही समाज है, जब कि समाज के साथ ही साथ, समूचा लोक 'संसार' कहा जाता है।

वस्तुतः लोक शब्दयुग्म के घटक के रूप में प्रयुक्त होता है। वे शब्दयुग्म हैं - लोक परलोक, लोक-वेद, लोक-शास्त्र, लोकालोक आदि। इन युग्मों में भी, मात्र लोकालोक (प्रकाश एवं अन्धकार) को छोड़ अन्य तीनों में लोक का अर्थ समाज अथवा संसार ही है। यही लोक अंग्रेजी भाषा में **Folk** बन गया है। यदि वर्णविपर्यय कर दिया जाय तो **Folk** ही **Folk** बन जायेगा तथा एफ् का उच्चारण मन्द्र (**Silent**) होने से 'लोक' ही उच्चारित होगा।

परलोक को ही लोकान्तर अथवा परत्र-अमुत्र भी कहते हैं। दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि लोक दृश्य है, प्रत्यक्ष है जब कि परलोक अदृश्य है तथा आगमप्रमाण से ज्ञेय है। अन्य दोनो युग्मों में विद्यमान वेद एवं शास्त्र शब्द अपनी निरंकुशता, अनुल्लङ्ध्यता, नृपसम्मितता आदि गुणों के कारण लोक से भिन्न है। लोक परम्पराओं का प्रवाह है, पुरातन-नूतन का सामञ्जस्य स्वरूप है, प्रतिक्षण होते परिवर्तनों के भीतर विद्यमान एक विलक्षण

अनवच्छिन्नता है तो कभी यह बोध नहीं होने देती कि हम कब शिशु से युवा, युवा से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्ध बन गये! लोक वह दर्पण है जिसमें समूची सृष्टि निरन्तर अपनी छवि देखती रहती है।

हम जो जीवन जीते हैं वह वेदबाह्य, शास्त्रबाह्य भले हो जाय परन्तु लोकबाह्य कथमपि नहीं हो सकता। क्योंकि हम अपना जीवन लोक में ही जीते हैं, समाज में ही जीते हैं। न केवल मनुष्य के अपितु अण्डज, स्वदेज एवं उद्भिज के भी जीवन से लोक प्रवर्तित होता है।

इस लोक को हम कई दृष्टियों से विभक्त एवं व्याख्यात कर सकते हैं। प्रथम दृष्टि से लोक बाह्य (**External**) एवं आभ्यन्तर (**Internal**) हो सकता है। बाह्यलोक में सारा बहिर्जगत् आता है - आकाश, सागर, नदी, पर्वत, सरोवर, वन - उपवन, ग्राम - नगर दिग्दिगन्त आदि। आभ्यन्तरलोक में हमारा मनोजगत है, समाज वह रूप है जो प्रकट नहीं, प्रत्यक्ष नहीं अभिव्यक्त नहीं। फलतः जिसे कवि अपनी आन्तदृष्टिसम्पन्न प्रतिभा से प्रकट करता है।

जब दीर्घायाङ्ग नामक मृगशावक, पतिगृह प्रस्थान करती शकुन्तला का बल्कल पकड़ लेता है, लतायें पीले पत्ते गिराने लगती हैं, मयूर नाचना बन्द कर देते हैं, हिरनियाँ अर्धचर्वित कुशग्रास उगलने लगति हैं - तब कालिदास ही उनकी व्यथा का अनुभव कर पाते हैं, और कवि के अनुभव प्रमाण से पाठक भी उस व्यथा को आत्मसात् कर पाता है। अन्यथा सामान्य दर्शक के लिये वे प्राकृतिक क्रियाएँ भर हैं।

दूसरी दृष्टि से हम लोक को चेतन एवं अचेतन में विभक्त कर सकते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी जलचर तथा देव आदि चेतनलोक के अंग है तो समूची प्रकृति, जड़ होने के कारण अचेतन का अंग है। जो कि अन्यान्य कवियों की तरह कालिदास प्रकृति को जड़ अथवा संवेदनशून्य कत्तई नहीं मानते।

तीसरी दृष्टि से दृश्य तथा अदृश्य में विभक्त है। दृश्य में है पृथ्वी जिसे मर्त्यलोक भी कहते हैं अदृश्य में है समूचा ब्राह्माण्ड जिसका विस्तार ही विचारातीत है। स्वर्ग आदि उस ब्रह्माण्ड के अंग मात्र है। कालिदास अपनी कृतियों में देवताओं, किन्नरों, पिचाशों, गुह्यकों, गन्धर्वों, यक्षों, अप्सराओं तथा नागों का भी वर्णन करते हैं उनके लोकों के साथ।

विविध रूप वाले इन्हीं लोकों की संवेदनायें हमे कविकुलगुरु कालिदास की काव्य एवं नाट्यकृतियों में देखने को मिलती हैं। यह सन्दर्भ इतना बृहदाकार एवं विविध है कि उसकी

स्थूल सूचनामात्र से पोथी तैयार हो जाती है। परन्तु प्रस्तुत निबन्ध में कालिदास के तीन काव्यों मेघदूत, कुमारसम्भव तथा रघुवंश भर मे उस लोकसंवेदना अथवा चेतना का दिङ्मात्र निर्देश किया जा रहा है। कालिदास के काव्यों में ये लोकचेतनायें मुख्यतः दो रूपों में अभिव्यक्त हुई हैं। वे रूप हैं-सामान्य एवं विशेष।

सामान्य लोकचेतनायें वे हैं जिसका विषय सम्पूर्ण लोक है, कोई व्यक्ति विशेष नहीं। विशिष्ट लोकचेतनाओं वे हैं जो मानवीय सम्बन्धों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई हैं। इन सम्बन्धों में आते हैं–दम्पती (पति-पत्नी) पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पिता-पुत्री, माता-पुत्री, मित्रयुगल, शत्रुयुगल, प्रतिवेशी, स्वामी-भृत्य, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, वदान्य-वाचक, पोष्य-पोषक, पाल्य-पालक, रक्ष्य-रक्षक आदि।

महाकवि कालिदास संभवतः संस्कृत के प्रथम और अन्तिम कवि हैं जो अपने प्रत्येक पात्र के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर उसे प्रस्तुत करते हैं। पात्र के साथ आत्मैक्य-स्थापन अथवा आत्मविलयन की इस कला में उनके जैसा निष्णात कोई अन्य कवि हुआ ही नहीं। यदि स्वोपज्ञ मेघदूत के विरही यक्ष कालिदास स्वयमेव हैं तो रघुवंश में नन्दिनी-सेवक दिलीप, दिग्विजयी रघु, इन्दुमती-प्रणयी अज, प्रजानुरञ्जक राम यहाँ तक कि आपादमस्तक विलास-पंक में डूबे अग्निवर्ण भी वही हैं। कुमारसम्भव के अनंगदाही तथा अनंगाराधक शिव भी कालिदास स्वयमेव हैं–

> **क्रोधं प्रभो! संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।**
> **तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥** (कुमार.3/72)
> **देवास्तदन्ते हरमूढभार्यं किरीटबद्धाञ्जलयो निपत्य।**
> **तस्यानुमेने भगवान् विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम्।**
> **कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति॥**(कुमार.7.92-93)

वस्तुतः अपने काव्यपात्रों के चेतना–हद में अवगाहन किये बिना कालिदास–जैसी कालजयी कविता लिखी ही नहीं जा सकती। दुःख, वियोग, व्यथा और विलाप के प्रसंग कहाँ नहीं आये हैं? किरातार्जुनीय में इन्द्रकील–प्रस्थित अर्जुन एवं द्रौपदी का वियोग-प्रसंग है तो नैषध में हंसविलाप तथा नल-दम्यन्ती के मिथःसन्ताप की गाथा है। परन्तु विरह–वियोग का उपर्युक्त कोई भी सन्दर्भ हमारे मर्म का स्पर्श तक नहीं कर पाता, अश्रुविगलन का तो प्रश्न

ही नहीं। परन्तु जब हम प्रियाविरही यक्ष का दैन्य-वैवश्य अनुभव करते हैं, रति एव अज का विलाप पढ़ते हैं तो अश्रुस्नात हो उठते हैं। आखिर क्यों? उन पात्रों के साथ अपनी पारमार्थिक सम्पृक्ति के कारण! यक्ष का दैन्य हमें कातर बना देता है-

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-

र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु।

पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां

मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥ (उत्तरमेघ.49)

यक्ष एवं यक्षिणी के माध्यम से कालिदास दाम्पत्य लोक चेतना के विलक्षण विवर्त प्रस्तुत करते हैं। विरहिणी नायिका का हृदय, नायक की निष्ठा के सन्दर्भ में प्रायः सन्दिग्ध एवं अविश्वस्त बना रहता है। योगाकांक्ष कब प्रवासी प्रियतम को दाक्षिण्य-रहित शठ बना देगा, यह कौन बता सकता है? परन्तु प्रवास में भी पत्नी के प्रति सर्वात्मना अनुरक्त एवं निष्ठावान् यक्ष कहता है–

भूयश्चाहं त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे

निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।

सान्तर्हासं कथितमसकृत्-पृच्छतश्च त्वया मे

दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन् कामपि त्वं मयेति॥

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद् विदित्वा

मा कौलीनाच्चकितनयने मय्यविश्वासिनी भूः।

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा–

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥ (उत्तरमेघ.54)

विरह--वियोग में, चाहे वह प्रवासजन्य हो अथवा मरण–जन्य, वियुक्त जनों के स्मृतिप्रतीक ही सम्बल बन जाते हैं, यही लोकप्रवृति है। राम के वियोग में भरत ने जीवनाधार–उपाय के रूप में अग्रज की पादुकायें ही माँग ली। राम ने सीता को ढाँढस बँधाने के लिये मुद्रिका भेजी तो देवी वैदही ने राम के लिये चूढ़ामणि भेजी। दुष्यन्त ने भी शकुन्तल को अपनी नामाक्षरांकित मुँदरी पहनाई थी। लोक में अभिज्ञान –दान की यह परम्परा चिरकाल से चली आ रही है।

परन्तु इस लोकचेतना का जो निदर्शन कालिदास मेघदूत में प्रस्तुत करते हैं। वह सर्वथा विलक्षण है। विरही यक्ष तो उत्तर से आती उन हवाओं का आलिंगन करता है यह मान कर कि ये हवायें उसकी प्रिया यक्षिणी को छूकर ही आ रही हैं–

भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां

ये तत्क्षीरस्त्रुति सुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।

आलिङ्ग्यन्ते गुणवति! मया ते तुपाराद्रिवाताः

पूर्वं स्पृष्टं किल यदि भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥ (उत्तरमेघ.105)

लोकचेतना के सैकड़ों मानक विद्यमान हैं मेघदूत में, जो आज भी उतरने ही सहज हैं जितने कालिदास युग में थे। उदाहरणार्थ-पतिवियोग में नारी चक्रवाकी सी बदरंग हो जाती है, उसकी वाचालता समाप्त हो जाती है।

विरहिणी यक्षिणी पूजाकार्य, प्रियतम का चित्रांकण, शुक-सारिका से वार्ता, वीणावादन, गायन अथवा वियोगावधि के दिनों के लेख-जोखे से अपने दिन काट रही है। सम्भव है कि आज के परिवर्तित समाज में कोई विरहिणी नायिका ये कार्य न करे। मन–बहलाव के अन्य युगानुकूल साधन अपनाये।

परन्तु आँखे बन्द करके, प्रियतम की सुरतकीडाओं का मन ही मन स्मरण करते हुए, उसकी आनन्दानुभूति करने से आज की भी किसी नायिका को वंचित कैसे माना जा सकता है? यह तो श्वाश्वत लोक चेतना है जो अब से दो सहस्र वर्ष पूर्व भी चरितार्थ थी, और आज भी है।

मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती।

प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः॥ (उत्तरमेघ.27)

इससे भी अधिक सटीक मनोवैज्ञानिक लोकचेतना हमें इन पंक्तियों में दीखती है–

मत्सम्भोगः कथमुपनयेत् स्वप्नजोऽपीति निद्रा-

माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्॥(उत्तरमेष 33)

दाम्पत्य से जुड़ी लोकचेतनाओं का कालिदास साहित्य जो भौतिक अथवा स्थूल रूप प्रस्तुत है वह तो यथाकथञ्चित् अन्य कवियों के काव्यों में भी मिल जाता है, जैसे–एकवेणी

का स्पर्शक्लिष्ट हो जाना, नेत्रों का अञ्जनस्नेह–शून्य, विस्मृतभ्रू। आने की बेला में थिरकने लगना।

ये लोकचेतनायें अद्यतन समाज में भी चरितार्थ हो रही हैं। परन्तु जो लोकचेतनायें स्थूल नहीं हैं, जो मात्र सूक्ष्म हैं, अनुभवगम्य हैं–उनके चित्रण में तो संभवतः कालिदास अकेले भी, बेजोड़ भी। उसका प्रमाण है–

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं

सास्त्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।

उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती

सङ्कल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः। (उत्तरमेघ.44)

कालिदास जिस लोक का प्रतिनिधित्व करते हैं वह वर्णाश्रम धर्मव्यवस्था से अनुशासित है। उसमें तीर्थ, यज्ञ, गो–ब्राह्मण, व्रतोपवास, अध्ययन–अध्यापन, दान एवं संस्कारों की पूर्ण प्रतिष्ठा है।

पुत्र को पुत् नामक नरक का उद्धारक माना गया है। अपुत्र की सबसे बड़ी व्यथा यही है कि सन्तति परम्परा के उच्छेद वश वह पितृऋण से कभी मुक्त नहीं हो पायेगा, उसके पितर, उसकी मृत्यु के बाद, अपना आँसू भर पियेंगे (जलाञ्जलिदाता के अभाव में) और वह नरकगामी होगा। दिलीप एवं दुष्यन्त की यही लोकचेतना कवि प्रकट करता है–

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः।

न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः।।

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया।

पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते।।

सोऽहमिज्यविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलित।

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः।।

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।

सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे।।

तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे।

सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद् वन्ध्यमाश्रयवृक्षकम्।।

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे।

अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः।। (रघु.1-66-71)

पुत्रहीनता की ऐसी असह्य पीड़ा कालिदास शाकुन्तल नाटक में भी प्रस्तुत करते हैं, जब दुष्यन्त कहता है–

अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः। (शाकुत.)

अस्मात्परं बत यथाश्रुति सम्भृतानि

को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति।

नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं

धौताश्रुसेकमुदकं पितरः पिबन्ति।। (शाकु.6/5)

मृत पितरों को भी वेदविधि से पिण्डदान एवं जलाञ्जलि देते रहने की क्रिया, कालिदासयुगीन समाज में प्रचलित थी। राम स्वयं माताओं का विधिवत् श्राद्ध करते हैं–

इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः।

भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान् विदधुः क्रमात्।। (रघु. 15-91)

कन्याविषयक लोकचेतना का तो कालिदास ने अद्भुत रूप उपस्थित किया है। पार्वती मेना-हिमवान् की औरस सन्तति हैं जब कि शकुन्तला कण्व की पालिता कन्या है। कन्या के प्रति कालिदास के मन में अपार श्रद्धा है। पुत्र के होते हुए भी, माँ-बाप की पारमार्थिक तृप्ति कन्या से ही होती है, क्योंकि वह उसी प्रकार माँ-बाप को विभूषित एवं परिपूत बना देती है जैसे संस्कारवती वाणी विद्वान् को प्रभामहती शिखा दीप को और त्रिपथगा गङ्गा स्वर्ग को!

कन्या परीकीय अर्थ है। वह माता-पिता के हाथों में न्यस्त, अपने पाणिग्रहीता का न्यास है। जिसकी प्राणपण से रक्षामात्र की जाती है, व्यय नहीं! वह न्यास उसके वास्तविक अधिकारी को सौंप कर ही कोई पिता चैन की साँस ले पाता है। महर्षि कण्व कहते हैं–

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।

जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।। (शाकु.4-22)

कन्याविषयक लोकचेतना का वही रूप, दो हजार वर्षो के बाद भी भारतीय - समाज में यथावत् स्थित है। आज भी प्रत्येक माँ पुत्रों के जन्म से कोंख को धन्य भले मान ले, परन्तु पवित्र मानती है मात्र कन्या के ही जन्म से! समस्त दानों का शिरोमणि आज भी कन्यादान ही है।

शिवपार्वती - विवाह के माध्यम से कालिदास ने लोकसमाहत प्राजापत्य विवाहविधि का साङ्गोपाङ्ग चित्रण किया है। सप्तर्षियों के माध्यम से विवाह (वधूयाचना) का प्रस्ताव, शिव की वरयात्रा, वरदर्शनार्थ ओषधिप्रस्थ की सुराङ्गनाओ की उत्कण्ठात्वरा एवं सम्प्रभ, वधू का अभ्यङ्ग-नेपथ्यादि प्रतिकर्म, मङ्गलस्नान, कौतुकवेदी पर प्राङ्मुखासीन वधू का प्रसाधन-श्रंङ्गार (धूप की ऊष्मा से केशार्द्रता का शोष, शुक्लागुरू गोरोचना से पत्ररचना, कपोल पर यवत्ररोह, चरणों में अलक्तक-राग, वधू द्वारा अन्ततः स्वयं को दर्पण में देखना) माता द्वारा पुत्री के ललाट पर हरिताल एवं मनःशिलामिश्रित तिलक-रचना, मणिबन्ध में ऊर्णामय कौतुकसूत्र-बन्धन, वर-वधू का मिथः पाणिग्रहण, अग्निप्रदक्षिणा, लाजाहोम, ध्रूवदर्शन तथा अन्ततः वर-वधू का कौतुकागार (कोहबर) में प्रवेश।

उमा-विवाह के ये क्रमिक चरण आज भी भारतीय-समाज में यथाकथञ्चित् पूर्ण किये जा रहें हैं। इन संस्कारों एवं वैवाहिक क्रियाओं के माध्यम से लोकचेतना का जो भव्य रूप कालिदास ने प्रस्तुत किया है वह निश्चित ही अत्यन्त श्रद्धेय है। कवि यह बताना भी नहीं भूलता कि शिव-पार्वती का विवाह सम्पन्न कराने वाला पुरोहित कर्मानुष्ठान में अत्यन्त दक्ष था।

इत्थं विधिज्ञेन पुरोहितेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ।

प्रणेमतुस्तौ पितरौ प्रजानां पद्मासनस्थाय पितामहाय।। (कुमार.7.86)

कालिदास के काव्यों में वर्णित देवताओं, यक्षों, किन्नरों, गन्धर्वो एवं अप्सराओं के साथ की साथ मर्त्यों का भी वर्णन है। परन्तु वे मर्त्य उच्चादर्शो, उदात्त आचरणों के धनी तथा संस्कार - सम्पन्न हैं। उस लोक में एक ऐसा राजा भी है तो विश्वजित् यज्ञ मे, सब कुछ दान देकर, मृण्यान्नशेष हो चुका है। उसे अकिञ्चन हुआ देख याचक लौटना चाहता है–

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति।

पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः।।

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये।

स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि।।(रघु.5।16,17)

परन्तु महाराज रघु को यह चिन्ता सताने लगती है कि यदि वरतन्तु - शिष्य कौत्स अकृतार्थ लौट गये तो मेरा कितना बड़ा उपहास होगा?

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।

गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत् परीवादनवावतारः।। (रघु.5-24)

इस विचार से वह, कौत्स को दो तीन दिन अपनी शाला में रूकने का आग्रह कर, राजा कुबेर पर आक्रमण का विचार करते हैं। परन्तु आक्रमण की नौबत ही नहीं आती, क्योंकि सुवर्णवर्षा कर कुबेर उनका कोष रातोरात भर देते हैं। अब दाता चाहता है कि याचक सारा सुवर्ण ले ले, क्योंकि उसी के लिये यह देवकृपा हुई है। परन्तु निःस्पृह याचक कौत्स गुरूदक्षिणा की चौदह कोरियों से अतिरिक्त एक भी अधिक नहीं लेना चाहता! अद्भुत आदर्श है दोनो का।

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।

गुरूप्रदेयाऽधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च।। (रघु.5-33)

वस्तुतः कालिदास के काव्यों में वर्णित लोक तथा उसकी चेतना दोनो ही विलक्षण हैं। आज उनके अनुकरण का यत्नमात्र किया जा सकता है। उनके जैसा बन पाना तो असंभव ही है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. तां जानीथाः परिमितकथां जीवितम्मे द्वितीयं

   दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।

   गाढोत्कण्ठां गुरूषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां

   जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम्।।

2. स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनाऽसकृत् सारयन्तीं
गण्डाभोगात् कठिनविषमामेकवेणीं करेण। (उत्तर.29)

3. रूद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्कें मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति।। (उत्तर.37)

4. यास्यत्यूरूः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्। (उत्तर.38)

5. महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा।।
प्रभामहत्या शिखया हि दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च।। (कुमार.2.26-28)

प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र
पूर्वकुलपति
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय,
वाराणसी।



सिद्धान्तकौमुदी के वैदिकप्रकरण का पुनर्व्यवस्थापन

डॉ. पुष्पा दीक्षित

यद्यपि व्याकरणशास्त्र सर्वशास्त्रोपकारक है, तथापि '**रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्**' कहकर भाष्यकार ने वेद की रक्षा को व्याकरण का प्रथम प्रयोजन कहा है और '**ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्यो ज्ञेयश्च**' कहकर वेदार्थज्ञानोपाय होने के कारण व्याकरण को वेदाङ्ग कहा है।

भगवान् पाणिनि के पहले के और भगवान् पाणिनि के बाद के भी अनेक व्याकरण हैं, किन्तु लौकिक, वैदिक उभय शब्दों को साधुत्व प्रदान करने के कारण वैज्ञानिक पद्धति से लिखा गया पाणिनीय व्याकरण ही आजकल सर्वमान्य है। अष्टाध्यायी का आश्रय लेकर ही भाष्य, सिद्धान्तकौमुदी प्रभृति ग्रन्थ प्रणीत हैं। जब सिद्धान्तकौमुदी रची गई, जब सिद्धान्तकौमुदी के रचयिता और सिद्धान्तकौमुदी के अध्येता, दोनों के ही सम्मुख अष्टाध्यायी साध्य थी और सिद्धान्तकौमुदी उस तक पहुँचने का साधन थी। इस प्रकार प्राचीनकाल में अष्टाध्यायी के अनुसार ही सिद्धान्तकौमुदी, रूपमाला इत्यादि ग्रन्थों के अध्ययन–अध्यापन की परम्परा थी, किन्तु यह संसार ह्रासोन्मुख है, इसीलिये कालक्रम से इस परम्परा का भी ह्रास हो गया।

आजकल सिद्धान्तकौमुदी के अध्येताओं और अध्यापकों के प्रमाद से अष्टाध्यायी के अनुसार कौमुदी के पठन–पाठन की परम्परा अस्त व्यस्त हो गई है। आज अष्टाध्यायी को लगाने के लिये कोई सिद्धान्तकौमुदी नहीं पढ़ता। अतः आज पाणिनी शास्त्र को सिद्धान्तकौमुदी से पढ़ना ही सर्वमान्य क्रम रह गया है।

सिद्धान्तकौमुदीकार श्री भट्टोजिदीक्षित ने पहले प्रकरण कल्पित कर किये हैं और तदनुसार एक एक प्रकरण के लिये उपयोगी सूत्रों को लाकर प्रक्रिया के अनुरोध से तत्

प्रयोगों की सिद्धि में उपस्थित करके अष्टाध्यायी के सूत्रक्रम को पूर्णतः भग्न कर दिया है। वस्तुतः अष्टाध्यायी का प्राणतत्त्व है अधिकार और अनुवृत्ति। जिस प्रकार वृक्ष में लगे हुए पुष्प में ही यथाकाल फलोद्भव की शक्ति होती है, उसी प्रकार अपने अधिकार और प्रकरण से सम्बद्ध सूत्र में ही अपने समस्त अर्थ के प्रकाशन की शक्ति होती है। इन दोनों का ही सिद्धान्तकौमुदी में समूलोच्छेद हो गया है, इसलिये सिद्धान्तकौमुदी के सूत्र स्वयं सामर्थ्यहीन हो गये हैं। अतः इसके पुनरुद्धार की महती आवश्यकता है।

यदि कहें कि एक एक प्रकरण के एक एक प्रयोग को सामने रखकर उस प्रयोग के लिए उपयोगी सारे सूत्रों को कौमुदी में लाकर एक साथ रख दिया है, तो प्रक्रिया में सौकर्य हो गया है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी में एक एक सूत्र प्रायः एक एक प्रयोग का ही साधन करता है, जबकि उस सूत्रसम्बन्धी अन्य सारे प्रयोगों का साधन करना भी अत्यावश्यक है, अन्यथा सूत्रवैयर्थ्य प्राप्त होता है। यथा–

'वचिस्वपियजादीनां किति' अष्टा.6.1.15 सू. में 11 धातु हैं अतः कित् प्रत्ययों में इसके 11 धतुओं के उदाहरण हमें ज्ञात होना चाहिये। किन्तु कौमुदी में हमें केवल यज् धातु के उदाहरण मिलते हैं–ईजतुः, ईजुः। इसी प्रकार ग्रहिज्या. सूत्र में 9 धातु हैं तथा इसमें किति की अनुवृत्ति भी है अतः कित् ङित् प्रत्ययों में इसके 18 धातुओं के उदाहरण हमें ज्ञात होना चाहिये। किन्तु कौमुदी में हमें इसका एक भी उदाहरण नहीं मिलता है। विञ् धातु में केवल इसे उठाया गया है–ग्रहिज्या. इति सम्प्रसारणे प्राप्ते–लिटि वयो यः इति यकारादेशे–ऊयतुः, ऊयुः, इत्यादि। इस प्रकार कौमुदी में सूत्रों का अवशिष्ट अर्थ बुद्धिगम्य ही रह जाता है। इस प्रकार कौमुदी के सारे प्रकरणों में यही समस्या है कि सूत्र सम्बन्धी एक एक रूप के साधन के बाद भी यह शङ्का बनी ही रहती है, कि तत् तत् प्रत्ययों में अन्य धातुओं के तथा अन्य प्रतिपदिकों के रूप क्या होंगे? अतः कौमुदी के अध्येताओं के लिये बहुत बड़ी कठिनाई है।

एक एक प्रयोग के साधन के लिये सूत्रों को एक जगह उपस्थित कर देने के इस कार्य को यदि कथञ्चिद् उचित मान भी लिया जाये, तो फिर प्रश्न उठता है कि लौकिक और वैदिक शब्दों के साधक सूत्रों को उठाकर पीछे क्यों पटक दिया गया है? कौमुदी के अध्येता क्या कभी यह सोचते है कि जब पूरी कौमुदी प्रकरणों में विभक्त है, तो ऐसे ही प्रकरण इन वैदिक शब्दों के क्यों नहीं है? यहाँ आठ अध्याय क्यों हैं? इन आठ अध्यायों

के रहस्य को जानने के लिये हमें कौमुदी की संरचना के विज्ञान को जानना पड़ेगा। जब दीक्षितजी कौमुदी में प्रकरणों के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों का निवेश कर रहे थे, तब जो भी सूत्र उन्हें वैदिक शब्द विषयक मिल रहे थे, उन्हें वे उठा-उठा कर अलग रखते जाते थे। इस प्रकार सारे प्रकरणों के बन जाने के बाद अष्टाध्यायी के आठों अध्यायों के जो वैदिक शब्द विषयक सूत्र बच गये, उन्हें उन्होंने यथावत् आठ अध्यायों में रख दिया, अर्थात् अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय से जो वैदिक शब्द विषयक सूत्र निकले, उन्होंने उन्हें वैदिकप्रकरण का प्रथम अध्याय बनाकर रख दिया। अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय से जो वैदिक शब्द विषयक सूत्र निकले, उन्हें उन्होंने वैदिक प्रकरण का तृतीय अध्याय बनाकर रख दिया। अष्टाध्यायी के चतुर्थ अध्याय से जो वैदिक शब्द विषयक सूत्र निकले, उन्हें उन्होंने वैदिक प्रकरण का चतुर्थ अध्याय बनाकर रख दिया। इस प्रकार वैदिक के आठ अध्याय बन गये।

किन्तु एक प्रश्न तब भी रह जाता है कि जब अष्टाध्यायी के क्रम से इन्हें छाँटकर अलग किया और बिना किसी विज्ञान के अष्टाध्यायी के क्रम से ही आठ अध्याय बना दिये, तब भी इन सूत्रों के क्रम में अनेक स्थानों में भङ्ग क्यों प्राप्त होता है। यथा-

प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद के 'व्यवहिताश्च 1.4.82' सूत्र के बाद जो प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद का 'इन्धिभवतिभ्यां च 1.2.6' सूत्र दिया गया है, इसका कोई औचित्य नहीं है। आठवें अध्याय में छठवें अध्याय का सूत्र 'दाश्वान्साहान्मीढ्वांश्च' दिया है, यह तो सर्वथा अवैज्ञानिक है। 'अवे यजः 3.2.70' के बाद जो आठवें अध्याय का 'अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च 8.2.67' सूत्र प्रक्रियानुरोध से दिया है, वह भी इसलिये अनुचित है, कि कौमुदी का वैदिक प्रकरण प्रक्रियाक्रम से बना ही नहीं है।

लेट् लकार के प्रत्यय बनाने के लिये तृतीय अध्याय में चतुर्थ पाद के सूत्र एक साथ दिये गये है, किन्तु उसके बाद 'छन्दसि शायजपि' आदि प्रथम पाद के सूत्र देना भी अनुचित हैं। इन्हें लेट् के पहले दिया जाना चाहिये था।

एक बात और। वैदिक सूत्रों को अलग करके वैदिक प्रकरण बनाया, किन्तु तब भी अनेक वैदिक सूत्र छूट गये, इसका कोई भी कारण नहीं है। यथा-क्याच्छन्दसि (3.2.170) आदृगमहनजन. किकिनौ लिट् च (3.2.171) आदि।

वस्तुतः वैदिक प्रकरण के इन सूत्रों की इतनी दुर्दशा है कि ये अष्टाध्यायी के अनुवृत्तिक्रम से तो व्यभिचरित हो ही गये हैं, सिद्धान्तकौमुदी के प्रक्रियाक्रम से भी अलग होकर प्राण हीन से हो गये है और इनके आसपास अपने अर्थ के प्रकाशन की कोई भी सामग्री नहीं रह गई है। अतः लौकिक वैदिकोभय शब्दों की सिद्धि की प्रतिज्ञा वाले पाणिनिव्याकरण के अध्येता कौमुदी के पीछे परिशिष्ट जैसे पड़े हुए इन आठ अध्यायों की उपेक्षा कर देते है और वैदिक शब्दों की सिद्धि करने वाला एकमात्र पाणिनीय व्याकरण भी अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

वैदिक शब्दों के लिये पृथक् प्रकरण बनाने की आवश्यकता इसलिये नहीं है कि सारे वैदिक शब्द, लौकिक शब्दों से भिन्न हैं ही नहीं। कुछ वैदिक शब्द ही लौकिक शब्दों से भिन्न है। इसलिये आचार्य लौकिक, वैदिक शब्दों का अनुशासन अलग अलग नहीं करते। वे केवल उसी वैदिक शब्द के लिये सूत्र बनाते है, जो शब्द लौकिक शब्द से भिन्न होता है। उस वैदिक शब्द विषयक सूत्र को भी वे अलग न रखकर उसी सूत्र के अनुवृत्तिक्रम में रख देते है। ऐसा इसलिये करते हैं कि लाघव ही पाणिनिशास्त्र की अपूर्वता है। इसके समग्र निर्वाह के लिये उसमें अधिकार और अनुवृत्ति का आश्रय लिया गया है।

वस्तुतः लौकिक शब्दों को सिद्ध करने की जो प्रक्रिया है, वही प्रक्रिया वैदिक शब्दों के लिये भी है। इसलिये उसे छोड़कर केवल वैदिक शब्दों के लिये कोई भी प्रक्रिया संभव नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य लौकिक शब्दों की सिद्धि के लिये तो सारी विधि बतलाते है, किन्तु वैदिक शब्द के लिये केवल उतनी ही विधि ही बतलाते है, जितने अंश में वह शब्द लौकिक से भिन्न होता है। अतः वैदिक शब्दों को, लौकिक शब्दों के माध्यम से ही जाना जा सकता है क्योंकि वे अनुवृत्ति से परस्पर जुड़े हैं। अतः वैदिक शब्दों की सिद्धि लौकिक शब्दों की सिद्धि के साथ करना अनिवार्य हैं। अतः कौमुदी में दोनों को अलग अलग कर देना सर्वथा अनुचित है। लौकिक, वैदिक सूत्रों का अलग अलग विभाजन करने का दुष्परिणाम यह है कि वैदिक शब्दों को छोड़कर केवल लौकिक शब्द तो सिद्ध किये जा सकते हैं, किन्तु विश्व में ऐसी कोई विधि नहीं है, जो लौकिक शब्दों को छोड़कर केवल वैदिक शब्दों की सिद्धि का विज्ञान बता सके।

अतः पाणिनीयशास्त्र के एक समग्र विचार की आवश्यकता आज है।

लौकिक और वैदिक शब्दों की सिद्धि के लिये यह विवेक रखना आवश्यक है कि

लौकिक शब्दों की सिद्धि करते समय हम लक्षणैकचक्षुष्क होते हैं अर्थात् पाणिनीय सूत्रों को लेकर पाणिनीय प्रक्रिया से जो भी शब्द बन जाता है, उसे शास्त्रसिद्ध होने से शुद्ध मान लेते है इस प्रकार लोक में हम लक्षण को देखकर अनन्त बनाने के लिये स्वतन्त्र होते हैं।

किन्तु वेद में ऐसा नहीं हो सकता, क्यों कि वेद में हम एक भी शब्द घटा या बढ़ा सकने के लिये स्वतन्त्र नहीं है। वहाँ तो हमे जो भी शब्द जैसा भी मिलता है, उसे हमें उसी रूप में निष्पन्न करना पड़ता है। अतः यहाँ हमे लक्ष्यैकचक्षुष्क होकर काम करना पड़ता है। सूत्रों के होते हुए भी हम उनके द्वारा एक भी शब्द बना नहीं सकते।

अतः पाणिनीयशास्त्र में प्रवेश के पहले ही हमें यह जान लेना चाहिये कि लौकिक शब्दराशि शास्त्र के बन्धन में है। और वैदिक शब्दराशि के बन्धन में शास्त्र हैं। अतः हमें वैदिक शब्द बनाना ही नहीं है। वह हमारे सामने जैसा भी आता है, वैसा ही हमें उसे सिद्ध करना है। इसलिये वैदिक शब्दराशि की सिद्धि के लिये 'क्ङिति च' सूत्र के भाष्य में उक्त 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' के सिद्धान्त को मानना ही पड़ता है। इसका यही अभिप्राय है कि वेद में जितने शब्द दिखें, उन्हें ही बनाने के लिये हम शास्त्र का उपयोग करें। शास्त्र का अनुवर्तन करके भी ऐसा कोई शब्द न बना ले, जो वेद में उपलब्ध ही नहीं है।

इस प्रकार लोक में हम स्वतन्त्र हैं कि लट् का 'पतति' बनाना सीखकर हम पततः पतन्ति आदि सारे रूप बना डालें किन्तु वेद में यदि हमें लेट् लकार का 'पतति' प्रयोग मिलता है तो हमें यह अधिकार नहीं है कि लेट् लकार का 'पतति' बनाना सीखकर हम पतातः, पतान्ति आदि सारे रूप बना डाले। वेद में हमें 'उदधि च्यावयाति' प्रयोग मिलता है, तो हमें यह अधिकार नहीं है कि हम च्यावयातः, च्यावयान्ति आदि सारे रूप बना डालें। हमें तो बस यही करना है कि वैदिक शब्दराशि में से जो भी शब्द हमें मिले, उस हम पाणिनीय विज्ञान से सिद्ध कर ले क्योंकि वेद में हम उतने ही शब्द बनाने के लिये मर्यादित हैं, जितने शब्द हमें वेद में मिलते हैं।

वैदिक शब्दों को सिद्ध करने की विधि यह है कि पाणिनीयप्रक्रिया हमारे पास है। हम वेद में जैसा भी प्रयोग पायें, इस पाणिनीय प्रक्रिया से उसे निष्पन्न कर ले। पाणिनीय प्रक्रिया से ही वेद के सारे शब्द निष्पन्न हो सकें, इसके लिये भगवान् पाणिनि ने वैदिक शब्दों की सिद्धि के लिये लौकिक सूत्रों के अतिरिक्त तीन और सूत्र हमें ब्रह्मास्त्र के समान दिये है। वे इस प्रकार हैं–

1. **छन्दस्युभयथा** – लोक में 'तिङ्शित सार्वधातुकम्' सूत्र से धातुओं से विहित तिङ् तथा शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है तथा तदभिन्न प्रत्ययों की 'आर्धधातुकं शेषः' सूत्र से आर्धधातुक संज्ञा होती हैं, किन्तु वेदविषय में ऐसा नहीं होता।

वेदविषय में धातुओं से विहित प्रत्ययों की दोनों संज्ञाएँ हो जाती हैं। अर्थात् जिसकी सार्वधातुक संज्ञा कही हैं, उसकी आर्धधातुक संज्ञा हो जाती है और जिसकी आर्धधातुक संज्ञा कही हैं, उसकी सार्वधातुक संज्ञा हो जाती है। अथवा एक ही स्थान में दोनों संज्ञाएँ भी हो जाती है, कारण कि जो उपलब्ध वैदिक शब्द है, उन्हें हमें सिद्ध करना ही है।

यथा – 'वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः' यह वैदिक वाक्य है। हम जानते हैं कि लोक में 'वर्धयन्तु' बनता है।

यहाँ 'झि=तु' प्रत्यय की यद्यपि सार्वधातुक संज्ञा है किन्तु उसकी आर्धधातुक संज्ञा होने पर ही 'णेरनिटि' सूत्र से 'णि' का लोप होकर 'वर्धन्तु' बन सकता है, इसलिये हम यहाँ इस प्रयोग के लिये 'झि' की आर्धधातुक संज्ञा करके 'वर्धन्तु' बना लेते है।

'स्वस्तये नावमिवारूहेम'। यहाँ 'सु+अस्+क्तिन्' इसमें क्तिन् प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण 'अस्तेर्भूः' सूत्र से 'अस्' धातु को 'भू' आदेश होना चाहिये। किन्तु भू आदेश होगा, तो 'स्वस्ति' शब्द नहीं बन सकेगा। अतः स्वस्ति शब्द बनाने के लिये हम यहाँ 'क्तिन्' प्रत्यय की सार्वधातुक संज्ञा कर लेते है, इसलिये इस धातु को 'अस्तेर्भूः' से भूभाव नहीं हो पाता है।

'उपस्थेयाम शरणं बृहन्तम्' यहाँ देखिये कि 'लिङ् सलोपोऽनन्त्यस्य सूत्र से सार्वधातु लिङ् में होने वाला सलोप भी हुआ है और 'एर्लिङि' सूत्र से आर्धधातुक लिङ् में होने वाला एत्व भी हुआ है। अतः 'उपस्थेयाम' प्रयोग की सिद्धि के लिये हम लिङ् की दोनो संज्ञाएँ मान लेते हैं, क्योंकि ऐसा करना अनिवार्य हैं। अतः सार्वधातुकत्वात् 'लिङ्सलोपोऽनन्त्यस्य' से सलोप हो जाता है तथा आर्धधातुकत्वात् 'एर्लिङि' से एत्व हो जाता है तथा शब्द सर्वथा पाणिनीय हो जाता है।

लोक में 'लिट् च' सूत्र के लिट् कार आर्धधातुक होता है, किन्तु वेद में सार्वधातुक भी हो सकता हैं। यथा–'ससृवांसो विशृण्विर' में लिट् लकार सार्वधातुक है, इसीलिये 'श्रुवः शृ च' सूत्र से श्रु धातु को शृभाव हो गया है। 'सोममिन्द्राय सुन्विरे' में भी लिट्

लकार सार्वधातुक है, इसलिये 'स्वादिभ्यः श्नुः' से श्नु विकरण हुआ है।

2. व्यत्ययो बहुलम् – भाष्यकार ने इस सूत्र में 'व्यत्यः' इत्येको योगः और 'बहुलम्' इति द्वितीयो योगः, ऐसा योग विभाग करके 'बहुलं छन्दसि सर्वे भवन्ति' अर्थात् वेदविषय में बहुल करके विकरण के साथ साथ विधियों का व्यत्यय होता है, ऐसा अर्थ किया है। सभी विधियों से तात्पर्य है–

सुप्तिङुनग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्धति बाहुलकेन॥

सुब्विधि, तिङ्विधि, उपग्रह=परस्मैपद आत्मनेपद विधि, पुरुषविधि, कालविधि, हल्विधि, अज्विधि, उदात्तादि स्वरविधि, कर्तृविधि, यङ्विधि, विकरणविधि आदि।

व्यत्यय

व्यत्यय का अर्थ होता है व्यतिगमन। अर्थात् किसी विषय में कुछ प्राप्त हों और कुछ हो जाये। यह अनेक प्रकार से हो सकता है। यथा–

विकरण का व्यत्यय– लौकिक शब्दों को बनाने की विधि यही है, कि धातु से सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर जिस गण का वह धातु होता है, उससे उसी गण का विकरण लगाया जाता है और सामान्य से शप् लगाया जाता है। किन्तु वेद में किसी भी गण के धातु से, कोई विकरण लग सकता है। यथा–'कृ धातु' तनादिगण का है। लोक में इससे सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर 'तनदिकृञ्भ्य उः' सूत्र से 'उ' विकरण ही होता है किन्तु वेद में इससे 'शप्' भी मिलता है–सुपेशसस्करति।

'मृ धातु' तुदादिगण का है। लोक में इससे सार्वधातुक प्रत्यय होने पर 'तुदादिभ्यः शः' सूत्र से 'श' विकरण ही होता है किन्तु वेद में शप् भी मिलता है–स च न मरति। जरसा मरते पतिः।

'भिद् धातु' रुधादिगण का है। लोक में इससे सार्वधातुक प्रत्यय होने पर 'रुधादिभ्यः श्नम्' सूत्र से 'श्नम्' विकरण ही होता है किन्तु वेद में शप् भी मिलता है–आण्डा शुष्णस्य भेदति।

'यु धातु' अदादिगण का है। लोक में इससे सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' सूत्र से 'शप्लुक्' विकरण ही होता है किन्तु वेद में इससे जुहोत्यादिगण का विकरण 'शप्श्लु' भी मिलता है–युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः।

लोक में धातु तथा प्रत्यय के बीच में एक ही विकरण लगता है किन्तु वेद में एक विकरण के स्थान पर, कभी कभी दो विकरण भी मिलते है। जैसे–

सुप् का व्यत्यय–युक्तरा मातासीद् धुरि दक्षिणायाः। यहाँ 'दक्षिणस्याम् के स्थान पर दक्षिणायाः कहा है। युह सुप् विभक्ति का व्यत्यय है।

तिङ् का व्यत्यय–चषालं ये अश्वयुपाय तक्षति। यहाँ तक्षन्ति के स्थान पर लक्षति हुआ है। यह तिङ् का व्यत्यय है।

उपग्रह=परस्मैपद, आत्मनेपद का व्यत्यय–वेद में पदों का भी व्यत्यय हो जाता है। यथा–ब्रह्मचारिणमिच्छते। प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति। यहाँ परस्मैपदी 'इच्छति' को आत्मनेपद में इच्छते हुआ है और यहाँ आत्मनेपदी 'युध्यते' को परस्मैपद में युध्यति हुआ है।

पुरुष का व्यत्यय–अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः। यहाँ प्रथमपुरुष में वियूयाद् होना था, उसके स्थान पर मध्यमपुरुष 'वियूयाः' हुआ है। यह पुरुष का व्यत्यय है।

काल का व्यत्यय–वेद में कालों का भी व्यत्यय होता है।

यथा–श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन। यहाँ अनद्यतन भविष्यत्काल में लुट् लकार होना था, उसके स्थान पर लृट् हुआ है।

हल् का व्यत्यय–वेद में हलों का भी व्यत्यय होता है। यथा–

'त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्'। लोक में हम 'शुभित' कहते है, किन्तु वेद में 'शुभितं' प्रयोग मिलता है। यहाँ 'ध' के स्थान पर 'भ' होना, यह हल् का व्यत्यय है। कुछ लोग यहाँ 'सुहितं' पाठ मानते है। इसी प्रकार–तमसो गा अदुक्षत्। यहाँ अधुक्षत् के स्थान पर अदुक्षत् हुआ है। यह भी हल् का व्यत्यय है।

अच् का व्यत्यय–वेद में अचों का भी व्यत्यय होता है। यथा–

लोक में हम पत्नी को बहुवचन में 'पत्नयः' कहते है किन्तु वेद में 'पत्नयो

गर्भिणयः' प्रयोग मिलता है। यह 'पत्नयः' शब्द 'पत्नि' शब्द का प्रथमा बहुवचन है, न कि 'पत्नी' शब्द का अर्थात् यहाँ ईकार के स्थान पर इकार का व्यत्यय हुआ है। इसी प्रकार– मित्र वयं च सूरयः। यहाँ मित्रा वयं च सूरयः, ऐसा दीर्घ स्वर होना था, उसकी जगह ह्रस्व होना अच् का व्यत्यय है।

स्वर का व्यत्यय–गवामिव श्रियसे। यहाँ 'क्सेन्' प्रत्यय का 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' सूत्र से आद्युदात्त होना था। मध्योदात्त हुआ है, यह स्वर का व्यत्यय है।

कर्तृव्यत्यय–कर्तृ शब्द यहाँ कारकमात्र को कह रहा है। इससे तद्वाची कृत्, तद्धित आदि का व्यत्यय जानना चाहिये। यथा–'आसादयद्भिरुभयोर्वेदाः' यहाँ सम्प्रदान कारक के स्थान पर करण कारक हुआ है।

यङ् का व्यत्यय–यङ् प्रत्याहार है, जो कि 'सार्वधातुके यक्' सूत्र के 'य' से लेकर 'लिङ्याशिष्यङ्' सूत्र के 'ङ्' तक है। एतदनुसार यक् से यङ् तक प्रत्ययों का भी व्यत्यय होता है।

3. षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा–भाष्यकार इस सूत्र में 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि' इत्येको योगः और 'वा' इति द्वितीयो योगः, ऐसा योग विभाग करके और द्वितीय योग में 'छन्दसि' की अनुवृत्ति करके 'छन्दसि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते' ऐसा आदेश करते हैं।

अर्थात् पाणिनीय अष्टाध्यायी में कही हुई सारी विधियाँ वेद में हो भी सकती है और नहीं भी हो सकतीं। अतः जब जिस वैदिक शब्द की सिद्धि जिस प्रकार से हो सके, तदनुसार हमें सूत्रों का उपयोग कर लेना चाहिये।

वस्तुतः इस सूत्र का योग विभाग हो जाने से वे सारे कार्य हो जाते हैं, जो 'व्यत्ययो' बहुलम्' के योगविभाग से दिखाये गये हैं। अतः 'व्यत्ययो बहुलम्' का योगविभाग करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

इस योग विभाग से वैदिक शब्दों की सिद्धि के लिये पाणिनीय शास्त्र को अनन्त विस्तार प्राप्त हो जाता है।

कैय्यट कहते है कि 'यावदिह शास्त्रे कार्यं तच्छन्दसि वा भवति', इस परिभाषा को स्वीकार कर लेने से 'बहुलं छन्दसि' इत्यादि सूत्रों की भी आवश्यकता नहीं रह जाती है–

'अनयैव सिद्धत्वात् बहुलं इत्यादि न वक्तव्यम्'। अतः बहुलं छन्दसि आदि सूत्र प्रवञ्चार्थ अथवा स्पष्टार्थ हैं, यह जानना चाहिये। पाणिनीय अष्टाध्यायी में कही हुई प्रक्रिया से सारे वैदिक शब्द भी निष्पन्न हो सकें, इसके लिये ये तीनों सूत्र महावस्त्र का कार्य करते हैं।

बाहुलक

'बहुलक' शब्द का अर्थ पदमञ्जरीकार ने इस प्रकार किया है–बहून् अर्थान् लाति इति बहुलम् तस्य भावः बाहुलकम् (मनोज्ञादित्वात् वुञ्)। इस बाहुलक का स्वरूप चतुर्विध कहा गया है–

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचित् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

इसका तात्पर्य है–नित्य विधि का भी क्वचित् प्रवृत होना, क्वचित् प्रवृत्त न होना और क्वचित् विकल्प से प्रवृत्त होना। क्वचिदन्यदेव का अर्थ है–यता विहितस्ततोऽन्यत्राति भवति। जो कार्य जिन स्थितियों में कहा गया है, उससे अन्यत्र भी अन्य प्रकार से कुछ हो जाना।

जैसे–'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि 2.3.62' 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या' इस सूत्र और वार्तिक से बहुल करके चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी तथा षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का विधान किया गया है। अतः 'पुरुषमृगश्चन्दमसः' में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है तथा 'याः खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते' 'अहल्यायै जारः' आदि में षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी होती है। पक्ष में 'चन्द्रमसेरुदमी रात्र्यै' आदि चतुर्थी भी हो सकती है। यदि कहें कि यह कार्य तो 'विभाषोपसर्गे 2.3.59' सूत्र से विभाषा की अनुवृत्ति लेकर भी किया जा सकता था, ऐसा नहीं है, क्योंकि विभाषा में दो पक्ष ही होते है। उन्हीं में से कोई एक करना पड़ता हैं, किन्तु 'बहुलम्' में उन दो के अलावा भी अन्य बहुत कुछ किया जा सकता है। जैसे यहाँ चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी तथा षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी ये दो बातें की जा रहीं हैं, किन्तु 'बाहुलक' के कारण कभी कभी सप्तमी के अर्थ में भी चतुर्थी, षष्ठी हो सकती हैं। यथा–कृष्णो रात्र्यै। यहाँ सप्तमी के अर्थ में चतुर्थी हुई हैं। हिमवतो हस्ती। यहाँ सप्तमी के अर्थ में षष्ठी हुई हैं।

वेद और लोक के विशाल वाङ्मय में प्रत्येक शब्द की प्रकृति का और उससे होने

वाले प्रत्यय का और उनके लिये अपेक्षित सूत्रों का विधान करके, कार्यो का प्रतिपादन कर सकना अत्यन्त जटिल है क्योंकि शब्द अनन्त है। अतः लक्ष्यानुसार प्रकृति, प्रत्यय तथा प्रक्रिया में छूट देने के लिये भगवान् पाणिनि ने एक ही सूत्र के 'बहुलम्' के बल से प्रयोगानुसार कार्यों की कल्पना करके सब कुछ कर सकने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

इसके अतिरिक्त 'उणादयो बहुलम् (3.3.1)' सूत्र में भाष्यकार कहते हैं कि वैदिक शब्द और रूढ शब्द भी औणादिक ही हैं–'वैदिका रूढशब्दचौणादिकाः।' अतः संज्ञाओं को देखकर उनमें यथा संभव धातुओं का ऊह (कल्पना) उसके बाद उनमें प्रत्ययों की कल्पना और गुण, वृद्धि या गुणवृद्धिनिषेध आदि कार्यो को देखकर अनुबन्धों की कल्पना आदि सारे कार्य जो उणादि प्रकरण में कह गये हैं, वे सब वैदिक शब्दों की सिद्धि के लिये भी कर लेना चाहिये।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययश्च ततः परे।

कार्याद् विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥

बाहुलक का उपयोग यही है कि सारे दैनिक और लौकिक शब्दों का व्युत्पादन होकर उनके प्रकृति और प्रत्यय अलग अलग दिखने लगें। अनेक आचार्यों ने वैदिक रूढ शब्दों का व्युत्पादन किया है। जैसे कि यास्क ने निरुक्त में सारे शब्दों को धातुज अर्थात् धातुजन्य लिखा है। शाकटायनाचार्य ने भी इसी का अनुगमन करके सारे शब्दों को व्युत्पन्न करने का यह विधान पाँच पादों में उणादि प्रत्ययों द्वारा बतलाया है, किन्तु उणादि पञ्चपादी से भी सारे शब्द व्युत्पन्न नहीं हो जाते हैं, अतः बहुलम् कहा है।

काशिकाकार कहते है कि बहुलवचन के द्वारा कहे हुए कार्य भी वस्तुतः निःशेष नहीं हैं, सशेष हैं। अर्थात् वे तो दिङ्मात्र हैं, उन्हें आधार बनाकर अन्य शब्दों की भी सिद्धि की जा सकती है।

'बहुलम्' कहकर आचार्य ने यह विधि बतलायी है कि उणादि पञ्चपादी में भी कुछ सीमित (=तनु) प्रकृति और सीमित (=तनु) प्रत्यय ही हैं। इनसे सारे लौकिक, वैदिक शब्द कैसे सिद्ध होंगे, इसके लिये काशिकाकार कहते हैं कि–

नाम च धातुजमाह निरूक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।

यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥

बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चनादपि तेषाम्।
कार्यशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुधासु।।

जहाँ शब्द में पूर्वभाग अर्थात् प्रकृति भाग प्रसिद्ध रूप में दिखलायी दे वहाँ केवल प्रत्यय की कल्पना करना चाहिये। यथा–ऋफिडः, ऋफिड्डः ये वैदिक शब्द है, ऋ धातु तो प्रसिद्ध है ही, अतः इससे फिड और फिड्ड प्रत्यय कल्पित कर लेना चाहिये।

जहाँ शब्द में परभाग अर्थात् प्रत्यय भाग प्रसिद्ध प्रत्ययों के रूप में दिखलायी दे, वहाँ केवल प्रकृति की कल्पना करना चाहिये। यथा – 'हृषेरुलच्' से उलच् प्रत्यय प्रसिद्ध है। उसे लेकर 'शङ्क्' प्रकृति कल्पित करके शङ्कुला आदि शब्द बना लेना चाहिये।

इसी प्रकार गुण, वृद्धि, गुणवृद्धि, निषेध, सम्प्रसारण, नलोप आदि कार्यों को देखकर तत् तत् अनुबन्धों की कल्पना कर लेना चाहिये। यथा–ऋफिडः आदि शब्दों में गुण नहीं हुआ है अतः यह ऊह करे कि प्रत्यय कित् है। इस प्रकार सारा उणादिशास्त्र ऊहात्मक है परन्तु ध्यान रखें कि यह सारा ऊह अनादिप्रयुक्त संज्ञाओं को सिद्ध करने के लिये ही है, सार्वत्रिक नहीं। अर्थात् जो संज्ञायें किसी के द्वारा सिद्ध नहीं की जा रही हैं, उन्हें सिद्ध करने के लिये है, नये नये शब्द रचने के लिये नहीं।

अतः लोकमें हम शास्त्र को देखकर शब्द बनायें और वेद में जो शब्द दिखे, उस शब्द को देखकर ही शास्त्र का उपयोग करें।

पाणिनीय प्रक्रिया से वैदिक शब्दों को सिद्ध कर सकने का यही विज्ञान है। यह नहीं समझना चाहिये कि लौकिक तथा वैदिक शब्द, सर्वथा भिन्न भिन्न हैं। अतः वैदिक शब्दों के लिये जहाँ कोई विशेष सूत्र न बतलाया जाये, वहाँ लौकिक शब्द ही वैदिक शब्द होता है, यह जानना चाहिये। उदाहरणार्थ यदि हमें वेद में किसी भी प्रातिपदिक के सुबन्त रूप बनाना है, तो पहिले हमें यह जान लेना चाहिये कि 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः 6.1.38' सूत्र तथा इसके वार्तिक 'सुपां सुपों भवन्तीति वक्तव्यम्' के द्वारा हम किसी भी विभक्ति में किसी भी सुप् के प्रयोग के लिये स्वतंत्र हैं और 'छन्दसि सर्वे विधयो विकल्पन्ते' से सारे पाणिनीय शास्त्र के विकल्प के लिये स्वतन्त्र हैं।

अकारान्त प्रातिपदिक से जस् विभक्ति आने पर 'आज्जसेरसुक्' सूत्र से जस् विभक्ति को असुक् का आगम कहा गया है। 'अतो भिस् ऐस्' से होने वाले ऐस् आदेश का 'बहुलं

छन्दसि' सूत्र से बहुल करके कहा गया है। अतः जस् और 'भिस् के अलावा सारी विभक्तियों के रूप वेद में भी ठीक वैसे ही होंगे', जैसे अकारान्त राम शब्द के रूप लोक में होते हैं। यहा जानना तभी सम्भव है, जब राम शब्द की प्रक्रिया साधते समय ही 'अतो भिस् ऐस्' के ठीक अनन्तरं 'बहुलं छन्दसि' पढ़ लिया जाये और राम के जस् विभक्ति में रूप बनाते समय ही 'आज्जसेरसुक् पढ़ लिया जाये। 'अतो भिस् ऐस्' से अलग होकर वैदिक प्रकरण के सातवें अध्याय में बैठकर यह सूत्र सर्वथा विच्छिन्न हो जाता है।

'बहुलं छन्दसि' सूत्र तथा वैदिक प्रकरण में पढ़े हुए अन्य सारे सूत्र कौमुदी के वैदिक प्रकरण में बैठकर अष्टाध्यायी के मूल से कटकर अपने मूल सूत्र की अनुवृत्ति को भी खो चुके हैं और सिद्धान्तकौमुदी के प्रकरणों से भी कटकर अनर्थक से हो गये हैं। इनकी आपस में भी कोई संगति नहीं है क्योंकि यहाँ न तो सिद्धान्तकौमुदी का प्रक्रियाक्रम है न ही अष्टाध्यायी का अनुवृत्तिक्रम है। सिद्धान्तकौमुदी में कहाँ पढ़े हुए किस सूत्र से इन्हें संगत किया जाये, यह जानना सामान्यतः संभव ही नहीं। अतः इन्हें सम्बद्ध सूत्रों के साथ ही पढ़ा जाना चाहिये।

इसी प्रकार सिद्धान्तकौमुदी के वैदिक प्रकरण में पढ़े हुए अन्य 250 सूत्र भी यदि अपने सम्बद्ध सूत्रों के साथ पढ़ दिये जायें, तो अपने अर्थ को स्वयं ही कह देंगे और लौकिक शब्दों के साथ साथ ही वैदिक शब्द भी सिद्ध होते चलेंगे और साथ ही लौकिक, वैदिक शब्दों का भेद भी स्पष्ट होता जायेगा। यथा कौमुदी में 'तृतीया च होश्छन्दसि' सूत्र को 'कर्मणि द्वितीया' के बाद पढ़ दिया जाये। 'कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि' को 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' के बाद पढ़ दिया जाये, 'ढश्छन्दसि' को 'सभाया यः' के बाद पढ़ दिया जाये, इत्यादि।

इस प्रकार वैदिक प्रकरण के आठों अध्यायों में पढ़े हुए सारे 262 वैदिक सूत्रों को उन्हीं सूत्रों के साथ रख देना चाहिये, जिनकी अनुवृत्ति लेकर वे अर्थवान् हैं। ऐसा करने से लौकिक शब्दों के साथ ही वैदिक शब्द भी अनायास ही सिद्ध हो जायेंगे।

इस प्रकार वैदिक शब्दों की सिद्धि के लिये लक्ष्यानुसार सुब्विधि, तिङ्विधि, परस्मैपद आत्मनेपद विधि, पुरुषविधि, कालविधि, हल्विधि, अज्विधि, उदात्तादि स्वरविधि, कर्तृविधि यङ्विधि, विकरणविधि आदि के व्यत्यय के साथ-साथ सार्वधातुक प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा और आर्धधातुक प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा और आर्धधातुक प्रत्यय की

सार्वधातुक संज्ञा और कभी एक ही प्रत्यय की दोनों संज्ञाएँ की जा सकती है। 'छन्दसि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते' आदि का आश्रय लिया जा सकता है और वैदिक शब्दों को औणादिक मानकर प्रकृति, प्रत्यय का ऊह भी किया जा सकता है। इस प्रकार पाणिनीय प्रक्रिया से सारे वैदिक शब्द सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु इसके लिए अनिवार्य है कि सारी लौकिक प्रक्रिया सम्मुख हो। उसे अलग रखकर वेद के एक भी शब्द की निष्पत्ति संभव नहीं है।

इसलिये वैदिक प्रकरण को कौमुदी से पृथक् करके वैदिक व्याकरण नहीं पढ़ा जा सकता। इसलिये उचित यही है कि कौमुदी की प्रक्रिया में प्रवेश करने से पहले ये तीनों सूत्र पढ़ लिये जायें, और वैदिकी के 262 सूत्रों को अलग से न पढ़कर कौमुदी के साथ मिश्रित कर के ही पढ़ा जाये, तो लौकिक शब्दों के साथ साथ वैदिक शब्द स्वतः सिद्ध हो जायेंगे।

।।श्रीकृष्णार्पणमस्तु।।

डॉ. पुष्पा दीक्षित



महर्षि यास्क का अद्ध्यात्म चिन्तन

डॉ. उमारानी त्रिपाठी

वेदों को विश्व का प्राचीनतम साहित्य होने का गौरव प्राप्त है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के शब्दों में–"**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**" अर्थात् ब्राह्मण को निष्कारण ही षड् अङ्गों सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिये और उसका अर्थ भी जानना चाहिये।

वेदों का शुद्धोच्चारण तथा यथार्थ तात्पर्य समझने के लिये वेदाङ्गों का आविर्भाव हुआ। निरूक्त को वेदपुरूष का श्रोत्र रूप अङ्ग माना जाता है। निरूक्त के अध्ययन के विना मनुष्य वेद के सम्बन्ध में श्रोत्रेन्द्रिय होते हुए भी बधिर ही है।[1] निरूक्त के अध्ययन के बिना वेदमन्त्रों की व्याख्या अरण्यरोदन मात्र होगी। कहने का आशय यह है कि निरूक्त के बिना वेदार्थबिबोध कदाचित् असम्भव ही होगी, क्योंकि आधिभौतिक जगत् में विचरण करने वाला प्राणी प्रायः आधिभौतिक विचारों से समन्वित होने के कारण प्रत्येक मन्त्र का अर्थ भौतिक दृष्टि से ही समझने का यत्न करता है, उसे यह विदित ही नहीं कि वेदों में आधिदैविक एवं आध्यात्मिक अर्थों की भी उपस्थिति है। समस्त वैदिक विज्ञान देवतावाद पर आश्रित है। वे देवता कितने हैं? उनका क्या स्वरूप है? वे चेतन हैं या अचेतन? उनके कर्त्तव्य क्या हैं? इत्यादि रहस्यों का सम्यक् ज्ञान वेदार्थबिबोध के लिये नितान्त अपेक्षित है।

निरूक्त की वेदार्थावबोध में विशेष उपादेयता इसलिये और अधिक है; क्योंकि यास्क की दृष्टि में मन्त्रार्थ चिन्तन "**अपि श्रुतितः अपि तर्कतः**" अर्थात् श्रुत्यनुसारी एवं तर्कसङ्गत दोनों होना चाहिए। प्रकरण से पृथक् करके मन्त्रों का निर्वचन नहीं करना चाहिए। उनके अनुसार मन्त्रार्थ-प्रतीति सामान्यजनों को नहीं हो सकती, क्योंकि सामान्य जन मलिन अन्तःकरण वाले होने के कारण मन्त्रार्थ के अवबोध में समर्थ नहीं हो सकते। केवल

तपस्वी, मन्त्रद्रष्टा को ही मन्त्रार्थ प्रतीति हो सकती है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि–"**सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिस्तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यं तदिदमायुस्च्छिता न निर्वक्तव्यं तस्माच्छन्दसु शेषा उपेक्षितव्याः।**" (नि.13/11)

यास्क ने वेदमन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए अद्वयात्म तत्त्वपरक निगूढ दार्शनिक़ तत्त्वों का स्फुट प्रकाशन किया है, जो अवश्य ही अवधेय है।

प्रस्तुत शोधपत्र का विषय है–"**महर्षियास्क का अद्वयात्म चिन्तन।**" प्रतिपाद्य विषय पर शोधात्मक दृष्टिक्षेप करते समय सर्वप्रथम उल्लेखनीय है कि यास्क ने देवताओं के तीन विभाग (द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय, पृथिवी स्थानीय) करके उनके विषय से सम्बद्ध वस्तुओं के नाम भी उल्लिखित कर दिये हैं।[1] ये वस्तुयें केवल विशिष्ट देवता से ही सम्बन्ध नहीं रखतीं, प्रत्युत उस स्थान में रहने वाले प्रत्येक देवता के नाम में भी वे ही वस्तुएँ प्रयुक्त होती हैं। यथा-द्युस्थानीय सूर्य विषयक वस्तुयें विष्णु के नाम में भी दी जाती है; क्योंकि वे भी उसी स्थान के निवासी हैं। इतना ही नहीं भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने वाले देवताओं की वस्तुयें भी परस्पर व्यवहृत होती हैं। अग्नि के विशेषण सूर्य, इन्द्र आदि में भी अन्वित होते हैं। यह देवताओं की अद्वयात्म रूपता का प्रकाशक है और एक देववाद का परिचायक है। यास्क निरूक्त के सप्तम अध्याय में कहते हैं कि 'महाभाग्यात् देवतायाः एकः आत्मा बहुधा स्तूयते' अर्थात् देवता के महैश्वर्य सम्पन्न होने के कारण एक आत्मा कारण भेद से अथवा कार्यभेद से बहुधा-बहुत रूपों में होता हुआ स्तूयमान है।[2] देवता के ऐश्वर्य के विषय में स्वयं वेद प्रमाण है–"**तद्यथा रूपं रूपं मधवा बोभवीति मायाः कृण्वानः**" अर्थात् अनेक माया रचता हुआ इन्द्र प्रति रूप में प्रत्येक स्थान पर उपस्थित हो जाता है।[3]

इन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि भिन्न-भिन्न देवता देवतात्वेन एक ही सद्वस्तु के प्रत्यवयव हैं। जैसे मृदात्मना सब घट एक है और वैसे घटत्वेन प्रत्येक घट भिन्न-भिन्न है।[4] उल्लेख्य है कि ऐश्वर्ययोग के कारण ही एक ही आत्मा अनेकधा नाम रूप मय विकार को प्राप्त होकर अग्नि, इन्द्र, रूद्र, मरूत्, आदित्य, वैश्वानर आदि हो जाता है। वस्तुतः वह तत्त्व भिन्न हैं।

निरूक्तकार के अनुसार महैश्वर्य सम्पन्न हिरण्यगर्भ के ही स्थावरजङ्गमात्मक जगत् रूप में परिणत होने कारण कार्य में अभेद बुद्धि रखते हुए ही ऋषियों ने अचेतन पदार्थों की भी

स्तुति की है। क्योंकि उन अचेतन पदार्थों में भी कारणत्वेन देवतातत्त्व विद्यमान है।[5]

देवताओं की उत्पत्ति का हेतु स्पष्ट करते हुए यास्क कहते हैं–''कर्मजन्मानः'' अर्थात् प्राणियों के कर्मफल की सिद्धि के लिए ये अग्नि आदि देवता विग्रह धारण करते हैं।[6] प्रश्न उठता है कि इनका कारण कौन है? इसका उत्तर यास्क के शब्दों में है–'आत्मजन्मानः' अर्थात् ये स्वयम्भू हैं और लोकानुग्रह की आकाङ्क्षा से ये स्वयं जन्म लेते हैं।[7] देवता सर्वैश्वर्य सम्पन्न होते हैं अतः सङ्कल्पमात्र से ही इन देवताओं का आत्मा ही सब कुछ जो कुछ ये चाहते हैं बन जाता है।[8]

निरूक्त के दशम अध्याय में ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार विश्वकर्मा को सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् का कर्ता प्रतिपादित किया गया है।

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।

तेषामिष्टानि समिषामदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः।।[9]

सृष्टिकर्ता परमात्मा से सम्बद्ध इस ऋचा का आध्यात्मिक निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं–विश्व का स्रष्टा परमेश्वर विधूतमना सर्वज्ञ है। वह सब इन्द्रियों का तत्त्वज्ञान कराने वाला है। इस विश्वकर्मा के उपासक योगियों के प्रिय, अभीष्ट या उत्कृष्ट परमात्मसङ्गत या परमात्माभिमत भक्ति से प्रहवीभूत हुए सूक्ष्मशरीर इषा अर्थात् अन्न के साथ वहाँ आनन्द से विचरण करते हैं, जहाँ सप्तऋषियों (सप्त इन्द्रियों) से परे वर्तमान इन्द्रियातीत एक मात्र परमात्मा है।[10] अभिप्राय यह है कि वे सब मन इन्द्रियादि एक परमात्मा में एकाकार हो जाते हैं। उन परमतत्त्वों को प्राप्त मुक्त आत्माओं के सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म अन्न के साथ ब्रह्मलोक में विचरण करते हैं, जहाँ सभी इन्द्रियाँ स्वस्वविषयों से विमुख हो ब्रह्मरूप हो जाती हैं। वैदिक ऋषि कहते हैं कि सृष्टिकर्त्ता सकलभुवनपति विश्वकर्मा परमात्मा ने समस्त भुवनों को सृष्टि रूपी सर्वमेधयाग में हवन कर दिया और वह पिता परमात्मा एक ही (प्रलयकाल में) अवशिष्ट था। उसने प्रथमच्छद अर्थात् पहले से ही विद्यमान प्रकृति और जीव को आच्छादित कर लिया, फिर उस सर्वमेधयज्ञफल की आकाङ्क्षा से धन रूप इस जगत् के आधिपत्य को चाहते हुए जगत् की उत्पत्ति की और तत्पश्चात् उस पञ्चभूतात्मक जगत् में सम्प्रविष्ट हो गया अर्थात् पुनः सर्वात्माधिपति सर्वेश्वर बन गया। इस मन्त्र के निर्वचन के अनुसार वह परमात्मा जगद्योनि होने के साथ-साथ सर्वेश्वर एवं सर्वानुस्यूत सर्वान्तरात्मा भी है।[12]

यास्क ने आदित्य वाचक परमेश्वर को अज अर्थात् नित्य गमनशील बताया है। वह ब्रह्म का एकपात् अंश है। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में आया है- **तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। अग्निः पादो वायुः पादः आदित्यः पादो दिशः पादः।**[13] यास्क कहते हैं--एकेन पादेन पाति इति एकपात् अर्थात् यह आदित्य एक अंश से इस सारे जगत् में अनुप्रविष्ट होकर रक्षा करता है। एकेन पादेन पिबति - एक ही अंश से सम्पूर्ण जगत् का उदक पी जाता है। एकः अस्य पाद इति वा अर्थात् इसका एक ही पाद जगत् का जीवभूत होकर सारे जगत् में अनुप्रविष्ट हो रहा है।[14] इसमें निगम भी प्रमाण है-**एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद् हंस उच्चरन्।**

स चेत्तमुद्धरेदङ्ग! न मृत्युर्नामृतं भवेत्।। (अथर्व.11/4/2)

अर्थात् यह हंस - आदित्य सलिलात् = सन्मात्र ब्रह्म में लीन इस जगत् से प्रतिदिन उच्चरन् अर्थात् उदित होता हुआ एक पाद को नहीं उठाता; क्योंकि यदि वह उसे उठा ले, तो हे मनुष्यों! तब मृत्यु और अमृत्यु कुछ भी न रहे, सब कुछ अव्यपदेश्य सदरूप ही रह जाये।[15] यही कारण है कि वह सूर्य स्थावर जङ्गमात्मक जगत् का आत्मा है। वह द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष में सर्वात्मना अनुप्रविष्ट है।[16]

निरूक्त के द्वादश अध्याय के चतुर्थपाद में एक यजुर्वेदीय मन्त्र की व्याख्या करते समय जीवात्मा की गति का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सप्तरश्मियाँ आदित्यमण्डल में स्थित हैं, इसी प्रकार सप्त ऋषयः अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों सहित मन तथा बुद्धि - ये सप्त ऋषि शरीरात्मा में निहित हैं। ये सातों अप्रमादम् अर्थात् सावधान होकर शरीरात्मा की रक्षा करते हैं। ये सप्त ऋषि विषयों में व्याप्त होने वाले जीवात्मा के सो जाने पर अपने-अपने विषयों को छोड़कर सुखदुःख के भोक्ता में ही भावनानुरूप लीन हो जाते हैं। यह प्राज्ञ (जीवात्मा) तथा तैजस (प्राण) की अवस्थिति है।[17] पुनश्च, इसी प्रसङ्ग में कहा गया है कि ये सप्त ऋषि ज्ञानेन्द्रिय सहित मन, बुद्धि उर्द्ध्वबुध्न अर्थात् शरीर के ऊपरी भाग शिर में जहाँ सब पदार्थों का प्रकाशक इन्द्रिय जन्य ज्ञान-विज्ञान निहित है वहीं साकम् अर्थात् एक साथ रहते हैं। वे इस शरीर के रक्षक हैं। निरूक्त भाष्य पर टीका करते हुए दुर्गाचार्य ने स्पष्ट किया है कि इन्द्रियों के विधाता चमस अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ज्ञानों को ग्रहण करता है और वही चमसान्तरानुप्रविष्ट होकर इन्द्रियों का अधिष्ठातृ देव होकर स्थित है।[18]

निरूक्त के बारहवें अध्याय के चतुर्थ पाद में ही एक अन्य स्थल पर तत्त्वज्ञान रूप अग्नि से (यज्ञ से) परमेश्वराग्नि का यजन करने की प्रतिपत्ति की गयी है तथा ज्ञानाग्नि का

प्राथम्य स्वीकृत करते हुए तत्त्वज्ञानी का सुखस्वरूप ज्ञान रूप मोक्ष धाम का सेवन करना उल्लिखित है।[19]

यज्ञ के आध्यात्मिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए निरूक्त के तेरहवें अध्याय में एक ऋचा की व्याख्या रूपक के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए यास्क कहते हैं–"इस यज्ञ ब्रह्म के चारवेद ही चार सींग है। तीन सवन या तीन लोक ही इसके तीन पाद हैं। द्वे शीर्षे - दो शिर हैं–प्रायणीय तथा उदयनीय - इनसे यज्ञ का प्रारम्भ एवं परिसमाप्ति अथवा जगत् की सृष्टि एवं लय अपेक्षित है। सप्त छन्द की इसके सात हाथ हैं। त्रिधा-ऋक्, यजुः साम अर्थात् सुख वृष्टि करने वाला यज्ञब्रह्म रोरवीति - सवन क्रम से पुनः पुनः शब्दघोष करता है। यह महान् देव ही मनुष्यों में यज्ञ के लिये सम्प्रविष्ट हुआ है।[20] इसी प्रसङ्ग में एक अन्य ऋचा का निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं कि जो विद्वान् सब ओर से सबको धारण करने वाले यज्ञ ब्रह्म को करते हैं। वे यजनशील योगी स्वर्य्यन्तः अर्थात् सुखस्वरूप प्रभु को प्राप्त होते हुए इधर-उधर सांसारिक विषय भोगों की ओर दृष्टिपात नहीं करते और ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हुए एषणात्रय का परित्याग कर देते हैं। वे जरा-मृत्यु के निवर्तक मोक्षधाम में अधिरोहण कर जाते हैं।[21]

अक्षर-ब्रह्म के विषय में एक ऋचा की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए यास्क कहते हैं कि जिस परम सर्वोत्कृष्ट व्योमन् सर्वरक्षक अक्षर-शरीर आत्मा में ऋचः - मानव शरीर तथा विश्वेदेवा-सभी इन्द्रियाँ अधिष्ठित हैं, उस आत्मतत्त्व को जो मूर्ख नहीं जानता वह इस शरीर से क्या लाभ उठावेगा अर्थात् उसका तो मानव जीवन ही व्यर्थ गया। जो मनुष्य उस गुहानिहित आत्मा को जान लेते हैं वे इस जीवनमरण के चक्र से छूटकर मोक्षधाम-ब्रह्मलोक में स्थित होते हैं।[22]

निरूक्त के चतुर्दश अध्याय में सूर्य तथा अग्नि का तादात्म्यभाव प्रतिपादित करते हुए यास्क कहते हैं कि सूर्य जातमात्र अर्थात् उत्पन्न हुए सभी प्राणियों का सर्वकर्मसाक्षी तथा सबका आत्मा है; क्योंकि वह प्रत्येक प्राणी के कर्म का द्रष्टा है। इस महानात्मा को इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि आदि अनेक रूपों में कहा जाता है। यह सूर्य ही अग्नि रूप परमात्मा है। ऋक मन्त्र की व्याख्या करते हुए निरूक्त में उल्लेख किया गया है कि यह संसार भोक्ता एवं भोग्य रूप से द्विविध है। संसार में अग्नि भोक्तृ रूप से अवस्थित है; क्योंकि वही अन्नाद अन्नमत्तीति अन्नादः है। उस परमेश्वर रूप अग्नि ने अपने आपको त्रिधा-अग्नि वायु

और आदित्य-रूपों में विभक्त कर पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में अधिष्ठातृत्व को प्राप्त कर लिया।[24] वह अग्नि बोला–"मैं जातवेदा हूँ।[25] श्रवण मनन आदि साधनों के बिना स्वभाव से ही मैंने परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है। विश्व का प्रकाशक तत्त्व मेरा चक्षु है। जो कुछ दिव्यादिव्य विषयोपभोग रूप कर्म फल है वह मेरे मुख में है। इस प्रकार अपनी पृथिव्यधिष्ठहता कहकर वायु रूप से अन्तरिक्षाधिष्ठातृता स्पष्ट की–मैं अर्क जगत् की उत्पत्ति का कारण प्राण हूँ। स्वयं को त्रिविध रूप में विभक्त कर मैं वायु रूप से अन्तरिक्ष का अधिष्ठाता हूँ और कभी न क्षीण होने वाले प्रकाशक आदित्य रूप से द्युलोक में भी मैं ही अधिष्ठित हूँ। पुनश्च, भोग्यरूप संसार में जो हविर्भोग्य रूप अन्न है वह भी मैं ही हूँ। इस प्रकार अग्नि की सर्वात्मकता से परब्रह्मरूपता प्रतिपादित की गयी है।

उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद (1/164/31) मन्त्र[26] के भाष्य में यास्क अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक तथ्य प्रकाशित करते हैं–सारे संसार में वर्तमान महान आत्मा बारम्बार आवर्तमान भुवनों में स्थित सत्त्व लक्षण वाला है, वही परात्पर ब्रह्म है। वही सत्यस्वरूप–सलिल है। वह अव्यक्त, इन्द्रियातीत, अरूप, अरस, अगन्ध, अमृत शुक्लवर्ण है। सब भूतग्राम तन्निष्ठ हैं। वहीं क्षेत्र और वही क्षेत्रज्ञ है। यह महान् आत्मा सत्त्वरजस्तम रूप से त्रिविध होता है। सत्त्वविशुद्ध होता है। उसके चारों ओर रज और तम हैं। रजः रागात्मक सम्बन्ध है तथा तम–द्वेषात्मक सम्बन्ध है। जब वह अविज्ञात विभूति करने लगता है तब ये दोनों सम्बन्ध उसे क्षेत्रज्ञ से पृथक् कर देते हैं। यह महानात्मा प्रति-भाति लिङ्ग अर्थात् प्रतिभान ही है लिङ्ग जिसका है। यह प्रतिभाति लिङ्गत्व तमोलिङ्ग तथा विद्याप्रकाश लिङ्ग भेद से द्विविध है। इनमें भी तमोलिङ्ग निश्चयलिङ्ग आकाश है।[27]

इसके अनन्तर निरूक्त में जगत् के सृष्टि एवं प्रलय विधान का उल्लेख किया गया है। यास्क कहते हैं–आकाश का गुण शब्द है। स्पर्श के कारण वायु दो गुण–शब्द और स्पर्श युक्त है। वायु की अपेक्षा से अग्नि त्रिगुण है और रस से जल चतुर्गुणोपेत है। गन्ध युक्त होने के कारण पृथिवी पञ्चगुणा है। इससे स्थावर जङ्गमात्मक भूतों की सृष्टि होती है। ब्राह्ममान से (एक हजार युग के) एक दिन में वह जागता है और दिनान्त में वह सोना चाहता हुआ अङ्गों को समेट लेता है। उस समय पृथिवी जल में जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में प्रविलीन हो जाते हैं। आकाश मन में, मन विद्या में, विद्या महत् में, महत् प्रतिभा में और प्रतिभा प्रकृति में लीन हो जाते हैं। यह युगसहस्त्रपर्यन्त सोती है,

तो रात्रि होती है। ये अहोरात्र परिवर्तनशील है। यही काल है, यही दिन है।[28] ये अहोरात्र निरन्तर परस्पर एक दूसरे का अनुसरण करते हैं। मायोपलिप्त जीव मिथ्यादर्शन (भ्रम या अध्याय से) केकारण "मैं द्रष्टा हूँ, मैं स्रष्टा हूँ, मैं ही विभक्ता हूँ"–ऐसा समझने लगता है।[29] इसके पश्चात् यास्क ने प्राणियों की उत्पत्ति का विकास क्रम विशद रूप से प्रतिपादित किया है।[30]

प्राणियों के द्वारा क्रियमाण शुभाशुभकर्म एवं तज्जन्य फल भोग के लिये नानायोनियों में जन्म प्राप्त करने का सिद्धान्त भी यास्क को अभिमत है। उनके अनुसार अज्ञानान्धकार में निमग्न, जरा मृत्युक्षुत्पिपासा शोक तथा कामादिषड्विकारों से अभिभूयमान जीव बड़ी भूमिका की तरह निमिष मात्र में ही पार्थिव शरीर से निकलकर तैजस शरीर प्राप्त कर अपने कर्मानुरूप फल भोगकर कर्मक्षय होने पर पुनः इसी लोक में पहुँच जाता है।[31] उन्होंने जीव की कर्मानुरूप गति का विवेचन करते हुए कहा है कि जो हिंसा (यज्ञीयपशु बलि) का आश्रय लेकर विद्या को छोड़कर बड़ा तप-यागादि कर्म करते हैं, वे धूम में मिल जाते हैं। धूम से रात्रि में, रात्रि से कृष्ण पक्ष में, उससे दक्षिणायन में और फिर पितृलोक में पहुँच जाते हैं। यह पितृयाण है। पितृलोक से चन्द्रमा में और चन्द्र से वायु में, वायु से वर्षा और वर्षा से ओषधियों में पुण्यक्षीण होने पर पुनः इसी लोक में वापस आते हैं, परन्तु जो हिंसा विधि का परित्याग करके केवल विद्या का आश्रय लेकर महत्तप (ज्ञानादिसाधन) करते हैं, वे अर्चि में सम्प्रवेश कर जाते हैं। अर्चि से दिन में, दिन से शुक्लपक्ष में, उससे उत्तरायण और उससे देवलोक में प्रवेश कर लेते हैं। उस देवलोक से आदित्य में, आदित्य से सूर्य में, सूर्य से विद्युत् सम्बन्धी लोक में, विद्युत् से मानस लोक में और मानस पुरूष होकर ब्रह्म लोक में प्रवेश कर जाते हैं, उनका पुनरावर्तन नहीं होता। अतएव यही मार्ग ज्ञातव्य है।[32] निरूक्त के ही एकादश अध्याय में ऋग्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या में यास्क ने देवयान मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।[33]

यह उल्लेखनीय है कि यास्क के अनुसार अमर्त्य आत्मा (जीव) तथा मरणधर्मा भूतात्मक शरीर एवं मन सयोनिः अर्थात् समान स्थान में अवस्थित हैं। जहाँ जहाँ देह है, वहाँ वहाँ यह आत्मा भी है। अन्तमय शरीर से गृहीत यह जीवात्मा अशुभ कर्मों से अधोगति को तथा शुभकर्मो से ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है। ऊर्ध्वगति का अभिप्राय स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति से है। जीव तथा परमात्मा में तात्त्विक अभेद मानते हुए यास्क कहते हैं कि परमात्मा ही सूक्ष्म शरीरोपाधि को प्राप्त कर नानाविध शुभाशुभकर्मो को करके कर्मफल

भोग के लिए 'जीव' संज्ञा को प्राप्त करता है और शरीरत्रय (कारण सूक्ष्म, स्थूल शरीर) से बद्ध होकर लोक-लोकान्तर में संचरण करता है। वे दोनों भूतात्मा एवं कर्तात्मा–शश्वन्ता अभिन्न रूप से सदा साथ रहने वाले हैं, व्यापक हैं। उनमें से लोग अन्य अर्थात् भूतात्मा को भली भाँति देखते हैं; किन्तु देहादि व्यतिरिक्त आत्मा को नहीं देख पाते, क्योंकि आत्मज्ञान अति दुष्कर है।[34]

इसी प्रकार अन्यत्र एक स्थल (ऋग्वेद 10/82/7) पर[35] मन्त्र निर्वचन करते समय उल्लेख किया गया है कि जिस विश्वकर्मा ने इन सब भूतों को उत्पन्न किया है, उसे तुम नहीं जानते और जो हम अपने आप को परमात्मा कहते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि अहं प्रत्ययगम्य जीव और [illegible] में बहुत अन्तर है। नीहार अर्थात् अज्ञान से आवृत होने के कारण, असत्य भाषण एवं केवल उदरम्भरण करने के कारण विविध यज्ञों में उक्त–स्तुति वक्ता होने के कारण ऐहिक तथा आमुष्मिक विषय भोगों में आसक्त होने के कारण परमात्मा को पहचाना नहीं जा सकता।

मन्त्रनिर्वचन करने के पश्चात् निरूक्तकार ने अपना अभिमत व्यक्त किया है कि विद्वान् क्षेत्रज्ञ उसे तपस्या के द्वारा प्रमाद रहित होकर प्राप्त करते हैं। अतएव उससे सख्य भाव की इच्छा करनी चाहिए क्योंकि वह श्रेष्ठ सखा–भूत भविष्य तथा वर्तमान का ज्ञाता है। जब तत्त्वज्ञानी पुरूष का मन भूतेन्द्रिय ग्राम सहित शान्त हो जाता है तब वह स्थिरप्रज्ञ शान्त आत्मा ब्रह्म ही हो जाता है। वह ब्रह्मभूत साक्षी मात्र रूप में अवस्थित हो जाता है; क्योंकि तत्त्वज्ञान से उसका अविद्या कृत बन्ध समाप्त हो जाता है।[36]

अन्यत्र एक स्थल पर अज्ञान को ब्रह्मात्मैक्य बोध में बाधक स्वीकार करते हुए यास्क मन्त्र का निर्वचन इस प्रकार करते हैं–यद्यपि यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है, वह सब मैं ही हूँ। नाम, रूप अयथार्थ है उसको छोड़कर सर्वत्र व्याप्त सत् चित् आनन्द रूप जो तत्त्व है वह मैं ही हूँ– इस रहस्य को मैंने नहीं जाना। वैसे शास्त्र के अध्ययन से तो मैं यह जानता हूँ कि य सब कुछ मैं ही हूँ परन्तु मेरा यह ज्ञान विवेकजन्य नहीं है; क्योंकि मैं निष्यः अर्थात् मूढ़चेता हूँ। सन्नद्धः अविद्या और काम्यकर्मों की रज्जु से दृढ़ आबद्ध हूँ। मनसा भावनाविकल सम्मूढ चित्त से संसार में विचरण करता हूँ। इन्द्रियों के अधीन होकर क्लेश भागी हूँ। जब मुझे ऋतस्य–सत्य स्वरूप परमात्मा का प्रथमजः–प्रथमोत्पन्न अनुभव (ज्ञान) होगा तदनन्तर मैं जीव ब्रह्मैक्य प्रतिपादक उपनिषद् वाणी के भाग–भजनीय को शब्द ब्रह्म (प्रणव) से व्याप्तकर पर ब्रह्म पद को प्राप्त होऊंगा।[37]

जीव तथा साक्षी भूत परमात्मा के परस्पर सम्बन्ध को पक्षिदृष्टान्त के माध्यम से अभिव्यक्त करने वाली एक ऋचा की व्याख्या करते हुए यास्क कहते हैं कि एक ही देह रूपी वृक्ष पर दो सुपर्ण स्थानीय क्षेत्रज्ञ परमात्मा सयुजा–समान योग वाले अर्थात् तादात्म्य भावापन्न होकर सखा–समान ख्यान अर्थात् एक रूप में प्रकाशित होकर स्थित है। उनमें से एक (जीव) कर्मफल का (कर्त्ता होने के कारण) भोक्ता है; क्योंकि जिसने जो अर्जित किया है उसके लिये वही स्वादु है। दूसरा परमात्मा आप्तकाम होने के कारण न भोक्ता हुआ सबको साक्षी बन कर देखता रहता है।[38] यास्क के अनुसार जो विद्वान् इसको जान लेता है। वह भोग न करता हुआ सबकुछ देखता है। यह आत्मगति है।[39]

इसी परिप्रेक्ष्य में हंसवती की व्याख्या अवश्य ही व्याख्येय है। मन्त्र का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि हंस–सवंत्र गतिमान्, दीप्त द्युलोक में विराजमान आदित्य ही वसु अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् को वासित करने वाला है। अन्तरिक्ष–मध्यस्थान में वहीं वायु है और वही होता–देवों को बुलाने वाला वेदिषत् वेदी में विराजमान गार्हपत्य अग्नि है। वही अतिथि के समान पूज्य है, वही दुरोणसत–गृहों में पाकादि साधन बना हुआ है। वही वह नृषत् –मनुष्यों में चेतन रूप में विराजमान है। वही आदित्य वरसत् –धरों में रहने वाला है, वह ऋत सत् –ब्रह्म यज्ञ में निवास करता है, वही व्योमसत् वायुरूप से व्यापक है। वह अब्जाः जलों में उत्पन्न, गोजाः रश्मियों में उत्पन्न, ऋतजाः सत्य जात और वही अद्रिजाः उदयाचल में दृष्टिगोचर होता है। वहीं ऋतम्– अबाध रूप से सर्वाधिष्ठातृ ब्रह्मतत्त्व है। इस मन्त्र की व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदित्य में वर्तमान हिरण्मय पुरूष ही समस्त जीवों के चित्त में प्रतिबिम्ब रूप स्थित परमात्मा तथा समस्त उपाधियों से रहित परब्रह्म एक ही है।[40]

परब्रह्म के अधिगम में अक्षर ब्रह्म का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए यास्क कहते हैं– हम मेधावी उस विप्रदेव मेधावी देव को हवियों द्वारा तृप्त करने के लिए बुलाते हैं; क्योंकि वह वेदितव्य है। निर्मल शरीर (अन्तःकरण) वाले मनुष्य हृदयकमल कोश में स्थित अकार सहित उकार को भरें और मकार निलय में जाकर व्यापक प्राणों में बिन्दु रूप से रिक्त अर्थात् विकसित अग्नि के तेज के समान प्रभायुक्त स्वर्णकमलों में अमृतशरीर होकर अमृत में उत्पन्न और स्थित परब्रह्म को अमृतवाणी अर्थात् ओङ्कार के द्वारा अमृतमुख में उच्चरित करते हैं।[41]

यास्क के मत में तत्त्वज्ञान से मनुष्य निष्पाप हो जाता है। इस प्रसंग में एक ऋचा का निर्वचन उल्लेखनीय है। यास्क कहते हैं यह आत्मज्ञान रूपी नदी का जल अन्य जलों (ज्ञानों) के समान नहीं अर्थात् उससे विलक्षण है। इसमें 'सशिरस्कमभ्युपेत्य' अर्थात् शिरसा अवगाहन कर मनुष्य तत्क्षण पाप को त्याग देता है जैसे कि सर्प जीर्ण त्वचा (केंचुल) को छोड़ देता है। कहने का अभिप्राय यह है वह मनुष्य ज्ञाननिर्धूतकल्मष हो जाता है और अमृतगति को प्राप्त हो जाता है। यह अमृत पद ही मनुष्यों को परम अभीष्ट है। यही कारण है कि ऋषि त्र्यम्बक रुद्र की स्तुति करते हुए बन्धन कारक मृत्यु के पाश से छूटने की तथा अमृत–मोक्ष पद से विच्युत न होने की याचना करता है।[42]

उपर्युक्त विवरण के आलोक में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महर्षि यास्क का दार्शनिक चिन्तन एक मात्र अद्वैत तत्त्व की प्रतिपत्ति में समाहित है। जगत् के मूल में एक ही अद्वितीय सत् ब्रह्म विद्यमान है। उसने ही नाम रूपात्मक जड-जङ्गमात्मक जगत् की उत्पत्ति की है और उसमें जीव भाव से अनुप्रविष्ट हो सत्तात्मक रूप में अवस्थित है। जीव तथा परमात्मा में तात्त्विक होने पर भी अज्ञानावरण के कारण ब्रह्मात्मैक्य बोध नहीं हो पाता। अविद्यामूलक शुभाशुभ कर्म तथा तज्जन्य फलभोग की निवृत्ति केवल तत्त्वज्ञान से ही हो सकती है, तत्पश्चात् मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार यास्क का अद्वयात्म चिन्तन अद्वैतवाद की ओर पर्यवसित दृष्टिगोचर होता है। महर्षि यास्क का समय पाणिनि से भी पूर्ववर्ती है। उनके द्वारा वेदमन्त्रों का अद्वैत तत्त्व की प्रतिपत्ति में तात्पर्य निश्चय करना अवश्य ही अद्वैतवेदान्त दर्शन की प्रतिष्ठा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है। "तिलेषु तैलवद् वेदेषु वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः" का श्रुति प्रामाण्य यास्क कृत मन्त्रों के निर्वचन के आलोक में स्फुट रूप से प्रकाशित प्रतीत होता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
   ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
   शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
   तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।। पाणिनीय शिक्षा
2. तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवी स्थानः वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।। निरुक्त 7/2

3. निरुक्त 7/1 तथा निरुक्त 7/2
तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। द्रष्टव्य सृ.1/164/46

4. ऋग्वेद 3/53/8 तथा 'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते' ऋ.6/47/18

5. तासां माहाभाग्यादेकैकस्य अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।
अपि वा कर्म पृथक्त्वात्। यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः। नि.7/2

6. 'अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः। 'प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च।'नि.7/1

7. द्रष्टव्य नि.7/1

8. द्रष्टव्य नि.7/1

9. आत्मैवेषां रक्षो भवति। आत्माश्वः। आत्मायुधम्। आत्मेषवः। आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य। नि.7/1

10. ऋग्वेद 10/82/2 नि.10/3/16

11. निरुक्त 10/3/16 भाष्य - अधाध्याताम् - विश्वकर्मा विधूतमना ...... इन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ती त्यात्मगतिम्।

12. निरुक्त 10/3/16 के भाष्य पर दुर्गाचार्य की टीका द्रष्टव्य

13. छान्दोग्य उपनिषद्

14. द्रष्टव्य नि.12/3/19 भाष्यपर दुर्गाचार्य की टीका

15. द्रष्टव्य नि.12/3/9 पर दुर्गाचार्य की टीका

16. द्रष्टव्य ऋ.1/15/2 तथा यजु.7/42 पर निरुक्त 12/3/10
"चायनीयं देवानामुदगादनीकं स्थानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चापूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन, तेन सूर्य आत्मा जङ्गस्य स्थावरस्य च।" निरुक्त 12/3/10 भाष्य

17. यजु. 34/55 पर निरुक्तभाष्य-अयाध्यात्मम् - सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि........प्राज्ञश्चात्मातैजसश्चेत्यात्मगतिमाचष्टे।" भाष्य पर दुर्गाचार्य की टीका द्रष्टव्य स्वप्नभोक्तुः स्वप्नः यां भावनामुत्पादयति तत्र जाग्रतः शरीरपालनार्थं प्राज्ञश्चात्मा परमात्मा चिन्मात्रेण यः शरीरं व्याप्य वर्तते, तैजसश्च प्राणोऽन्नं पचन् व्यूहश्च रसान्तर्भूतं तेजोवायुवृत्तिः। नि.2/4/25

18. निरुक्त 12/4/25 पर दुर्गाचार्य की टीका-'तिर्यक् छिद्रमिदमेव शिरः चमसः।' यतोऽनेन रसाः चम्यन्ते यस्मादस्य शरीरस्य उपरि स्थितमस्य बन्धनं तस्मादूर्ध्वबन्धनः। यस्मिन् यशो विश्वरूपं रसाख्यं ज्ञानाख्यं वा भृतम्। तस्य चमसः ये विधातारः तद्द्वारेण अस्य

शरीरस्यगोप्तारः तत्रैव चमसान्तरमनुप्रविष्टाः साकम् - सह तदृ यशः उपजीवन्त आसते।

19. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।। ऋ.1/164/50 तथा निरुक्तभाष्य 12/4/28 पर दुर्गाचार्य की टीका द्रष्टव्य।

20. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।। ऋ.4/58/3

21. निरुक्त 13/9 में

स्वर्प्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।

यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे।। अथर्व.4/14/4

पर निक्तभाष्य–"स्वर्गच्छन्तः ईजाना नेक्षन्ते, तेऽमेवे लोकं गतवन्त इच्छन्त इति वा। आ द्यां रोहन्ति रोदसी, यज्ञं ये विश्वतो धारं सर्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे।।"

द्रष्टव्य दुर्गाचार्य की व्याख्या–ये सुविद्वांसः विश्वतोधारं सर्वतोधारं यज्ञं वितेनिरे कुर्वन्त आसते ते स्वर्य्यन्तः परमधामगच्छक्तः न अपेक्षन्ते सांसारिकान् भोगान् इति शेषः। द्यां रोदसीं जरामरणरहितं मोक्षधाम आरोहन्ति।

22. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।। ऋ.1/164/39

23. "सूर्य आत्मेत्युदितस्य हि कर्मद्रष्टाऽथैतदनु प्रवदन्त्यथैतं महान्तमात्मानमेषर्गणः प्रवदन्तीन्द्र मित्रम् वरुणमग्निमाहु.......जन्मना जातवेदा अहमस्मि प्रथमजा।

24. द्रष्टव्य निरुक्त 14/9 भाष्य पर दुर्गाचार्य की टीका

25. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा........अहमन्नमन्नमदन्तमघ्मि। ऋ.3/27/7,8

पर निरुक्तभाष्य पर दुर्गाचार्य की टीका द्रष्टव्य

26. अपश्यं गोपामनिपद्यमान मा च परा च पथिमिश्चरन्तम्।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः।। ऋ.1/164/31

27. द्रष्टव्यनिरुक्त 1413 भाष्य

आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तरित्यथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणस्तत्परं तद् ब्रह्म तत् सत्यं तत् सलिलं तदव्यक्तं तदस्पर्शं तदरूप तदरसं तदगन्धं तदमृतं तच्छुक्लं तन्निष्ठो भूतात्मा सैषा भूतप्रकृतिरित्येके। तत् क्षेत्रं तज्ज्ञानात् क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मकमथैष महानात्मा त्रिविधो भवति सत्त्वं रजस्तम इति .... निश्चयलिङ्ग आकाशः।

****

28. आकाशगुण शब्दः। .... स कालस्तदेतदहर्भवति।

युगसहस्रपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणोविन्दुः।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।। निरुक्त 14/4

29. तं परिवर्तमानोऽन्योऽनुप्रवर्तते स्रष्टा द्रष्टा विभक्तातिमात्रो अहमिति गम्यते स मिथ्यादर्शनेन . . . . . द्रष्टव्य निरुक्त भाष्य 14/5

30. द्रष्टव्य निरुक्त 14/5, 6 भाष्य तथा दुर्गाचार्य की टीका

31. द्रष्टव्य निरुक्त 14/7-8 भाष्य

32. द्रष्टव्य निरुक्त 14/9 भाष्य

33. परं मृत्यो अनुपरेहि पन्था। यस्ते स्व इतरो देवयानात्।

चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाःरीरिषो मोत वीरान्।। ऋ.10/18/1

पर निरक्तभाष्य 11/1/5

34. अपाङ्प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना समोनिः।

ता शश्वन्ता विषूचीनां वियन्ता न्यन्यश्चिक्युर्नं निश्चिक्युरन्यम्।। ऋ.1/164/38

तथा निरुक्तभाष्य 14/23 पर दुर्गाचार्य की टीका द्रष्टव्य

35. न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।

नीहारेण प्रावृता जल्पया चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।। ऋ.10/82/7

36. द्रष्टव्य ऋ. .... निरुक्तभाष्य 14/10

"विद्वांसः क्षेत्रज्ञोऽनुकल्पते, तस्य तपसा सहाप्रमादमेत्यथाप्तव्योभवति। तेनासन्ततमिच्छेत्तेन सख्यमिच्छेदेष हि सखा श्रेष्ठः सञ्जानाति भूतं भवद् भविष्यदिति ज्ञात। कस्माज् ज्ञायतेः सखा कस्मात् सख्यतेः। सहभूतेन्द्रियैः शेरते महाभूतानि सेन्द्रियाणि, प्रज्ञया कर्म कारयति वा तस्य यदा यः प्रतिष्ठा शीलममुपशम आत्मा ब्रह्मेति स ब्रह्मभूतो भवति साक्षि मात्रो व्यवतिष्ठतेऽबन्धो ज्ञानकृतः।" निरुक्तभाष्य 14/10

37. न विजानामि यदि वेदमस्मि निष्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।

यदा मागन् प्रथमजा ऋत स्यादिवाचो अश्नुवे भागमस्याः।। ऋ.1/164/37

तथा निरुक्तभाष्य 14/22 पर दुर्गाचार्य की टीका।

द्रष्टव्य–शब्दब्रह्मणि निष्णातः पर ब्रह्माधिगच्छति। ब्रह्मविन्दूपनिषद्

38. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनशनन्नन्योऽभिचाकशीति। निरुक्त 14/30

"द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ दुष्कृतं पापं परिसारकमित्याचक्षते। सुपर्णां सयुजा सखायेत्यात्मानं दुरात्मानं परमात्मानं प्रत्युत्तिष्ठति शरीर एव तज्जायते। वृक्षं रक्ष शरीरवृक्षं पक्षौ प्रतिष्ठापयति। तयोरन्यद् भुक्त्वान्नमनश्नन्नान्यां सरूपतां सलोकतामश्नुते य एवं विद्वानश्नन्नान्यो अभिचकशीति।।" निरुक्त 14/30

39. हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्होता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसऽब्जागोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्।। ऋ.4/40/5

40. निरुक्तभाष्य 14/29 द्रष्टव्य दुर्गाचार्य की व्याख्या।

41. द्रष्टव्य ऋग्वेद 4/11/6 पर निरुक्तभाष्य 14/32

"विप्रं विप्रासोऽवसे विदुर्वेद विन्दतेर्वेदितव्यं विमलशरीरेण वायुना विप्रस्तु हृत्पद्मनिलय स्थितमकारसहितमुकारं पूरयेन्मकारनिलयं गतं विप्रं प्राणेषु विन्दुसिक्तं विकसितं वह्नितेजः प्रभं कनकपद्मेष्वमृतशरीरममृतजातस्थितममृतवाचामृतमुखे वदन्ति।। अग्निं गीभिर्हवामहे।।"

42. इदं तेऽन्याभिरसमानमद्भिर्याः काश्च सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः।
सर्पो जीर्णामिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कोऽभ्युपेत्य।।
ऋग्वेद के मन्त्र पर निरुक्तभाष्य 14/34 द्रष्टव्य

"इदं तेऽन्याभिरसमानमद्भिर्याः काश्च सिन्धुं पतिं कृत्वा नद्यो वहन्ति। सर्पो जीर्णामिव सर्पस्त्वचं त्यजतिं पापं त्यजति, आप आप्नोतेः।"

43. "त्र्यम्बको रुद्रस्तं त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं सगन्धिं सुष्ठु गन्धिं पुष्टिकारकमिवोर्वारुकमिव फलं बन्धनादारोधान्मृत्यो सकाशान्मुञ्चस्व माम्।। निरुक्त 14/35

प्रो. उमारानी त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृतविभाग
म.गां.काशीविद्यापीठ,
वाराणसी।



मुनिश्रीनियमसागर विरचित 'विद्याष्टकम्' काव्य की काव्यशास्त्रीय समीक्षा

डॉ. किरण टण्डन

विद्या की दृष्टि से काव्य के सर्वप्रथम दो भेद हैं–दृश्यकाव्य एवं श्रव्यकाव्य। श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत वे काव्य आते हैं, जिन्हें केवल सुना अथवा पढ़ा जाता है। श्रव्यकाव्य के भी तीन प्रमुख भेद हैं–पद्यकाव्य, गद्यकाव्य एवं गद्यपद्यात्मक काव्य। इनमें से पद्यकाव्य के भी दो प्रमुख भेद हैं–महाकाव्य एवं खण्डकाव्य। खण्डकाव्य की अत्यन्त प्रचलित विधा है–स्तोत्रकाव्य, जिसका अर्थ है, ऐसा काव्य, जिसमें भक्तकवि अपनी कविता के माध्यम से अपने आराध्य की स्तुति करता है–

स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः। (अमरकोश 1/6/11)

अग्निपुराणकार ने प्रशस्ति को उभयालङ्कार की कोटि में मानते हुए उसका लक्षण दिया है–

प्रशस्तिः पखन्मर्मद्रवीकरणकर्मणः।

वाचोयुक्तिर्द्विधा सा च प्रेमोक्तिस्तुतिभेदतः।

प्रेमोक्तिस्तुतिपर्यायौ प्रियोक्ति गुणकीर्त्तने॥ (अग्निपुराण, 345/3-4)

भक्त अपने आराध्य के प्रति प्रेमयुक्त वचन कहता है, अथवा उसकी प्रशंसा करता है। अतएव अग्निपुराणकार के उपर्युक्त वचन भी स्तोत्रकाव्य के लक्षण का बीज माने जा सकते हैं। स्तोत्रकाव्य का लक्षण चाहे जो हो, काव्य की यह विधा हमारे संस्कृत साहित्य की अनुपम एवं सहृदयहृदयस्पर्शी विधा है।

हमारी भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ हैं–आस्तिकता, देवतावाद, आध्यात्मिकता,

महान् व्यक्तियों के प्रति आदर आदि। इन सभी विशेषताओं का मूर्त्तरूप हमें भारत के स्तोत्रकाव्यों में देखने को मिलता है। स्तोत्रकाव्य की प्रशंसनीय परम्परा हमारे यहाँ वैदिक साहित्य से प्रारम्भ हुई है। वेदों में इन्द्र, अग्नि, विष्णु, वरूण, मरुद्गण, सूर्य, उषा, पृथिवी, पर्जन्य, नदी, द्यौ, अन्तरिक्ष, प्रजापति आदि को देवता मानकर उनकी प्रशंसा में सूक्त गाये गए है और उनसे अपने कल्याण की कामना की गई है। इसके पश्चात् लौकिक संस्कृत साहित्य एवं हिन्दी साहित्य में भी स्तोत्रकाव्यों की रचना निरन्तर होती रही है और आज भी हो रही है। भक्त कवियों की सर्जनशीलता के फलस्वरूप ही, देवीभूषण, दुर्गासप्तशती, सौन्दर्यलहरी, अमृतलहरी, लक्ष्मीलहरी, स्तोत्ररत्नावली, स्तोत्ररत्नाकर, भक्तामरस्तोत्र आदि स्तोत्रकाव्य– कृतियाँ तथा स्तोत्रसंग्रह देखने को मिलते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, नरसिंह मेहता आदि भक्तकवियों की वाणी भी स्तोत्रकाव्य के रूप में मान्य हैं तथा काव्य के प्रमुखप्रयोजन 'अनिष्टनिवारण' ('शिवेतरक्षतये' काव्यप्रकाश, 1/2) की सिद्धि का साधन भी हैं। यह हमारे लिए बड़े हर्ष एवं गौरव का विषय है कि जैन भक्तकवियों ने भी स्तोत्रकाव्य की इस परम्परा को बढ़ाने में सहयोग दिया है। यथा स्वामी समन्तभद्र प्रणीत स्तुतिविद्या या जिनशतक, आचार्य मुनि श्री ज्ञानसागर प्रणीत भक्तिसंग्रह आदि।

इस दृष्टि से जब हम आधुनिक जैन विद्वान् और भक्तकवि मुनिश्री नियमसागर जी प्रणीत 'विद्याष्टकम्' का अनुशीलन करते हैं, तो पाते हैं कि यह भी संस्कृत खण्डकाव्य के 'स्तोत्रकाव्य' नामक भेद के अन्तर्गत आ जाता है। यह 'विद्याष्टकम्' अपने नामकरण की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के प्रख्यात भक्त कवि तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत ही विद्यमान 'रुद्राष्टकम्' नामक शिवस्तुति के समकक्ष ठहरता है तो भाषा शैली की दृष्टि से जैन भक्तकवि आचार्य स्वामी समन्तभद्र के 'स्तुतिविद्या' नामक स्तोत्रकाव्य से प्रेरित होकर लिखा गया है। इस ग्रन्थरन्त में विद्वान् कवि नियमसागर ने अपने गुरू आचार्य विद्यासागर जी की प्रशंसापरक स्तुति आठ श्लोकों में प्रस्तुत की है, उन्होंने ये आठों श्लोक अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध किये हैं; इसके अतिरिक्त उपसंहारात्मक दो और भी श्लोक अनुष्टुप् छन्द में प्रस्तुत किये हैं; इसके बाद स्वरचित 'रत्नत्रयस्तुतिशतकम्' नामक काव्य के 102 पद्य को संस्कृत एवं हिन्दी टीका सहित प्रस्तुत किया है, जो इस अनुपम कृति की सर्जना का बीज है–

वा रा धा रर! धारा वा – राक्षलाक्ष! क्षलाक्ष राः।

धालाः! य! नो नोऽय ला धा रक्ष नोऽज्ञज्ञ! नोऽक्षर॥ (रत्नत्रयस्तुतिशतकम्, सं.102)

इसके पश्चात् 'विद्याष्टकम्' की संस्कृत एवं हिन्दी टीका लिखने के पूर्व शार्दूलविक्रीडित छन्द में मङ्गलाचरणात्मक श्लोक लिखकर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के आदि मंगल की परम्परा को अपनाया है–

विद्यासागरविश्ववन्द्यश्रमणं चित्राष्टकैः संस्तुवे

सर्वोच्चं यमिनं विनम्य परमं सर्वार्थसिद्धिप्रदम्।

ज्ञानध्यानतपोऽभिरक्तमुनिपं विश्वस्य विश्वाश्रयम्

साकारं श्रमणं विशाल-हृदयं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'॥

'विद्याष्टकम्' के साथ ही कवि ने 'प्रशस्तिपर्व' नामक स्तुतिकाव्य को भी सत्रह श्लोकों में प्रस्तुत किया है। इसका पहला पद्य कन्नड़ भाषा में दूसरा पद्य हिन्दी भाषा, तीसरे से चौदहवें पद्य तक-बारह पद्य संस्कृत भाषा में अनुष्टुप् छन्द में, पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ-दो पद्य संस्कृत भाषा में आर्या छन्द में और अन्तिम सत्रहवाँ पद्य प्राकृत भाषा में गाथा छन्द में निबद्ध है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की संस्कृत टीका, हिन्दी टीका, हिन्दी अनुवाद, चित्रबन्धों को पढ़ने की विधि, कवि श्री नियमसागर जी ने स्वयं ही प्रस्तुत करके सहृदय पाठकों का उपकार किया है।

यहाँ तक कि चित्रबन्ध एवं अन्य चित्र भी नियमसागर जी द्वारा बनाए गए हैं। ग्रन्थ के अन्त में जैन–धर्म–दर्शन से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्द एवं उनका अर्थ देकर तथा दिगम्बर मुनि और उनके आचरण पर प्रकाश डालकर ग्रन्थ को परमोपयोगी बना दिया है।

यह तथ्य ऊपर आ चुका है कि इस कृति में नियमसागर जी ने अपने गुरु आचार्य श्रीविद्यासागर जी को काव्यनायक पद पर प्रतिष्ठित करके, उनके प्रति अपनी अनुपम भक्तिभावना का प्रदर्शन किया है। हमारे भारतीय काव्यशास्त्रियों ने देवविषयक एवं गुरूविषयक भक्ति को भावपक्ष के भावकाव्य नामक द्वितीय भेद के अन्तर्गत रखा है–

(क) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।

भावः प्रोक्तः। –मम्मट, काव्यप्रकाश, 4/35, 36 का प्रथम चरण का अंश।

(ख) सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।

उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥

विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 3/260-261

किन्तु बाद में श्रीकृष्ण को अपना आराध्य मानने वाले लोगों ने भक्तिभाव को परिपुष्ट स्थायी भाव अर्थात् रसरूप में प्रतिष्ठित करने का भी बीड़ा उठाया। मेरे विचार से, भक्ति को रस मानने की प्रेरणा, उन्हें अवश्य ही काव्यादर्श की निम्न उक्ति से मिली होगी–

भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः। तथा

प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः श्रृंगारतां गता। काव्यादर्श, 2/277, 281

भक्ति को रस मानने वाले प्रतिनिधि आचार्य हैं–रूपगोस्वामी। उन्होंने अपने उद्देश्य की सिद्धि करने के लिए 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धुः' नामक अद्भुत ग्रन्थरत्न कर निर्माण किया। उन्होंने भक्ति के विषय में कहा है–

(क) **ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।**
नेति भक्तिः सुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।।

भक्तिरसामृतसिन्धुः, पूर्वविभागे प्रथमा सामान्य भक्तिलहरी।

(ख) **यथा दध्यादिकं द्रव्यं शर्करामरिचादिभिः।**
संयोजनविशेषेण रसालाख्यो रसो भवेत्।।
तदत्र सर्वथा साक्षात् कृष्णाद्यनुभवाद्भुतः।
प्रौढानन्दचमत्कारो भक्तैः कोऽप्यनुरस्यते।। वही, 2/5/64-65

इस प्रकार रूपगोस्वामी के मतानुसार भक्तिरस भी अन्य रसों की भाँति प्रपाणकरसन्यायानुसार तैयार होकर भक्तों के द्वारा आस्वादन किया जाता है।

वास्तव में तो भगवच्चरणों में अपना सम्पूर्ण अस्तित्व समर्पित करने वाले भक्त को इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि साहित्यशास्त्रीय समालोचक उसकी कृति में अभिव्यक्त आत्मतत्त्व को भक्तिभाव कहे अथवा रस माने। इस सन्दर्भ में आचार्य विश्वनाथ का यह कथन बड़ा ही सुन्दर एवं सारगर्भित है–

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।

परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः।। साहित्यदर्पण, 3/260-61 के अन्तर्गत।

भक्तिरस अथवा भक्तिभावविषयक चर्चा के आलोक में हम 'विद्याष्टकम्' को मुनिश्रीनियमसागर द्वारा अपने गुरू आचार्य विद्यासागर के चरणों में समर्पित भक्तिरस का अष्टदल कमल मान सकते हैं। भक्तिरस के अतिरिक्त इस कृति में शान्तरस की भी चर्वणा स्थान–स्थान पर देखने को मिलती है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने व्यङ्ग्यार्थ प्रकाशन के आधार पर ही काव्य के तीन भेद किये हैं–उत्तमकाव्य (ध्वनिकाव्य), मध्यमकाव्य (गुणीभूतव्यङ्ग काव्य) तथा अधमकाव्य (व्यङ्गय रहित चित्रकाव्य)

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।

उभे काव्ये ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते।।

चित्रं शब्दार्थभेदेन, द्विविधं च व्यवस्थितम्।

तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं, वाच्यचित्रमतः परम्।।

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।

अलङ्कारनिबन्धो यः, स चित्रविषयो मतः।। आनन्दवर्धन,ध्वन्यालोक,3/42-43

चित्रकाव्य के विषय में अन्य विद्वानों के मत अधोलिखित हैं–

(क) शब्दार्थालङ्क्रियाश्चित्र मार्गाः सुकरदुष्कराः। दण्डी, काव्यादर्श, 3/186

(ख) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।

शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम्।

गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः।। मम्मट, काव्यप्र.,1/5; 6/1

(ग) चित्रं नीरसमेवाहुर्भगवद्विषयं यदि।

तदा किञ्चिच्च रसवद्यथेक्षेः पर्वचर्वणम्।।

कविकर्णपूर,अलङ्कारकौस्तुभ 7/214

(घ) यदव्यङ्ग्यमपि चारुतच्चित्रम्। अप्पयदीक्षित, चित्रमीमांसा

(ङ)चित्रं तु काव्यं शब्दार्थालङ्कारचित्रतया बहुविधम्।

तत्प्रपञ्चोऽप्यलङ्कार प्रकरणे व्यक्तीभविष्यति।

विद्यानाथ, प्रतापरूद्रीय, 2/68 के पहले।

उपर्युक्त कथनों का सारांश यही है कि उत्तमकाव्य में व्यङ्ग्यार्थ की स्फुट प्रतीति होती है और अलङ्कार की अस्फुट प्रतीति होती है, जबकि अधमकाव्य या चित्रकाव्य में अलङ्कारों की स्फुट प्रतीति होती है, तथा रसादि की अस्फुट प्रतीति होती है। जिस प्रकार उत्तम काव्य में अलङ्कारों की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार चित्रकाव्य में रसभावादि की सम्भावना से भी मुँह नहीं मोड़ा जा सकता – **अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः, रसस्य च प्राधन्यान्नालङ्कारता। चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्। अव्यङ्गच-मिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्।** मम्मट, काव्य प्रकाश, प्रथम उल्लास।

चित्रकाव्य के सम्बन्ध में भारतीय काव्य शास्त्रियों के उपर्युक्त मन्तव्य के आलोक में 'विद्याष्टकम्' का परीक्षण करने के पश्चात् कहा जा सकता है कि यह एक श्रेष्ठ चित्रकाव्य है। कवि कर्णपूर ने ऐसे चित्रकाव्य की प्रशंसा की है, जो भगवद् गुरु–विषयक रति (रूप भक्ति) से सम्पन्न हो (अलङ्कारकौस्तुभ, 7/214), जबकि अवशिष्ट काव्य नीरस हैं। चूँकि 'विद्याष्टकम्' में शब्दचित्र का प्रधानता है, इसलिए इसे चित्रकाव्य के प्रथमभेद शब्दचित्रकाव्य के अन्तर्गत मानना चाहिए। 'विद्याष्टकम्' के सम्पादक, संस्कृत–भाषा–साहित्य के सहृदय विद्वान् कवि प्रो. डॉ. प्रभाकर नारायण कवठेकर ने भी इसे चित्रकाव्य की कोटि में रखा है (विद्याष्टकम्, सम्पादकीय, पृ.सं.12-17)। जैन संस्कृत विद्वान् कवियों में स्वामी समन्तभद्र का 'जिनशतक' (स्तुतिविद्या) संस्कृत–चित्रकाव्यों की परम्परा ओर अर्थचित्र–चित्रकाव्य के इन दोनों भेदों–के अनेक उदाहरण संस्कृत साहित्य में देखने को मिल जाते हैं। यथा–महाकवि भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' महाकवि माघकृत–शिशुपालवधम्, श्रीहर्षप्रणीत–'नैषधीयचरितम्, नीतिवर्माप्रणीत–कीचकवधम्, श्रीवत्साङ्कचरित-यमकरत्नाकर आदि। इन कृतियों में यमक, अनुप्रास, श्लेष, एकाक्षरबन्ध, द्वचक्षरबन्ध, चक्रबन्ध आदि शब्दार्थचित्रों का चमत्कार स्थान–स्थान पर देखने को मिलता है। 'राघवपाण्डवीयम्' अर्थचित्र का सुन्दर उदाहरण है। आचार्य नियमसागर के गुरू आचार्य विद्यासागर जी के गुरू पूज्य श्री आचार्य ज्ञानसागर ने भी अपने संस्कृत काव्यग्रन्थों में शब्दचित्रों के उदाहरण अनुप्रास अन्त्याप्रास, यमक, श्लेष, चित्रबन्धों के माध्यम से प्रस्तुत किये हैं (1)। चित्रकाव्य की इस परम्परा में 'विद्याष्टकम्' लिखकर श्री

नियमसागर जी ने अद्भुत योगदान दिया है। इस काव्य की रचना उन्होंने अपने ग्रन्थ 'रत्नत्रयस्तुतिशतक' नामक ग्रन्थ के एक ही श्लोक (सं.102) के आधार पर की है।

अब यदि हम इस कृति को कलापक्ष की दृष्टि से देखें तो हम पाएँगे कि कवि ने इसमें श्लेषानुप्राणित चित्रालंकार के माध्यम से अपनी कलाकुशलता का सुन्दर प्रदर्शन किया है। चित्रालङ्कार भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित काव्यभेद चित्रकाव्य का ही एक प्रकार है। काव्यशास्त्रियों ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है–

(क) वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रं शब्दस्यालङ्कारा:।

रुद्रट, काव्यालङ्कार, 2/13

(ख) भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिर्मितानि वस्तुरूपाणि।

साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्।।

तच्चक्रखड्गमुसलैर्वाणासनशक्तिशूलहलै:।

चतुरङ्गपीठविरचितरथतुरगगजादिपदपाठै:।। वहीं, 5/1, 33

(ग) तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता।

सन्निवेशविशेषेण टात्र न्यस्ता वर्णा: खड्ग-मुरज-

पद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रं काव्यम्। कष्टं काव्य–

मेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते। मम्मट, काव्यप्रकाश, 9/85 और व्याख्या

अत: स्थूलबुद्धिलालनीयत्वाद् वाचकशब्दबहिर्भावाच्च नात्र कविभिरादर: कार्य इति मन्तव्यम्।

आरोप्य लिपिवर्णानां साम्याद् वाचकवर्णताम्।

खड्गबन्धादिकं चित्रं काव्यालङ्कार इष्यते।।

(1) द्रष्टव्य, प्रस्तुत लेख की लेखिका का ग्रन्थ 'महाकवि ज्ञानसागर के काव्य एक अध्ययन'। काव्यप्रकाश की संजीवनी टीका पृ.सं. 38-39

(ङ)वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान् प्रतीह यः।

नियमस्तद् बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते।। भोज, सरस्वतीकण्ठा.2/109

(च)वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्। रूय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ.सं. 30

(छ) स्वरव्यञ्जन – स्थानगव्याकार नियमच्युतगूढादिचित्रम्।

हेमचन्द्र, काव्यानुशासन 5/4

(ज)पद्मादिलिपिवर्णवच्चित्रम्।

शोभाकर मित्र, अलङ्काररत्नाकर

(झ)पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते। विश्वनाथ,साहित्यदर्पण10/13का पू.

(ञ) पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते। विद्यानाथ,प्रतापरुद्रीय7/409-413

उपर्युक्त लक्षणों का सारांश इस प्रकार है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों के मतानुसार चित्रालङ्कार शब्दालङ्कार है। लिपि के वैशिष्ट्य से जहाँ वर्णो से अस्त्र–शस्त्र, आभूषणादि के चित्र बन जाते हैं, वहाँ चित्रालङ्कार होता है। वर्ण, स्थान, स्वर, आकार, गति और बन्ध की दृष्टि से यह छः प्रकार का है। इस प्रकार यह अलङ्कार लिपिगत होते हुए भी, शब्द और लिपि का तादात्म्य सम्बन्ध होने से शब्दालङ्कार की कोटि में निर्विवादरूपेण आ जाता हैं। इसके साथ ही ध्वनिवादी आचार्यों ने इसको बहुत पसन्द न करते हुए भी इसका अस्तित्व स्वीकार किया है।

विद्वत्सम्मत इस चित्रालङ्कार की दृष्टि से जब हम 'विद्याष्टकम्' की परीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि कवि मुनिश्री नियमसागर ने मात्र आठ व्यञ्जन एवं तीन स्वरों में इस अनुपम कृति की रचना की है। ये आठ अक्षर एवं तीन स्वर कविप्रणीत 'रत्नत्रयस्तुतिशतक' के श्लोक सं.102 में भी विद्यमान हैं। 'रत्नत्रयस्तुतिशतक' के इस श्लोक में चित्रालंकार का 'सर्वतोभद्रकल्पवृक्षबन्ध' नामक बन्धभेद घटित हुआ है। यह बड़ा अद्भुत एवं प्रशंसनीय तथ्य है कि इसी पद्य के अक्षरों में ही स्थान परिवर्तन करके कवि ने 'विद्याष्टकम्' के आठ श्लोकों की संरचना की है। प्रत्येक श्लोक द्वारा लिपि के वैशिष्ट्य से एक–एक चित्रबन्ध की रचना हो जाती है और सर्वप्रथम क्रमशः आठ चित्रबन्ध बन जाते हैं–सर्वतोभद्रबन्ध,

नियमसागर जी ने अद्भुत योगदान दिया है। इस काव्य की रचना उन्होंने अपने ग्रन्थ 'रत्नत्रयस्तुतिशतक' नामक ग्रन्थ के एक ही श्लोक (सं.102) के आधार पर की है।

अब यदि हम इस कृति को कलापक्ष की दृष्टि से देखें तो हम पाएँगे कि कवि ने इसमें श्लेषानुप्राणित चित्रालंकार के माध्यम से अपनी कलाकुशलता का सुन्दर प्रदर्शन किया है। चित्रालङ्कार भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिष्ठित काव्यभेद चित्रकाव्य का ही एक प्रकार है। काव्यशास्त्रियों ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है–

(क) वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रं शब्दस्यालङ्काराः।

रुद्रट, काव्यालङ्कार, 2/13

(ख) भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिर्मितानि वस्तुरूपाणि।

साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्।।

तच्चक्रखड्गमुसलैर्वाणासनशक्तिशूलहलैः।

चतुरङ्गपीठविरचितरथतुरगगजादिपदपाठैः।। वहीं, 5/1, 33

(ग) तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता।

सन्निवेशविशेषेण टात्र न्यस्ता वर्णाः खड्ग-मुरज-

पद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रं काव्यम्। कष्टं काव्य–

मेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते। मम्मट, काव्यप्रकाश, 9/85 और व्याख्या

अतः स्थूलबुद्धिलालनीयत्वाद् वाचकशब्दबहिर्भावाच्च नात्र कविभिरादरः कार्य इति मन्तव्यम्।

आरोप्य लिपिवर्णानां साम्याद् वाचकवर्णताम्।

खड्गबन्धादिकं चित्रं काव्यालङ्कार इष्यते।।

(1) द्रष्टव्य, प्रस्तुत लेख की लेखिका का ग्रन्थ 'महाकवि ज्ञानसागर के काव्य एक अध्ययन'। काव्यप्रकाश की संजीवनी टीका पृ.सं. 38-39

(ङ)वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान् प्रतीह यः।

नियमस्तद् बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते।। भोज, सरस्वतीकण्ठा.2/109

(च)वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्। रूय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ.सं. 30

(छ) स्वरव्यञ्जन – स्थानगव्याकार नियमच्युतगूढादिचित्रम्।

हेमचन्द्र, काव्यानुशासन 5/4

(ज)पद्मादिलिपिवर्णवच्चित्रम्।

शोभाकर मित्र, अलङ्काररत्नाकर

(झ)पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते। विश्वनाथ,साहित्यदर्पण10/13का पू.

(ञ) पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते। विद्यानाथ,प्रतापरुद्रीय7/409-413

उपर्युक्त लक्षणों का सारांश इस प्रकार है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों के मतानुसार चित्रालङ्कार शब्दालङ्कार है। लिपि के वैशिष्ट्य से जहाँ वर्णो से अस्त्र–शस्त्र, आभूषणादि के चित्र बन जाते हैं, वहाँ चित्रालङ्कार होता है। वर्ण, स्थान, स्वर, आकार, गति और बन्ध की दृष्टि से यह छः प्रकार का है। इस प्रकार यह अलङ्कार लिपिगत होते हुए भी, शब्द और लिपि का तादात्म्य सम्बन्ध होने से शब्दालङ्कार की कोटि में निर्विवादरूपेण आ जाता हैं। इसके साथ ही ध्वनिवादी आचार्यों ने इसको बहुत पसन्द न करते हुए भी इसका अस्तित्व स्वीकार किया है।

विद्वत्सम्मत इस चित्रालङ्कार की दृष्टि से जब हम 'विद्याष्टकम्' की परीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि कवि मुनिश्री नियमसागर ने मात्र आठ व्यञ्जन एवं तीन स्वरों में इस अनुपम कृति की रचना की है। ये आठ अक्षर एवं तीन स्वर कविप्रणीत 'रत्नत्रयस्तुतिशतक' के श्लोक सं.102 में भी विद्यमान हैं। 'रत्नत्रयस्तुतिशतक' के इस श्लोक में चित्रालंकार का 'सर्वतोभद्रकल्पवृक्षबन्ध' नामक बन्धभेद घटित हुआ है। यह बड़ा अद्भुत एवं प्रशंसनीय तथ्य है कि इसी पद्य के अक्षरों में ही स्थान परिवर्तन करके कवि ने 'विद्याष्टकम्' के आठ श्लोकों की संरचना की है। प्रत्येक श्लोक द्वारा लिपि के वैशिष्ट्य से एक–एक चित्रबन्ध की रचना हो जाती है और सर्वप्रथम क्रमशः आठ चित्रबन्ध बन जाते हैं–सर्वतोभद्रबन्ध,

भारतदेशबन्ध, कलशबन्ध, श्रीफलबन्ध, स्वस्तिकबन्ध, रेडक्रॉस बन्ध, टेपरिकॅर्डरबन्ध एवं चतुरक्षरबन्ध। इसके अतिरिक्त इन्हीं श्लोकों के मिश्रण से अन्य चित्रबन्धों की भी रचना हो जाती है। यथा–सर्वतोभद्रकल्पवृक्षद्रुम बन्ध में एक श्लोक से ही अन्य सात श्लोकों की उपस्थिति हो जाती है। 'मृत्युकूपबन्ध' में 'रत्नत्रयस्तुतिशतक' का श्लोक एवं 'विद्याष्टकम्' का प्रथम श्लोक साथ–साथ प्रस्तुत हुआ है। 'सिद्धचक्रबन्ध' का निर्माण 'रेडक्रॉसबन्ध' का निर्माण करने वाले 'विद्याष्टकम्' के छठे श्लोक से हुआ है। 'समकोणबन्ध' अथवा 'एल (1) बन्ध' में भी छठे श्लोक को ही पाँच अक्षरों में निबद्ध किया गया है। 'मुरजबन्ध' को भी 'रेडक्रासबन्ध' नामक छठे श्लोक से ही निर्मित किया गया है। प्रथम श्लोक को चौंसठ अक्षरों के रूप में लिखकर, उसमें 25 अंक का चित्र तैयार किया गया है और इस चित्र के अन्दर छठे श्लोक को व्यवस्थित किया गया है। इस प्रकार प्रथमश्लोक (सर्वतोभद्र से सम्बद्ध) और छठे श्लोक (रेडक्रॉस बन्ध से सम्बद्ध) की सहायता से 'रजत संयमोत्सव वर्षाङ्क (25) बन्ध' का निर्माण किया गया है। 'विद्यासागर जी' का जन्म ईशवीय सन् 10 अक्टूबर 1946 को हुआ था, उनके जन्म दिवस को दर्शाने वाले 'जन्म दिनाङ्क बन्ध' में हमें एक साथ ही 'रत्नत्रयस्तुतिशतमक' के श्लोक सं. 102 और 'विद्याष्टकम्' के प्रथम, षष्ठ और अष्टम श्लोकों की छटा दिखलाई दे जाती है। आचार्य विद्यासागर जी ने अपने गुरू आचार्य श्री 108 ज्ञानसागर जी से दिनाङ्क 30 जून, सन् 1968 को दीक्षा प्राप्त की थी। एतदर्थ 'दीक्षा दिनाङ्क बन्ध' का निर्माण किया गया है। इसमें भी 'रत्नत्रयस्तुतिशतक' के 102वें पद्य के साथ 'विद्याष्टकम्' के पहले, छठें और आठवें श्लोक का मिश्रण विद्यमान है। आचर्य विद्यासागर जी ने 22 नवम्बर, सन् 1972 को अपने गुरू आचार्य ज्ञानसागर जी से आचार्य पद प्राप्त किया था। इस विशिष्ट घटना को दर्शाने के लिए भी 'रत्नत्रयस्तुतिशतक' के 102वें श्लोक और 'विद्याष्टकम्' के प्रथम, षष्ठ और अष्टम श्लोकों के विशिष्ट वर्णविन्यास द्वारा 'पदप्राप्तिदीनाङ्कबन्ध की संरचना हुई है। इस प्रकार 'विद्याष्टकम्' के मूल श्लोकों के वर्णों को विशिष्ट प्रकार से विन्यस्त करने पर जहाँ सर्वतोभद्र, भारतदेश, कलश, श्रीफल, स्वस्तिक, रेडक्रास, टेपरिकर्डर एवं चतुरक्षर की आकृति बन जाती है, वहीं इन्हीं श्लोकों के पदों में परिवर्तन के द्वारा एवं इनमें परस्पर मिश्रण से क्रमशः सर्वतोभद्रकल्पवृक्ष, मृत्युकूप, सिद्धचक्र, समकोण (एल्), मुरज, रजतसंयमोत्सववर्षाङ्क, जन्मदिनाङ्क, दीक्षादिनाङ्क एवं पदप्राप्तिदिनाङ्क की आकृतियाँ बन जाती हैं। अतएव 'विद्याष्टकम्' के आठ श्लाकों के माध्यम से कवि नियमसागर जी ने

सत्रह चित्रबन्ध (चित्रालङ्कारों) को प्रस्तुत कर दिया है। 'विद्याष्टकम्' के पश्चात् कवि नियमसागर जी ने 'प्रशस्तिपर्व' को सत्रह श्लोकों में प्रस्तुत किया है। जिसका पहला पद्य कन्नड़ में दूसरा हिन्दी में है। तीसरे से सोलह तक अर्थात् चौदह पद्य संस्कृत में लिख गये हैं। सत्रहवाँ पद्य प्राकृत भाषा में लिखकर उसकी संस्कृतच्छाया भी दी गई है। तीसरे से चौदह पद्य तक बारह श्लोकों में अनुष्टुप् छन्द प्रयुक्त किया गया है। पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ पद्य आर्या छन्द में निबद्ध है तथा सत्रहवाँ पद्य गाथा छन्द में निबद्ध है। इस प्रशस्तिपर्व में नियमसागर जी ने पुनः गुरू विद्यासागर जी की स्तुति की है। यथा–

मह्यां परो यमी वीर! त्वं विद्यासागरः सुधा।

दृष्टगस्[illegible]ऽऽराध्यं कं रक्तं नौमि वा भुवि।। प्रशस्तिपर्व, श्लोक, सं.4

इसके अतिरिक्त 'प्रशस्तिपर्व' में स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य को भी श्रद्धा से स्मरण करके प्रणाम किया गया है।

वागीशं योऽक्षमानेशं वन्दे सद्धर्मचालितम्।

महन्तं कुन्दकुन्दं दिग्वस्त्रमेनं करण्डकम्।। प्रशस्तिपर्व, श्लोक सं. 14

महाकवि नियमसागर ने 'प्रशस्तिपर्व' के तीसरे श्लोक से सोलहवें श्लोक तक अर्थात् चौदह श्लोकों के अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षरों से चिह्नित करके रूप किया है कि लिपिवैशिष्ट्य अथवा पठनक्रम से क्रम रचयिता 'नियमसागर' का नाम, कृति 'विद्याष्टकम्' नाम, रत्नत्रयस्तुतिशतक का श्लोक सं. 102, 'विद्याष्टकम्' के आठों श्लोक, 'विद्याष्टकम्' का रचनाकाल, 'विद्यासागराय नमः' मन्त्र, 'फार आनन्द मिट वाचा' मराठी भाषा की सूक्ति, '**The End**' अंग्रेजी का ग्रन्थ समाप्ति सूचक वाक्य, 'समन्तभद्राय नमः' एवं 'प्रशस्ति गुना की है' हिन्दी भाषा द्वारा रचनास्थल गुना की सूचना प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रश्नपर्व के सत्रह, रत्नत्रयस्तुतिशतक का एक और 'विद्याष्टकम्' के आठ - श्लोक मिलकर 26 श्लोकों की उपस्थिति 'प्रशस्तिपर्व' के माध्यम से हो जाती है। 'विद्याष्टकम्' और 'प्रशस्तिपर्व' के पश्चात् महाकवि नियमसागर ने अत्यन्त अद्भुत 'विश्वचक्रबन्ध' प्रस्तुत किया है इस बन्ध में 'विद्याष्टकम्' के आठ, प्रशस्तिपर्व सत्रह, मङ्गलाचरण का एक इस प्रकार से पचीस पद्य एवं 'प्रशस्तिपर्व' के लिपिवैशिष्ट्य से उपलब्ध होने वाले उपर्युक्त सभी महत्त्वपूर्ण तथ्य भी प्रस्तुत किए गए हैं। चक्रबन्ध के शीर्ष भाग पर आचार्य ज्ञानसागर जी

एवं चित्र के चारों ओर आचार्य विद्या जी की चार मुद्राएँ अंकित की गई हैं।

इस ग्रन्थ में भारतदेश बन्ध रेडक्रासबन्ध, टेपरिकर्डरबन्ध, रजतसंयमोत्सववर्षाङ्कबन्ध, जन्मदिनाङ्कबन्ध, दीक्षादिनाङ्कबन्ध, पदप्राप्तिदिनाङ्कबन्ध, समकोणबन्ध आदि चित्रबन्ध रूप चित्रालङ्कार नियमसागर जी द्वारा चित्रकाव्य के क्षेत्र में अद्भुत अभिनव योगदान के रूप में मान्य होने चाहिए। वाग्विदग्ध कवि की भाषा-शैली विषय वस्तु एवं शब्दचित्रकाव्य के अनुकूल ही है।

गुरू की स्तुति का प्राधान्य होने से यह ग्रन्थ भारतीय संस्कृति को संजीवित करने में परम सहायक है। कवि दिगम्बर जैनधर्म को मानने वाला है और जैन धर्म-दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों पर उसकी परम आस्था है।

यह बड़ी प्रसन्नता का विषय है कि श्रीमान् ऐलक सम्यकत्वसागर जी ने 'विद्याष्टकम्' के आठ श्लोकों से सम्बद्ध 24, उपसंहारात्मक 2 श्लोकों से सम्बद्ध 2 एवं 'विश्वचक्रबन्ध' से सम्बद्ध एक अतः 27 हिन्दी पद्यों को प्रस्तुत किया है। इन 27 हिन्दी पद्य रूप 27 नक्षत्रों से 'विद्याष्टकम्' रूप अष्टदिशाओं का समूह रूप सम्पूर्ण विश्व में सुशोभित हो गया है।

आदरणीय प्रोफेसर डॉक्टर प्रभाकर नारायण कवठेकर जी ने अठारह पृष्ठों में इस ग्रन्थ का सम्पादकीय लिखकर इस ग्रन्थ के पाठकों एवं समीक्षकों के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत कर दी उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से सुस्पष्ट हो जाता है कि मुनिश्रीनियमसागर ने 'विद्याष्टकम्' में चित्रकाव्य के माध्यम से गुरु की स्तुति प्रस्तुत की है।

और श्लेषानुप्राणित चित्रबन्ध की संरचना मस्तिष्क के गम्भीर चिन्तन का परिणाम है। काव्यशास्त्रियों और समालोचकों के कथन प्रायः चित्रबन्ध को कठिन काव्य की श्रेणी में रखकर महाकवियों को इनके प्रयोग से बचने की प्रेरणा दिया करते हैं। किन्तु इस ग्रन्थ में भावपक्ष एवं कलापक्ष का सुन्दर समन्वय किया गया है। हृदय मस्तिष्क के नीरस कार्यो में सरसता का आधान करता है और मस्तिष्क भावुकता में बहकर अपनी क्षति करने वाले हृदय को संयमित करता है। ऐसी ही स्थिति इस ग्रन्थ में विद्यमान भावपक्ष और कलापक्ष की भी है। हाँ, 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के नियमानुसार और प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रियों के मतानुसार यह काव्य 'शब्दचित्रकाव्य' की संज्ञा प्राप्त करने में समर्थ है, 'ध्वनिकाव्य' की नहीं।

मैं 'विद्याष्टकम्' एवं इसके रचयिता मुनिश्री नियमसागर जी का हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ; भगवान् जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करती हूँ कि वह नियमसागर जी को उनका अभीष्ट मनोरथ प्रदान करें; प्रोफेसर पी.एन. कवठेकर जी का साधुवाद करती हूँ, ऐलक सम्यक्त्वसागर को धन्यवाद देती हूँ; विद्यासागर जी को प्रणामसहित स्मृति करती हूँ; तथा आचार्य ज्ञानसागर जी को श्रद्धाञ्जलि के रूप में यह लेख समर्पित करती हूँ।

प्रो. किरण टण्डन
संस्कृतविभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय,
नैनीताल, उत्तराखण्ड



लेखक की रचनाधर्मिता की मीमांसा एवं समीचीनता

डॉ. रामबहादुर शुक्ल

वर्तमान युग जहाँ विज्ञान के चरमोंत्कर्ष एवं कम्प्यूटरीकृत युग है, वहीं आतंकवाद एवं भौतिकतावाद की चकाचौंध से भी इस युग का जनजीवन अछूता नहीं है। भारत की भारतीयता जहाँ पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से संकुचित होती जा रही है, वहीं आध्यात्मिक प्रवृत्ति का ह्रास, समयाभाव एवं अर्थाजन की प्रवृत्ति से अभिभूत होने और सत्काव्य सेवन से वंचित होने से, मानव अपने स्वास्थ्य संवर्धन के लिए चिन्तित दिखलायी पड़ता है। ऐसे समय में लेखक की भूमिका ही भारतीय समाज को एक नया रूप दे सकने में समर्थ सिद्ध हो सकती है। वैदिक संहिताओं के अध्ययन से यह तथ्य निकल कर सामने आता है कि मानव में कौतूहल एवं पृच्छा की प्रवृत्ति उसकी मौलिक विशेषता थी, एवं अपनी इसी मौलिक विशेषता के कारण मानव चिन्तनशील प्राणी माना गया, तथा अपने चिन्तन को जो, उसने लेखनी के माध्यम से लिपिबद्ध किया, वही काव्य या साहित्य के रूप में आज हमारे सामने अवस्थित है। भावनाओं एवं घटनाओं से तो प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित होता है, किन्तु जो व्यक्ति अपनी भावनाओं एवं दृष्ट घटनाओं को शब्दों में उपनिबद्ध कर लेता है, वह लेखक बन जाता है, एवं जो अनुभूति भर करता है, वह सहृदय व्यक्ति मात्र रहता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने कवि की विशिष्ट विशेषताओं[1] की ओर इंगित करते हुए उसे सहृदय सम्पन्न माना है, तथा लेखक की विशिष्टतासम्पन्न गुणों के कारण ही आचार्य अभिनवगुप्त ने आचार्य आनन्दवर्धन को सहृदयचक्रवर्ती सम्राट[2] पद से सम्बोधित किया है। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में कवि की उपर्युक्त प्रतिभा को कारयित्री कहा, एवं सहृदय की प्रतिभा को भावयित्री।[3] कवि या लेखक की यही प्रतिभा ही उसकी रचनाधर्मिता का प्राणभूततत्त्व होती है

पिपीलिका वृत्ति से यहाँ लेखक की रचनाधर्मिता की मीमांसा एवं समीचीनता को

स्पष्ट करना अभीप्सित है। आचार्य भट्टतौत, जो आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य थे, उन्होंने अपने ग्रंथ काव्यकौतुक में लिखा है कि "कवि के कर्म को ही काव्य कहते हैं "तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्", "कवयति इति कविः" से भी स्पष्ट है कि कवि उसे कहते हैं, जो कवन या वर्णन क्रिया करते हैं, क्योंकि व्याकरण शास्त्र में "कवृ" धातु का प्रयोग वर्णन करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'कवृ' धातु से 'इ' प्रत्यय जोड़ने पर कवि शब्द बनता है, जिसका स्पष्टतः यह अर्थ किया जा सकता है कि जो निर्दोष रीति से, गुणों एवं रसों तथा यथोचित अलंकारो से संयुक्त शब्दार्थ समष्टि का वर्णन करे, वह कवि या लेखक होता है, एवं कविकर्म ऐसा शब्दसाहचर्य होता है, जो निर्दोष होने के साथ-साथ गुणों से युक्त और सालङ्कारता के गुणों से मण्डित हो। शायद इसीलिए आचार्य मम्मट काव्य को "तत् (काव्यं) अदोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृती पुनः क्वपि"[4] रूप में अभिहित करते हैं। "रचनायाः धर्मिता इति रचनाधर्मिता", रूप में हम कह सकते हैं कि कवि की रचनाधर्मिता ही उसके काव्य का प्राणभूत तत्त्व होती है।

लेखक या कवि की रचनाधर्मिता के अन्तर्गत संस्कृत काव्यशास्त्रीय दृष्टि में प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास प्रमुख भूमिका निभाते हैं, अर्थात् इन तीन तत्त्वों की उपस्थिति या अनुपस्थिति ही लेखक को सर्वोत्कृष्ट लेखक या निम्नकोटि का लेखक घोषित करती है। आचार्य दण्डी के अनुसार जहाँ नैसर्गिकी प्रतिभा, निर्मलशास्त्रज्ञान, एवं अमन्द अभियोग या अभ्यास कवि की रचनाधर्मिता को प्रभावित करते हैं,[5] वहीं आचार्य रुद्रट, एवं कुन्तक शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को कवि की रचनाधर्मिता को प्रभावित करने वाले मुख्य कारक मानते हैं,[6] जब कि आचार्य वामन लोक (लोकव्यवहारज्ञान), विद्या (विभिन्न शास्त्रज्ञान), एवं प्रकीर्ण को कवि की रचनाधर्मिता को प्रभावित करने वाला कारक मानते हैं।[7] प्रकीर्ण के अन्तर्गत आचार्य वामन है अन्य तत्त्वों को सम्मिलित करते है, वे हैं– लक्ष्यज्ञत्त्व या काव्यों का अनुशीलन, अभियोग (अभ्यास), वृद्धसेवा (गुरू द्वारा शिक्षा प्राप्ति), अवेक्षण अर्थात् उपर्युक्त शब्दों को चुन-चुन कर काव्यालेखन में जगह देना एवं अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण (दूर करना या हटाना) करने की कला का ज्ञान होना, प्रतिभान या प्रतिभा, एवं अवधान अर्थात् चित्त की एकाग्रता अर्जित करना।[8] उपर्युक्त सभी काव्याचार्यो के मतों की मीमांसानन्तर आचार्य मम्मट ने लेखक (कवि) की रचनाधर्मिता को प्रभावित करने वाले तीन प्रमुख तत्त्वों को स्वीकार किया, वे हैं–शक्ति (प्रतिभा), निपुणता अर्थात् लोक, काव्य, एवं काव्यशास्त्र आदि के अध्ययनोपरान्त प्राप्त निपुणता, एवं

अभ्यास अर्थात् काव्य के मर्मज्ञ व्यक्तियों से प्राप्त शिक्षा के द्वारा अभ्यास।[9]

लेखक एक व्यक्ति भले है, किन्तु व्यक्ति होने के नाते वह अकेला नहीं है, क्योंकि उसका समाज एवं राष्ट्र से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शायद इसीलिए साहित्य एवं लेखक का आज से नहीं, आदिमकाल से मानवसभ्यता के विभिन्न इतिहास काल में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। लेखन के प्रति उसकी प्रतिबद्धता ही उसे सामाजिक दायित्व से जोड़ती रहती है, वह उससे विमुख नहीं हो सकता, किन्तु आज लेखक की रचनाधर्मिता विविध विधाओं से प्रभावित होती दिख रही है। समाज में व्याप्त आर्थिक विषमताएँ एवं अर्थार्जन की होड़, मन में व्याप्त निराशा एवं कुण्ठा की प्रवृत्ति, पूर्वाग्रह, कामेच्छाओं की अतृप्ति, पारिवारिक कलह, भौतिकतावादी चकाचौंध, पद एवं यशप्राप्ति की कामना में नैतिक मान्यताओं तथा मूल्यों को तिलाञ्जलि देना, अध्ययन एवं अनुभव की कमी होने पर भी केवल अर्थ प्राप्ति एवं सम्मान प्राप्ति हेतु लेखन में प्रवृत्त होना, जिससे उसके (कवि के) काव्य में गुणात्मक दृष्टि का अभाव होना भौगोलिक असंतुलन, भोज्यपदार्थो से लिप्सा एवं मांसाहार की प्रधानता के सात्विक गुणों का अभाव तथा स्वास्थ्य में गिरावट होना, राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य के प्रसंग को भूलकर केवल अर्थवती विधा में ही लेखनी चलाना, आदि सभी परिस्थितियाँ लेखक की रचनाधर्मिता के ह्रास को ही संकेतित करती हैं। अतः प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के साथ-साथ उपर्युक्त कारण भी लेखक की रचनाधर्मिता को अवश्यमेव प्रभावित करते हैं।

वास्तव में लेखक की प्रतिभा ही उसकी रचनाधर्मिता का मूल है, और जिसे हम काव्य कहते हैं, वह तो एक विशेष प्रकार की कवि शक्ति या कवि प्रतिभा का ही उन्मेष है। आचार्य भामह काव्य की उत्पत्ति में कवि की प्रतिभा को ही मूल मानते हुए भी[10] काव्य और कवि प्रतिभा में कार्यकारणभाव सम्बन्ध मानते हैं, एवं उन पर भारतीय दर्शन की आदर्श भावना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है जबकि आचार्य दण्डी लिखते हैं कि काव्य की श्रीवृद्धि कवि की स्वाभाविक कविप्रतिभा पर ही एकमात्र निर्भर होती है, इसके साथ-साथ वह कवि की व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को भी संयुक्त करते दिखते हैं।[11] कवि की रचनाधर्मिता में प्रतिभा को मूलशक्ति मानने में प्रायः सभी प्राचीनकाव्यविद् सहमत हैं एवं उन्होंने प्रतिभा की विविध रूपों में गवेषणा भी प्रस्तुत की है।[12] आचार्यवामन ने तो प्रतिभा को कवित्व का बीज ही स्वीकार कर लिया है, उससे पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है, कि कवि

की रचनाधर्मिता में प्रतिभा का अप्रतिम महत्त्व है, परन्तु वर्तमान के विविध भाषाविदों के काव्यों की मीमांसा के अनन्तर हम यह अभिहित कर सकते हैं कि आज के अधिकांश लेखकों में निसर्गप्रतिभा का अभाव देखने को मिलता है। शायद यही कारण है कि उनका काव्य न तो वाल्मीकि के रामायण की उच्चकोटि की काव्यता प्राप्त कर पाता है, और न तो गुरूनानक सदृश सरल भाषा एवं शैली में उपदेशों को जनजीवन तक पहुँचा पाता है, न ही लोकजीवन को शिक्षित करने की उनकी रचनाओं में विषयवस्तु का प्रतिपादन मिलता हे, और न ही आदर्शपात्रों के जीवनविद्या का विवरण देखने को मिलता है। कारण? वह पूर्वग्रह वश या त्वरा में या धैर्यहीनता में काव्यरचना में प्रवृत्त होता है, जबकि उसे निरन्तर काव्याभ्यास के बाद काव्यरचना से संपृक्त होना चाहिए, क्योंकि निरन्तर काव्याभ्यास से उत्तम काव्य की रचना संभव हो सकती है, इस तथ्य का प्रतिपादन स्काट जेम्स ने अपनी पुस्तक 'The Making of Literature' में लोंजाइनस के मत को उद्धृत करते हुए दिया है।[13]

यदि हम रचनाधर्मिता के विषय में ज्योतिषशास्त्र की मान्यता का प्रतिपादन करें, तो देखने को मिलता है कि जातक की जन्म कुण्डली के दशम स्थान में यदि बुध एवं शनि या बुध एवं गुरु का योग हो, तो वह जातक लेखक होता है। बुध यदि जातक की कुण्डली में तृतीयस्थ है एवं लग्न सूर्य चन्द्रमा से दशमस्थ है, तो भी जातक में निसर्ग प्रतिभा होती है एवं वह सफल लेखक होता है।[14] जातक पारिजात में वर्णन मिलता है कि लग्न या चन्द्रमा से दशम स्थान में यदि बुध हो, तो जातक की लेखन या काव्यसृजन में प्रवृत्ति होती है।[15] इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए जीवनाथ शर्मा ने अपने ग्रंथ भावप्रकाश में लिखा है कि यदि दशम भाव का स्वामी बुध के नवमांश में हो, तो जातक लेखक होता है।[16] अतः स्पष्ट है कि लेखक की रचनाधर्मिता में बुध का प्रभाव स्पष्ट देखने को मिलता है, और यदि मारकेश में बुध न हो, तो बुध का रत्न पन्ना (उपरत्न फिरोजा), बुधवार के दिन सोने की अंगूठी में जड़कर कनिष्ठिका अंगुलि में धारण कर लेने से भी या अनामिका अंगुलि में धारण करने से (क्योंकि बुध एवं शुक्र की मैत्री है, जबकि बुध एवं चन्द्रमा में पिता पुत्र का सम्बन्ध होते हुए भी एक दूसरे से द्वेष रखते हैं) लेखक की रचनाधर्मिता में वृद्धि होती है। यदि बुध मारकेश में हो, या निम्नभाव में हो, तो कवि की रचनाधर्मिता अवश्यमेव प्रभावित होगी, भले ही वह सदैव काव्याभ्यास करता रहे, लेखन करता रहे, लेकिन उसका लेखन उच्चकोटि का नहीं बन पायेगा। जबकि काव्यविदों की मान्यता है कि "आगे के सुकवि रीझि हैं, तो कविताई, न तु राधिकाकन्हाई, सुमिरन को

बहान है।'' स्पष्ट है कि बिना उत्कृष्ट कवित्व के कोई भी कवि परवर्ती कवियों का मार्गदर्शक एवं उनका प्रशंसापात्र तो बन ही नहीं सकता। आचार्यप्रवर तुलसीदासजी का तो यहाँ तक मानना है कि–**कविता भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।** इस रूप में यदि ऐसे काव्य का लेखन करना है, जिससे मानव के साथ-साथ समाज एवं देश का उत्थान हो, तो उसमें कवित्व के मूल ''प्रतिभा'' को परखना होगा। यह तो यथार्थ तथ्य है कि काव्य के उच्चकोटि या निम्नकोटि के होने में प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, परन्तु फिर भी रचनाधर्मिता को प्रभावित करने में हम ग्रहों के प्रभाव को भी नकार नहीं सकते।

संस्कृत काव्यविद् आचार्य महिमभट्ट अपने ग्रंथ व्यक्तिविवेक में लिखते हैं कि कवि की प्रतिभा शिव का तृतीय नेत्र है, जिसकी शक्ति सर्वथा अप्रतिहतसर है क्योंकि जीवन की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जो इसका विषय न बन सके।[17] कवि की व्युत्पत्ति को भी रचनाधर्मिता को प्रभावित करने वाला एक प्रधानतम कारण माना जा सकता है। भारतीय काव्यविद् जहाँ व्युत्पत्ति को रचनाधर्मिता का एक प्रधान अंग मानते हैं, वहीं पाश्चात्य कवियों की भी मान्यता है कि वस्तुतः व्युत्पत्ति ही कवि प्रतिभा की देन हैं, Wardswarth लिखते हैं, Poetry is the breath and finer spirit of all knawledge' वहीं कारलाइल मानते हैं कि व्युत्पत्ति, से मानव की विद्वत्ता की परख होती है, जबकि मैथ्यू अर्नाल्ड व्युत्पत्ति को समालोचना की शक्ति मानते हैं, शायद इसीलिए वह लिखते हैं-"Poetry is the criticism of life' स्पष्ट है कि जिसे हम काव्य का कविता कहते हैं, उसमें मानव के समस्त ज्ञान विज्ञान का सारतत्तव एवं सुन्दररहस्य अन्तर्निहित रहा करते हैं। Mathew Arnold अपने ग्रंथ 'Eassas is Criticism' में लिखते हैं कि कविता और जीवन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन के आदर्शो के विद्रोह में रची गयी कविता नहीं, क्योंकि जो कविता नैतिक आदर्शों की अपेक्षा करती है, वह जीवन की उपेक्षा करती है।[18] स्पष्ट है कि लेखक को पूर्वाग्रहों एवं अन्यमनस्कता से दूर रहकर काव्यसृजन में प्रवृत्त होना चाहिए। मनःस्थिति के उपयुक्त न होने पर भी काव्यलेखन से उसे बचना चाहिए, साथ ही लेखनकाल में उसे यह दायित्वबोध हमेशा रहना चाहिए, कि वह स्वयं के लिए बल्कि मानव, समाज एवं राष्ट्रहित के संवर्धन के लिए लेखन कर्म कर रहा है। यदि उसमें धैर्य का अभाव रहा, तो निःसंदेह उसकी रचनाधर्मिता प्रभावित होगी। आज के लेखकों में धैर्याभाव देखने को मिलता है, क्योंकि वह जल्दी जल्दी ग्रंथों के निर्माण करने की त्वरा में रहते हैं। कारण अनेक हैं-पद

प्राप्ति के लिए ग्रन्थों का निर्माण, अर्थप्राप्ति या प्रकाशक द्वारा बार-बार स्मरण दिलाने पर ग्रंथ लेखन की प्रवृत्ति संजोना, या ग्रंथों के सृजन की एक लम्बी सूची स्वयं के नाम से उपनिबद्ध होने की इच्छाशक्ति, आदि कारणों से, वह त्वरा (जल्दी) में जो ग्रंथ लेखन करता है, उससे उसकी रचनाधर्मिता प्रभावित हो जाती है, फलतः जिस विधा या उच्चकोटि के ग्रंथ का निर्माण वह स्वतंत्र होने पर, या धैर्य से काम लेने पर कर सकता है, उस कोटि के ग्रंथ का निर्माण वह त्वरा वश नहीं कर सकता, जब कि प्राचीन कवि हर हाल में धैर्य एवं शान्ति की स्थिति में ही कविकर्म में प्रवृत्त होते थे। परिलुप्त धैर्यत्व की स्थापना करने के लिए कवि या लेखक को क्या-क्या करना पड़ता है, ऐसा कालिदास जैसे कवि ही जान सकते हैं एवं कर सकने में समर्थ होते हैं। ऐसा सन्दर्भ पार्वती द्वारा भगवान शंकर की आराधना के समय उपस्थापित करते हुए कालिदास लिखते हैं–

प्रत्यर्थीभूतामपि तां समाधेः सूश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः॥

आज के लेखकों में एक और विसंगति देखने को मिलती है कि जिस क्षेत्र में उनका स्वामित्व नहीं भी है, तो भी उस क्षेत्र में बलात् दृष्टि डालकर ग्रन्थलेखन करते हैं, कारण? अर्थप्राप्ति एवं यशप्राप्ति ही होता है, अतः उस विधा में वह लेखन कर्म करके, वह उससे न्याय नहीं कर पाते, एवं वह ग्रंथ मध्यम काव्य या अधम काव्य की सरणि में स्थान प्राप्त कर पाता है। उच्चकोटि का तो बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अर्थाजन की होड़ या प्रतिस्पर्धा भी कवि की रचनाधर्मिता में ह्रास लाती है, इसमें कोई संदेह नहीं।

प्राचीन काल के कवि स्वान्तःसुखाय के लिए काव्यसृजन किया करते थे, जो "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषानिबद्ध मति मञ्जुलमातनोति" जैसे तथ्य से स्पष्ट भी है। जबकि वर्तमान काल के लेखकों में इस प्रवृत्ति के ह्रास के दर्शन होते हैं। यह तो यथार्थ तथ्य है कि "प्रयोजनमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" जैसा कि आचार्य मम्मट कहते हैं, तो भी समाज एवं राष्ट्र के हित को ही उद्देश्य मानकर यदि काव्यलेखन किया जाय, तो शायद कविश्रम का साफल्य अवश्यमेव प्रभावी होगा, स्वयं उसके लिए, देश एवं समाज के लिए भी। आज का लेखक कामेच्छाओं की तृप्ति हेतु ही काव्यलेखन में प्रवृत्त होता है, जो कि कही न कहीं पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित है, क्योंकि प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड के साथ–साथ डॉ. नगेन्द्र भी मानते हैं कि 'कवि की रचनाधर्मिता

कामप्रेरित होती हैं।[19] यही कारण है कि आज का लेखक सस्ते एवं भड़काऊ (कामोत्तेजित करने वाले) उपन्यास लेखन से भी नहीं हिचकता। इस रूप में उसकी रचनाधर्मिता प्रभावित होती है, जबकि कवि को दुष्ट या कामोत्तेजित शब्दों के प्रयोग से बचने की मीमांसा हमारे प्राचीन शास्त्रकार रखते हैं, वह लिखते हैं–

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाहः।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्॥

लेखक की रचनाधर्मिता के परिप्रेक्ष्य में समसामयिक जीवन की परिस्थितियों एवं उसमें निहित परिवर्तित तथ्यों की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती, फिर भी लेखकों को चाहिए कि आस्था एवं विश्वास के साथ मानवता का हित, सम्पन्न करने वाली रचनाएँ करें। इस परिप्रेक्ष्य में उसे विश्वास होना चाहिए कि भीषणतम व्यवधान भी उसे, उसके लक्ष्य से दूर न हटा सकें। हिन्दी साहित्य के विविध लेखकों यथा–रामधारी सिंह दिनकर, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्द पन्त, एवं सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', ऐसे ही लेखकों में से थे। आज से लेखकों के लिए डॉ. रामगोपाल शर्मा (दिनेश) का ''जलती रहे मशाल'' कविता का यह वाक्य प्रेरणास्रोत बन सकता है–

मुझे न लौटा पाय अब तक गरज गरज कर।
महासिन्धु के ज्वार स्वयं ही मुझसे हारे॥

अवधेय है कि ''जलती रहे मशाल'' से डॉ. विनोद शर्मा जी ने जिस मानवतावादी दृष्टिकोण को फैलाने की कोशिश की है, वह उनकी रचनाधर्मिता की उत्कृष्टता को ही द्योतित करता है।

यह तो सच है कि कवि की रचनाधर्मिता युग की प्रवृत्तियों से भी प्रभावित होती है। पाश्चात्य विद्वान् डेनिस टामसन भी लिखते हैं कि मनुष्य के जीवन का ढांचा आज बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि वह क्या पढ़ता है।[20] इस रूप में जिस अभ्यास की बात हमारे संस्कृत काव्यविद् रखते हैं वह भी प्रभावित होता है, क्योंकि साहित्य में जो कुछ भी लिख जाता है, उसके दृष्टिकोंण का निर्माण अनेक बातों पर निर्भर रहता है। शायद इसीलिए स्काटजेम्स ने टेन जैसे साहित्यकार के विषय में अपना मत रखते हुए[21] यह स्वीकार किया कि कवि के निर्माण में परिस्थितियों का विशेष योगदान रहता है।

काव्यरचना का काव्यनिर्माण, तो एक योजनाबद्ध बुद्धिसम्मत प्रक्रिया होती है, जिसके पीछे बहिर्मुखी वृत्ति की प्रेरणा रहती है।[22] अतः युग की विविध प्रवृत्तियों यथा-समाज में व्याप्त छुआछूत की भावना, ऊँच नीच एवं जाति भेद, वर्णविन्यास, अनाचार, ईर्ष्या, द्वेष, मतभेद एवं वैमनस्य आदि से भी कवि की रचनाधर्मिता प्रभावित होती है, इनसे कवि अछूता कैसे रह सकता है।

कवि की रचनाधर्मिता को प्रभावित करने वाले "अभ्यास" को आचार्य वामन ने "अभियोग वृद्धसेना अवेक्षण" रूप माना, क्योंकि काव्यशास्त्रमर्मज्ञों का सानिध्य जब तक न किया जाय, तब तक कविरचनाधर्म लेखक से कोसों दूर रहता है, इसीलिए भामह[23] के साथ-साथ वामन[24] भी शब्दपाक का अभ्यास कविजन के लिए आवश्यक मानते हैं, जब कि ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन केवल 'प्रतिभा' को ही रचनाधर्मिता का प्राण मानते हैं[25] एवं आधुनिक ग्रीन जैसे पाश्चात्य विद्वान् अभिव्यंजना को।[26] और डॉ. देवराज उपाध्याय कवि के आन्तरिक व्यक्तित्व को रचनाधर्मिता को प्रभावित करने वाला मुख्य कारक मानते है[27] जैसा कि आनन्दवर्धन भी स्वीकार करते हैं।[28] स्पष्ट है कि रचनाधर्मिता कवि के व्यक्तित्व से भी प्रभावित होती है, परन्तु यह विडम्बना ही है कि पाश्चात्य विद्वान् इलियट कवि व्यक्तित्व को रचनाधर्मिता का अंग मानने से अस्वीकार करते हैं, वे लिखते हैं कि सफल कवि होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसकी मानसिक शक्ति समृद्ध हो बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि उसका मन अधिक से अधिक भावों और संवेदनाओं का अधिक से अधिक माध्यम बन सके। कला सृजन की इस प्रेरणा के समय जो समन्वय होता है, उससे कवि के व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस समस्त प्रक्रिया में उसका व्यक्तित्व सर्वथा पृथक् एवं निर्विकार रहता है, जैसा किसी-किसी रासायनिक क्रिया में होता है।[29] साथ ही वह कवि के मस्तिष्क को प्लेटिनम तन्तु से संज्ञायित करते हैं।[30] लेकिन यहाँ यह कहना अभीप्सित होगा कि इलियट रोमांटिक कवियों की अतिव्यक्तित्व प्रकाशनवादी प्रवृत्ति से चिढ़ गये थे, इसीलिए उन्होंने वर्ड्सवर्थ जैसे महाकवि की स्थापनाओं एवं उनकी काव्यसृजन प्रक्रिया की वैज्ञानिकता का भी खण्डन किया।[31] जैसा कि पूर्व में कालिरिज ने अपने ग्रंथ Biagraphia Literaria में वर्ड्सवर्थ का खण्डन किया था। परन्तु इलियट के विचारों के मीमांसा करने पर हम यह कह सकते हैं कि वह भी कवि की रचनाधर्मिता के पल्लवन में व्यक्तित्व को अस्वीकार नहीं कर पाते। अतः प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के घनीभूत होने पर ही उत्कृष्ट व्यक्तित्व संभव हो पाता

है, और कवि अपनी रचना में भाषा, भाव, शैली एवं रसों का मणिकांचन संयोग कर पाने में समर्थ हो पाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने कवि के निर्माता व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि–**सुकवि समाहित चेताः रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः**[32] साथ ही वह यह भी अभिहित करते हैं कि बिना रस आदि के काव्य का निबन्धन सम्भव नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे जगत् की कोई वस्तु विभाव रूप से किसी रस या भाव का अंग बनकर लोकजीवन के समक्ष प्रस्तुत होती है।[33] स्पष्ट है कि सच्चा लेखक वही है जो अपने काव्य की विषयवस्तु में भाषा, भाव, एवं रसों की उपयुक्त या ठीक (सटीक) अन्विति कर पाने में समर्थ हो, और वह ऐसा तभी कर सकता है, जब प्रतिभा व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के गुणों से वह सम्पन्न हो। राजशेखर ने भी "भावयित्री प्रतिभा एवं कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तियों को कुशल साहित्यशास्त्रज्ञ, सहृदय, समीक्षक और प्रभाकुशलतायुक्त श्रेष्ठ रचयिता कहा है। स्पष्ट है कि कवि की रचनाधर्मिता उसके काव्यसृजन को प्रभावित करती है। आचार्य भोजदेव का भी मानना है कि "चित्रशास्त्र का ज्ञाता, चित्रकर्म या रचना नहीं जानता, और चित्रकर्म का ज्ञाता चित्रशास्त्र नहीं जानता, मगर जो दोनों को जानता है, वही श्रेष्ठ चित्रकार होता है।[34] यही तथ्य हम रचनाधर्मिता के प्रसंग में रख सकते हैं कि जो कवि की रचनाधर्मिता को जानता है, एवं उसमें खरा उतरता है, वही कवि या लेखक समाज के साथ-साथ राष्ट्र की अभ्युन्नति के लिए काव्य रचना करने में समर्थ हो सकता है। आवश्यकता है आज के लेखकों को पूर्वाग्रह से हटने की, परिस्थितियों से जूझने की एवं अर्थपिपासुता से दूर होने की। अगर लेखक इन सबसे दूर होकर, शास्त्रमर्यादा को एवं राष्ट्रहित तथा लोकजीवन को आदर्श बनाने के लिए काव्यसृजन को संयुक्त हों, तो निःसंदेह प्राचीन कवियों द्वारा उपस्थापित मानदण्डों को वह पुनः प्राप्त कर पाने में समर्थ होगा। इस प्रसंग में कवि की रचनाधर्मिता का तो अप्रतिम महत्त्व होता ही है, रही कवि की या लेखक की रचनाधर्मिता की प्रासंगिकता एवं समीचीनता की बात, तो वह जितनी प्राचीनकाल में प्रासंगिक थी, उतनी आज भी है, एवं भविष्य में भी रहेगी, क्योंकि काव्यलेखन में उत्कृष्टता के दृष्टिकोण से लेखक में रचनाधर्मिता के गुणों की अन्विति होना, उसके लिए अनिवार्य भी है एवं अपरिहार्य भी। अन्त में लेखक की रचनाधर्मिता की मीमांसा एवं समीचीनता के बारे में मैं यह भी कहना अभीप्सित समझता हूँ कि–

"परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यः भिक्षवो न तु गौरवात्।"

सन्दर्भ सूची

1. या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा

   दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थ-विषयोन्मेषा च वैपश्चिती।

   ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं

   श्रान्ता, नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्।। ध्वन्यालोक, पृ. 508

   –आचार्य कल्हण ने भी अपनी कृति राजतरङ्गिणी में आचार्य आनन्दवर्धन को यशस्वी कवि के रूप में निर्दिष्ट किया है। यथा–

   मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।

   प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।। राजत. 5/34

2. सहृदयचक्रवर्ती खल्वयं ग्रन्थकृत्। ध्वन्यालोक, लोचन टीका, पृ.41
3. कारयित्री भावयित्र्यावितीमे प्रतिभाभिदे।–काव्यमीमांसा, अध्याय,–4
4. काव्यप्रकाश–1/1, पृ. 10–टीकाकार डॉ. सत्यव्रतसिं। पृ.–36
5. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।

   अमन्दश्चाऽभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।। काव्यदर्श 1/203

6. तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारूणः करणे।

   त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिव्युत्पत्तिरभ्यासः।। रूद्रट–काव्यलंकार–1/14 एवं कुन्तककृत वक्रोक्तिजीवितम्–1/24, एवं उसकी वृत्ति, द्रष्टव्य –पृ. 101

7. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि–वामन काव्यालङ्कार सूत्र–1/3/1

   –लोकवृत्तं लोकः –वही–1/3/2

   –शब्दस्मृत्यभिधानकोश–छन्दोविचिति–कला–कामशास्त्र–दण्डनीतिपूर्वा विद्याः।

   –वहीं 1/3/3

8. लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्। वही–1/3/11
9. **शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।**

   काव्यशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ मम्मट–काव्यप्रकाश 1/3

****

10. शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासश्रयाः कथाः।

लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैरमी। भामह–काव्यालङ्कार 1/9

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।

विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।। वही 1/10

11. दण्डी–काव्यादर्श–1/3

12. मनसि सदा सुसभाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।

अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।। रूद्रट–काव्यालंकार 1/15

सा (प्रतिभा) काव्यघटनाऽनुकूलशब्दार्थोपस्थितिः। जगन्नाथ–र.गं.,प्र.अध्याय, पृ.9

–प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

तदनुप्राणनाजीवद्वर्णना निपुणः कवि। विश्वनाथ सा.द. प्रथम परिच्छेद, पृ.11

–प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।

कुन्तक (वक्रोक्तिजीवित 1/29)

–शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः। यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। मम्मट का.प्र. 1/3 की वृत्ति

कवित्वबीजं प्रतिभानम् – वामन का.सू.वृ. 1/3/16

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं ज़डधियोऽप्यलम्।

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।। भामह–काव्यलंकार 1/5

–न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिताऽपि करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।। दण्डी–काव्या-1/104

शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्। अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक लोचन, पृ. 317

–प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्या विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्य-निर्माणक्षमत्वम् – अभिनवगुप्त ध्व., 1/6

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तया संव्रियते कवेः।

यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झरित्येवावभासते।। आनन्दवर्धन – ध्व. 3/6

–प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।

भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा।। वाग्भट (1) का. अ. 1/6

–प्रतिभाऽस्य हेतः व्युत्पत्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या–हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ.6

–सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम् राजशेखर– काव्यमीमांसा, अध्याय–4 पृ.26

13. Literature, When it reaches the peak is the domain of creative art, it can transpart and lift us out of ourselves by a power, Which canfaimds the judgment, eclipses mere reasion and illumines a subject with the vividness of lightning - The Making of litirature. Page-91

14. भारतीय ज्योतिष–श्रीशंकरबालकृष्ण दीक्षितपृ. 286

15. शिल्पादिकाव्यागमशास्त्रमार्गाज्योतिर्गणज्ञानवशाद् बुधांशे। जातकपारिजात–पृ.468

16. बुधांशे काव्यशिल्पादिगणितैरेव जीविका–भावप्रकाश–पृ. 81

17. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः। क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।
    सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते। येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः।।

व्यक्तिविवेक, पृ. 108

18. Mathew Arnold - Essas in Criticism. page 3

19. डॉ. नगेन्द्र के आलोचना–सिद्धान्त–नारायण प्रसाद चौबे, पृ.71

20. Denys Thompson - Reading and Discrimination. Page.3

****

21. Taine's Cantrilation to literary science lay in his study of literature as the praduct of social farces. - Secatt James - The Making of literature. p.253

22. डॉ. नगेन्द्र–विचार और विश्लेषण–पृ. 109

23. शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।

विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ।। काव्यालंकार 1/10

24. आधानोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मनः। पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्तसिद्धा सरस्वती। यत् पदानि व्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुतायातं शब्दयासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते। का.सू. वृत्ति–1/3

25. बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशोऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते? अनपेक्षितार्थ विशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि सत्यर्थनिरपेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्त्तेत। ध्वन्यालोक 4/6

26. ... 'Self expression' in art is therefore, even in its most restricted forms, The expression of more than a possing moad, idea or impulse, It must to some extent, express the artist's enduring personality. - Greene - The Art and Art of critiasm. p.131-133

27. साहित्यिक अनुसंधान के प्रतिमान सम्पादक डॉ. देवराज उपाध्याय, पृ.87

28. ध्वन्यालोक 3/42

29. Tradition and the Individual talent. T. S. Elit. page.25

30. The mind of the poet is the thread of platinum.

31. It is not in his personal emations, The emotians provoked by particular events in his life, that the pact in any way remarkable or interesting. Consequenly, we must believe that emotions recollected in transquility is an in exact farmula. Poetry is not a turning loose of emation, but an escape from emotion, it is not the expression of personality, but an escape fram parsonality - Tradition and the Indiuidual Talent.

T. S. Eliat. Page. 29-30

32. ध्वन्यालोक – 3/42, की वृत्ति

33. यत्र रसादीनां भविष्यत्वं सा काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्यनोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्मतवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वे न। आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक 3/42

34. न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म, न शास्त्रमपि कर्मवित्।

भोजदेव–समरांगण सूत्र–7/259

डॉ. रामबहादुर शुक्ल
वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू



संस्कृत और गुजराती भाषा में अनुस्वार और अनुनासिक का प्रयोग

प्रो. किशोर जी. चन्दाराणा

प्रास्ताविक

संसार में कुल मिलाकर करीब तीन हजार भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से बहुत सी भाषाओं का आपस में पारिवारिक सम्बन्ध है। अर्थात् वे मूलतः किसी एक भाषा से उत्पन्न हुई हैं। ध्वनि, व्याकरण तथा शब्द-समूह के तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण से तथा भौगोलिक निकटता और ऐतिहासिक घटनाक्रमों का विचार करके विद्वानों ने भाषाओं के पारिवारिक सम्बन्ध प्रस्थापित किए हैं। इससे पता चलता है कि संसार में मुख्यतः करीब बारह से तेरह भाषा परिवार हैं। उनमें से संस्कृत स्रोत से आगे चल कर गुजराती भाषा उत्पन्न हुई हैं जो भारत ईरानी और इससे भी पूर्व भारत-यूरोपीय भाषाकुल से सम्बन्ध रखती है। गुजराती भाषा के प्रादुर्भाव का स्पष्ट आलेख वैदिक संस्कृत से आरम्भ होता है। वैदिक संस्कृत-प्रशिष्ट संस्कृत-प्राकृत-प्राचीन गुजराती-मध्यकालीन गुजराती और अर्वाचीन गुजराती का विकासक्रम स्पष्ट रूप से अंकित किया जा सकता है।

अनुनासिक और अनुस्वार के विषय में संस्कृत व्याकरण के सिद्धान्त

संस्कृत व्याकरणकार पाणिनि ने अनुनासिक की व्याख्या करते हुए अष्टाध्यायी के सूत्र में कहा है कि 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः।।1।।1।।8।।' जिस वर्ण के उच्चारण में मुख और नासिका दोनों का एक साथ प्रयोग होता है वह अनुनासिक है। संस्कृत व्याकरणशास्त्र में दो प्रकार के वर्ण बताए गए हैं जिसे स्वर और व्यञ्जन कहते हैं। संस्कृत व्याकारणशास्त्र के अनुसार अनुनासिक उच्चारण स्वर और व्यञ्जन दोनों में हो सकता है। इस तरह संस्कृत में तेरह स्वर हैं उन सभी में अनुनासिक और अननुनासिक ऐसे दो प्रकार

माने गये हैं। व्यञ्जनों में पाँच वर्गीय व्यञ्जन के अंतिम वर्ण ङ्, ञ्, ण्, न्, और म्, अनुनासिक व्यञ्जन हैं। जब अनुनासिक शिरोबिन्दु के रूप में (ं) लिखा जाता हैं तब वह अनुस्वार कहा जाता हैं। साथ में संस्कृत संधि के अनुनासिक वर्ण के साथ सम्बन्धित विशेष नियम भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। ये नियम संस्कृतजन्य अर्वाचीन भाषाओं के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें से मुख्य नियम इस प्रकार हैं।

(1) पदान्त म् के बाद यदि व्यञ्जन आता है तो म् का अनुस्वार होता है। परन्तु वाक्यन्त म् अनुस्वार नहीं होता। जैसे देवम् वन्दे। = देवं वन्दे। मगर वन्दे देवम् इस सन्दर्भ में अष्टाध्यायी में पाणिनी का सूत्र हैं–मोऽनुस्वारः ।।8।।3।।23।।

(2) पद के अन्तर्गत या पदान्त में अनुनासिक व्यञ्जन या अनुस्वार के बाद अर्धस्वर (य्, र्, ल्, व्) उष्माक्षर (श्, ष्, स्) महाप्राण (ह्) और कोई वर्गीय व्यञ्जन आता है तो अनुनासिक व्यञ्जन या अनुस्वार पश्चाद्वर्ती व्यञ्जन के वर्ग का अनुनासिक बनता है। जैसे सम्गमः = सङ्गम अथवा संगमः। सम्चयः = सञ्चयः अथवा संचयः। कुम्ठितः = कुण्ठितः या कुंठित। सम्तापः = सन्तापः या संतापः। सम्मतम् = सम्मतम् या संमतम्। त्वम् करोषि = त्वङ्करोषि या त्वं करोषि। इस सन्दर्भ में अष्टाध्यायी में पाणिनि के दो सूत्र प्रवृत्त हैं। अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ।।8।।4।।58।। और – वा पदान्तस्य ।।8।।4।।56।।

(3) पदान्तर्गत न् या म् के बाद यदि अनुनासिक व्यञ्जन, अर्धस्वर, या महाप्राण को छोड़कर कोई व्यञ्जन आता हैं तो न् या म् का विकल्प से अनुस्वार होता है। मगर पदान्त न् का अनुस्वार नहीं होता। जैसे सम्तापः = संतापः। सामासिक शब्द दिवम्गतः = दिवंगतः या दिवङ्गत। आक्रम्स्यते = आक्रंस्यते। यशान्सि = यशांसि। गम्यते = गम्यते। यहाँ म् के बाद य् अर्धस्वर है। देवान् नमति। यहाँ न पदान्त है। इस सन्दर्भ में भी पाणिनि के दो सूत्र है। मोऽनुस्वारः ।।8।।3।।23।। और – नश्चापदान्तस्य झलि ।।8।।3।।24।।

(4) अनुस्वार या अनुनासिक के बाद य्, व् या ल् आता है तो अनुस्वार या अनुनासिक का क्रमशः सानुनासिक यँ, वँ या लँ होता सम्यमः = सँय्यमः या संयमः। सम्वरणः = सँव्वरणः या संवरणः। सम्लाप = सँल्लापः या संलाप। इस संदर्भ में पाणिनि के तीन सूत्र प्रवृत्त होते हैं। मोऽनुस्वारः ।।8।।3।।23।। नश्चापदान्तस्य झलि ।।8।।3।।24 और – वा पदान्तस्य ।।8।।4।।56 अन्तिम सूत्र के ऊपर सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजि दीक्षित ने स्पष्ट किया है कि यत्रानुस्वारस्य पक्षेऽनुनासिका यवलाः।

गुजराती भाषा में अनुनासिक और अनुस्वार का प्रयोग

वर्तमान गुजराती भाषा में अनुनासिक और अनुस्वार के दो या तीन प्रकार के उच्चारण स्पष्ट रूप से सुनाई देते हैं। श्री नरसिंहराव ने इसके लिए तीव्र और कोमल संज्ञा का प्रयोग किया है। वह सर्वथा योग्य है। गंगा, संचार, कुंठित, दंत, संभव जैसे शब्दों में अनुनासिक उच्चारण स्पष्ट रूप से तीव्र उच्चारण है। संयम, संरक्षण, संलाप, संवाद, संशय, संसार, संहिता जैसे शब्दों में अनुनासिक का उच्चारण स्पष्ट रूप से कोमल उच्चारण हैं। यही कोमल श्रुति आंख, पांच, कांटो, भींत, घोंप इत्यादि शब्दों में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस तरह तीव्र और कोमल अनुनासिकों का उच्चारणभेद को स्वीकार करना अनिवार्य है। तदुपरांत कभी कभी जाऊँ, खाऊँ इत्यादि शब्दों के अनुस्वार का जो उच्चारण है इसे श्री नरसिंहराव ने कोमलतर संज्ञा दी है। अगर जो दहिं, नहीं जैसे उनके दिये गए उदाहरणों में हकार को मूल (सायलण्ट) बनाया जाय तो दइं, नइं जैसे कोमलतर अनुनासिक उच्चारण संभावित हैं इनको स्वीकार करना चाहिए। मगर इसे बोली भेद भी माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में कोमलतर भेद थोड़ा संशयात्मक बन जायेगा। फिर भी कोमलतर भेद को अस्वीकार किये बिना यहाँ उसको कोमलतर उच्चारण के रूप में ही समाविष्ट करके विचार करना उचित रहेगा।

गुजराती भाषा में अनुनासिक के जो उच्चारण भेद सुनाई देते हैं। उसका प्रतिबिंब लेखन में दिखाई देता है। सामान्यतः सभी अनुनासिक अनुस्वार शिरोबिंदु (ं) से ही लिखे जाते है। फिर भी जहाँ तीव्र उच्चारण है वहाँ अनुनासिक व्यञ्जक से लिखने का विकल्प भी प्रचलित है। विकल्प में कोई व्यवस्था या नियम नहीं है। लेखक अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार लिखते हैं।

गुजराती में अनुनासिक और अनुस्वार के प्रयोग का विश्लेषण

अर्वाचीन गुजराती भाषा में अनुनासिक और अनुस्वार का जो स्वरूप देखने–सुनने में आता है उसके विश्लेषण से कुछ सिद्धान्त प्रस्थापित किए जा सकते हैं। इस विश्लेषण में शब्दों के विशेष विभाजन को ध्यान में रखना सुविधापूर्ण रहेगा। यह विभाजन तत्सम, तद्भव, देश्य और परभाषी शब्दों के आधार पर रखना चाहिए क्योंकि शब्द के मूल स्रोत का थोड़ा–बहुत प्रभाव हमेशा रहता है। यद्यपि यहाँ देश्य शब्दों को छोड़ कर विचार किया गया है।

गुजराती तत्सम शब्द

गुजराती भाषा के शब्दभंडार में ज्यादातर शब्द संस्कृत तत्सम शब्द हैं। तत्सम शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ. एस.एस. कलावडे ने 'भाषाविज्ञान और हिन्दी भाषा' में कहा है कि संस्कृत में जो शब्द जैसे और जिस अर्थ में प्राप्त होते हैं वैसे ही जब स्वीकारा जाता है तब उन्हें तत्सम शब्द कहते हैं। ऐसे शब्दों में से गुजराती में जो अनुनासिकयुक्त शब्द हैं उनके कुछ उदाहरण ले कर अनुनासिक उच्चारण के विषय पर विचार किया जा सकता है।

कंठय	**तालव्य**	**मूर्धन्य**	**दंत्य**	**औष्ठ्य**
अंक=अङ्क	कांचन=काञ्चन	कंटक=कण्टक	तंतु=तन्तु	पंपा=पम्पा
शंख=शङ्ख	वांछना=वाञ्छना	कंठ=कण्ठ	कंथ=कन्थ	गुंफन=गुम्फन
गंगा=गङ्गा	कुंजन=कुञ्जन	दंड=दण्ड	मंद=मन्द	संभव=सम्भव
संघ=सङ्घ	झंझा=झञ्झा	षंढ=षण्ढ	अंध=अन्ध	संमति=सम्मति
			संनिधि=सन्निधि	

उपर्युक्त सभी शब्दों में अनुनासिक का उच्चारण उत्तरवर्ती वर्गीयव्यञ्जन के वर्ग के अनुनासिक जैसा होता है। जहाँ कंठ्य वर्ग के व्यञ्जन क्, ख्, ग् और घ् है वहाँ अनुनासिक का उच्चारण ङ् है। इसी तरह तालव्य वर्ग के व्यञ्जन च्, छ्, ज् और झ् के पूर्ववर्ती अनुनासिक का उच्चार ञ् जैसा है। मूर्धन्य वर्ग के व्यञ्जन ट्, ठ्, ड् और ढ् के पूर्ववर्ती अनुनासिक का उच्चार ण् हैं। ङ्, ञ् और ण् के पूर्ववर्ती अनुनासिक का कोई उदाहरण नहीं है अतः इसकी चर्चा अनावश्यक है। दंत्य वर्ग के व्यञ्जन त्, थ्, द्, ध् और न् के पूर्ववर्ती अनुनासिक का उच्चार न् हैं। औष्ठ्य वर्ग के व्यञ्जन प्, फ्, ब्, भ् और म् के पूर्ववर्ती अनुनासिक का उच्चारण म् है।

ये सभी शब्द तत्सम हैं। इन शब्दों के अवलोकन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्सम शब्द के अनुनासिक के पश्चात् वर्गीय व्यञ्जन हो तो अनुनासिक का उच्चारण पश्चाद्वर्ती व्यञ्जन के अनुनासिक के अनुसार होता है। जहाँ पश्चाद्वर्ती व्यञ्जन मूर्धन्य है वहाँ पूर्ववर्ती अनुनासिक के उच्चारण में ण् के बजाय दंत्य न् जैसी श्रुति होती है। यहाँ संस्कृत उच्चारण से भिन्नता दिखाई देती है। यद्यपि सम्यग् उच्चारण मूर्धन्य अनुनासिक ण्

ही मानना पड़ेगा। तथापि व्यवहार में जो प्रचलित है उस उच्चारण को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

तत्सम शब्दों में जब अनुस्वार या अनुनासिक के बाद वर्गीय व्यञ्जन के अलावा अन्य व्यञ्जन की उपस्थिति हो तब उच्चारण में भिन्नता देखी जाती है। निम्नलिखित शब्दों के अवलोकन से यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

संयम=सइंयम/सँय्यम　संलग्न=सऔंलग्न/सल्लँन　संवत्=सऔंवत् /सँव्वत्

संयोग=सइंयोग/सँय्योग　संलाप=सऔंलाप/सल्लाँप　संवाद=सऔंवाद/सव्वाँद

संयुक्त=सइंयुक्त/सय्युँक्त　संविधान=सऔंविधान/सव्विँधान

उपर्युक्त शब्द भी तत्सम शब्द हैं। यहाँ अनुस्वार के बाद अर्धस्वर में से तीन य्, ल् और व् हैं। ऐसी स्थिति में अनुनासिक का उच्चारण क्रमशः सानुनासिक यँ, लँ या वँ जैसा होता है। मगर अनुनासिक के बाद य् की उपस्थिति में विकल्प से सानुस्वार इं, तथा ल् या व् की उपस्थिति में सानुस्वर औं की श्रुति सुनाई देती हैं। इसे विकल्प से क्रमशः सानुस्वार अइं या अउं श्रुति भी मानी जा सकती हैं। इसी तरह तत्सम शब्दों में अर्धस्वर र् के पूर्ववर्ती अनुनासिक की सानुनासिक अउं या विकल्प से सानुनासिक औं श्रुति सुनाई देती है। यह कथन इन शब्दों के अवलोकन से प्रतीत होगा। संरक्षण = सअंउरक्षित/सऔंरक्षित। ये सभी अनुनासिक उच्चारण कोमल हैं। यहाँ तीव्र अनुनासिक की श्रुति कहीं भी नहीं है।

इन उदाहरणों से कहा जा सकता है कि तत्सम शब्दों में अनुनासिक के पश्चात् यदि अर्धस्वर य्, व् या ल् हो तो अनुनासिक उच्चार में उत्तरवर्ती अर्धस्वर का सानुनासिक द्विर्भाव होता है, या विकल्प से संप्रसारित सानुनासिक स्वर की या सानुनासिक अ के साथ संप्रसारित स्वर की श्रुति सुनाई देती है। अनुनासिक का उत्तरवर्ती अर्धस्वर यदि र् हो तो सानुनासिक अउं या औं की श्रुति सुनाई देती है। ये सभी अनुनासिक कोमल हैं।

इसी तरह तत्सम शब्दों में अनुनासिक के बाद संघर्षी यानी कि उष्माक्षर श्, ष्, स् या महाप्राण ह् की उपस्थिति में भी सानुस्वर उं या औं की श्रुति देखी जाती है। अब लिखित शब्दों से यह स्पष्ट होगा। अंश = अउंश। अऔंश, अंस = अउंस/अऔंस, कंस = कउंस / क्औंस, वंश = वउंश / व्औंश, दंष्ट्र = दउंष्ट्रा / द्औंष्ट्रा, संहिता = सउंहिता / स्औंहिता, संहार = सउंहार / स्औंहार।

अर्थात् निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्सम शब्दों में अनुनासिक के उत्तरवर्ती उष्माक्षर या महाप्राण हो तो सानुनासिक उं या औं श्रुति होती है।

गुजराती तद्भव शब्द

तत्सम शब्द के बाद गुजराती भाषा में तद्भव शब्दों का स्थान है। जो संस्कृत शब्द प्राकृत, अपभ्रंश भाषा से होते हुए गुजराती भाषा में नये रूप में प्रचलित हैं वे तद्भव शब्द हैं। ऐसे तद्भव शब्दों में सानुस्वार शब्दों पर विचार करने से अनुनासिक प्रयोग की अन्य विशेषता समझ में आ सकती है।

अंक : आंक, कंकण, पंगु : पांगलुं, चंचू : चांच, मंच : मांचडो, संध्या : सांज, ग्रंथि : गांठ, दंड : दांडो, मंडप : मांडवो, खंडन : खांडण, तंतु : तांतणां, चंद्र : चांदो, दंत : दांत, कंप : कांप, जंबु : जांबु, स्तंभ : थांभलो। इन शब्दों में अनुनासिकयुक्त ह्रस्व स्वर गुजराती में दीर्घ बना है और साथ में अनुनासिक उच्चारण कोमल बनता है। यद्यपि संस्कृत में अनुनासिक तीव्र हैं। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्कृत से गुजराती में तद्भव शब्द बना हो और मूल में अनुनासिकयुक्त ह्रस्व स्वर गुजराती में दीर्घ बना हो तो अनुनासिक का उच्चारण कोमल बनता है। मगर इस सिद्धान्त में अपवाद भी देखे जाते हैं। जैसे लंघन : लांघन, भंगा : भांग। इन शब्दों में सानुस्वर ह्रस्व स्वर गुजराती में तद्भव स्वरूप बनकर दीर्घ बने हैं फिर भी अनुनासिक उच्चारण तीव्र ही रहा है।

तद्भव शब्दों में सानुस्वर स्वर ह्रस्व ही रहता है तो उच्चारण सुनने में आता है इससे यह विचार और भी स्पष्ट होता है। दंश : डंख, पंक्ति : पंगत, शृंग : शिंग, अंचला : अंचलो, अंचलो, संयोग : संजोग, दंड : दंडो, यंत्र : जंतर, अंधकार : अंधार, चंपक : चंपो, तंबूल : तंबोल जैसे शब्द तद्भव शब्द हैं। मूल संस्कृत में सानुनासिक स्वर ह्रस्व है तो गुजराती में भी ह्रस्व ही है। उल्लेखनीय है कि गुजराती में अनुनासिक का उच्चारण तीव्र ही है जो संस्कृत उच्चारण के अनुरूप है। अगर तंबोल शब्द का स्त्रोत संस्कृत शब्द तांबूल माना जाय तो दीर्घ स्वर ह्रस्व होते हुए भी अनुनासिक उच्चारण तीव्र ही रहता है ऐसा समझना पड़ेगा। इससे निष्कर्ष निकलता है कि गुजराती तद्भव शब्द में सानुनासिक स्वर ह्रस्व हो तो उच्चारण तीव्र रहेगा।

गुजराती भाषा में ऐसे भी तदभव शब्द मिलते है जिनमें मूल संस्कृत शब्द में

अनुनासिक न होने पर भी गुजराती में अनुनासिक श्रुति प्रविष्ट होती है। चुक्क : चूंक, अक्षि : आंख, पक्ष : पांख, अर्चिस् : आंच, गुच्छ : गूंच, ऋक्ष : रींछ, जैसे शब्दों के अवलोकन से समझ में आता है कि मूल संस्कृत शब्दों में अनुनासिक की उपस्थिति नहीं है फिर भी गुजराती में अनुनासिक श्रुति है। साथ में यह भी देखा जा सकता है कि गुजराती में अनुनासिक श्रुतियुक्त स्वर दीर्घ बना है जब कि संस्कृत में यह ह्रस्व है। और सभी अनुनासिक श्रुतिप्रविष्ट होता है और वह सानुनासिक स्वर मूल ह्रस्व रूप से दीर्घ बना हो तब अनुनासिक श्रुति कोमल बनती है।

गुजराती तद्भव शब्दों में ऐसे भी शब्द पाये जाते हैं जिसमें मूल में अनुनासिक न होने पर भी अनुनासिक प्रविष्ट होता है मगर वह सानुनासिक स्वर ह्रस्व ही रहता है, दीर्घ नहीं बनता। जैसे ढक्का : डंको, पक्ष पंख, पक्षक : पंखो, सौवर्चल : संचल, स्तब्ध : ठंडी, वर्तुल : वंटोल, धत्तुर : धंतूरो। इन शब्दों में अनुनासिक उच्चारण तीव्र है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अनुनासिक संस्कृत शब्द से गुजराती तद्भव रूप में जब अनुनासिक श्रुति प्रविष्ट होती है और वह सानुनासिक स्वर ह्रस्व होता है जब अनुनासिक श्रुति तीव्र बनती है।

गुजराती में फारसी, अंग्रेजी जैसी भाषा से उसी स्वरूप में या बदलाव के साथ अपनाये गये शब्दों को परभाषी शब्द कहते हैं। ऐसे शब्दों में मूल स्त्रोत में अनुनासिक तीव्र हो तो गुजराती में तीव्र ही रहता है। जैसे फारसी शब्दों में अंगूर, अंजाम, कंकास, खंजर, गंदकी, गुंबज, चुंगी जगल, जंजीर, जिंदगी, झुबेश, तंगी, दंग। इसी तरह अंग्रेजी शब्दों के उदाहरण भी है। जैसे टेन्शन, केन्सल, इन्सेक्षन, इंग्लिश, अंग्रेजी, कम्पल्सरी, लेंग्वेइज, इम्पीचमेन्ट, कोन्स्टीट्युशन, जम्प, एटेन्शन, इन्टेलिजन्स इत्यादि। अंग्रेजी में सामान्यतः न् और म् दो ही अनुनासिक ध्वनि है। लेंग्वेइज जैसे शब्दों में ङ् के समान श्रुति होने पर भी इसके लिए अलग लिपि चिह्न नहीं है। अंग्रेजी में अनुनासिक उच्चारण तीव्र हैं। निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि फारसी और अंग्रेजी भाषा से गुजराती में उसी स्वरूप में आए और बदलाव के साथ गुजराती में अपनाये गय शब्दों में अनुनासिक उच्चारण तीव्र ही होता है।

गुजराती में जो तीव्र और कोमल अनुनासिक का भेद है उसका मूल स्त्रोत संस्कृत में ही देखा जा सकता है। संस्कृत में अनुनासिक के स्वरानुनासिक और व्यञ्जनानुनासिक

ऐसे दो प्रकार स्वीकृत हैं। ऊपर की गई विचारणा में यह देखा जाता है कि जहाँ तीव्र अनुनासिक उच्चारण है वहाँ अनुनासिक व्यञ्जन का उच्चारण होता है, जैसे गङ्गा, सञ्चय इत्यादि। जहाँ अनुनासिक का कोमल उच्चारण है वहाँ अनुनासिक व्यञ्जन की श्रुति नहीं है। जैसे अंश, वंश इत्यादि। यहाँ अनुनासिक स्वर की श्रुति समझनी चाहिये। ध्यान से सुना जाय तो ऐसे शब्दों में अनुनासिक स्वर की श्रुति ही सुनाई देगी। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुनासिक व्यञ्जन की श्रुति तीव्र है और अनुनासिक स्वर की श्रुति कोमल है। इसी कारण से ङ् और ञ् को स्वारानुनासिक के उपघटक मानना उचित नहीं रहेगा। ङ् और ञ् की स्वरवत् श्रुति गुजराती में कभी सुनाई नहीं देती। संस्कृत व्याकरणशास्त्र के अनुसार गुजराती में भी स्वरों के सानुनासिक और अनुनासिक ऐसे दो भेद स्पष्ट रूप से स्वीकार्य हैं। स्वरानुनासिक के लिये शिरोबिन्दी के अलावा अन्य कोई रीति व्यवहार में प्रचलित नहीं है। संस्कृत में हालांकि व्यञ्जनानुनासिक को शिरोबिन्दो से लिखने का विकल्प है फिर भी संस्कृत शब्दकोष में और महत्तया संस्कृत लेखन में भी व्यञ्जनानुनासिक व्यञ्जन के स्वरूप में लिखने का प्रचार विशेष रूप से देखा जाता है।

गुजराती और संस्कृत लिपि में इतना साम्य जरूर है कि दोनों में विविध उच्चारण के लिये अलग चिह्न का उपयोग होता है। अनुनासिक के स्वर और व्यञ्जन स्वरूप के उच्चारण भेद को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने के लिये चिह्नभेद अपनाये जाने चाहिये। ऐसा करने से श्रुति और लिपि परस्पर सुचारू रूप से प्रतिबिंबित हो सकते हैं। इस पद्धति से श्रवण और लेखन का सामञ्जस्य बना रहेगा। इसीलिये जहाँ तीव्र अनुनासिक है वहाँ अनुनासिक व्यञ्जन लिखा जाना चाहिये और जहाँ अनुनासिक कोमल अनुनासिक है वहाँ अनुस्वार अर्थात् शिरोबिन्दी (ं) से लिखा जाना चाहिये। अनुस्वार शब्द का यौगिक अर्थ भी इसका प्रमाण है। स्वरस्य इदं स्वारम्। अनु स्वारमिति अनुस्वारम्।

प्रो. किशोरी जी. चन्दाराणा
श्री इ.इ.एल.के.कॉमर्स कालेज,
चीखली जिला नवसारी,
गुजरात 396 421



पातञ्जल योग दर्शन में सुख-एक समालोचनात्मक दृष्टि

प्रो. बृजेश कुमार शुक्ल

भारतीय–दर्शन में शाश्वत सुख की खोज प्रायः सभी दर्शनाचार्यो ने की है। सभी का मत प्रायः एक है कि जन्म जरा तथा मृत्यु से आत्यन्तिक विमुक्ति प्राप्त होना ही शाश्वत सुख है। इस शाश्वत सुख का अपर नाम मोक्ष है। यह मोक्ष रूप सुख अतीन्द्रिय है। एक ऐन्द्रिय सुख भी होता है–जिसे इस संसार के सभी प्राणी अधिगत करना चाहते हैं। इस प्रकार सुख के दो प्रकार दृष्टिगत होते हैं–प्रथम, इन्द्रियसुख तथा द्वितीय–अतीन्द्रियसुख। इन्द्रियसुख अनित्य तथा अवास्तविक केवल भोगरूप है, जब कि अतीन्द्रिय सुख मोक्ष स्वरूप और आत्यन्तिक है। इन्द्रियजन्य सुख, केवल दुःख का मूल है जिसके विषय में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है–**क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्यवेदनीयः।**[1] इसका तात्पर्य है कि कर्म की वासना क्लेश की जड़ है जो वर्तमान तथा भावि जन्म में भोग्य होती है। कर्म वासना का अभाव ही निष्काम कर्म है, जिसकी श्रीमद्भगवद्गीता में प्रशंसा की गयी है।[2] दुःखमूल रूप जब कर्माशय रूपी वृक्ष फलित होता है तो मनुष्य (जीव) को जाति, आयु तथा इन्द्रियादि भोग प्राप्त होते हैं।[3] कर्मानुसार मनुष्य, देव, तिर्यक् योनि रूप जाति, जीवात्मा का शरीर सम्बन्धावधि रूप आयु तथा रूप रसादिरूप ऐन्द्रिय भोग प्राप्त करना ही इन्द्रिय सुख है जिसे अनित्य और अविद्या रूप कहा गया है। ये जाति अथवा जन्म, आयु तथा भोग पुण्य कर्मों से सुख परिणाम वाले तथा अपुण्य कर्मो से दुःख परिणाम वाले होते हैं–**ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।**[4]

व्यासभाष्य में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है–**ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुःखफला इति।**[5] पुण्य हेतुक सुख फल भी दुःख के कारण होते हैं क्योंकि इनसे शाश्वत सुख नहीं प्राप्त होता है। यह विषय सुख अविद्या है। भोगों में इन्द्रियों की तृप्ति से जो उपशान्ति प्राप्त होती है, वही सांसारिक सुख है और जो केवल चाञ्चल्यवश इन्द्रियों की अतृप्तिता है वही सांसारिक दुःख है। इन्द्रिय भोग के अभ्यास से

शान्ति का अभाव होता है और तृष्णा की वृद्धि होती है। अतः भोग का अभ्यास शाश्वत सुख का साधन नहीं है।[6] श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि विषयेन्द्रिय संयोग से अमृतोपम लगने वाला सुख राजस सञ्ज्ञक है और वह परिणाम में विषवत् है–

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।[7]

इस प्रकार का सुख विवेकी अर्थात् योगी पुरुष के लिए दुःख ही है। गुणवृत्ति के विरोध से परिणाम दुःख, तापदुःख तथा संस्कार दुःख सुख रूप होते हुए भी विवेकी के लिए दुःख ही है–

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।[8]

विषयभोग से इन्द्रिय तृप्त नहीं होती है अपितु उनमें भोगतृष्णा बढ़ती ही है। इस ऐन्द्रिक सुख में इन्द्रियों की निर्बलता रूप अशान्ति दुःख में परिणत होती है। अतः इसे परिणाम दुःख कहते हैं। विषय–सुख की प्राप्ति तथा उसके उपाय में राग उत्पन्न होता है। इसे सुख भोगान्तर पुनः सुख भोगकी प्राप्ति अर्थात् राग कहते हैं–**सुखानुशयी रागः।**[9] इस सुख के भोग में अपाय रूप दुःख से द्वेष उत्पन्न होता है। इसे दुःखानुशयी द्वेष कहते हैं– **दुःखानुशयी द्वेषः।**[10] ये दोनों राग तथा द्वेष ताप दुःख कहे जाते हैं। राग–द्वेष वश व्यक्ति जो शुभाशुभ कर्म करता है, वे उसके संसार गमनागमन के हेतु होते हैं, जिन्हें संस्कार दुःख कहते हैं। पातञ्जल योग दर्शन में क्लेश पाँच प्रकार के कहे गये हैं–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश–

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।[11]

अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख तथा जड़ में चेतन का ज्ञान अविद्या है।[12] दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति में एकात्मता का भान होना अर्थात् अहंभाव की प्रवृत्ति अस्मिता नामक क्लेश है।[13] राग तथा द्वेष पूर्व परिभाषित हैं। विद्वान् से लेकर मूर्ख पर्यन्त सभी जीवों पर मृत्युभय का चित्त पर पड़ने वाला संस्कार ही अभिनिवेश नामक क्लेश है।[14]

पातञ्जल योगदर्शन में उपर्युक्त पाँच प्रकार के क्लेशों की निवृत्ति हेतु कहा गया है

कि योगी क्रिया योग अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा इन्हें सूक्ष्म करके विवेकख्याति रूप अग्नि से इनके बीज का दहन करता है और तब असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा चित्त के प्रलीन होने पर उसी के साथ इन क्लेशों का विलय हो जाता है।[15] क्लेश कर्म की निवृत्ति होने पर जीव विमुक्त हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है–**ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।**[16] क्लेश कर्मो की निवृत्ति होने पर विद्वान् योगी जीवित रहता हुआ भी मुक्त हो जाता है, क्योंकि जन्म–मरण का हेतु मिथ्या (विपर्यय) ज्ञान ही संसार का कारण है। क्लेश कर्म निवृत्ति होने पर क्षीणमिथ्या ज्ञान वाला जीव कहीं भी जन्म नहीं लेता है[17] और यही मोक्ष स्वरूप शाश्वत तथा आत्यन्तिक सुख है। व्यासभाष्य में ऐसे अमृत भोगी, नित्य सुखी योगी की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि शय्यादि आसन पर स्थित अथवा मार्ग में चलता हुआ हिंसादि सम्पूर्ण वितर्कजाल से रहित स्वस्थ योगी संसार के बीज स्वरूप अविद्या के नाश का अनुभव करता हुआ नित्ययुक्त होकर अमृत भोग रूप शाश्वत सुख को प्राप्त करता है–

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा

स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।

संसारबीजक्षयमीक्षमाणः

स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी।।[18]

साङ्ख्यदर्शन में भी यही कहा गया है कि कहीं भी कोई सुखी नहीं है जिसे सुख समझा जाता है, विवेकी पुरुष उसे दुःख से संवलित समझते हैं।[19] प्रश्न होता है कि फिर अतीन्द्रिय सुख क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वयं महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि सन्तोष से उत्तमोत्तम सुख की प्राप्ति होती है–**सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।**[20] सन्तुष्टि में सम्पूर्णतया चित्त की स्थिति से तृष्णा का नाश होता है और तृष्णा नाश से अत्युत्तम सुख प्राप्त होता है। व्यासभाष्य में इस सन्दर्भ से सम्बद्ध एक श्लोक उद्धृत किया गया है–

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।।[21]

इस श्लोक का आशय है कि संसार में स्रक् चन्दन, पुत्र, स्त्री धनादि जो काम सुख है

और स्वर्ग में दिव्य अप्सरा भोगादि महत् सुख है, ये दोनों प्रकार के सुख तृष्णा क्षय होने से जिस असीम सुख की सम्प्राप्ति कराते हैं उसके सोलहवीं कला के भी समकक्ष नहीं है। यह सुख अतीन्द्रिय है और केवल सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य है। ऐसे सुख का अनुभव होने पर वह योगी तत्त्व से विचलित नहीं होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में जैसा कि कहा गया है–

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवाऽयं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥[22]

इस आत्यन्तिक तथा अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करने के पश्चात् उससे अधिक किसी सुख की कामना रह ही नहीं जाती है और वह महद् दुःखों से भी विचलित नहीं होता है।[23] पञ्चधा क्लेशों का नाश, तृष्णा का क्षय तथा अविद्या का विनाश इस आत्यन्तिक अतीन्द्रिय सुख के साधन हैं। परन्तु तृष्णा शीघ्र जीर्णता को प्राप्त नहीं होती है–**तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।**[24] महाभारत के आदि पर्व में कहा गया है कि जिसे दुष्टबुद्धि वाले व्यक्ति त्याग नहीं सकते और जो शरीर के जीर्ण होने पर भी जीर्ण नहीं होती, बुद्धिमान् उस तृष्णा का परित्याग करने पर सुख से आपूरित हो जाता है–

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।

तां तृष्णां सन्त्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते॥[25]

तृष्णा का परित्याग ही सन्तोष है। स्मृतिकार ने भी सन्तोष को मूल सुख बतलाया है–

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।

सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥[26]

पतञ्जलि ने जिस प्रकार के सुख की कल्पना की है वह सुख न केवल शरीर नाश के अनन्तर प्राप्त होता है, अपितु शरीर धारण करते हुए भी ऐसे अतीन्द्रिय सुख का आस्वादन योगी को दिव्य बना देता है। इस सुख के साधन स्वरूप अनेक सिद्धियां और दिव्य भोग उपस्थित होते हैं। पातञ्जलयोग में इसके माध्यम से सांसारिक सूर्यादि अनेक वस्तुओं में संयम करने से अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।[27] योगी यदि व्युत्थित चित्त वाला होकर इन सिद्धियों में दिव्य सुखानुभूति करता है तो वह ब्रह्मावाप्ति रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता है, क्योंकि समाधिस्थ योगी के लिए ये सिद्धियां विघ्न रूप हैं–

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।[28]

अतः योगी को उक्त सुख से सिद्धियों का भोग न करके ब्रह्म का स्पर्श करना चाहिए इससे अत्यन्त सुख प्राप्त होता है–

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।[29]

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि शरीर नाश के पूर्व ही जो योगी व्यक्ति काम तथा क्रोध से उद्भूत वेग को सहन करने में समर्थ होता है वही युक्त योगी और सुखी है–

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।[30]

पातञ्जलयोग में ऐसे सुख की प्राप्ति के लिए अष्टाङ्ग योग मार्ग का उपदेश किया गया है–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।[31] योग के प्रथम चार अङ्ग व्यक्ति को आचरण–युक्त, रोग–मुक्त तथा कायशुद्धि का सम्पादन करने से रूप, लावण्य, बल, वीर्य, और ओज से सम्पन्न कर देते हैं, इसे काय सम्पत् कहते हैं– **रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।**[32] आज केवल इसी शरीराभा सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए योगानुष्ठान किया जाता है। यदि कायसम्पत् की प्राप्ति के साथ–ही–साथ प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान का अभ्यास किया जाय तो समाधि के माध्यम से अतीन्द्रिय और अक्षय सुख की प्राप्ति हो सकती हैं। आज जिस योग का स्वरूप समाज में प्रचलित है, वह केवल रोगराहित्य और रूप–लावण्य की प्राप्ति तक सीमित है। इससे केवल शरीर सुख की प्राप्ति सम्भव है। उस अतीन्द्रिय तथा आत्यन्तिक सुख के लिए योग के अग्रिम सोपानों पर जाना अभीप्सित होगा। शरीरिक सुख और भोग की प्राप्ति के लिए परवर्ती योग वाङ्मय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है हठयोगप्रदीपिका, गारेक्षसंहिता तथा घेरण्ड संहिता आदि ग्रन्थों में आसन, प्राणायाम, मुद्रा तथा ध्यान के माध्यम से अनेक सिद्धियों का सुखभोग प्राप्त किया जा सकता है। हठयोग, राजयोग, लययोग, नादयोग तथा मन्त्रयोग इत्यादि योगों के वर्णन से यह परवर्ती योग साहित्य पर्याप्त समृद्ध है और इससे संसार में रहकर दिव्य सुखों की प्राप्ति की जा सकती है–

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी।

सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा।।

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणम्।

तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्।।[33]

हठयोग की सिद्धि से लक्षण में शरीर का कृशत्व, सुख की प्रसन्नता, नाद स्फुटता, नेत्र–निर्मलता, अरोगता, वीर्यस्तम्भन, अग्निदीपन और नाड़ियों की विशुद्धि बतलायी गयी है।[34] बज्रोली, शाम्भवी, खेचरी मुद्राएं तथा कुण्डलिनी जागरण आदि क्रियाएं भौतिक सिद्धियों का साधन हो सकती हैं। कुण्डलिनी शक्ति के माध्यम योग तन्त्र ग्रन्थों में शाश्वत सुख की परिकल्पना की गयी है। आसन और प्राणायाम से विविध रोगों की शान्ति का वर्णन है।[35] हठयोग प्रदीपिका में राजयोग के द्वारा अखण्ड सुखोपलब्धि कही गयी है। मुक्ति प्राप्त हो अथवा न हो परन्तु लय से उत्पन्न हुआ अखण्डित सुख राजयोग से प्राप्त होता है–

अस्तु वा माऽस्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम्।

लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते।।[36]

इस प्रकार योग में सुख की दोनों प्रकार की स्थितियों का वर्णन प्राप्त होता है। एकत्र ऐन्द्रिय सुख प्राप्ति के ऐहिक साधनों का निरूपण है, आमुष्मिक दिव्य सुख प्राप्ति के साधन भी कहे गये हैं और इस लौकिक तथा पारलौकिक सुख के व्यतिरिक्त अतीन्द्रिय, आत्यन्तिक तथा शाश्वत सुख रूप कैवल्य का प्रतिपादन भी योग दर्शन में दृष्टिगत होता है। वास्तव में अनागत दुःख का नाश करना ही योग का मुख्य प्रयोजन हो सकता है–**हेयं दुःखमनागतम्।**[37] इस अनागत दुःख की हानि को सुखोपपत्ति का साधन स्वीकार किया जा सकता है। वास्तव में इन्द्रियों और मनः के परवश रहना ही दुःख है और इन्हें अपने वश में करके रहना ही सुख है यही सङ्क्षिप्ततया सुख और दुःख का लक्षण अङ्गीकार किया जा सकता है–

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः।।[38]

सारांश रूप में महर्षि पतञ्जलि का मन्तव्य कदाचित् यही स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि इन्द्रियादि के वश से तृष्णा–क्षय तथा अप्रतिम सन्तोष की प्राप्ति होती है और इसी से सुख लाभ प्राप्त होता है। पातञ्जलयोग दर्शन का यही आशय सर्वमान्य है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. पातञ्जलयोगसूत्र 2/12
2. ब्रह्माण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
   लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। श्रीमद्भागवद्गीता 5/10
3. सति मले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। (पातञ्जलयोगसूत्र 2/13)
4. पातञ्जलयोगसूत्र 2/14
5. पातञ्जलयोगसूत्र 2/14 पर व्यासभाष्य, पृ. 206-207
6. विषयसुखञ्चाविद्येत्युक्तम्। भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम्।
   या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम्।.......। तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। (व्यासभाष्य, पृ.209-210)
7. श्रीमद् भगवद् गीता 18/38
8. पातञ्जलयोगसूत्र 2/15
9. पातञ्जलयोगसूत्र 2/7
10. पातञ्जलयोगसूत्र 2/8
11. पातञ्जलयोगसूत्र 2/3
12. अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या।
    (पातञ्जलयोगसूत्र 2/5)
13. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेस्मिता। (पातञ्जलयोगसूत्र 2/6)
14. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः (पातञ्जलयोगसूत्र 2/9)
15. पातञ्जलयोगसूत्र 2/10, 2/11
16. पातञ्जलयोगसूत्र 4/30
17. क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान्विमुक्तो भवति। कस्मात्? यस्माद् विपर्ययो भवस्य कारणम्। नहि क्षीणविपर्ययः कश्चित्केनचित्क्वचिज्जातो दृश्यत इति।
    (व्यासभाष्य, पृ. 537-538)
18. पातञ्जलयोगसूत्र 2/32 पर व्यासभाष्य, पृ. 283
19. कुत्रापि कोऽपि सुखीति। तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः।
20. पातञ्जलयोगसूत्र 2/42
21. पातञ्जलयोगसूत्र 2/42 पर व्यास भाष्य, पृ. 296

22. श्रीमद्भगवद्गीता 6/21

23. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते। (श्रीमद्भगवद्गीता 6/22)

24. भर्तृहरि-वैराग्य शतक, श्लोक-12

25. महाभारत आदिपर्व 85/14

26. मनुस्मृति 4/12

27. पातञ्जलयोगसूत्र द्रष्टव्य तृतीय पाद।

28. पातञ्जलयोगसूत्र 3/37

29. श्रीमद्भागवतगीता 6/28

30. तत्रैव 5/23

31. पातञ्जलयोगसूत्र 2/29

32. पातञ्जलयोगसूत्र 3/46

33. हठयोग प्रदीपिका उपदेश 3/50

34. तत्रैव 2/78

35. तत्रैव, गोरक्षसंहिता तथा घेरण्डसंहिता

36. तत्रैव, 4/78

37. पातञ्जलयोगसूत्र 2/16

38. मनुस्मृति 4/160

प्रो. बृजेश कुमार शुक्ल
अध्यक्ष
संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ



भोजप्रबन्धः कविता, कला और मानवीय मूल्यों की सर्वोच्च प्रतिष्ठा का आग्रह

प्रो. ओम्प्रकाश पाण्डेय

कविवर बाल्लालरचित 'भोज प्रबन्ध' में महाराज भोज, जिन्होंने 1005 ई. से 1054 ई. तक मालवा पर शासन किया था और जिनकी राजधानी धार अथवा धारा थी, के उदार गुणों विशेष रूप से उनकी दानशीलता तथा उदात्त वृत्तों का संकलन है। भोज स्वयं बहुत उच्चकोटि के विद्वान् थे, जिन्होंने 23 ग्रन्थों की रचना साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, व्याकरण इत्यादि विभिन्न विधाओं में की थी इनमें से समरांगणसूत्रधार, श्रृंगारप्रकाश, सरस्वतीकण्ठाभरण, शालिहोत्र (अश्वचिकित्सा) इत्यादि ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं।

'भोजप्रबन्ध' न इतिहास है और न पूरी तरह कल्पना। बहुत दिनों तक संस्कृत–साहित्य के इतिहास–लेखक इसका आकलन ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में करते रहे और इतिहास की कसौटी पर इसे खरा न पाकर इसकी उपेक्षा करते रहे। इसके रचयिता बल्लाल के विषय में भी किसी को विशेष जानकारी नहीं है। बंगाल के विद्वान् उन्हें बल्लाल सेन कहकर बंगाली मानते रहे और काशी के पण्डित सब कुछ काशी से जोड़ने की धुन में उन्हें बल्लाल मिश्र बतलाकर काशिकेय मानते रहे। स्वयं कवि अपने विषय में पूर्णतया मौन है। काशी वाली मान्यता पर यदि विश्वास करें तो कविवर बल्लाल दैवज्ञ भी थे, जिनके पिता का नाम त्रिमल्ल था और पुत्र का नाम था गोविन्द, जिसने ज्योतिषग्रन्थ 'सूर्य सिद्धान्त' पर टीका लिखी थी। यह परम्परा बल्लाल को 16वीं शती के उत्तरार्द्ध में निर्धारित करती है। स्वयं 'भोजप्रबन्ध' पर विश्वास करें तो 'बल्लाल' किसी व्यक्ति का नाम न होकर स्थान का नाम है।

'भोजप्रबन्ध' इतिहास नहीं है। यह एक ऐतिहासिक सम्राट् जो साहित्य और कला के महान् आश्रयदाता के रूप में भारतीय जनमानस में बहुसंख्यक वदान्य दानशीलता की किंवदन्तियों का लाडला महानायक है, के आधार पर रचित फन्तासी अथवा दुर्ललित लघु कथाओं की कल्पना का आकर्षक वितान है। ये कथाएँ भले ही गढ़ी गयी हों–लेकिन इनमें प्रतिपादित सत्य, घटना का सत्य न होते हुए भी, जीवन का सत्य है। इन कथाओं में कविता की सर्वोच्च प्रतिष्ठा का आग्रह गुम्फित है, कला के शिखर समारोहण का अनुरोध अनुगुंजित है और उच्चतर मानवीय मूल्यों की, दुर्बलताओं के तमस् में भी प्रभावोत्पादक कौंध चित्रित है। जाति–पाँति की रूढ़ियों का तिरस्कार किया गया है। 'भोज प्रबन्ध' के नायक भोज का स्पष्ट निर्देश है कि उनके राज्य में उस ब्राह्मण को बसाने की आवश्यकता नहीं है, जो ब्राह्मण होते हुए भी मूर्ख है–इसके विपरीत उस कुम्हार का अनादर न किया जाये, जो कुम्हार होते हुए भी विद्वान् है–

विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद् बहिरस्तु मे।

कुम्भकारोऽपि यो विद्वान् स तिष्ठतु पुरे मम।। (पद्य सं. 74)

इसी श्रेणी में उस जुलाहे का आख्यान समाविष्ट है, जिसे अपने घर से राजकर्मचारी इसलिए निकाल रहे थे, ताकि उसके घर में दाक्षिणात्य कवि लक्ष्मीधर को बसाया जा सके। आहत जुलाहे ने राजसभा में आकर महाराज भोज से निवेदन किया–

काव्यं करोमि न हि चारुतरं करोमि

यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि।

भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ!

हे साहसांक कवयामि वयामि यामि।।

(हे अधीनस्थ राजाओं की मुकुटमणियों से सुशोभित चरणपीठिका वाले महासाहसी राजन्! मैं भी काव्य–रचना करता हूँ भले ही वह बहुत सुन्दर न हो। यदि थोड़ा प्रयत्न करूँ तो उत्कृष्ट कविता भी रच सकता हूँ। (अब यह निर्देश आप ही दीजिए कि) मैं कपड़ा बुनूँ, कविता रचूँ या यहाँ से चला जाऊँ? 'भोजप्रबन्ध' में इस जुलाहे के द्वारा रचे गये तीन पद्य और मिलते हैं जिनमें से दो में काव्यानन्द की अनुभवसिद्धता का अच्छा प्रतिपादन है। इनमें

से प्रथम पद्य है–

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवं

तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम्।

कासारे दिवसं वसन्नपि पयः पूरं परं पंकिलं

कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभः।। (पद्य संख्या 95)

(गुरु–कृपारूपी अमृत के परिपाक से उत्पन्न वाणी के वैभव को केवल कवि ही पा सकता है। हठपूर्वक पढ़कर उसे रटने वाले नहीं पा सकते। सरोवर में दिन भर रहते हुए तथा जलराशि को गँदली करते हुए भी क्या भैंसा उसमें खिले हुए कमलों की सुगन्ध का अनुभव कर पाता है?)

जुलाहे के अतिरिक्त कुम्हार के कवि होने की भी एक घटना 'भोजप्रबन्ध' में मिलती है। पात्र–निर्माण–हेतु मिट्टी खोदते समय उसे एक घड़ा मिला, जिसमें रत्न भरे थे। उसे लेकर वह अपनी पत्नी के साथ राजदरबार में आया। भोज के यह पूछने पर कि इसमें क्या है, उसने निम्नलिखित पद्य सुनाया–

राजचन्द्रं समालोक्य त्वां तु भूतलमागतम्।

रत्नश्रेणीमिषान्मन्ये नक्षत्राण्यभ्युपागमन्।। (प.सं.176)

(मुझे प्रतीत होता है कि पृथ्वी पर आपके राजा के रूप में आने पर स्वयं चन्द्रमा ही उतर आया। फिर नक्षत्र ही आकाश में कैसे बने रहते! वे भी आप–जैसे राजचन्द्र के निकट उपस्थित होने के लिए इन रत्नों के रूप में धरती पर आ गये हैं)

इतना काव्यात्मक पद्य सुनने के बाद राजा भोज ने वह रत्नपूर्ण घट उसी कुम्हार को दे दिया! इसी क्रम में 'भोजप्रबन्ध' में एक पद्य किसी बहेलिये की पत्नी का मिलता है। पशु–हिंसा से उदरम्भरण करने वाले की वह पत्नी राजा को कही मार्ग में मिली। दोनों का संलाप संस्कृत पद्य में इस प्रकार निबद्ध है–

का त्वं पुत्रि! नरेन्द्र! लुब्धकवधूः, हस्ते किमेतत् पलम्

क्षामं किम् सहजं ब्रवीमि नृपते! यद्यादराच्छ्रूयते।

गायन्ति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनीतीरेषु सिद्धांगना

गीतान्धा न तृणं चरन्ति हरिणास्तेनामिषं दुर्बलम्।। (प.सं.182)

(राजा–पुत्री! तुम कौन हो?

व्याधपत्नी–महाराज! बहेलिये की पत्नी।

राजा–हाथ में क्या है?

व्याधपत्नी–मांस।

राजा–यह इतना कम क्यों है?

व्याधपत्नी–सिद्धों की पत्नियाँ उस नदी के किनारे गीत गाती हैं जो आप के शत्रुओं की रानियों के आँसुओं से बना है। इन गीतों को सुनने में अपनी सुधबुध भूले हिरनों को घास खाने तक का होश नहीं रहता। इसीलिए उनका माँस इतना कम होता है।

कवि की दृष्टि में काशी का महत्त्व इसलिए है कि वहाँ चाण्डाल और पण्डित को एक साथ मोक्ष मिलता है। अन्त्यज श्रेणी में उत्पन्न व्यक्ति भी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और इन्द्र–जैसे शक्तिशाली व्यक्तियों को भी तिरस्कृत कर देता है। जलराशि अमृत का तिरस्कार करती है और साधारण पत्थर चिन्तामणि की बराबरी करते हैं। इन तथ्यों को रेखांकित करते हुए किसी कवि ने भोज को अपना निवास–स्थान बतलाते हुए कहा–

यत्राम्बु निन्दत्यमृतमन्त्यजाश्च सुरेश्वरान्।

चिन्तामणिं च पाषाणास्तत्र नो वसतिः प्रभो।। (267वाँ पद्य)

ऊषरं कर्मसस्यानां क्षेत्रं वाराणसी पुरी।

यत्र सँल्लभ्यते मोक्षः समं चाण्डालपण्डितैः।। (109वां पद्य)

सामाजिक समता के साथ मानवीय मूल्यों की ओर भी कवि बल्लाल का ध्यान गया है। सर्वाधिक रुचिकर अंश वह है, जिसमें मराल और शकुन्त नामक दो चोरों का संवाद अंकित है। ये चोर चोरी तो करते है, लेकिन अपने लिए नहीं। चोरी करके ये उनकी सहायता करना चाहते हैं, जो वेद विद्या के संरक्षण में लगे हैं तथा तीर्थ यात्रा के इच्छुक

हैं। संवाद के कुछ अंश इस प्रकार है–

मराल–मित्र शकुन्त! चोरी करने में बड़ा खतरा है–पकड़े जाने पर चोर का सिर धड़ से अलग कर दिया जाता है–फिर तुम यह काम क्यों करते हो?

शकुन्त–चोरी करके धन कमाना तो हमारा धर्म है, जो बाप–दादे के जमाने से चला आ रहा है।

मराल–तुम चोरी में मिले इस धन का क्या करोगे?

शकुन्त–यह धन मैं किसी वेद–वेदांग के मर्मज्ञ विद्वान् को दे दूँगा, जिससे उसे बार–बार दूसरों के सामने हाथ न फैलाना पड़े और आराम से वेदों को पढ़ता पढ़ाता रहे-

'एतद् धनं कस्मैचिद् द्विजन्मने दास्यामि यथायं वेदवेदांगपारगोऽन्यं न प्रार्थयते।'

अच्छा मराल! तुम भी तो बतलाओ कि चुराये गये धन का क्या करोगे?

मराल–यह धन मैं अपने पिताजी को दे दूँगा, जो अपने पापों से छुटकारा पाने के लिए काशी जाना चाहते हैं।

शकुन्त–हाँ, भाई! काशी ही तो वह जगह है, जहाँ रहने वाले कुत्ते का मुकाबला बेचारा इन्द्र भी नहीं कर पाता!

चोरों का एक प्रसंग और है, जिसमें एक चोर पद्य की समस्यापूर्ति करता हुआ अंकित है। कला की महिमा का उद्घोष करने का कोई मौका कवि हाथ से नहीं जाने देता। कीडाचन्द्र नामक किसी कवि का भोज से कथन है कि–अरे भोज! दूसरे राजा तो स्वर्ण और मणियों से निर्मित बाजूबन्द तथा दूसरे आभूषण पहनकर सुशोभित होते हैं लेकिन तत्त्वज्ञानी कलाकार तो अपनी कला से ही उस शोभा को प्राप्त कर लेता है–

सुवर्णमणिकेयूराडम्बरैरन्यभूभृतः।

कलयैव पदं भोज! तेषामाप्नोति सारवित्॥ (पद्य संख्या 118)

कविता की उपेक्षा करने वाले को 'भोजप्रबन्ध' में स्थान–स्थान पर विभिन्न दृष्टियों से उलाहना दिया गया है। रामेश्वर कवि ने कविता के तिरस्कर्त्ता कृपण राजा की समानता उस नपुसंक व्यक्ति से की है जो सम्मुख मृगनयनी सुन्दरी की उपस्थिति में भी असमर्थ

बना रहता है–

कवित्वं न शृणोत्येव कृपणःकीर्तिवर्जितः।

नपुंसकः किं कुरुते पुरः स्थितमृगीदृशा॥ (130वाँ पद्य)

इसी प्रकार का दूसरा पद्य है जो कालिदास के नाम से प्रस्तुत है–

अदातृमानसं क्वापि न स्पृशन्ति कवेर्गिरः।

दुःखायैवातिवृद्धस्य विलासास्तरुणीकृताः॥ (130वाँ पद्य)

(कंजूस व्यक्ति के मन का स्पर्श कवि की वाणी उसी प्रकार नहीं कर पाती है, जैसे युवती स्त्री के हाव–भाव वृद्ध व्यक्ति को दुःख ही देते हैं।)

एक अन्य पद्य में भी इसी प्रकार की उक्ति है–

अधरस्य मधुरिमाणं कुचकाठिन्यं दृशोश्च तैक्ष्ण्यं च।

कवितायाः परिपाकं ह्यनुभवरसिको विजानाति॥ (पद्य संख्या88)

(अधरों की मिठास, स्तनों की कठोरता, नयनों के नुकीलेपन और कविता की परिपक्वता को अनुभवी सहृदय ही समझ सकता है।)

'भोजप्रबन्ध' में उस कविता की प्रशंसा बार–बार की गयी है, जो निर्व्याज मनोहर है, अकृत्रिम है और जिसमें बलात् पाण्डित्य को नहीं ठूँसा गया है। वीणा नामक किसी ऐसे ही काव्य के प्रणेता का कथन है–

तर्कव्याकरणाध्वनीनधिषणो नाहं न साहित्यविन्

नो जानामि विचित्रवाक्यरचनाचातुर्यमत्यद्भुतम्।

देवी कापि विरिञ्चिवल्लभसुता पाणिस्थवीणाकल-

क्वाणाभिन्नरवं तथापि किमपि ब्रूते मुखस्था मम॥ (पद्य संख्या 260)

(मेरी बुद्धि तर्कशास्त्र और व्याकरण में पारंगत नहीं है। साहित्यशास्त्र का भी मैं ज्ञाता नहीं हूँ। चमत्कारोत्पादक विचित्र वाक्यों की रचना का अद्भुत कौशल भी मुझमें नहीं है। फिर भी मेरे मुख में स्थित वाग्देवी अपनी करस्थ वीणा से मिलते–जुलते कुछ शब्द मेरे

मुख से बोल ही देती है।)

इसी भाव की अभिव्यक्ति निम्नलिखित पद्य में की गई है–

सुधामयानीव सुधां गलन्ति विदग्धसंयोजनमन्तरेण।

काव्यानि निर्व्याजमनोहराणि वरांगनानामिव यौवनानि॥ (119वाँ पद्य)

(बिना किसी अलंकार के ही, सहज कविता श्रोता के कर्णकुहरों में वैसे ही अमृत टपकाती है, जैसे सहज सुन्दर स्त्रियों का यौवन, बिना किसी बनाव–सिंगार के ही, आकर्षक प्रतीत होता है। ऐसी कविता बिना किसी समीक्षक के ही वैसे ही लोकप्रियता प्राप्त करती है जैसे श्रेष्ठ स्त्रियों को विटों–भडुओं–की जरूरत नहीं होती।)

कवयित्री सीता ने निम्नलिखित पद्य में तराजू के बहाने किसी पक्षपातग्रस्त समीक्षक को बड़े करीने से उलाहना दिया है–

प्राप्य प्रमाणपदवीं को नामास्ते तुलेऽवलेपस्ते।

नयसि गरिष्ठमधस्तात् तदितरमुच्चैस्तरां कुरुषे॥ (पद्य सं.134)

(अरी तराजू! निर्णायिका बनने के बाद तुममें यह कौन–सी क्षुद्रता आ गई है, जो तुम गरिमामय वस्तु का तो अवमूल्यन कर रही हो और घटिया चीज को उत्कृष्ट बता रही हो!)

समीक्षक अगर किसी अच्छी रचना के गुणों को उजागर न करे, तो क्या उस रचना की उपादेयता नहीं रहेगी? कवि शाम्भवदेव इससे असहमत हैं। उनकी मान्यता है कि गुणों के उजागर न किये जाने पर भी अच्छे कवि की रचना कानों में वैसे ही मिठास घोल देती है, जैसे खुशबू को अनुभव किये बिना भी मालती पुष्पों की माला दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है–

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।

अनधिगतपरिमलापि च हरति दृशं मालतीमाला॥ (पद्य सं.240)

दो महाकवियों की पारस्परिक तुलना के पक्ष में 'भोजप्रबन्ध' कार नहीं है। भवभूति और कालिदास की तुलना–प्रसंग के व्याज से बल्लाल ने इस प्रकार की स्थिति को अच्छा नहीं माना है। जब भवभूति और कालिदास में किसकी रचना श्रेष्ठ है, इसकी परीक्षा करने

के लिए दोनों के ग्रन्थ तराजू पर रखे गये, तो कहीं भवभूति की रचना हल्की न हो जाय, इसलिए भगवती वाग्देवी ने स्वयं अपने कर्णाभूषण की कमल–कलिका का पराग भवभूति के पलड़े में रख दिया–

अहो मे सौभाग्यं मम च भवभूतेश्च भणितं

घटायामारोप्य प्रतिफलति तस्यां लघिमनि।

गिरां देवी सद्यः श्रुतिकलितकह्लारकलिका-

सुधूलेःमाधुर्यं क्षिपति परिपूर्त्यै भगवती॥ (पं.सं.253)

सांसारिक वैभव से रहित होने पर भी, 'भोजप्रबन्ध' में वर्णित कवियों में हीनता अथवा दीनता की ग्रन्थि नहीं है। ऐसे ही एक कवि की उक्ति है–

नास्माकं शिविका न कापि कटकाद्यालंक्रिया सत्क्रिया

नोत्तुंगस्तुरगो न कश्चिदनुगो नैवाम्बरं सुन्दरम्।

किन्तु क्ष्मातलवर्त्यशेषविदुषां साहित्यविद्याजुषां

चेतस्तोषकरी शिरोनतिकरी विद्याऽनवद्यास्ति नः॥ (पं.सं.246)

(न तो हमारे पास पालकी है, न सजने–धजने के लिए कंगन इत्यादि आभूषण हैं; ऊँचा घोड़ा भी हमारे पास नहीं है, नौकर–चाकर और अच्छे कपड़े भी नहीं हैं। किन्तु हमारे पास वह निर्दोष विद्या अवश्य है, जिसकी उपासना साहित्यसेवी और भूमण्डल भर के विद्वान् करते हैं, जो मन को सन्तोष देती है और जिसके सामने हर समझदार व्यक्ति सिर झुका देता है।)

राजदरबार के कवियों में स्वाभाविक रूप से होने वाली पारस्परिक स्पर्धा के भी कुछ रुचिकर चित्र सँजोये हैं बल्लाल ने। पास में स्थित वृक्ष की शाखा पर काँव–काँव करते कौए के बहाने कवि देवजय ने अपने प्रतिद्वन्द्वी कवि हरि शर्मा की निम्नलिखित आलोचना की–

नो चारू चरणौ न चापि चतुरा चञ्चूर्नवाच्यं वचो

नो लीलाचतुरा गतिर्न च शुचिः पक्षग्रहोऽयं तव।

कूरंके कृतिनिर्भरां गिरमिह स्थाने वृथैवोद्गिरन्

मूर्ख ध्वांक्ष! न लज्जसेऽप्यसदृशं पाण्डित्यमुन्नाटयन्॥ (प.सं. 268)

(अरे मूर्ख कौए! न तो तेरे पैर सुन्दर हैं, ना ही चोंच अच्छी है, न बोलने लायक वचन हैं, न बाँकी चाल है, और पंखों में ही कोई चमक-दमक है। फिर भी इस स्थान पर काँव-काँव कर अपनी पण्डिताई का निरर्थक उद्घोष करते हुए तुझे शर्म नहीं आती।)

हरिशर्मा ने भी इसका जवाब उसी समय तुर्की-बतुर्की दिया-

तुल्यवर्णच्छदः कृष्णः कोकिलैः सह संगतः।

केन विज्ञायते काकः स्वयं यदि न भाषते॥ (प.सं.269)

(कोयल के साथ बैठा हुआ कौआ, जिसका रंग-रूप और पंख भी कोयल की ही तरह काले-काले हैं, जब तक स्वयं न बोलना शुरू कर दे, तब तक कौन जान सकता है कि वह वास्तव में कोयल न होकर कौआ है!)

राजसभा में, किसी दिन विष्णु नामक एक ऐसे कवि ने आकर कविता पढ़ी जिसके पास समुचित वस्त्र नहीं थे। इस पर कवि सोमनाथ ने उस कवि का जब उपहास करने का प्रयत्न किया, तो भोज ने सोमनाथ की भर्त्सना करते हुए कहा-

निरवद्यानि पद्यानि यद्यनाथस्य का क्षतिः।

भिक्षुणा कक्षनिक्षिप्तः किमिक्षुर्नीरसो भवेत्॥ (प.सं.203)

(यदि निर्धन होते हुए भी इसके द्वारा प्रणीत पद्य सुन्दर हैं, तो इसमें आलोचना करने की क्या आवश्यकता! किसी भिखारी की कमर में रखे गन्ने में क्या मीठा रस नहीं होता! अभिप्राय यह है कि कवि के दीन-हीन होने से उसकी कविता दीन-हीन नहीं हो जाती।)

'भोजप्रबन्ध' में बल्लाल ने दरिद्रता के कुछ अत्यन्त मार्मिक चित्र उकेरे हैं। यह पद्य भास्कर कवि का है, जिसमें उसके परिवार की दरिद्रता का विवरण अंकित है-

क्षुत्क्षामाः शिशवः शवा इव भृशं मन्दाशया बान्धवा

लिप्ता जर्जरघर्घरी जतुलवैर्नो मां तथा बाधते।

गेहिन्या त्रुटितांशुकं घटयितुं कृत्वा सकाकुस्मितं

कुप्यन्ती प्रतिवेश्मलोकगृहिणी सूचिं यथा याचिता।।

(भूख से क्षीणकाय मरणासन्न बच्चे, उपेक्षा करते हुए बन्धु–बान्धव और लाख लगाकर बन्द किये गये छेदों वाली पुरानी गगरी–ये चीजें मुझे उतना कष्ट नहीं देती हैं, जितना क्रोधित पड़ोसिन की व्यंग्यभरी मुस्कान दे रही है, जिसके पास मेरी पत्नी अपनी फटी हुई साड़ी सिलने के लिए सूई माँगने गई थी।)

यह पद्य 'सदुक्तिकर्णामृत' जैसे कुछ सुभाषित संग्रहों में भी है।

आधी रात में वेश बलदकर स्वयं राजधानी की गलियों में परिभ्रमण करते हुए भोज को रोती हुई एक वृद्ध स्त्री मिली। उससे विलाप का कारण पूछने पर, उसने जो बताया, उसमें आसन्नप्रसवा बहू की चिन्ता में उद्विग्न निर्धन सास की अन्तर्वेदना का मार्मिक विवरण है–

वृद्धो मत्पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं

कालो ऽयं जलदागमः कुशलिनी वत्सस्य पर्याकुला

यत्नात् सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेतिपर्याकुला

दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति।। (प.सं.255)

(मेरे पति ने वृद्धावस्था में चारपाई पकड़ ली है, पूरा घर गिर गया है, केवल एक स्थूणा (थुनिया) भर बची है, बरसात का समय है, बेटे का कुशल–समाचार भी प्राप्त नहीं हो रहा है, और बहू के प्रसवकर्म के लिए मैंने एक–एक बूँद जोड़कर जो तेल किसी तरह सञ्चित किया था उसका मटका भी फूट गया है'–गर्भ के भार से अलसाई अपनी बहू को देख–देख कर कोई सास उपर्युक्त बातें कहती हुई बड़ी देर से रो रही है।)

दरिद्रता के इसी प्रकार के कुछ और द्रवित करने वाले चित्र 'भोजप्रबन्ध' में हैं।

'स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः'

(स्त्री के चरित्र को और पुरुष के भाग्य को तो विधाता भी नहीं जान पाता, मनुष्य फिर कहाँ से इन्हें जान सकता है) यह आभाणक लोक में बड़ा प्रसिद्ध है। लेकिन यह पद्य का मात्र उत्तरार्द्ध है। सम्पूर्ण पद्य 'भोजप्रबन्ध' में मिलता है, जो इस प्रकार है–

अश्वप्लुतं वासवगर्जितं च स्त्रीणां च चित्तं पुरुषस्य भाग्यम्।

अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।। (प.सं.143)

(घोड़े की उछाल, मेघ की गर्जना, स्त्रियों के चित्त, पुरुष का भाग्य, अनावृष्टि और अतिवृष्टि को तो देवता भी नहीं जानते–फिर मनुष्य कैसे जान सकता है!)

'भोजप्रबन्ध' पर एक दोषारोप यह किया जाता है कि इसमें भिन्न–भिन्न कालों के कवियों को भोज के समकालीन दिखाया गया है। उदाहरण के लिए कालिदास और भवभूति के समय में प्रायः हजार वर्षों का अन्तर है, लेकिन इस रचना में वे समकालीन प्रदर्शित हैं। वस्तुतः भोज की राजसभा में श्रेष्ठ संस्कृत–महाकवियों के नाम पर तत्कालीन कवियों के लिए पीठ स्थापित कर दिये गये थे। जिसकी काव्य–शैली कालिदास से मिलती–जुलती थी, उसे कालिदास–पीठ पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता था और सभा के अन्य जन उसे उसी नाम से पुकारते भी लगने लगते थे। इस प्रकार के कवि–दरबारों के आयोजन की परम्परा समाज में 10–20 वर्ष पूर्व तक प्रचलित रही है जिनमें छात्र–छात्राएँ अथवा अन्य व्यक्ति भिन्न–भिन्न कवियों की वेशभूषाएँ धारण करके उनकी कविताओं का पाठ करते थे। विद्यालयों में, जब छात्रों के मध्य विभिन्न साहित्यिक प्रतियोगिताओं के आयोजन की परम्परा क्षीण हो गई तो कवि–दरबार भी बन्द हो गये।

निष्कर्ष यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत उपादेय न होने पर भी 'भोजप्रबन्ध' में ऐसे विशिष्ट जीवन–मूल्यों की प्रतिष्ठापना का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है, जो साहित्य और समाज–दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रो. ओम् प्रकाश पाण्डेय
पूर्वसचिव, महर्षि सान्दीपनि-राष्ट्रीय
वेदविद्या प्रतिष्ठान,
उज्जैन-456010



पौराणिक मानवाधिकार का नवीकरण

डॉ. कंचनमाला पण्डित

'मानवाधिकार' सामाजिक विधान का एक प्रमुख अंग है। यह मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार का आधुनिक रूप है। यह मनुष्य के विकास एवं उत्थान से संबंधित ऐसे अधिकार हैं, जिसे जीवन से अलग नहीं किया जा सकता है। यह मनुष्य की पूर्ण जीवन शैली है, जिसे वह जन्म के साथ लेकर आता है और मृत्युपरांत साथ चला जाता है। यह अधिकार अहस्तांतरणीय है।

जन्म होने के पश्चात् मनुष्य होने के नाते मान-मर्यादा के साथ जीना उसका मूलभूत नैतिक गुण है। यही नैतिक गुण व्यवस्थित तथा स्पष्ट रूप में मानवाधिकार है। इन अधिकारों की मान्यता ही विश्व में स्वतंत्रता, समानता, न्याय एवं शांति का आधार है।

मानवाधिकार द्वितीय विश्वयुद्ध की भीषण त्रासदी के बाद मानव–कल्याण के लिए एक सुलझा हुआ विधान है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1941 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति ने अपने भाषण में किया था। 25 अप्रैल 1945 को सान्फ्रांस्सिको के विश्वसम्मेलन में सर्वप्रथम यह विचार आया और विश्व के प्रायः सभी प्रमुख देशों से ऐसी आवाज उठी कि मानव–कल्याण के लिए विश्वस्तर पर सभी मनुष्यों को समान अधिकारों से सुसज्जित किया जाए।

24 अक्टूबर 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्थिक एवं समाजिक परिषद् ने विश्व मानवाधिकार आयोग की स्थापना की। यह आयोग विभिन्न देशों के 18 सदस्यों के साथ श्रीमती फ्रेंकलीन डी रूजवेल्ट की अध्यक्षता में न्यूयार्क में अपना काम शुरू किया।

जनवरी 1947 के प्रथम सत्र में श्रीमती एलनार रूजवेल्ट की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया जिसका नाम "न्युक्लियर कमिशन ऑफ ह्युमन राइटस" रखा

गया जिसका काम केवल विश्व मानवाधिकार घोषणापत्र तैयार करना था। श्री रैने कासीम ने इस घोषणापत्र के प्रारूप को तैयार करने में मुख्य भूमिका निभाई। 10 दिसम्बर 1948 की विश्व मानवाधिकार की घोषणा की गई। इस दिवस को प्रत्येक वर्ष पूरे विश्व में "मानवाधिकार दिवस" के रूप में मनाया जाता है।

मानवाधिकार को जाति, धर्म, लिंग, रंग, रूप, स्थान, भाषा, स्वास्थ्य, विकलांग सबों को समान रूप से विभूषित किया गया। पूरे विश्व में "मानवाधिकार" को लोगों ने बेहद सम्मान दिया। खासकर उस समय जब विश्व समुदाय युद्ध की त्रासदी के बाद भूख–गरीबी उपनिवेशवाद जैसी समस्याओं से गुजर रहा था। श्री रैने कासीम जो विश्व घोषणा पत्र तैयार करने में अग्रणी थे, उन्हें इस काम के लिए विश्व–नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

जिस समय विश्व के प्रमुख देशों के सदस्य इस घोषणापत्र को तैयार करने में लगे थे, उस समय उन लोगो की सोच थी कि प्रायः सभी देशों में यह अधिकार किसी न किसी रूप में है जैसे पश्चिमी देशों में प्राकृतिक अधिकार के रूप में, तो भारत जैसे आध्यात्म प्रधान देश में आध्यात्मिक प्रतिबंध के रूप में। उसके विद्वान् सदस्यों ने जब भारत के ऐसे ग्रंथों का अध्ययन किया तो पाया कि यहां की सभ्यता 5000 वर्ष से भी ज्यादा पुरानी है और मानवाधिकार के मूलभूत सिद्धांतों से ओत-प्रोत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की संस्कृति दुनियां में सबसे पुरानी है। यहाँ का सबसे पौराणिक ग्रंथ वेद है। इसे देखने से ऐसा लगता है कि यहाँ के ऋषि-मुनियों के खून में ही मानवाधिकार है, जो यहाँ की संस्कृति में वंशावली की तरह चला आ रहा है। ऋग्वेद यहाँ का सबसे पुराना लिखित ग्रंथ है, जिसमें लिखा है कि सभी मनुष्य बराबर है जैसे एक माता की संतान बराबर मानी जाती है। ऋग्वेद मंडल–10, सूक्त 191 से ये मंत्र लिया गया।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते।
सं भ्रातसो वावधुः सौभगाय।।

न कोई बड़ा है और न कोई छोटा। सभी भाई के समान हैं, सबों को एक दूसरे का साथ देते हुए मिल कर प्रगति करनी चाहिए।

समानो मन्त्रः समितिः समानी,
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

ईश्वर एक है, सभी मनुष्यों को मानव कल्याण के लिए प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए, कहीं भी अपने अकेले की भावना मन में न लावें। तन, मन और वचन से एक हों। इसी भावना से प्रेरित एक प्रार्थना है–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निराम-
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्यवेत्॥

सभी सुखी रहें, सभी नीरोग रहें, सभी सौभाग्यशाली हों, हे भगवान् किसी के भाग्य में किसी प्रकार का दुःख न होंवें।

दूसरी प्रार्थना आती है, जिसे प्रत्येक शुभ कार्य के पहले और सुबह–शाम महात्मा ही नहीं सभी जन करते हैं।

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय,
सर्वेषां स्वस्तिर्भवतु,
सर्वेषां शान्तिर्भवतु,
सर्वेषां पूर्णंभवतु,
सर्वेषां मंगलं भवतु,
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे ईश्वर! हमें अच्छे रास्ते पर चलने की प्रेरणा दो, मेरे भीतर जो अंधकार है उसे दूर कर धर्म के रास्ते पर ले चलो, सबो का कल्याण हो, सबका जीवन मंगलमय हो, सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो, चारों तरफ शान्ति रहे, कहीं युद्ध न हो, जिससे मानव का संहार हो।

आज के मानवाधिकार का मूल मंत्र है।

"वसुधैव कुटुम्बकम्"

आधुनिक मानवाधिकार घोषणा पत्र इसी के परिधि में चलता है। सम्पूर्ण विश्व का

परिवार के सदस्य हैं। सुख–दुख में परिवार के एक व्यक्ति का कर्त्तव्य बनता है कि दूसरे का साथ दे, तभी परिवार में एकता, सुख और शांति कायम रह सकते हैं। सभी सदस्यों की स्वतंत्रता, समानता एवं आत्म सम्मान की रक्षा ही परिवार में एकता का (बाइडिंग कम्पाउण्ड) बन्धन है।

अर्थववेद में मानवाधिकार के सम्बन्ध में लिखा गया है–

समानी प्रपा सह वोन्नभागः

समाने योवगे सह वो युनज्मि

आराः नाभिमिवाभितः।

ऊपर जो लिखा गया है कि सम्पूर्ण विश्व एक परिवार है और सभी देशों के मानव उस परिवार के सदस्य हैं। उस आदर्श परिवार की व्याख्या अथर्ववेद के उपर्युक्त श्लोकों में है–जो भी पृथ्वी पर संसाधन हैं जैसे जल, हवा, अनाज, खनिज, तेल, गैस उन सबों पर विश्व के सभी मानवों का बराबर अधिकार है। पृथ्वी सबों को समान रूप से इसे दी है। प्रत्येक मानव साइकिल के पहिया का एक–एक स्पोक है। परिधि के रूप में पृथ्वी को माना गया है और हवा इसका संसाधन है। तीनों के बीच एकता का सामंजस्य स्थापित करना है जिससे पृथ्वी पर कोई भूखा न रहे, सबों के मन में एक दूसरे के प्रति कल्याण ही भावना हो, इन ऋषि–मुनियों के वेद–वाणी में युद्ध का तो कही स्थान है ही नहीं। सत्य और अहिंसा के बल पर दुनियावालों के दिल पर राज करना ही तो सच्चा मानवाधिकार है।

इस संदर्भ में गीता में लिखा गया है...

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

विश्व समुदाय के दिलों पर राज्य करने का अर्थ है, मनुष्य अपने अधिकार के साथ–साथ कर्त्तव्य को भी समझें। कर्त्तव्य आदर्शों से प्रेरित होता है, क्योंकि इस शब्द से कोई कानूनी बन्धन नहीं है, जबकि अधिकार शब्द एक नैसर्गिक यथार्थ है और इसका हनन होना न्यायिक प्रक्रिया के घेरे में आ जाता है। अधिकार एक नकारात्मक शब्द है, जबकि कर्त्तव्य पूर्ण सकारात्मक है। अधिकार और कर्त्तव्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अधिकार और कर्त्तव्य के

बीच सर्वश्रेष्ठ सामंजस्य स्थापित करके ही मानवाधिकार की परिकल्पना पूरी की जा सकती है। हमारे ऋषि–मुनियों के दिल में अधिकार नाम की कोई चीज नहीं थी। गीता के उर्पयुक्त श्लोकों में अधिकार का कहीं स्थान नहीं है, सिर्फ कर्त्तव्य के बल पर सबों का दिल जीत लेने की परिकल्पना की गई है। जो शत् –प्रतिशत सही और सफल प्रयोग था। यदि मनुष्य सिर्फ अपने कर्त्तव्य को समझें और उस पर अमल करें तो दूसरों का अधिकार स्वतः मिल जाता है। उनका मानना था कि संसार में सबसे बड़ा अधिकार सेवा और त्याग से मिलता है। भारत की माटी में पल कर मदर टेरेसा ने उपर्युक्त प्रयोग से ही जन–जन के दिल को जीता और विश्व नोबेल पुरस्कार से सम्मानित की गई। उस पुरस्कार राशि को भी उन्होंने गरीबों की सेवा में अर्पित कर दी, यही तो सच्चा मानवाधिकार है।

आज के विश्व 'मानवाधिकार घोषणा–पत्र' में शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है और घोषणा के अर्द्ध–शतक–दशक जो 1995 से 2005 तक मनाया गया, इसे मौलिक अधिकार के अन्तर्गत ले लिया गया है।

महर्षि भर्तृहरि ने शिक्षा ग्रहण करने को बहुत की आकर्षक ढंग से मनुष्य के सामने रखा है–

विद्या ददाति विनयम् विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मः ततः सुखम्।।

विद्या जिसके पास आती है वह मनुष्य स्वतः उस गुण से विनम्र हो जाता है। विनम्रता से उसके शरीर में ऊर्जा ग्रहण करने की क्षमता बढ़ती है और यह क्षमता धन कमाने के काम आता है। विद्या और विनय से इंसान समझ जाता है कि धन का कहां सदुपयोग किया जाता है, यदि कमाये गये धन को धर्म के अनुकूल खर्च किया जाय तो सच्चा सुख और शांति मिलती है। धन कमाने का अर्थ कभी नहीं है कि उस धन का उपभोग करें, उसे सदुपयोग करने में ही सब का कल्याण है।

पुनश्च महर्षि जी शिक्षा के सम्बन्ध में लिखते हैं कि,

विद्या नाम नरस्यं रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरूः।।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं।
विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः।।

विद्या मनुष्य का ऐसा गुण है जो बाहर से दिखाई नहीं पड़ता है यह उसकी आंतरिक ऊर्जा है जिससे धन, यश और सुख मिलता है। यही गुरुओं का गुरु है। यह मनुष्य का सच्चा मित्र है, जो हर समय उसके साथ रहता है और प्रत्येक मुसीबत में बचाता है। यह ईश्वरीय वरदान है। विद्वान् जन का सम्मान दुनियां के राजा महाराजा करते हैं। जबकि धनवान् का सम्मान अपने राजा भी नहीं करते हैं। अन्त में महर्षि जी विद्या के महत्त्व को दर्शाते हुए कहते हैं कि विद्या के बिना मनुष्य पशु के समान है।

इस श्लोक को जन–जन तक पहुँचाने के लिए इस प्रकार समझाया गया है, विद्या मनुष्य के भीतर छुपा हुआ एक ऐसा धन है, जिसे न तो चोर चुरा सकता है और न राजा छीन सकता है। सोलहवीं सदी में हिन्दी के विद्वान् कवि विद्या की महत्ता को इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं–

सरस्वती भंडार की, बड़ी अनोखी बात।

ज्यो खरचे त्यों–त्यों बढ़ै, बिन खरचे घटि जाय॥

विद्या ही एक ऐसा धन है जिसे जितना बांटा जाय उतना ही बढ़ता है, यदि इसे अपने ही पास रखा जाए तो मानव स्वभाववश भूल जाता है और उसका सदुपयोग नहीं हो पाता है। इस दोहा से विद्वान् कवि यह भी बताना चाहते हैं कि जितना ज्यादा से ज्यादा आदमी को ज्ञान दिया जाय उतना ही अच्छा है। विद्या के महत्त्व और इससे चरित्र पर पड़ने वाले असर के सम्बन्ध में हितोपदेश में है कि–

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥

जो मनुष्य पर–स्त्री को माता के समान, दूसरे के धन को मिट्टी के ढेला के समान और सभी इन्सान को अपने समान समझता है वही सही मायने में विद्वान् है।

आज के मानवाधिकार में समान न्याय के अधिकार पर विशेष बल दिया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य लिखते है–

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोषस्य च संप्रवृद्धिः।

अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पंचैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम्॥

दोषी को दण्ड देना, निर्दोष की रक्षा करना यथोचित मात्रा में कर वसूलना, सबों के साथ समान एवं निष्पक्ष न्याय करते थे राजा के पांच धर्म है।

निष्पक्ष न्याय के सम्बन्ध में उनका मानना था कि...

धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविविर्जितः।

किसी भी मामले का निष्पादन कानून के आधार पर न्यायपूर्वक होना चाहिए। न्याय करने में पूर्वाग्रह या लोभ के वशीभूत होकर नहीं करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में पुनः जोर देकर लिखते हैं...

कि, एक न्यायधीश का पक्षपात, लोभ, दुश्मनी से अलग हट कर दोषी पर दोष का विचार करना चाहिए। धर्म के सम्बन्ध में आज का मानवाधिकार कहता है कि मनुष्य किसी भी धर्म को माने, सबका स्थान बराबर है। धर्म के आधार पर किसी को अलग नहीं किया जा सकता है। ईश्वर कहे या अल्लाह या ईशु सब का उद्देश्य तो एक ही है, जैसे–

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।।

नदी के पानी से वाष्प बन कर उठे या समुद्र, तालाब, कीचड़ से जब आकाश से वर्षा के रूप जल गिरता है और समुद्र में जाता है तो सब एक है। उसी प्रकार भक्तिभाव से भगवान् को ईश्वर, अल्लाह या किसी नाम से पुकारे, सबका उद्देश्य एक ही है।

इन सब धर्म से ऊपर उठकर और अलग हट कर महात्मा गांधी कहते है–

वैष्णव जन तो तेने कहिए

पीर पराई जाने रे।

जो दूसरे के कष्ट को अपना कष्ट समझ कर उसकी सेवा करता है वही सच्चा भक्त है, दूसरे शब्दों में, मानवता की सेवा ही मानवधर्म है, वही सब धर्मो का मूल है और सच्चा मानवाधिकार है।

डा. कंचन माला पंडित
विभागाध्यक्ष (संस्कृत)
राम सेवक सिंह महिला महाविद्यालय,
सीतामढ़ी, बिहार



****

नवम दशम शताब्दी की संस्कृत रचनाओं में वर्णित समाज में दास-दासियों की स्थिति

डॉ. सतलज चौधरी

भारत में दास–प्रथा का प्रचलन अति प्राचीन काल से ही है। प्रायः सभी उच्च घरों में दास–दासी देखने को मिलते हैं। दासियाँ उच्च वर्गों की सेवा में सदा तत्पर रहती थीं। आलोच्यकाल में भी दास–दासियों की अत्यधिक प्रचलन हो गया। स्त्रियाँ कामसुखोपभोग का साधन थीं। धर्म में कौल मार्ग के आ जाने से सम्भोग एवं मद्यपान को ही मुक्ति का साधन माने जाने लगा।

सुरतकेलिसुरारसैः सममोक्षः सुलभो भवति।

ऐसी स्थिति में स्वभावतः दास–दासियों का रहना आवश्यक हो गया था। तद्युगीन समाज में कई प्रकार के दास–दासियों का प्रचलन था। कुछ ऐसी दासियाँ थी जो बच्चों के पालन-पोषण का कार्य करती थीं। जिसे "धाय" या उपमाता कहा जाता था। वह बच्चों के रहने–चलने तथा खाने–पीने आदि का तरीका सिखाती थीं।

अम्बां तात इति ब्रवीति पितरं चाम्बेति संभाषते।
धात्री पूर्वनिवेदितानि च पदान्यर्धोक्तितो जल्पति।
शिक्षालापविधौ प्रकुप्यति धृतौ नास्ते स्थिरोऽयं क्वचिद्,
व्याहर्त्ता न शृणोति धावति पुनः प्रत्युस्थितः सत्वरम्।

यह धाय सम्भवतः स्वामी के घर पर ही रहती थी। इसके भरण–पोषण का दायित्व स्वामी पर रहता था। सोमदेव ने यशोधर की बाल्यावस्था के वर्णन क्रम में उसकी स्वाभाविक क्रियाओं का वर्णन किया है। कैसे वह धायी की अंगुली पकड़ कर चलता है फिर गिरता है और उसकी चोटी खींचती है। उसके बालों में लगे आभूषण को हाथ में पहनता है। हाथ के

कड़े को बाल में लगाता है। कमर की करधनी निकाल कर पैर पर बांध लेता है।

हलातरंगिएहिअअप्प विटुरा अक्खर विअ।
जंदापि समुहागदं पिमं अणाल वियटि दासि॥

सोमदेव ने भी दासी की इसी अवस्था की ओर संकेत किया है–

घटदासीनां हि वदनसौरभं स्वामिताम्बूलोद्गालान्तसौभाग्यबलात्।

घड़ों को धारण करने वाली दासियाँ मुख में वर्त्तमान सुगन्धि निश्चय ही उनके स्वामियों द्वारा चबाए हुए पान के उदगीर्ण भक्षण से ही उत्पन्न होती है, न कि सौभाग्य शक्ति से।

नलचम्पू में भी दासी की हीन स्थिति परिलक्षित होती है! जैसे–"चेटीमिव मुखरतां न शंसन्ति साधवः।" मुख में सौन्दर्य रखने वाली कर्णाट देश की चेटियों की प्रशंसा साधु नहीं करते। इस तरह समाज की दासियाँ बहुत बदनाम थीं। घर–घर जाकर काम करना तथा उन घरों के पुरूषों को फंसा कर पैसा कमाना इन दासियों के लिए आसान बात थी। मद्य पीना तथा मत्त होकर दुश्चरित्र व्यक्तियों के साथ गलियों में जहाँ–जहाँ पड़े रहना और अकारण लोगों से उलझ पड़ना इन दासियों के लिए साधारण बात थी। इसके लिए राजशेखर ने विभिन्न विशेषणों का प्रयोग किया है। यथा–ये दासीपुत्र! भविष्यत् कुट्टिनि, विलक्षणे अविचक्षणे, परपुरूषवंचिके, दुष्ट संघटिते, दूसरों के पुत्रों को भ्रष्ट करने वाली, व्यर्थ प्रलाप करने वाली, झगड़ालू भेद उत्पन्न करने वाली।

इसी तरह विद्धशालभंजिका में भी अरी दासी की पुत्री पुरानीकुट्टनी मकर के दाँतोंवाली, भौरों की तरह घूमने वाली, दूसरों से झगड़ने वाली, चरित्रहीनों के साथ रहने वाली, दूसरों के लड़कों को बिगाड़ने वाली, उल्टे कामों को करने वाली।

आलोच्यकाल के अध्ययन क्रम में देखा गया है कि राजाओं के अन्तःपुर में विविध रंगों की दास–दासियाँ रहती थी। कुछ पुरूष दास रहते थे जो राजा–रानी के बीच प्रणय सम्बन्धी बातों की सहायता करते थे जिसे नम्र सचिव कहा जाता था। कुछ दासी भी इसी कार्य के लिए दरबारों में रहती थी जिसे निःसृष्टार्थ दूती कहा जाता था।

वे दूतियाँ राजा तथा रानी के गोपनीय कार्य में सहायता देती थीं। खण्डखाद्य विशेषा मूल्यमांगल्यमाल्याभरणानि च सकौतुकमादाय दमयन्त्या प्रहिताः प्रथमप्रबोधित प्रतीहार-सूचिता प्रविविशुस्युब्जाः कुब्जिका वामनिकाश्च।

सुलक्षणा और विचक्षणा ऐसी ही दासी थीं। नाटी कुबड़ी आदि दूतियाँ भी रानी की सेवा में तत्पर रहती थीं। नल का दमयन्ती के यहाँ जाने पर दमयन्ती इन्हीं कुबड़ी नाटी दूतियों के द्वारा उपहार भेजती थी। नल भी दमयन्ती के पास पर्वतक बौने तथा पुष्कराक्ष नामक किन्नर युगल से उपहार भिजवाते हैं। पर्वतक नल से दमयन्ती का वर्णन करता है कि वह दमयन्ती समीप में रहने वाली वीणा आदि द्वारा मनोरंजन कराने में निपुण समवयस्क तथा समान वेशवाली सखियों से सेवित अधिदेवताओं से सेवित सरस्वती के समान प्रतीत हो रही थी। खिलते हुए अलंकरण से मनोहर चँवर धारण करने वाली स्त्रियों से सेवित ऐसी लग रही है कि शरीर धारण की हुई बसंत काल की लक्ष्मी सेवित हो रही हो। हाथ में अंगराग और फूलों की ली हुई शृंगार करने वाली स्त्रियों से ऐसा प्रतीत हो रही थी कि वह अनेक स्वर्ग सुन्दरियों से आराधित पार्वती हो।

मृगांकलेखा भी तिलकमंजरी की प्रमुख सखी है। तिलकमंजरी की सभी परिचारिका उसी के साथ रहती थी और साथ में बेंतधारिणी, तथा चंवरधारिणी भी चला करती थी- **तस्यामल्पखेचरी वृन्दपरिगता गृहीतवेत्रछत्रचामनरेण पश्चात्प्रधावता परिजनेनानुगम्य-माना मृगांकलेखा समागत्य सत्वरमवादीत्।**

राजा यशोधर हाथी पर आरूढ होकर कामिनियों द्वारा पार्श्व भागों में ऐसे चंवर समूहों से ढोया जा रहा था जो कल्पवृक्ष की पुष्प मंजरियाँ सरीखी शुभ्र व मनोज्ञ थीं एवं जिनकी कान्ति कमनीय कामिनियों के हस्तकंकणों की रत्न किरणों में चक हो रही थी। इन कामों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी दासी थीं जो घर के बाहर भी काम करती थीं। जंगल की रक्षा करने के लिए भी इनकी नियुक्ति होती थी। राजा नल के उपवन की रक्षा स्त्रियाँ ही करती थीं।

कुछ दासियाँ नायक–नायिका के प्रेम को उद्दीप्त करती थीं। जिसे सैरन्ध्री कहा जाता था। राजशेखर ने विद्धशालभजिका में इसका सुन्दर वर्णन किया है–

सैरन्ध्रीकरकृष्टकंकणसस्तारध्वनिःसञ्चरद्।

लज्जाशीला नायिका के दासी द्वारा हाथ पकड़ कर खींचे जाने से कंकणों की खनखनाहट बढ़ रही है। कीर्तिमहाराज की पत्नी महादेवी चन्द्रमति के यहाँ सैरन्ध्री वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करने वाली सखी के सदृश थी।

कुछ ऐसी भी दासियाँ थीं जो राजा लोगों के स्नानार्थ रखी जाती थी। राजा भीम जब

स्नान के लिए जाते हैं तो अनेक दासियाँ विविध सुगन्धित द्रव्यों को हाथ में लेकर खड़ी रहती थीं जिनका सटीक वर्णन त्रिविक्रमभट्ट ने किया है – ये कमनीय कामिनियाँ अपनी मुस्कुराहट से काम विकार को उत्पन्न करने वाली हैं, अपने उत्तरीय वस्त्र कमर से कसकर उनके अंगों को मलते समय सीत्कार उत्पन्न करा देती हैं। कोई हाथ को बराबर कर आमलकी चूर्ण शरीर पर छिड़क रही थीं। कुछ कामिनियाँ अपने हाथ में उत्तम कोटि के सुगन्धित तैल रखी हुई थी। कुछ कामिनियाँ हाथों में चंवर धारण की हुई थी। कुछ कामिनियाँ विलासपूर्वक भीम राजा के बालों में कंघी कर रही थी। इस तरह से सभी पाद पालन विधि द्वारा जोरदार हाथों से राजा के शरीर का मर्दन कर रही थीं इस तरह से स्नान के लिए नियुक्त कामिनियों ने सामूहिक रूप से राजा को स्नान कराया।

इन कतिपय निदर्शनों से यह ज्ञात होता है कि आलोच्य काल में महिलाओं में जो निम्नवर्ग की थीं विशेषतः जो दासियाँ थीं, उनकी स्थिति अच्छी नहीं थी, वे अपने–अपने स्वामियों के लिए उपभोग की सामग्रियाँ थीं और पुरूष दासों की भी स्थिति इनसे भिन्न नहीं थी।

डॉ. सतलज चौधरी
संस्कृत विभाग
बी.आर. अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर।



श्रीमद्भागवद्महापुराण में स्तोत्र-वैशिष्ट्य

डॉ. उमा तिवारी

श्रीमद्भागवतमहापुराण भारतीयसंस्कृति, सनातनधर्म, भक्ति, ज्ञानविज्ञानप्रभृति अनेक विषयों का आकर ग्रन्थरत्न है। इस पुराणरत्न में अनेक स्तुतियाँ भी समाहित है, जिनमें कुछ चयनित स्तुतियों का वैशिष्ट्य प्रस्तुत निबन्ध में प्रतिपाद्य है।

श्रीमद्भागवत में विष्णु, ब्रह्मा, शिव, कपिल, श्रीकृष्ण एवं राम आदि की स्तुतियाँ की गयी हैं। इन स्तोत्रों में आराध्यों की प्रशंसा के साथ भक्ति और दार्शनिक विचारधाराएँ भी प्रस्फुटित हुई हैं। श्रीमद्भागवत के अधिकांश स्तोत्र सांसारिक संकटों से रक्षा के लिए लिखे गये हैं। भक्तिविभोर होकर आत्म–समर्पण की प्रवृत्ति श्रीमद्भागवत में सर्वाधिक पायी जाती है। फलतः स्तुतिकर्त्ताओं ने अपने हृदय की मधुर रागात्मक वृत्तियों को स्तोत्रों के रूप में प्रकट किया है। सामान्यतः श्रीमद्भागवत की स्तुतियों में निम्नांकित विशेषताएँ पायी जाती हैं–

(क) स्तुतियों में भगवान् कृष्ण के वास्तविक रूप की अभिव्यंजना की गयी है। जो स्तुतियाँ भगवान् के रूपमाधुर्य का चित्रण प्रस्तुत करती हैं उनमें भक्तों को भक्तिरस का अपूर्व आस्वाद प्राप्त होता है। भगवान् की असीम शक्ति और अतुल वैभव के प्रति नतमस्तक हो भक्त उनके गुणगान में तल्लीन हो जाता है। इस ग्रन्थ की समस्त स्तुतियाँ वाञ्छ–सिद्धि का अमूल्य साधन है। काव्यात्मक दृष्टि से योगेश्वर का महनीय रूप–लावण्य प्रत्येक सहृदय पाठक के हृदय में स्तुतियों के माध्यम से रसानुभूति का संचार करने में अद्वितीय है। इसी कारण प्रत्येक सन्दर्भ में कोई न कोई स्तुति अवश्य निबद्ध की गयी है।

(ख) श्रीमद्भागवत में सकाम और निष्काम दोनों ही प्रकार की स्तुतियाँ पायी जाती हैं। सकाम स्तुतियाँ किसी कामना से प्रेरित होकर की गयी हैं। कारागार से मुक्त होने के

लिए अथवा दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से निवृत्ति प्राप्त करने के लिए स्तुतियाँ समय-समय पर प्रस्तुत की गयी हैं। मरीच्यादि ऋषिगण पृथ्वी के उद्धार हेतु भगवान् वराह की स्तुति करते हैं। इस प्रकार गन्धर्व और विद्याधरगण अपने अभ्युत्थान के लिए भगवान् के ऊपर छोड़ देता है और स्तुतियों में सर्वात्मरूप से आत्मसमर्पण कर देता है। निस्सन्देह ताप–तप्त जगतितल की शान्ति के हेतु भगवान् कृष्ण ही सर्वाधिक समर्थ हैं। इन सकाम स्तुतियों के सन्दर्भों में विभावों, अनुभावों और संचारीभावों की योजना भी सुष्ठुरूप में सम्पादित की गयी है। अतः संक्षेप में श्रीमद्भागवत की स्तुतियों की दूसरी विशेषता सकाम भावना है। भागवतकार ने इन स्तुतियों में प्रकृति के साथ भगवान् के मनोरम और आकर्षक सर्वशक्तिमान् रूप का बड़ा ही स्वच्छ और स्पष्ट चित्र अंकित किया है। इन स्तुतियों में एक शक्ति है, एक सौन्दर्य है, एक सजीवता है, एक सत्य है और है एक प्रभु-भक्ति का सम्बल।

(ग) सकाम भक्ति के वर्णनों में मनोहर और सुकुमार कल्पनाओं की भी कमी नहीं है। एक ओर तो उनकी कोमलकान्तपदावली स्तुत्य है तो दूसरी ओर हृदय-स्पर्शिनी भावनाएँ अपना अनोखा चमत्कार प्रकट करती है। किसी कष्ट या आवेग से पीड़ित व्यक्ति जब अपने को सब ओर से असमर्थ पाता है तो वह त्रिलोकनाथ प्रभु की शरण में पहुँच कर शान्ति प्राप्त करना चाहता है। इसके लिए उसके मुख से मनोरम वाणी में स्तुतियों की श्रृंखला निकलने लगती है। उसके भगवान् साधारण नहीं, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक हैं। उसे अपने प्रभु की शक्ति पर पूरा विश्वास है। यह बलशाली प्रभु की संरक्षिणी भुजाओं का अवलम्बन प्राप्त कर निर्भय हो जाना चाहता है। काव्यात्मक दृष्टि से इन सकाम स्तुतियों में अनेक उपमान और प्रतीक भी सम्मिलित हैं।

(घ) सकाम स्तुतियों में लोकोत्तर चमत्कार और आनन्दानुभूति का सामंजस्य भी पूर्णतया विद्यमान है। इन स्तुतियों में एक साथ दो तथ्य उपलब्ध होते हैं। प्रथम तथ्य है कि भागवतकार सदाचार का प्रतिपादन कर भगवान् के नाम-गुण-स्मरणात्मक शक्तिपुंज को सामने प्रस्तुत करते हैं, जिससे सदाचार का महत्त्व और दुराचार का कुफल सहज ही अवगत हो जाता है। कतिपय स्तुतियों में आदेशात्मक भाषा में भी उपदेश देने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार मानव-जीवन की उन मान्यताओं की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई है जिन मान्यताओं के प्रति भागवतकार की पूर्ण आस्था है।

(ङ) निष्काम स्तुतियों की भी दो विशेषताएँ हैं। प्रथम विशेषता है स्तुति के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठा करना। स्तुतिकर्त्ता स्तुति के द्वारा चिदचिदात्मक जीव की आनन्दमयी शक्ति एवं उसकी कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि शक्तियों का विवेचन करता है। इसमें सन्देह नहीं कि भागवत की कतिपय स्तुतियाँ तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। धर्म-अधर्म की व्याख्याएँ एवं भवितव्यता तथा संसार और जीव की विभिन्न अवस्थाओं के नानारूप इन स्तुतियों में प्रस्फुटित हुए हैं।

(च) निष्काम स्तुतियों की दूसरी कोटि है साधना की प्रधानता। प्रह्लाद, अम्बरीष, ब्रह्मा एवं ध्रुव आदि की स्तुतियाँ साधना-प्रधान हैं, क्योंकि इन स्तुतियों में भक्त मुक्ति की अभिलाषा न कर केवल भगवान् के रूप तथा लीला के स्मरण एवं कीर्तन की आकांक्षा करता है और इसी से सर्वाधिक आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। साधनात्मक स्तुतियाँ काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन स्तुतियों में निष्काम-भक्ति का उदात्तरूप अंकित हुआ है। जब तक भक्ति या प्रेम में लौकिक वासना का समावेश रहता है, तब तक उसकी प्रतिष्ठा उदात्त के धरातल पर नहीं हो सकती। लौकिक वासना और आकांक्षा के समाप्त होते ही साधना विशुद्ध हो जाती है और भक्त चरम आनन्दानुभूति को प्राप्त कर लेता है।

श्रीमद्भागवत में लगभग एक सौ चालीस स्तुतियाँ समाहित हैं। इन समस्त स्तुतियों के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करना प्रस्तुत निबन्ध के कलेवर को ध्यान में रखते हुए सम्भव प्रतीत नहीं होता। अतः कतिपय प्रमुख स्तुतियों के ही वैशिष्ट्य-मूल्यों पर विचार किया जायेगा।

शुकदेवकृत्–भगवत्स्तुति

शुकदेव ने भगवान् की जो स्तुति की है उसमें दार्शनिक और काव्यात्मकतत्त्व आद्योपान्त सम्पृक्त हैं। शुकदेव भगवान् की प्रार्थना करते हुए निवेदन करते हैं कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय-लीला करने के लिए सत्त्व, रजस् और तमोगुणरूप तीन शक्तियों को स्वीकार कर ब्रह्मा, विष्णु और शंकर का रूप धारण करने वाले भगवान् की शक्ति अद्भुत और अचिन्त्य है। भगवान् सत्पुरुषों के दुःख–क्लेशों को दूर कर उन्हें प्रेम का दान देते हैं। दुष्टों की भी सांसारिक वृद्धि को रोककर उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं। वे परमहंस आश्रम में स्थित व्यक्तियों को भी अभीष्ट वस्तु प्रदान कर उनकी कामनाओं को पूर्ण करते हैं। चर एवं अचर समस्त प्राणी भगवान् के अंश हैं। अतः वे पक्षपात रहित हो

समस्त प्राणियों के साथ वात्सल्य का निर्वाह करते हैं। भगवान् भक्तवत्सल हैं अतः भक्तिहीन व्यक्ति उनकी छाया का भी स्पर्श नहीं कर सकता है। भगवान् समस्त ऐश्वर्यो से मण्डित हैं। वे भक्तों के ऊपर अपनी कृपा की वर्षा करते हैं।

प्रभु–चरणों में एकनिष्ठता के महत्त्व का समर्थन करते हुए भागवतकार कहते हैं कि जब तक लोक–परलोक की आसक्ति हृदय से दूर नहीं हो जाती, तब तक ब्रह्मपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। बड़े–बड़े तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी, सदाचारी और मंत्रवेत्ता जब तक अपनी समस्त साधनाओं को आपके चरणों में समर्पित नहीं कर देते, तब तक उनका कल्याण नहीं हो सकता। प्रभु–चरणों में सर्वतोभावेन अपना समर्पण करने वाला व्यक्ति ही कल्याण–मार्ग को प्राप्त करता है–

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो।

मनस्विनो मंत्रविदः सुमङ्गलाः॥

क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं।

तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ (भाग. 2,4,17)

शुकदेव भगवान् के गुण एवं कार्यों पर प्रकाश डालते हुए प्रार्थना करते हैं कि समस्त सम्पत्तियों की स्वामिनी लक्ष्मी के पति, यज्ञों के भोक्ता और फलदाता; प्रजा के रक्षक, अन्तर्यामी और समस्त लोकों के पालनकर्त्ता और पृथ्वी के स्वामी भगवान् ही भक्तों के रक्षक हैं। ये ही समस्त पृथ्वी के स्वामी हैं। यदुवंश में जन्मग्रहण कर अन्धक, वृष्णि एवं यदुवंश की इन्होंने ही सब प्रकार से रक्षा की है–

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापति–

र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।

पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां।

प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः॥ (भाग. 2,4,20)

ब्रह्मकृत–भगवत्स्तुति

इस स्तुति में 25 पद्य हैं। सभी पद्य मनोरम और सरस हैं। यहाँ भागवतकार ने

दार्शनिक तथ्यों की अभिव्यंजना काव्य के मधुमय वातावरण में उपस्थित की है। आरम्भ में ही ब्रह्मा निवेदन करते हैं, भगवन्! आपके अतिरिक्त संसार में अन्य कोई भी वस्तु अधिगम योग्य नहीं है। जिन वस्तुओं की हमें प्रतीति हो रही है, वह प्रतीति माया के कारण क्षुब्ध हुए आपके ही अनेक रूपों पर आधारित हैं। आपकी चित् –शक्ति के प्रकाश से अज्ञान दूर भाग जाता है। आपका वह रूप, जिससे अनेक अवतार प्रादुर्भूत होते हैं, विशेषतः महनीय है। मेरी भी उत्पत्ति आपके नाभि कमल से हुई है। आपने सत्पुरूषों पर कृपा करने के लिए सर्वप्रथम मुझे उत्पन्न किया है। प्रभो! भेदरहित, अखण्ड एवं तेजोमय स्वरूप आप ही सर्वत्र विद्यमान हैं। मैं संसार का स्रष्टा होकर भी आपके ही विश्वस्वरूप की शरण में आया हूँ। हे विश्वकल्याणमय! मैं आपका अनन्य भक्त हूँ। यहाँ ब्रह्मा ने भगवान् के गुण–माहात्म्य का निरूपण कर काव्य का सरस वातारण प्रस्तुत कर दिया है।

देवहूतिकृत–कपिलस्तुति

देवहूति ने सात पद्यों में कपिल मुनि की स्तुति की है। उन्होंने इस स्तुति में कपिल को भी वराह आदि अवतारों के समान ज्ञानमार्ग का प्रदर्शन करने वाला अवतार कहा है। इस स्तुति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कपिल की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि कुत्ते का मांस खाने वाला चाण्डाल भी इनके सम्पर्क से सोमयाजी ब्राह्मण के समान पवित्र हो जाता है। जो व्यक्ति तपश्चरण, हवन, तीर्थाटन, वेदाध्ययन आदि कार्यों को करता है, पर भगवान् की भक्ति और उनके गुणों का श्रवण नहीं करता, वह श्वपच के समान है। वास्तव में इस स्तुति में भगवान् के गुणस्मरण की विशेषता प्रतिपादित की गयी है। कपिल निष्क्रिय, सत्यसंकल्प, सम्पूर्ण जीवों के प्रभु और सहस्त्रों अचिन्त्य शक्तियों से सम्पन्न हैं। वे भगवत्स्वरूप हैं। प्रलय काल में संसार का सारा प्रपंच उनके उदर में लीन हो जाता है और कल्पान्त में वे मायामय बालक का रूप धारण कर अपने चरण के अंगूठे को चूसते हुए अकेले ही वटवृक्ष के पत्ते पर शयन करते हैं। वे साक्षात् परमब्रह्म हैं। उनके स्मरण से पापी और कलुषित आत्माओं का भी उद्धार हो जाता है।

बन्दिजनकृत–पृथुस्तुति

इस स्तुति में पृथु की महत्ता और उनके गुणों का वर्णन करते हुए इन्हें रामायण का अवतार कहा गया है। भगवान् के कथामृत के आस्वादन में आदरबुद्धि रखकर मुनियों के उपदेश के अनुसार उन्हीं की प्रेरणा से पृथु अपने प्रशंसनीय कर्मों का विस्तार करने में

संलग्न हैं। पृथु धर्म-मर्यादा का पालन करते हुए, प्रजा के पालन-पोषण और अनुरंजन में दत्तचित्त हैं। उनके सत्कार्यों से समय पर वृष्टि द्वारा धन-धान्य की वृद्धि होती है। स्तुतिकर्त्ताओं ने बड़ी ही ओजस्वी वाणी में राजा पृथु की स्तुति आरम्भ की है–

अथाप्युदारश्रवसः पृथोर्हरेः कलावतारस्य कथामृतादृताः।

यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महि॥ (भाग.4.16.3)

बन्दिगण भक्तिविभोर हो पृथु के गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि तीनों गुणों के अधिष्ठाता और निर्विकार साक्षात् नारायण ने ही इनके रूप में अपने अंश से अवतार ग्रहण किया है। पण्डित लोग अविद्यावश प्रतीत होने वाले इस नानात्व को मिथ्या समझते हैं। वास्तव में पृथु अद्वितीय वीर, एकच्छत्र सम्राट् और अकेले ही उदयाचल पर्यन्त समस्त भूमण्डल की रक्षा करने में तत्पर, जयशील और सूर्य के समान समस्त विश्व को अपने तेज से प्रभावित करने वाले हैं। बड़े–बड़े पृथ्वीपाल इनको भेद समर्पित करते हैं। शत्रुरमणियाँ इनके वीरता के गीत गाती हैं और इन्हें हरि का अवतार समझती हैं।

चित्रकेतुकृत–संकर्षणस्तुति

इस स्तुति में भगवान् के सौन्दर्य, माधुर्य और कारुण्य का एक साथ अत्यन्त मनोरम चित्रण प्रस्तुत है। जब तक व्यक्ति अभयप्रद भगवान् के श्रीचरणों का आश्रय ग्रहण नहीं करता, तब तक उसे धन, गृह एवं बन्धुजनों के कारण भय, शोक, लालसा और दीनता आदि नाना प्रकार के सन्ताप उत्पन्न होते हैं। वास्तव में सांसारिक विषयों के प्रति दुराग्रह ही व्यक्ति को अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाता है। अमंगलों को दूर करने का एकमात्र साधन भगवान् का गुण–कथन है। जो विषय सुख के लिए लालायित रहते हैं और त्रिलोकीनाथ की शरण में नहीं जाते, उन्हें क्षुधा, तृषा, वात, पित्त, कफ, शीत, ताप, वायु और वर्षा के कारण नाना प्रकार की वेदना प्राप्त होती है।

कई पद्यों में रूपक और उपमानों की अच्छी योजना की गयी है। भगवान् को विश्ववृक्ष का रूप देकर उनको मूल प्रकृति स्वीकार किया गया है। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय उस वृक्ष की तीन शाखाएँ हैं। प्रजापति एवं मनु आदि प्रशाखाओं के रूप में विस्तृत हैं। त्रिदेव भी शाखाओं के रूप में ही अभिप्रेत हैं–

यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च

स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम्।

भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोह–

स्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय॥ (भाग. 3,9,16)

प्रह्लादकृत–नृसिंहस्तुति

काव्यकला की दृष्टि से यह स्तुति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। स्तुतिकर्त्ता, प्रह्लाद ने बताया है कि धन, कुलीनता, रूप, तपश्चरण, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष वृद्धि और योग ये बारह गुण संसार के व्यक्तियों को प्रभावित करने में पूर्ण सक्षम हैं। कुछ व्यक्ति धन से प्रभावित होते हैं, कुछ कुलीनता से, कुछ रूप–सौन्दर्य से, कुछ तपश्चरण से, कुछ विद्या के बल से, कुछ पौरुष से, कुछ मेधा से और कुछ योग–सामर्थ्य से। पर भगवान् केवल भक्ति से ही संतुष्ट होते हैं। उनकी समझ में इन गुणों का प्रदर्शन तुच्छ है। भक्ति के समक्ष भगवान् न कुल का विचार करते हैं, न जाति का, न पाप–पुण्य का और किसी योग्यताविशेष का ही। जो भक्त है वह पशु–पक्षी होने पर भी भगवान् के लिए मान्य है। वे उसका किसी न किसी प्रकार उद्धार कर ही देते हैं। प्रह्लाद की जैसी दृढ़ निष्ठा बहुत ही कम भक्तों में पायी जाती है। उसका सर्वतोभावेन समर्पण है। इसी कारण प्रह्लाद ने स्तुति आरम्भ करते हुए उपर्युक्त तथ्यों की अभिव्यंजना निम्न प्रकार से अभिव्यक्त की है–

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज–

स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः।

नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो

भक्त्या तुतोष भगवान्गजयूथपाय॥

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-

पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।

मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थ

प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥(भाग.7,9,9)

गजेन्द्रकृत–भगवत्स्तुति

संकट से मुक्त होने के लिए गजेन्द्र के अट्ठाईस पद्यों में भगवान् की स्तुति की है।

जब तक व्यक्ति को अहंकार के कारण अपनी क्षुद्र सीमाओं की अनुभूति नहीं होती, तब तक वह अपनी शक्ति का पूरा विश्वास करता है और अपने को सबसे बड़ा समझता है। गजेन्द्र भी ग्राह से अहंकारवश बहुत समय तक लड़ता रहा, पर जब उसे अपनी शक्ति की तुच्छता का ज्ञान हो गया तो वह भगवान् की स्तुति करने लगा, 'हे प्रभो! यह सारा प्रपंच आपकी माया के द्वारा ही निर्मित है। जिस प्रकार नट विभिन्न प्रकार के वेष धारण कर विविध प्रकार की लीलाएँ करते रहते हैं। वैसे ही आप लीलामय हैं। आपकी इन लीलाओं के वास्तविक स्वरूप को जानने में देवता, ऋषि एवं मुनि सभी असमर्थ हैं। मैं आपके यथार्थ स्वरूप को प्रतिपादित करने में असमर्थ हूँ और अब सर्वतोभावेन आपकी शरण में हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

गजराज भगवान् को स्तुति करता हुआ पुनः कहता है, जैसे दयालु व्यक्ति व्याध के पाश में फँसे हुए पशु का बन्धन काटकर उसे मुक्त कर देता है, उसी प्रकार हे भगवन्! आप मुझे भी ग्राह के बन्धन से मुक्त कीजिये। आप नित्य–मुक्त हैं, करुणामय हैं, भक्तों का कल्याण करने वाले हैं और हैं आलस्य–रहित। मेरी विपत्ति का उन्मूलन आपके सिवाय अन्य कोई नहीं कर सकता।

समग्र स्तुति का ग्रथन प्रसाद गुण से परिपूर्ण है। वैदर्भी शैली का चमत्कार प्रत्येक पद्य में देखा जा सकता है। स्तुति का उपान्त्य पद्य उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं।

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग-

शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय।

प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये।

कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने।। (भाग. 8,3,28)

मार्कण्डेयकृत–भगवत्स्तुति

इस स्तुति में मार्कण्डेय ने भगवान् की अनन्त महिमा का वर्णन किया है। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। इन्हीं के द्वारा हमारे शरीर में प्राणशक्ति का संचार होता है और उन्हीं से हमें मन, वाणी और इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। स्तुतिकर्त्ता भगवान् के अवतारों का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कहता है, 'प्रभो! आप विश्व–रक्षा के लिए मत्स्य एवं कूर्म आदि

अवतारों को धारण करते हैं। वास्तव में आपके ये दोनों अवतार त्रिलोक के मंगल तथा कल्याण के लिए सम्पन्न हुए हैं। आप विश्व की रक्षा तो करते ही हैं साथ ही जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से तार निस्यूत कर अपने जाल का निर्माण करती है, उसी प्रकार आप समस्त विश्व का सृजन भी करते हैं–

मूर्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्याः

क्षेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यै।

नामा विभर्ष्यवितुमन्यतनूर्यथेदं

सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्वमिवोर्णनाभिः॥ (भाग.12,8,41)

उपर्युक्त पद्य उपमान के रूप में प्रयुक्त ऊर्णनाभि भगवान् के सृष्टि–कर्तृत्व की अलौकिक, उदात्त एवं महनीय शक्ति पर भी प्रकाश डालता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में समाहित स्तुतियों का पृथक् वैशिष्ट्य है। यह सत्य है कि अनेक स्तुतियों में समान रूप से भाव और विषयवस्तु की योजना सम्पन्न हुई है, अतः सामान्यरूप से स्तुतियों का अवलोकन करने पर पुनरावृत्ति का आभास होगा। फिर भी स्तुतियों में आये अलंकार, रस संगीत, लय, माधुर्य, रुचिर वर्णयोजना एवं प्रसाद–गुण–सम्पन्न पदावली आदि काव्य–वैभव के सृजन के लिए सक्षम हैं। भावों की गंभीरता के साथ ही क्रोध, प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, त्याग एवं राग आदि की भी सफल अभिव्यंजना की गयी है। प्रत्येक स्तुति में वीणा के तार की झंकार के समान हृत्तंत्री को स्पन्दित करने की क्षमता वर्त्तमान है। इसका प्रधान कारण यही है कि स्तुति और प्रार्थनाएं ऐसे अवसरों और वातावरणों में प्रस्तुत की गयी हैं जो भावविह्वल करने के लिए पूर्ण समर्थ हैं। स्तुतिकर्त्ता किसी कष्ट, विपत्ति या किसी भी प्रकार की सहायता प्राप्त करने के अवसर पर ही स्तुति करने में प्रवृत्त होता है। अतः मार्मिक भावों की अभिव्यंजना इन स्तुत्यात्मक काव्यों में प्रायः सर्वत्र ही सम्पन्न हुई है।

डॉ. उमा तिवारी
प्राध्यापिका संस्कृत
महारानी बनारस महिला महाविद्यालय,
रामनगर, वाराणसी।

भवभूति के रूपकों में पर्दा-प्रथा

मोहिनी झा

भवभूति के रूपकों में पर्दा–प्रथा के उल्लेख विभिन्न स्थलों पर दृष्टिगत होते हैं। सर्वप्रथम महावीर चरित में इसकी चर्चा हैं। परशुराम जब जनक के अन्तःपुर में राम को ढूंढते हुए पहुँचते हैं तो नेपथ्य से ध्वनि आती है कि ये मुनि, भार्गव कन्याओं के अन्तःपुर में प्रवेश कर रहे हैं। राम स्वयं भी कहते हैं कि ये ही शिष्टाचार के निर्देशक है और स्वयं ही प्रमाद दिखला रहे हैं। परशुराम के सामने चले आने पर सीता को कहते हैं कि ये श्रेष्ठजन हैं, तुरन्त ही यहाँ से हटकर अवगुण्ठन डाल दो। कृतावगुण्ठन का कार्य अर्थ टीकाकारों ने 'वस्त्राछादितमुखम्' किया है।

मालतीमाधव में औरतों की भूमिका पुरूष पात्रों के द्वारा किये जाने का उल्लेख है। वह सूत्रधार से कहता है कि परिव्राजिका की भूमिका आप ही कर रहे है, उसकी छाया अवलोकिता की भूमिका मैं करता हूँ। इस संकेत से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक प्रदर्शनों में स्त्रियां खुलकर भाग नहीं लेती थी यहाँ तक कि नाटकों में भी इनका चरित्र पुरूष पात्रों द्वारा ही अभिनीत होता था।

सम्भ्रान्त परिवार की स्त्रियाँ सड़कों पर जब चलती थीं तो उनके साथ बेत की छड़ी लिए हुए नपुंसक रक्षकों का समूह भी चला करता था तथा परिजनों की एक बड़ी संख्या भी उनके साथ रहती थी। इससे भी यह संकेत खोजा जा सकता है कि औरतें खुलकर राजमार्गों पर भी नहीं चला करती थीं जो पर्दा–प्रथा का ही सूचक है।

पर्दा प्रथा के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य में एक ही समान वर्णन मिलते हैं। कही औरतों को पर्दा करते हुए बतलाया गया तो कही उन्हें बिना पर्दा के। ऐतरेय ब्राह्मण में एक चर्चा आयी है कि वधू अपने श्वशुर से लज्जा करती है और अपने को छिपाकर चली जाती है। किन्तु कुछ गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में इधर–उधर जन समुदाय में घूमती हुई स्त्रियों के परदे के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। पुनः वाल्मीकि रामायण में राम का सीता के

साथ वन गमन प्रसंग में चर्चा आयी है कि सीता पहले आकाशचारी पुरूषों के द्वारा भी नहीं देखी जा सकती थी वही अब सामान्य मनुष्यों के द्वारा देखी जा रही है। पाणिनी व्याकरण में भी असूर्यम्पश्या राजदाराकी चर्चा मिलती है। महाभारत में दोनों तरह के उल्लेख मिलते हैं। एक स्थान पर जुआ रोकते समय द्रौपदी सभा भवन में बिना पर्दे के आती है, किन्तु एक स्थान पर चर्चा है कि जिन स्त्रियों को न तो चन्द्रमा ने देखा था और न सूर्य ने, वे कौरवौं के राजा धृतराष्ट्र के वन जाने पर शोकग्रस्त होकर राजमार्ग पर चलने लगी। भास के प्रतिमानाटक में तथा स्वप्नवासदत्तम् में पर्दा का उल्लेख मिलता है। मृच्छकटिक में जब वसन्तसेना को कुलवधू का सम्मान मिलता है तो अवगुण्ठन दिया जाता है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला को अवगुण्ठनवती दिखलाया गया है। हर्ष चरित में राज्यश्री को अवगुण्ठनमुखी वधू के रूप में वर्णित किया गया है। वहीं एक स्थान पर स्थाण्वीश्वर की स्त्रियों के मुख पर जाली के आवरण की चर्चा है। बाण के अनुसार यह कुलीन स्त्रियों की पहचान थी। हर्ष ने 'नागानन्द' में केवल विवाहितों द्वारा पर्दा करने के संकेत दिया है, कुमारिकाओं द्वारा नहीं। माघ के अनुसार नारी के मुख पर से अकस्मात् जब अवगुण्ठन हटता था। तब एक क्षण के लिए उसकी मुख शोभा दिखलायी पड़ती थी, किन्तु फाहिन्यान् श्वान च्वांग आदि के विवरणों में पर्दा प्रथा की कहीं चर्चा नहीं है। अभिलेखों से तथा प्राचीन चित्रों में भी इस प्रथा की सम्पुष्टि नहीं होती। अल्तेकर ने साँची तथा अजन्ता के अभिलेखों एवं चित्रों का उल्लेख कर यह सिद्ध किया है कि उस समय की औरतें पर्दा नहीं करती थीं। 10वीं शताब्दी के प्रारंम्भ में अवूजेद नामक एक अरब यात्री ने लिखा है कि राजसभाओं में रानियाँ विना पर्दा के ही आया-जाया करती थीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सामान्यतः पर्दा प्रथा का प्रचलन था या नहीं यह एक विवादास्पद प्रश्न है। जैसे संकेत मिलते है उनसे यह ज्ञात होता है राजपरिवारों की एवं सम्भ्रान्त परिवारों की स्त्रियाँ भी इसका अनुपालन करती थीं।

अल्तेकर ने इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए लिखा है कि 300 ई. के बाद राजपरिवार के लोगों ने ऐसा सोचना प्रारम्भ किया कि उनकी स्त्रियाँ जब घर से निकलें तो वे कुछ ही लोगों द्वारा देखी जायें अतः वे पर्दा डालकर ही निकलें। 'महावीरचरितम्' की सीता राज-परिवार से ही सम्बद्ध है, अतः उससे पर्दा करने को कहा गया है, किन्तु उक्त प्रसंग की यदि उचित समीक्षा की जाये तो ऐसी ध्वनि निकलती है कि राज-परिवारों में भी यह प्रथा निश्चित रूप से अनुपाल्य नहीं थीं, क्योंकि परशुराम को देखकर सीता स्वयं

ही अवगुण्ठन नही डालती जहाँ कुलाचार की दुहाई देकर राम उसे करने को बाध्य करते हैं। 'मालतीमाधव' की मालती और उसकी सखियाँ बिना किसी परदे के ही मन्दिर में आती है, और यहीं माधव उसे देखते हैं और दोनों एक दूसरे को प्रेम करने लगते हैं। सीता, उर्मिला, वासन्ती, तमसा, मुरला, कौसल्या, अरून्धती, शूर्पणखा, मन्दोदरी आदि नारियों को बिना अवगुण्ठन को भी घूमते हुए चित्रित किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रथा कुमारिकाओं के लिए नहीं प्रत्युत विवाहिताओं के द्वारा ही इसके प्रयोग की चर्चा मिलती है। सीता जब कौमार्यावस्था में विश्वामित्र के आश्रम में आती है तो यह परदा से रहित है किन्तु वहीं जब विवाहिता हो जाती है उसे अवगुण्ठन रखना पड़ता है। मालतीमाधव में नारी चरित्रों की भूमिका पुरूषों द्वारा अभिनीत किये जाने की परिचर्चा से भी भवभूति के समय में पर्दा प्रथा के प्रचलन का स्पष्ट संकेत मिलता है।

इस प्रसंग में अल्तेकर महोदय के इस विचार से हमारी सहमति नहीं है कि मुस्लिम शासकों के आने के बाद ही महिलाओं की सुरक्षा की दृष्टि से परदा प्रथा का प्रचलन हुआ क्योंकि हमने स्पष्ट रूप से देखा है कि कालिदास के शाकुन्तल नाटकमें, बाणभट्ट के हर्ष चरित, हर्ष के नागानन्द में तथा भवभूति के महावीर चरित में पर्दा का उल्लेख मिलता है, और तो और हर्षचरित में जालियों के आवरण से हुई कुलीन स्त्रियों की परिचर्चा जिसमें मुसलमानों के बुरका से साम्य किया जा सकता है। ये सभी रूपक सिन्ध पर मुसलमानों के आक्रमण से पहले किये गए थे। अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ पर्दा प्रथा प्रचलित थी, भले ही वो सामान्य लोगों के व्यवहार में नहीं रही हो किन्तु कुछ सीमित परिवारों के व्यवहार में निश्चित रूप से थी।

मोहिनी झा
मुजफ्फरपुर



लैंगिक समानता वनाम भेद्भाव – भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में।

डॉ. निर्मला कुमारी झा

आधुनिक सामाजिक परिदृश्य में 'लैंगिक समानता' जैसे शब्द को अति उत्साह से उछाला जा रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही नारी स्वातंत्र्य आंदोलन अपनी चरम उत्कर्ष पर है। जब लैंगिक समानता की बातें होती है तो स्त्री तथा पुरूष दोनों ही नाम हमारे मस्तिष्क में कौंध जाते हैं, क्योंकि समानता की बातें किसके साथ और किस आधार पर? यदि शारीरिक संरचना का जिक्र किया जाय जो यह प्रश्न ही बेमानी है, क्योंकि स्त्री तथा पुरूष दोनों प्रकृति की अलग–अलग कृतियाँ हैं, अर्थात् समानता संभव ही नही है। जहाँ तक मानसिक क्षमता का प्रश्न है तो कोई भी दो जीव एक मानसिक स्तर का हो ही नहीं समता, ऐसा संभव भी नहीं है। कुछ मानवीय मूल्य स्त्री तथा पुरूषों के लिए समान हो सकते हैं, परन्तु प्राकृतिक रूप से कुछ ऐसे वैशिष्ट्य हैं जो कि स्त्री तथा पुरूष के अलग–अलग होते हैं और उन्हें एक समान किया भी नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा करने पर उन दोनों के अस्तित्व की विशिष्टता ही खतरे में पड़ सकती है। अब यदि मानव निर्मित अवसर की बात की जाय तो लैंगिक समानता मेरे दृष्टिकोण में अधिक उपयुक्त और सार्थक हो सकती है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में लैंगिक समानता की बातें कुछ मूल सामाजिक तथा राजनैतिक अवसर के सन्दर्भ में की जाती हैं, जैसे–सम्पत्ति, न्याय, विवाह, तलाक, विचार–स्वातंत्र्य, रोजगार इत्यादि में समानता। दूसरे शब्दों में इसे नारी सशक्तिकरण की संज्ञा भी दी जा सकती है। शब्द का भले ही परिवर्त्तन हो, परन्तु भावार्थ वही है। हमारे संविधान में समानता का अधिकार सर्वविदित है, परन्तु व्यावहारिक धरातल पर कार्यान्वित करने के लिए कई आन्दोलन किए गए हैं और वर्त्तमान में भी ऐसे प्रयास जारी हैं। दक्षिण भारत में

रानी चेन्नम्मा के जन्म दिवस के नाम पर अक्टूबर, 23 को 'महिला दिवस' घोषित किया गया। पुनः भारत कोकिला सरोजिनी नायडू के जन्म दिन फरवरी 13, को भी अखिल भारतीय महिला परिषद् के सिफारिश पर राष्ट्रीय महिला दिवस घोषित किया गया। भारत ही नहीं विदेशों में भी लैंगिक समानता की समस्या के समाधान के लिए प्रारम्भ से ही लोग आन्दोलन करते रहे हैं। इस संदर्भ में स्टुअर्ट मिल का नाम गर्व से लिया जा सकता है, जिन्होंने इंग्लैण्ड के हाऊस ऑफ कॉमन्स में सर्वप्रथम 1869 में महिलाओं के मताधिकार की बातें की थी, जिसके परिणामस्वरूप सिर्फ आयकर देनेवाली महिलाओं को ही नगर निगम में मत देने का अधिकार तत्काल प्रभाव से मिला, परन्तु संसद में मताधिकार का अधिकार 1918 में सभी महिलाओं को प्रदत्त किया गया। चूँकि समाजवादी महिलाओं का प्रथम अधिवेशन मार्च 8, 1910 को हुआ, अतः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मार्च 8 को ही 'महिला दिवस' घोषित किया गया।

जहाँ तक सामाजिक समानता की बातें हैं तो हम वाह्य स्तर पर मिथ्या अभिनय कर लेते हैं, जबकि वास्तविक ईमानदारी और सच्ची भावना का होना आवश्यक है। आधुनिक समाज में स्त्रियों के अधिकार और समानता की बातों को पूर्णरूपेण समझने के लिए आवश्यक है कि प्राचीन भारतीय समाज में प्रदत्त उनके अधिकार तथा स्थिति को समझा जाय। वैदिक काल में नारियों की सामाजिक स्थिति सुदृढ़ रही है। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं थी। प्राचीन भारत की नारियाँ विदुषी हुआ करती थी। वेदों में अनेक सूक्तों का निर्माण नारियों ने किया है। उपनिषद् काल में भी गार्गी, मैत्रेयी आदि अनेक स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। मंडन मिश्र की पत्नी भारती से तो स्वयं शंकराचार्य भी परास्त हुए थे। ब्राह्मण कन्याओं को वेद की शिक्षा दी जाती थी और क्षत्रिय कन्याओं को धनुष–वाण का प्रयोग सिखाया जाता था।[1] प्राचीन मूर्तियों में कुशल अश्वारोही स्त्रियों की सेना का चित्रण है।[2] पतंजलि ने भाला चलाने वाली महिलाओं (शक्तिकीः) का उल्लेख किया है। मेगास्थनीज ने चन्द्रगुप्त की अंगरक्षक अमेजन महिलाओं का वर्णन किया है। वाल्मीकि के आश्रम में आत्रेयी, लव और कुश के साथ अध्ययन करती थी। मालती माधव में भवभूति ने दिखाया है कि कामन्दकी लड़कों के साथ अध्ययन करती थी।[3]

वैदिक युग में धर्म की अभिव्यक्ति यज्ञों द्वारा होती थी और कोई भी यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं माना जाता था। अतीत काल में कन्याएँ मेखला पहनती थीं, वेदों का अध्ययन करती थी और मंत्र पाठ करती थी।

पुराकल्पेषु नारीणां मौंजीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा।।[4]

ऐसा कोई भी धार्मिक प्रतिबन्ध नहीं था कि प्रत्येक बालिका के लिए विवाह आवश्यक ही हो। यद्यपि पत्नी और माता बनना स्त्रियों के परम कर्त्तव्यों में थे, फिर भी इसके लिए किसी को विवश नहीं किया जाता था। युवती कन्याएँ स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करती थी और उत्सव तथा कीड़ा–प्रतियोगिताओं में सक्रिय भाग लेती थीं।[5] उन्हें अपने पति के चुनाव में भी पूरी स्वतंत्रता थी। उन्हें पति की सम्पत्ति में अधिकार होता था और कभी–कभी तो उन्हें अविवाहित रहकर अपने पिता और भाईयों की सम्पत्ति में भी अधिकार दिया जाता था। तथा वे आजन्म अपने माता-पिता के साथ रहती थीं।[6] पैतृक सम्पत्ति का कुछ अंश उन्हें दहेज में दिया जाता था, जो उनकी अपनी सम्पत्ति होती थी जिसे बाद में "स्त्री धन" कहा गया। युद्ध के मैदान में भी स्त्रियाँ जाती थी। कैकेयी का उदाहरण सर्वविदित तथ्य है। इस प्रकार स्त्रियों का स्थान किसी भी मामले में समाज में पुरूषों से हीन नहीं था यानी स्त्री और पुरूषों में काफी हद तक समानता थी।

मध्यकाल में भारत की स्थिति काफी खराब होने लगी। विदेशी आक्रमणों के कारण लोगों में असुरक्षा की भावना आती गयी और स्त्रियों के जीवन का अंधकारपूर्ण अध्याय प्रारम्भ हो गया। लोग अन्य भौतिक सम्पत्ति के समान ही स्त्रियों को भी समझने लगे, परिणाम हुआ उनकी स्वतंत्रता का अन्त। उन्हें पर्दा में रखा जाने लगा, शिक्षा का वातावरण भी समाप्त होने लगा और उनकी स्थिति 'असूर्यंपश्या नारी' की होती गयी। तरह–तरह की शारीरिक और मानसिक यंत्रणाओं को झेलने के लिए उन्हें विवश होना पड़ा। आर्थिक, सामाजिक, वैचारिक, हर प्रकार की परतंत्रताओं ने उन्हें जकड़ना प्रारम्भ कर दिया और वे समाज में द्वितीय श्रेणी की नागरिक होने का दंश झेलने के लिए विवश होती गयी।

परन्तु प्रकृति का नियम है कि कोई भी स्थिति हमेशा के लिए एक नहीं रह सकती। हमारा देश स्वतन्त्र हुआ, विचार बदले, वातावरण बदले, परिस्थितियाँ बदलीं और साथ ही नारियों की परतन्त्रता की बेड़ी भी हल्की होती गयी। भारतीय नारियों में पुनः चेतना का प्रारम्भ हुआ और आज हमारे सामने झाँसी की रानी, सरोजनी नायडू, महादेवी वर्मा, विजयालक्ष्मी पंडित, इन्दिरा गाँधी इत्यादि अनेक गणमान्य नारियों का उदाहरण उपलब्ध है।

आज के सामाजिक संदर्भ में स्त्रियों की समानता की व्याख्या बड़ा ही दुष्कर कार्य है। कहीं समानता अपनी चरम सीमा पर है तो कहीं असमानता की खाई इतनी गहरी है कि

कल्पना करके ही सिहरन महसूस होती है। अतः वास्तविक स्थिति का सही मूल्यांकन करने के लिए इनके अलग–अलग स्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक है।

भारतीय संविधान में स्त्री तथा पुरूष सभी को शिक्षा के क्षेत्र में समानता का अधिकार दिया गया है। शिक्षा का कोई भी क्षेत्र हो चाहे वह व्यावसायिक ही क्यों न हो, कहीं भी लिंग भेद नहीं है। चिकित्सा विज्ञान हो या अभियांत्रिकी, प्रबन्धन हो या वायुयान प्रशिक्षण, स्त्रियों को भी प्रवेश पाने का समान अधिकार दिया गया है, आज हम पाते है कि सैनिक उपक्रम में भी स्त्रियों को स्थान दिया जाने लगा है, जो कि पहले वर्जित माना जाता था। माता–पिता भी अपनी पुत्रियों की शिक्षा में अब उतनी ही रूचि लेने लगे हैं, जितना अपने पुत्रों की शिक्षा में लेते हैं। परिवार या समाज में स्त्री शिक्षा की आवश्यकता पर काफी जोर दिया जाने लगा है। लोगों में इतनी जागरूकता आ गयी है कि परिवार को यदि प्राथमिक पाठशाला माना जाय तो माँ को बच्चों की प्राथमिक शिक्षिका माना जाता है, जहाँ उसे प्रेम, सहानुभूति, दया इत्यादि मानवीय गुणों का प्रथम पाठ पढ़ाया जाता है। एक अशिक्षित स्त्री अपने कर्त्तव्य को नहीं समझ पाती है और अपने बच्चे को उचित शिक्षा भी नहीं दे पाती हैं अतः ऐसा लोग महसूस करने लगे हैं कि स्त्रियों की शिक्षा, पुरूषों की शिक्षा से ज्यादा आवश्यक है। स्त्रियों की अशिक्षा का कुप्रभाव समाज पर निश्चित रूप से पड़ता ही है।

नौकरी और व्यवसाय के क्षेत्र में भी समानता का अवसर स्त्रियों को दिया गया है। पहले स्त्रियों का दायरा घर तक ही सीमित था। वे चाहे कितनी भी शिक्षित क्यों न हो, परन्तु नौकरी नहीं कर सकती थी। स्त्रियों का नौकरी करना पारिवारिक कलंक के रूप में देखा जाता था। धीरे–धीरे धारणाएँ बदली, सामाजिक मान्यताएँ बदली और स्त्रियों को भी समाज द्वारा बाहर काम करने की अनुमति दी जाने लगी, परन्तु एक सीमित अर्थ में। स्त्रियाँ सभी प्रकार की नौकरी नहीं कर सकती थी। वे शिक्षा के क्षेत्र में या चिकित्सा के क्षेत्र में ही काम कर सकती थी। परन्तु आधुनिक समाज ने इस क्षेत्र में काफी प्रगति कर ली है और अब तो नौकरी को कौन कहे, व्यवसाय में भी स्त्रियों को जाने की पूरी स्वतंत्रता सामाजिक स्तर पर मिल चुकी है। शायद ही कोई क्षेत्र हो, चाहे वह राजनीति का हो या व्यवसाय का या शिक्षा का, जहाँ स्त्रियों का वर्चस्व नहीं हो।

पिता की सम्पत्ति में अब बालिग बेटी को भी हक प्राप्त हो गया है। 1976 के पहले सिर्फ बालिग बेटे को ही यह हक प्राप्त था। 1937 में बने एक्ट के अनुसार दिवंगत

पति के निजी सम्पत्ति पर विधवा पत्नी का अधिकार है। तलाक की स्थिति में भी पहले स्त्रियों के भरण–पोषण का ख्याल नहीं किया जाता था, परन्तु अब ऐसा नहीं है। आज के संदर्भ में तलाकशुदा स्त्रियों को भी मुआवजा दिया जाता है और यह उनका कानूनी हक हो गया है। "स्त्रीधन" पर पहले परिवार का ही अधिकार होता था, जबकि अब स्त्रीधन पर स्त्रियों का ही पूर्ण अधिकार होता है, वे उनका उपयोग चाहे जैसे भी करें।

इस तरह हम देखते हैं कि हमारे समाज में स्त्रियों को संवैधानिक रूप से हर क्षेत्र में समानता का अधिकार दिया गया है, परन्तु यदि स्थिति का सही आकलन किया जाय तो क्या वास्तविकता बिल्कुल यही है? यह ठीक है कि स्त्रियों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में काफी बदलाव आया है, परन्तु अभी भी पूर्ण रूप से हमारा समाज इस समानता को स्वीकार नहीं कर पाया है। शहरी समाज में जहाँ स्त्री शिक्षा को काफी महत्त्व दिया गया है, वहाँ स्थिति काफी सुधरी है, परन्तु हमारे देश की अधिकतर महिलाएँ जो कि सुदूर देहात में रहती हैं, उनकी स्थिति में आज भी बहुत अधिक परिवर्तन की आवश्यकता है। गाँवों में आज की अशिक्षा के कारण स्त्रियों को संविधान प्रदत्त अधिकारों की जानकारी नहीं है, जिसके कारण उन्हें काफी संत्रस्त जीवन व्यतीत करना पड़ता हैं आर्थिक रूप से वे आज भी उतनी ही परतंत्र हैं। उन्हें पुरूषों पर पूर्णरूपेण आश्रित रहना पड़ता है और वहाँ आज भी उनकी स्थिति दयनीय ही है। अतः अब तक ग्रामीण समाज में स्त्रियों की स्थिति नहीं सुधरती है, उन्हें समान दर्जा नहीं दिया जाता है, समानता का ढोल पीटना बिल्कुल सही नहीं है।

स्कूल, कॉलेजों में भी उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सह–शिक्षा एक अलग ही समस्या है। कई प्रकार से उनका शोषण किया जाता हैं परिणामस्वरूप लोग सह–शिक्षा से दूर भागते हैं और यही है, हमारे समाज की कुप्रवृत्ति। नौकरी या व्यवसाय के क्षेत्र में भी स्त्रियों का काफी शोषण होता है। यदि सरकारी क्षेत्रों को छोड़ दिया जाये तो निजी क्षेत्र में स्त्रियों का काफी शोषण किया जाता है। एक ही प्रकार के कार्य के लिए स्त्रियों को पुरूषों की तुलना में कम वेतन दिया जाता है। साथ ही शारीरिक रूप से भी उनका शोषण किया जाता है। परिणामस्वरूप स्त्रियाँ हर क्षेत्र में काम नहीं करने के लिए अपने को विवश पाती हैं। व्यवसाय के क्षेत्र में भी स्त्रियों को काफी परेशानियों का सामना करना पड़ता है। अभी भी हमारे समाज में स्त्रियों को उपभोग की एक वस्तु के रूप में देखा जाता है। परिणामस्वरूप आए दिन बलात्कार की घटनाएँ सुनने को मिलती हैं।

वर्त्तमान तथाकथित विकसित समाज में भी स्त्रियों को दोयम दर्जा का नागरिक माना जाता है। बालक और बालिकाओं के साथ जन्म काल से ही व्यवहार का अन्तर पाया जाना और सबसे खेद की बात यह है कि पति–पत्नी की प्रथम सन्तान लोग पुरूष बच्चा या बालक की ही आकांक्षा करते हैं, बालिका का नहीं और सबसे चौंकाने वाली वाली बात यह है कि यह प्रवृत्ति सिर्फ अनपढ़ समाज में ही नहीं बल्कि तथाकथित शिक्षित समाज में भी पाया जाता है। बालिकाओं को एक बोझ के रूप में समझा जाना, उन्हें कुपोषण का शिकार बनाना, किताबों की जगह पर उनके हाथ में घरेलू कार्य–भार का दायित्व सौंप देना, लैंगिक भेद–भाव नहीं है तो और क्या है? परिणामस्वरूप निम्न वर्ग की बालिकाओं की प्राथमिक शिक्षा भी पूरी नहीं हो पाती है। निम्न मध्यम वर्ग की बालिकाओं की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है। आर्थिक, सामाजिक तथा कई अन्य कारणों से उन्हें भी अपनी शिक्षा पर पूर्णविराम लगाना पड़ता है, जबकि उसी समान परिस्थिति में उसी परिवार के बालकों को अपनी शिक्षा जारी रखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। उच्च मध्यम वर्ग की स्थिति भी इस मायने में बहुत अच्छी नहीं हैं यद्यपि उन्हें शिक्षा का अवसर एवं सुविधाएँ दी जाती है, परन्तु उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्वीकार करने में अभी भी हिचकिचाहट महसूस की जाती है। किसी भी पारिवारिक या सामाजिक कार्य में निर्णय लेने के अधिकार से उन्हें आज भी वंचित किया जाता है। उनकी मानसिक क्षमता को स्वीकार करना पुरूष प्रधान समाज के गले नहीं उतरता जिसके कारण स्त्रियों को एक परजीवी के रूप में देखे जाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है जो कि सिर्फ पुरुषों के सहयोग से ही आगे बढ़ सकती है। आवश्यकता है इस बात को समझने और महसूस करने की, कि स्त्रियाँ भी विवेकपूर्ण निर्णय लेने में सक्षम है। इस बात को नजर अन्दाज नहीं करना चाहिए की यदि एक पुरूष शिक्षित होता है तो सिर्फ वही शिक्षित होता है, परन्तु यदि एक स्त्री शिक्षित होती है तो उसका पूरा परिवार शिक्षित होता है।

दहेज हत्या, हमारे समाज में स्त्रियों की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने में काफी सहायक सिद्ध हो सकती है। आज तक एक भी वर–हत्या का उदाहरण सुनने को नहीं मिला है जबकि वधू–हत्या एक साधारण बात हो गयी है।

अभी भी हमारे समाज में स्त्रियों को किसी मन्दिर या मस्जिद या गिरिजाघर में पुजारी के योग्य नहीं माना जाता है। ऐसा क्यों? मतलब स्पष्ट है कि उन्हें पुरूषों के समान दर्जा अभी भी समाज में उपलब्ध नही हो पाया है। 9 अगस्त 1968 में "द गार्जियन" में एक

खबर छपी कि क्या महिला पादरी हो सकती है? इस पर काफी बहस चली और अन्त में निर्णय किया गया कि यदि औरत पादरी बनती है तो चर्च की गरिमा को बनाए रखना दुष्कर हो जायगा। यह विचार भारत ही नहीं विश्व के अन्य देशों में भी स्त्रियों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान देती है।

बाहर काम करने वाली महिलाओं को अपने परिवार में भी काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उनके ऊपर दोहरी जबावदेही आ जाती है। घरेलू कामों के अतिरिक्त उन्हें बाहरी काम का भी बोझ वहन करना पड़ता है। परिवार में यदि उन्हें सहयोग नहीं मिलता है तो वे मानसिक तनाव का शिकार हो जाती हैं और परिणामस्वरूप पारिवारिक बिखराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

सबसे अहम सवाल है समाज में नारी सुरक्षा का। नारी सुरक्षा का सवाल तब तक नहीं उठता है जब तक कि वह पुरूष पालित हैं अर्थात् पुत्री, पत्नी या माता के रूप में हैं। परन्तु जब स्त्री पुरूष के सम्बन्ध में कहीं दरार उत्पन्न हो जाती है, जब वह परित्यक्ता या तलाक–शुदा या विधवा होती है, तब उनके सामने आत्म–सुरक्षा का प्रश्न विकराल हो जाता है। संवैधानिक रूप से उन्हें ऐसी स्थिति में भी अधिकार दिए गए हैं, परन्तु हमारा समाज आज भी उन्हें उन अधिकारों को सुलभ कराने में सक्षम नहीं है। अतः न्यायालय का दरवाजा खटखटाना आवश्यक हो जाता है और न्यायालय तक पहुँचना और न्याय प्राप्त करना क्या इतना आसान है? न्यायालय की सीढ़ी चढ़ने से पहले कोई पुरूष प्रतिरक्षक होना चाहिए या काफी सम्पत्ति। विधवाओं के साथ भेद–भाव का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उन्हें अपने दिवंगत पति की सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करने में यदि वह निःसन्तान है तो आज भी काफी मशक्कत करना पड़ता है। उन्हें रद्दी कागज के टुकड़े से अधिक नहीं समझा जाता जिसे कूड़ेदान में फेंक दिया जाता है, जबकि पुरुष यदि विधुर हो जाते हैं तो उन्हें समाज में कोई कठिनाई नहीं होती और वे सभी प्रकार के जीवन के सुख को बेहिचक भोगते हैं।

महिला आयोग का गठन इसी उद्देश्य से किया गया है, परन्तु व्यावहारिक रूप से महिला आयोग भी काफी कारगर सिद्ध नहीं हो पायी है, क्योंकि वहाँ भी उन्हें पुरूषों का ही सामना करना पड़ता है। चाहे जितने भी कानून बने, आयोग का गठन हो, परन्तु व्यावहारिकता में परिणाम होता है वही "ढाक के तीन पात।"

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का चमत्कार भी स्त्रियों की वास्तविक सामाजिक' स्थिति

को उजागर करता है और वह है–भ्रूण हत्या। जन्म से पहले ही बच्चे के लिंग का पता कर लेना और स्त्रीलिंग होने पर उसकी हत्या कर देना आधुनिकता के नाम पर आधुनिक समाज का निष्कृटतम उदाहरण किसी से भी छिपा नहीं है। यद्यपि सरकारी तौर पर रोक लगाया गया है, परन्तु वास्तविकता में पूर्णविराम अभी भी नहीं लगा है। मानव सभ्यता का यह घिनौना रूप हमारे समाज में आज भी विद्यमान है। आज के तथाकथित सभ्य समाज की यह खतरनाक स्थिति लैंगिक असमानता को तो जन्म दे ही चुका है, इतिहास भी महाभारत काल के उदाहरण को दुहरा सकता है जब द्रौपदी का विवाह पाँच भाईयों से हुआ था। हम भले ही महिला दिवस या समलैंगिक आन्दोलन का ढिढ़ोरा क्यों न पीटें, परन्तु वास्तविक स्थिति कुछ और ही है। यूनाइटेड नेशन पॉपुलेशन फंड ने साफ तौर पर कहा है कि भारत में खासकर उत्तरी राज्यों में स्त्रीलिंग के गर्भपात के कारण स्त्रियों की संख्या में भारी गिरावट हो रही है। खेद का विषय यह है कि यह प्रवृत्ति देहाती क्षेत्रों से ज्यादा अभिजात्य तथा शिक्षित वर्गों में अधिक पनप रही है। **"A study in Punjab shows that religious and social factors count far more in sex selection, In business families, the son is the natural heir and also the custodian of religious rites."**

और कई ऐसी बातें हैं जो सुनने में तो अविश्वसनीय लगती हैं, परन्तु व्यावहारिकता में सही हैं। सिद्धान्त और व्यवहार में काफी अन्तर पाये जाते हैं। कई जगहों या परिवारों में यदि स्त्रियों को पूर्ण समानता प्राप्त है भी तो अधिकतर परिवार ऐसे ही हैं, जहाँ ऐसी बात नहीं है और एक तथ्य यह भी है कि हमारी सामाजिक संरचनाओं को देखते हुए पूर्ण समानता संभव है भी नहीं। हमारे सभी सामाजिक नियम प्रायः पुरूषों द्वारा ही बनाए गए हैं और पुरूषों ने अपने हितों का ध्यान हमेशा ही रखा है। हम ऐसे समाज में रहते हैं जहाँ सिद्धान्त की बातें तो बहुत होती है, परन्तु जब व्यवहार की बातें आती है तो पासा पलट दिया जाता है और ज्यादा छेड़–छाड़ किए जाने पर या विरोध करने पर तनाव तथा अशान्ति ही बढ़ती है। परिणाम सामने आता है–पारिवारिक विखराव और अन्ततः स्त्री परित्यक्ता या तलाकशुदा जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होती हैं। चाहे जितने भी आयोग गठित किए जाएँ, सम्मेलन बुलाया जाए या कानून बनाया जाय, पूर्ण समानता का सिद्धान्त तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक कि हमारा समाज जिनमें पुरूष ही नहीं, महिलाएँ भी शामिल हैं, इसके औचित्य को पूर्णरूपेण समझ न लें। स्त्रियों की समानता के प्रश्न पर स्वयं स्त्रियाँ भी कम बाधक नहीं है। दहेज हत्याओं में स्त्रियों का भी कम हाथ नहीं होता। यदि घर की महिलाएँ ही

हिम्मत करें और एक–दूसरे की सहायता करने को तैयार हो जायें तो ऐसी घिनौनी अत्याचार पर काफी हद तक काबू पाया जा सकता है, उन्हें प्रताड़ित होने से बचाया जा सकता है और उनकी अस्मिता की रक्षा की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संवैधानिक रूप से स्त्रियों की समानता के पक्ष में काफी सरकारी प्रयत्न किए गए हैं और किए जा भी रहे हैं, परन्तु सामाजिक रूप से उन सारे प्रयत्नों को अभी भी स्वीकार करने में हमारा समाज हिचकिचाहट महसूस करता है। वैसे यदि निष्पक्ष विश्लेषण किया जाय तो कुछ तथ्य उभर कर सामने आते हैं। सर्वप्रथम, स्त्रियों और पुरूषों के निर्माण में प्रकृति ने कतिपय भिन्न तत्त्वों का प्रयोग किया है। नारी का माधुर्य, कोमलता, ममता, कला–कौशल, मातृत्व, सहिष्णुता, प्रेम इत्यादि गुणों ने उसे हमारे समाज में सम्मान प्रदान किया है। अपेक्षाकृत पुरूषों में हम इन नारी सुलभ गुणों की कल्पना नहीं कर पाते हैं। शारीरिक रूप से भी स्त्रियाँ पुरूषों की अपेक्षा कमजोर होती हैं। अतः हर क्षेत्र में पुरूषों से समानता प्राप्त कर ली जाय, यह एक विडम्बना ही होगीं। चिकित्सा का कार्य स्त्रियाँ जिस निपुणता से कर सकती हैं, पुरूष चाह कर भी नहीं कर सकते। गृह उद्योगों में स्त्रियों की कार्य–कुशलता काफी सराहनीय है। इन सबसे बढ़कर स्त्रियाँ ही परिवार की आधार स्तम्भ होती हैं। परिवार से ही समाज बनता है और समाज से राष्ट्र। अतः एक शिक्षित तथा समझदार महिला अपने परिवार रूपी गाड़ी को सुव्यवस्थित रूप से चलाकर राष्ट्र के विकास में काफी सहयोग कर सकती हैं। स्त्रियों में इतनी शक्ति है कि अपने प्राकृतिक गुणों को बरकरार रखते हुए अन्य कार्यों को भी काफी निपुणता से अंजाम दे सकती है। स्त्री और पुरूष, जीवन रथ के दो धुरी हैं और उन्हें सही ढंग से चलाने वाला ईंधन है – प्रेम। यदि स्त्रियों को भी पुरूषों के समान ही अवसर मिले, सम्मान तथा प्रतिष्ठा मिले, शिक्षा मिले, तो समय पड़ने पर वह पुरूषों को हर प्रकार से चाहे वह आर्थिक हो या राजनैतिक या समाजिक या पारिवारिक, सहयोग कर सकती है। उन्हें सामाजिक समानता तो मिलना ही चाहिए जिससे उन्हें हीन भावना से मुक्ति मिल सके और उन्हें परावलम्बी या निराश्रित होने पर दंश नहीं झेलना पड़े। यह भी सत्य है कि कोई भी देश अपना सर्वांगीण विकास तब तक नहीं कर सकता, जब तक कि उस देश की स्त्रियाँ समान रूप से उसके विकास में सहभागी न बन सके। अभी भी हमारे देश में घर सम्हालना और बच्चों को पालना ही महिलाओं के पारस्परिक कार्य माने गए हैं और इन कार्यों को कोई सामाजिक मान्यता भी नहीं दी जाती है। आवश्यक ही नहीं अत्यावश्यक है कि स्त्रियों के कार्य को भी चाहे वह घर का हो या बाहर का, पुरूषों के समान दर्जा दिया जाना

चाहिए। प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारे समाज और राष्ट्र के विकास में सहायक होता है। अतः स्त्रियों के प्रति आदर, सम्मान और सामाजिक मान्यता तथा समानता आज की आवश्यकता ही नहीं बल्कि उपादेयता भी है। महात्मा गाँधी ने भी इस विचार को स्वीकार करते हुए कहा है कि स्त्री और पुरूष एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा उन्नति नहीं कर सकता है। प्रत्येक का कार्य मानव समाज के अस्तित्व और विकास के लिए समान रूप से आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. ऋग्वेद, 1–112–10
2. भारहूत,
3. स्त्रीपात्र, बौद्ध संन्यासिनी।
4. अथर्ववेद, 9–5–18
5. ऋग्वेद, पृष्ठ 19
6. ऋग्वेद, 1–117–7 – अभाजु – जो अपने पिता के घर ही बूढ़ी हो जाती थी– 2–17–7, 10–39–3 आदि अनेक जगहों में।
7. दि टाइम्स ऑफ इन्डिया, सम्पादकीय, सं.168, वाल्यूम तिथि, नव.6,2001

प्रो. निर्मला कुमारी झा
दर्शनशास्त्र विभाग
बी.आर.अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर-842 001



सैंधव सभ्यता एवं वेदकालीन समाज एवं संस्कृति में अध्यात्म

डॉ. प्रसून दत्त सिंह

संस्कृति मानव की जीवन–शक्ति, प्रगतिशील साधनाओं की विमल विभूति, राष्ट्रिय आदर्श की गौरवमयी मर्यादा और स्वतंत्रता की प्रतिष्ठा होती है। इसमें सार्वभौम आदर्शों की प्रेरणा रहती है। राष्ट्र का उत्थान इसी पर अवलम्बित रहता है। जिस प्रकार आत्मा प्रत्येक जीव में विद्यमान होती है उसी प्रकार वैदिक संस्कृति भूमि के कण–कण में व्याप्त है–

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा।[1]

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।[2]

प्रत्येक विशिष्ट समाज अथवा भौगोलिक परिवेश से आबद्ध देश की संस्कृति अपने देश–काल और सीमाओं से अपना–अलग अस्तित्त्व सूचित करती है। इस कारण संस्कृति किसी समाज–विशेष या देश–विशेष की परिचायिका भी मानी जाती है–

सत्याहिंसागुणैः श्रेष्ठा विश्वबन्धुत्वशिक्षिका।

विश्वशान्तिसुखाधात्री भारतीया हि संस्कृतिः।।

किसी समाज और राष्ट्र की श्रेष्ठ उपलब्धियाँ ही संस्कृति है, जिसमें समाज और राष्ट्र परिचित होता है। व्यक्तियों का सामाजिक नियमों और व्यवहारों को जानना, उनका पालन करना, समाज के अनुरूप आचरण करना और अनुशासन में बंधे रहना सभ्यता कहलाता है। सभ्यता का सम्बन्ध मूर्त्त एवं भौतिक पदार्थों से है, जो हमें विरासत में नहीं मिलते, अपितु हम अपनी आवश्यकता के अनुसार इनका निर्माण करते हैं। एक परिभाषा के अनुसार मनुष्य का समाज में मानवीकरण ही सभ्यता है।

सर्वप्रथम 1921 में पुरातत्त्व विभाग ने पश्चिमी पंजाब के माँटगोमरी जिले के हड़प्पा नामक स्थान पर उत्खनन का कार्य प्रारम्भ किया गया। जिससे यह प्रमाणित हो गया कि ईसा से कई हज़ार वर्ष पहले हड़प्पा एक समृद्ध नगरीय सभ्यता का केन्द्र था। यह सम्भवतः विश्व की प्राचीनतम सभ्यता रही होगी।

हड़प्पा सभ्यता के उत्खनन का कार्य 1921 से प्रारम्भ होकर विभिन्न स्थलों पर 1969 तक चलता रहा। आज तक हड़प्पा सभ्यता के 1000 स्थान खोजे जा चुके हैं। इनमें हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, चन्हूदड़ो, लोथल, कालीबंगा, सुरकोटड़ा, बनावली, रंगपुर और रोजड़ी नामक स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस सभ्यता को सिन्धु घाटी सभ्यता, सिन्धु सभ्यता और हड़प्पा सभ्यता आदि नामों से पुकारा गया है। ये सभी नाम एक ही अर्थ के द्योतक हैं। सिन्धु नदी के घाटी में विकसित होने के कारण यह सभ्यता सिन्धु सभ्यता के नाम से प्रचलित है। इस सभ्यता का सर्वप्रथम उत्खनन हड़प्पा नगर में हुआ इसलिए बाद में सभी स्थानों की खुदाई के अवशेषों को हड़प्पा नगर का अंग मानते हुए इसे हड़प्पा–सभ्यता के नाम सम्बोधित किया गया।

इस सभ्यता के विभिन्न स्थलों पर उत्खनन से अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे स्पष्ट रूप से यहाँ के नागरिकों के धार्मिक जीवन की ओर संकेत करते हैं। यहाँ के धर्म के विषय में डॉ. आर.के. मुखर्जी ने अपने ग्रन्थ हिन्दूसभ्यता में लिखा है कि–"यह धर्म कुछ बाहरी अंगों के होते हुए भी प्रमुखतः इसी भूमि की उपज था और हिन्दू धर्म का पूर्व रूप था। जिसमें आज की कई विशेषताएँ पाई जाती हैं। जैसे शिव शक्ति की पूजा, नाग, पशु, वृक्ष, पाषाण और लिंग आदि के पूजा।[3] डॉ. ए.एल. बाशम ने लिखा है 'वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि मिस्त्र और मैसोपोटामिया की सभ्यताओं को भाँति हड़प्पा की सभ्यता एक धर्म–राज्य पर आधारित थी।[4]

मोहनजोदड़ो से प्राप्त कुछ मुहरों पर पुरूष आकृतियों का अंकन मिलता है, जिनसे विदित होता है कि सैन्धव जन विशिष्ट पुरूष देवता की उपासना करते थे। एक मुहर में पुरूष आकृति आसीन मुद्रा में सम्मुखदर्शन (सामने की ओर देखती हुई), ध्यानावस्थित, नासाग्र दृष्टि है जिसके सिर पर त्रिशूल जैसी शिरोभूषा है। इसके चारों ओर अनेक पशु हैं – दायीं ओर हाथी तथा व्याघ्र, बाइ ओर गैंडा एवं महिष (भैसा), और सामने की ओर दो हिरण अंकित हैं। दोनों हाथ चूड़ियों जैसे वस्तु से भरे हैं एवं वक्षस्थल पर भी त्रिकोणावली

के आकर की कोई वस्तु है। मार्शल ने इसे पशुपति शिव की संज्ञा दी है।[5] अधिकांश विद्वानों ने मार्शल के मत का समर्थन किया है।

जैसा हम जानते हैं कि आर्यों में शिव और रूद्र नामक एक पुरुष देवता की उपासना का उल्लेख है।[6] सम्भव है कि सैन्धव के उपास्य देव पशुपति शिव को आर्यों ने अपनी पूजा–पद्धति में सम्मिलित कर लिया हो। इस अंकन में परवर्ती त्रिमुखी शिव पशुपति एवं योगेश्वर रूप को देखा जा सकता है। एक मुहर में देवता के त्रिमुख अंकित किए गए हैं जिसके सिर के मध्य में एक टहनी निकलती दिखाई गई है। दूसरे एकमुखी देव के सिर पर भी ऐसा ही अंकन देखा जाता है। एक अन्य मुद्रा पर सम्भवतः शिव का चित्रण है जिसमें पुरुष आकृति के समक्ष घेरा बांध कर दो नाग अवस्थित हैं। विद्वानों की मान्यता है कि मुद्रा में शिव का सम्बन्ध नागों से दर्शाया गया है। इसी प्रकार मुद्रा में शिकारी हाथ में धनुष बाण लिए अंकित हैं। कतिपय विद्वान् इसे शिव का ही किरात रूप मानते हैं।

मोहनजोदड़ों, हड़प्पा तथा अन्य स्थलो से कुछ निश्चित लम्बे, चिकने और शंकु के आकर के लिंग प्राप्त हुए हैं। कुछ विद्वानों ने कोणात्मक तथा वर्तुलाकार तथा शंक्वाकार प्रस्तरों को प्रजजन–शक्ति का परिचायक माना है और शिव–उपासना से सम्बद्ध किया है। ऋग्वेद में शिश्न–देवों की निन्दा की गई है। कुछ विद्वानों के अनुसार सैन्धव लोगों में प्रचलित लिंग–पूजा की ओर इसका संकेत है। इन प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने शिव को हड़प्पा का सबसे महत्वपूर्ण देव माना है। सम्भवतः अधिक लोगों द्वारा शिव पूजा की जाती थी।

धीया पत्थर (स्टीयेटाइट) की एक खण्डित मानव मूर्त्ति जिसका सिर से वक्षस्थल तक एक भाग ही शेष है, मोहनजोदड़ों से प्राप्त हुई है। यह 19 सेमी ऊँची और अर्द्ध खुले, लम्बे नेत्र, नासाग्र दृष्टि है एवं इसका केश–विन्यास विशेष रोचक है। मस्तक एक फीते से आबद्ध है। दाढ़ी ठीक से बनी हुई है किन्तु होंठ का ऊपरी भाग साफ है। मूर्त्ति को शाल से आवृत दिखाया गया है जिस पर त्रिखण्डीय अलंकरण है। विद्वान् इसे योगी का अंकन मानते है। इ.जे.ए. मैके ने इसे पुजारी की आकृति कहा है। किन्तु मैके ने आगे उल्लेख किया है कि अर्द्ध खुले नेत्रों के कारण कुछ विद्वान् इसे योगी की मूर्त्ति मानते हैं। निवृत्तिवादी जैन एवं बौद्ध दर्शनों को कुछ इतिहासकारों ने सैन्धव 'योगी' से सम्बद्ध करने

का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि श्रमण–परम्परा का बहुत पहले आविर्भाव हो गया। जैन धर्म का इतिहास बहुत पहले प्रारम्भ हुआ और प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख ऋग्वेद में आया।[7] जी.सी. पाण्डेय ने यह विचार रखा है कि बौद्धों तथा जैनों ने संसार–त्याग अथवा परिवार–त्याग की धारणा को ब्राह्मणों के संन्यास से नहीं अपितु किसी विद्यमान सम्प्रदाय से ग्रहण किया, कालान्तर में ब्राह्मण धर्म में इसे संन्यास के आरम्भ के रूप में स्वीकार किया।[8]

कुछ समय पहले पूर्व के इसी सन्दर्भ में किए गए उत्खननों से तत्कालीन अग्नि–पूजा की सम्भावना भी व्यक्त हुई है। कालीबंगा में एक चबूतरे पर कुएं के समीप आयताकार अग्नि–वेदिया एक पंक्ति में देखी गई हैं।[9] कालीबंगा के गढ़ी टीले एवं कोटडीजी के शहर, टीले पर चबूतरे पर अनेक गोलाकार एवं अनियमित आकृति के गडढे एक पंक्ति में पाए गए, जिनको ईटों से घेरा गया तथा मध्य में एक खड़ी ईंट भी मिली है, जो सम्भवतः स्तम्भ का प्रतीक है। इन गड्ढों से पक्की मिट्टी के टुकड़े प्राप्त हुए हैं। गर्तों के प्राप्त सामग्री के आधार पर ब्रजवासी लाल एवं बालकृष्ण थापर इस पर निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन उथले गड्ढ़ा को खोदकर इनमें आग प्रज्जवलित की जाती थी।[10] यह प्रक्रिया पूजा–पद्धति का एक भाग रही होगी। सांकलिया की मान्यता है कि सम्भवतः हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों में ऐसे उदाहरण रहे होगें किन्तु प्रारम्भिक उत्खननों में इन तथ्यों पर ध्यान नहीं रखा गया।

चबूतरों पर आयताकार या वृत्ताकार मिट्टी के घेरे देखे गए, जिनमें मिट्टी के तिकोने मृत्पिण्ड, राख, मिट्टी के बर्तन आदि मिलते हैं। पुरातत्त्वविदों की मान्यता है कि इनका उपयोग अग्नि–पूजा के लिए किया जाता था। एस.आर. रॉव की धारणा है कि सार्वजनिक रूप से अग्नि–पूजा की जाती होगी और सम्भवतः अग्नि–पूजा में तरल पदार्थ डाला जाता रहा होगा।[11] पर्यावरण की शुद्धि का सर्वोत्तम साधन अग्निहोत्र है। अग्नि में हुई आहुति वायुमण्डल के रोगाणुओं को उसी प्रकार दूर कर देती है, जिस प्रकार नदी झागों को 'इदम् हविर्यातुधानान् नदी–फेरमिवा वहत्।[12] एक मंत्र से स्पष्ट उल्लेख है, जिसे गूगल औषधि की गन्ध प्राप्त होती है, उसे यक्ष्मा आदि रोग पीड़ित नहीं करते–

न तं यक्ष्मा अरून्धते नैनं शपथो अष्नुते।

यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अष्नुते।।[13]

ऋग्वेद में कहा भी गया है कि हे अग्नि! आप सबका कल्याण करें–

स नः पितेव सूनवेग्ने सूपायनो भव।

सचस्वा नः स्वस्तये।।[14]

हड़प्पा सम्बन्धी उत्खनन से कुछ चक्राकार मूर्तियाँ मिली हैं जिनके चारों ओर से किरणें निकलती दिखाई गई हैं। सम्भवतः ये मूर्तियों सूर्य की पूजा की ओर संकेत करती हैं। प्राकृतिक पर्यावरण में ऊर्जा का अपरिमित स्त्रोत सूर्य है। ऋग्वेद के अनुसार सूर्यो–आत्माजगतस्तस्थुषच अर्थात् समस्त संसार की आत्मा सूर्य है। सूर्य की किरणों से रोगों की चिकित्सा की जाती है। कीटनाशक सूर्य की किरणे ह्रदयरोग और पीलिया जैसी बीमारी को दूर करती है।

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।[15]

सूर्य की सात प्रकार की किरणें जो भिन्न–भिन्न रोगों का निदान करने में सक्षम हैं शुद्ध पर्यावरण का निर्माण करती है। वर्षाऋतु में निकलने वाले इन्द्रधनुष की प्रतीक ये किरणें नेत्र–रोगों को दूर करने वाली होती हैं।

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।

शोचिष्केषं विचक्षणम्।।[16]

साथ ही सूर्य देव अपने प्रकाश से अंधकार को, जल और खाद्यान्न के अभाव को दूर करते हैं। अन्य रोगों के साथ वे निद्रारोग को दूर भगाते हैं।[17]

सैन्धव स्थलों के उत्खननों में मिट्टी तथा पत्थर से बनी विविध पशुओं की मूर्तियां मिली हैं और मुहरों पर भी इनका बड़ी मात्रा में अंकन हुआ है। इनमें से कुछ पशुओं का स्वरूप पौराणिक है। एक अंकन में एक अर्द्ध–मानव एवं अर्द्ध–पशु को शृंगधारी चीते से लड़ते हुए है। कुछ मुद्राओं में शरीर पर कई पशुओं के सिरों को एक साथ दिखाया गया है। एक सींग के वृषभ के समक्ष धूम–दण्ड रखा हुआ है, यह अंकन अनेक मुद्राओं पर देखा जाता है।

मार्शल ने एक मुद्रा में एक शृंगी पशु के तीन सिर, सबसे ऊपर बकरे, मध्य में एक शृंगी पशु तथा सबसे नीचे भैंसा होने का उल्लेख किया है। मुहरों पर वृषभ का अंकन

सर्वाधिक मात्रा में देखा जाता है। पौराणिक काल में वृषभ को शिव–वाहन के रूप में स्वीकार किया है। मुद्राओं पर कूबड़ एवं बिना कूबड़ के वृषभ का अंकन अधिक देखा गया है। मुहरों पर बहुधा एक बैल का चित्रण मिलता है जिसके गले के नीचे से भारी झालदान् खाल लटकती दिखाई देती है। सम्भवतः यह बैलों एवं गायों के प्रति आदर भाव का प्रतीक था। मैके के अनुसार सैन्धव संस्कृति में धार्मिक अनुष्ठानों में बैल का विशेष महत्त्व था। बैलों के खिलौने भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। मनसार में भी मिट्टी के बने वृषभ मिले हैं। साथ ही बैलों की चित्रणयुक्त मुद्राएँ मिली हैं। हाथी का अंकन भी ताम्र पट्टियों तथा मुहरों पर हुआ है।

सम्भवतः सैन्धव लोग पशु–बलि में भी विश्वास रखते थे। बैल, भेड़ आदि पशुओं की हड्डियाँ हड़प्पा में देखी गयी हैं जो सामूहिक पशुबलि को इंगित करता है। प्राचीन काल से ही भारत में नागपूजा का प्रचलन रहा है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक मुद्रा में देवता के समक्ष दो सर्प अंकित किए गए हैं जो नागों के महत्व के द्योतक है। मैके के अनुसार चबूतरों पर नाग के लिए दूध आदि रखा जाता है। तमिलनाडु में पोंगलपर्व पर नागों की पूजा की जाती है तथा दूध पिलाया जाता है। नागों की पूजा का प्रचलन वर्तमान समय में भी दृष्टिगोचर है। इसी प्रकार मुहरों पर मृग, हाथी, चीता, गैंडा, महिष (भैंस) आदि का अंकन है और ऐसा प्रतीत होता है कि ये किसी न किसी रूप में स्वतंत्र देव अथवा देवों के वाहन के रूप में पूजा के विषय रहे होगें, जो आधुनिक काल में भी देखे जाते हैं।

सैन्धव संस्कृति में पशु–पूजा के साथ वृक्ष–पूजा के संकेत मिलते हैं। मार्शल के विभिन्न मुद्राओं पर चित्रित वृक्षों से अनुमान लगाया है कि ऐतिहासिक काल के समान सैन्धव जन वृक्षों को दो तरह से पूजते थे। एक तो उसकी जीवन रूप में कल्पना एवं दूसरे प्राकृतिक रूप में। कुछ मुद्राओं में विचित्र वृक्षों का अंकन हुआ। एक मुद्रा पर छः पीपल की पत्तियाँ अंकित दिखाई गई हैं। मुहरों पर पीपल का चित्रण सामान्यतः अधिक हुआ है। भारत में पीपल वृक्ष की पूजा युगों से होती रही है और कहीं–कहीं पीपल आदि की पूजा का प्रचलन है जो सम्भवतः उसी युग से चली आ रही परम्परा को इंगित करता है।

हड़प्पा संस्कृति की मुद्राओं पर अनेक वृक्षों की आकृतियाँ अंकित मिली हैं जो इस बात की प्रतीक है कि वे लोग वृक्षों को भी धार्मिक दृष्टि से देखते थे। इसी प्रकार ऋग्वेद एवं यजुर्जेद के मंत्रों में पीपल के नीचे बैठने तथा पलाश के समीप निवास करने का

निर्देश दिया गया है–

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता[18]

मोहनजोदड़ों, हड़प्पा तथा चन्दुदडों के कुओं तथा स्नानागार को देखकर सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि लोग न केवल जल पूजा में विश्वास रखते थे बल्कि स्नान एवं शुद्धता के महत्त्व से भली–भांति परिचित थे। नगर निर्माण कला की दृष्टि से हड़प्पा सभ्यता अद्वितीय थी। नगर की स्वच्छता के लिए विशेष प्रबन्ध था। ए.डी. पुसालकर ने लिखा है, 'मोहनजोदड़ों के अवशेषों को देखनेवाला दर्शक उन प्राचीन नगरों की स्वच्छता एवं स्नानागार, नगर–निर्माण की अद्वितीय कला को देखकर आश्चर्यचकित रहा जाता है।[19] पूजा आदि से पूर्व स्नान का प्रावधान रहा होगा, प्रत्येक आवास में कुंओं का अस्तित्त्व इस तथ्य की ओर संकेत करता है। मोहनजोदड़ों के स्नानागार के आसपास लिंगों की प्राप्ति तथा जले हुए कोयले आदि के निशान जल–पूजा के प्रतीक माने गए। स्वस्तिक, चक्र, क्रास आदि के प्रतीक–चिन्ह भी संभवतः पूजा, अर्चना के भाग रहे होंगे।

ऋग्वेद में कहा गया है कि शुद्ध जलों में अमृत एवं औषधि का निवास रहता है– अप्स्वन्तरममृत अप्सु भेषजम्। जल ही जगत् की प्रतिष्ठा है–'आपो वा सर्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।'' आपोहिष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातनः – 'जल समस्त रोगों एवं कष्टों का निवारक है, इसमें ऊर्जा उत्पन्न होती है।[20]

मानव जाति मूत शवों के अन्तिम संस्कार को महत्त्वपूर्ण धार्मिक क्रिया के रूप में मानती रही है। इसका मूल कारण मृतकों के प्रति दृष्टिकोण और इस जीवन तथा मृत्युपरान्त जीवन के सम्बन्ध में मानव जाति के विश्वास का परस्पर सम्बन्ध रहा है। सैन्धव स्थलों के मृतकों का ऐसा कोई स्मारक प्राप्त नहीं हुआ जो मिस्त्र के पिरामिड तथा मेसोपोटामिया के उपनगर के राजकीय कब्रिस्तान के वैभव की बराबरी कर सकें। लेकिन सिन्धु सरस्वती के लोग पारलौकिक जीवन में विश्वास रखते थे, ऐसा प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है। उस समय मृतक के संस्कार की दो विधियाँ प्रचलित थीं–गर्त शवधि (गर्त में शव का दफन) तथा पात्र या कलश शवधि। गर्त शवधि के अन्तर्गत 9.5 फीट लम्बा 6 फीट चौड़ा आयताकार गड्ढा खोदकर शव को गाड़ दिया जाता था और साथ में दैनिक उपयोग की वस्तुएं रखी जाती थी। सामान्यतः शमशान में शव को पूरी तरह लम्बा लिटाया जाता था किन्तु यदाकदा उसे मुड़ा हुआ भी रखा जाता था। शवों को प्रायः उत्तर–दक्षिण

दिशा में रखा जाता था। शव दाह करते समय आज भी हिन्दू समाज में सिर उत्तर की ओर रखने की प्रथा है।

उत्खनन द्वारा प्राप्त कुछ मूर्तियों में आसनबद्धता, नासाग्र दृष्टि आदि पायी जाती है। आसन योग का एक प्रधान अंग है। योग–शास्त्र के प्रणेता महिर्ष पतञ्जलि आर्य ही थे। आसन लगाकर बैठने की पद्धति भारत से बाहर कहीं कभी भी न थी। नासग्र दृष्टि मन को अन्तर्मुखी करने का एक यौगिक उपाय है। इससे सिन्धु सभ्यता वैदिक संस्कृति के समकक्ष प्रतीत होती है।

सिन्धु घाटी की खुदाई में एक सील की आकृति पर एक वृक्ष अंकित है जिस पर दो पक्षी बैठे हैं। एक पक्षी फल खा रहा है तथा दूसरा देख रहा है। यह सील ऋग्वेद के एक मंत्र के आधार पर बनाई गई है।[21] मंत्र में प्रकृति की वृक्ष मानकर उसमें जीवात्मा एवं परमात्मा को पक्षी के रूप में चित्रित किया गया है।

पशुपति शिव का अंकन भी सैन्धव मुद्राओं पर हुआ है, ऋग्वेद में भी शिव अर्थात् रूद्र का वर्णन आया है। रूद्र की स्तुति में तीन मंत्र लिए गए है। रूद्र को वन में निवास करने वाला जटाधारी तथा श्रेष्ठ भिषज कहा गया है।[22] मोहनजोदड़ों, हड़प्पा आदि स्थलों से स्त्री–मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, पुरातत्त्वविदों ने इन्हें मातृदेवों की मूर्तियाँ माना है। प्राचीनकालीन देवों में आकाश तथा पृथ्वी की पूजा सबसे पहले प्रारम्भ हुई होगी। ऋग्वेद में भी पृथ्वी एक देवी रूप में वर्णित है। अथर्ववेद में पृथ्वी को माता कहा गया है।[23] ऋग्वेद में अदिति को सबकी उत्पत्ति को सबकी उत्पत्ति का कारण एवं समस्त जगत् की जननी कहा है।[24]

कालीबंगा के गढ़ी, टीले, कोटडीजी के शहरी टीलों पर चबूतरों पर अनियमित आकृति के गड्ढों को अग्नि–पूजा का प्रतीक माना गया है। ऋग्वैदिक देवों में अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद में अग्नि को पुरोहित की संज्ञा दी गई है। देवताओं को हवि पहुँचाने का माध्यम माना गया है। इतनी ही नहीं अग्नि को ज्ञान, कर्म का प्रेरक एवं यशस्वी रूप में विवेचित किया है।[25] इस तरह अग्नि का महत्त्व दोनों संस्कृतियों में किसी न किसी रूप में देखा जाता है।

मोहनजोदड़ों एवं हड़प्पा आदि से अनेक कुओं एवं स्नानागारों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। पुरातत्त्वविदों की मान्यता है कि सैन्धव जनों में जल–पूजा तथा नदी–पूजा का प्रचलन

था। घड़ियाल के अंकन को नदी देवता का निरूपण माना गया। धार्मिक अवसरों पर सामूहिक स्नान का प्रावधान था और विद्वानों ने प्रसिद्ध स्नागारों को इसी रूप में विवेचित किया है। इन्द्र ऋग्वेद में वर्षा के देवता है।[26] सरस्वती नदी की देवी रूप में प्रार्थना की गई है।[27] वैदिक ऋषि ने 'पर्जन्य' एवं 'आपः' को जल देव के रूप में स्वीकार किया है।

सैन्धव सभ्यता के उत्खननों से ज्ञात होता है कि उसकी एक अद्वितीय विशेषता रूई से वस्त्र बुनने की कला थी। ऋग्वेदकालीन आर्यों का भी यह एक सुपरिचित उद्योग था। ऋग्वेद में बुनकर को 'वाय' करघे को 'वेमन्' चरखों को 'तसर' ताने को ओतु एवं बाने को तन्तु कहा है।[28]

सिन्धु–घाटी की सभ्यता से भारतीय सभ्यता को संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं में स्थान प्रदान किया। विश्व की प्राचीनतम सभ्यताएं 3000 ई.पू. की स्वीकार की गयी हैं। सिन्धु–घाटी की सभ्यता भी उन्हीं में एक स्थान रखती है। इससे भारत एक प्राचीनतम सभ्यता का देश सिद्ध होता है। यह भी सिद्ध होता है कि सिन्धु–घाटी की सभ्यता और वैदिक सभ्यता के बीच में समय की कोई दूरी नहीं थी, बल्कि देर से देर 3000 ई.पू. तक उत्पन्न हुई भारतीय सभ्यता का प्रवाह अविरल गति से बहता आ रहा है।

आर.के. मुखर्जी ने इसके समय को ऋग्वेद सभ्यता के साथ सम्मिलित किया है।[29] हड़प्पा सभ्यता एवं वैदिक संस्कृति में अनेक तथ्य समान रूप से देखने को मिलते है। हड़प्पा सभ्यता की अनेक परम्पराएँ, धार्मिक अवधारणाएं, वैदिक युग में समान रूप से प्राप्त हो रही हैं।[30] सभ्यता का सम्बन्ध भौतिक उन्नति से होता है।[31] इस रूप में इतिहास में हड़प्पा सभ्यतो का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में हड़प्पाकालीन सभ्यता एक सभ्यता के रूप में प्रतिष्ठित हुई है तो वैदिक वाङ्मय का विचार उनकी प्रतिष्ठा एक संस्कृति के रूप में करते हैं, यजुर्वेद में कहा भी गया है–**सा प्रथम-संस्कृतिर्विश्ववारा।**[32]

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. यजु. 7.14
2. मनु. 220
3. आर.के. मुकर्जी हिन्दू सभ्यता, दिल्ली, 1966. पृ. 41

4. Basham, A. L. The wonder that was India.

5. Marshali Sir John, Moberjondaro and the Indas Civilization London, 1931, p.77-78, Majumdar R.C. The Vedic Age, Mumbai, 1966 p.190

6. ऋ. 2.1.6, 2.33.9, 10.92.2

7. ऋ. 10.61.1 बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ 1990 पृ. 4

8. Pandey G. C. Studies in the origin of Buddism, p.45-52

9. Sankaliya Pre History and Protobistory of India and Pakiatan 2nd Ed. Pune, p.350

10. Lal B. B. and Thapar, B. K. Excavations of Kalibanga, New Light on the Indus Civilization. Cultural Forum 1987 p.9 (4)

11. एस. एन. दुबे प्राचीन भारत का इतिहास में उद्धृत।

12. अथर्व. 1.8.2

13. वहीं, 19.38.1

14. ऋग 1.1.9

15. प्रश्नोपनिषद् 1.8

16. अथर्व 13.2.23

17. वही, 1.22

18. ऋ. 10.97.5, यजु. 12.79

19. Pusalker, A. D. 'The Vedic Age' The History and Culture of the Indian Poepole Vol. I Mumbai 1996, p.172-173

20. ऋ. 10.9.1

21. ऋ. 1.164.20 अथर्व 9.9.20

22. अहं रूद्राय धनुरातनोमि। ऋ. 10.125.6

23. अथर्व. 12.1

24. ऋ. 10.63.2

25. वही, 1.15
26. ऋ. 3.46.3, 4.30.1
27. वही, 7.95–96
28. वहीं 10.130.2
29. दिवाकर लाल श्रीवास्तव, प्राचीन भारत के ऐतिहासिक निबन्ध, पृ.65
30. यजु. 7.14
31. यजु. 6.11
32. यजु. 7.15

डॉ. प्रसून दत्त सिंह
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
जमशेदपुर वर्कर्स कॉलेज,
जमशेदपुर



संस्कृत वाङ्मय में माता का स्थान : एक आलोचनात्मक समीक्षा

पूजा वात्स्यायन

परिवार में व्यक्ति का स्थान–निर्धारण कई कारकों के सम्मिलित प्रभाव का प्रतिफलन होता है। इन कारकों में भौतिक परिस्थिति की भूमिका अत्यन्त प्रधान होती है। इसके साथ ही साथ भावनात्मक परिस्थिति तथा परम्परागत संरचना का प्रभाव भी शामिल होता है। इन प्रभावों को समाज के हित में संचालन तथा निर्देशन युग के अनुरूप उत्पन्न ऋषि मनीषीगण अपनी चिंतनधारा से करते रहते हैं। प्रस्तुत आलेख में संस्कृत वाङ्मय के कुछ प्रमुख ग्रंथों में माता के स्थान–निर्धारण की स्थिति की समीक्षा उपर्युक्त कारकों के आलोक में की गई है।

आरम्भिक ग्रंथों में माता को सर्वोच्च पारिवारिक गरिमा से विभूषित किये जाने के संकेत प्राप्त होते हैं क्योंकि माता को वह आधारभूमि कहा गया है जहाँ से परिवार की उत्पत्ति होती है। परिवार एक दूसरे से जुड़कर रहता है, संगठित होता है तथा एक सूत्र में बंधकर उन्नति एवं वर्द्धन को प्राप्त होता है। माता के इस प्रकार के महत्त्व को संस्कृत वाङ्मय के प्रायः सभी आरंभिक ग्रंथों में स्वीकार किया गया है। वेदों में माता का अभिनन्दन विभिन्न प्रकार से विभिन्न संदर्भों में प्राप्त होता है। हमारे सबसे प्रारंभिक वेद ऋग्वेद में भगवान् को पिता के साथ–साथ माता भी कहकर पुकारा गया है। **'त्वं हि नः पिता वसो त्व माता शतक्रतो विभूषिथा'**[1] अथर्ववेद में पुत्र को माता के मनोनुकूल रहने की सलाह दी गयी है-**माता भवतु सम्मनाः।**[2] माता की महत्ता, प्रतिष्ठा एवं व्यावहारिक गौरव का मान इससे स्पष्ट भाषित होता है कि ऋग्वेद में उसे पिता शब्द से पहले स्थान दिया गया है।[3] महाभारत में माता की गरिमामयी स्थिति को स्पष्ट करने हेतु कहा गया है–**'नास्ति मातृसमं छाया नास्ति मातृसमं गतिः। नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमं प्रिया'**[4]

माता की महत्ता को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही गुरूकुल के आचार्यगण अपने–

अपने ब्रह्मचारियों को यह ज्ञान देते थे कि जब वह अपने-अपने घरों को जायें तो सर्वप्रथम अपनी माता की पूजा देवता की तरह करें। इसी परम्परा में तैत्तिरीय उपनिषद् का सूत्रवाक्य ध्यातव्य है-**मातृदेवो भव।**

जब हम महाकाव्य काल में प्रवेश करते हैं तो माता के प्रति चली आ रही महत्ता की परम्परा के अनुरूप ही यहाँ भी माता को पर्याप्त आदर, मान एवं प्रतिष्ठा की भावभूमि प्रदान की गयी दिखाई पड़ती है। भगवान् राम माता के हितकारी बनकर जन्म ग्रहण करते हैं-**भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।**[5] माता कैकेयी के वचन को प्रतिष्ठा देने हेतु राम वनगमन करते हैं और कैकेयी के प्रति हमेशा आदर भाव से भरे रहते हैं। भरत भी यद्यपि राम के प्रेम में अपनी माता को खरी खोटी सुनाते हैं पर पूरे संवाद में माता के प्रति महत्ता को भी प्रदर्शित किया गया है। दूसरे महाकाव्य महाभारत में भी माता के प्रति उसी आदर एवं प्रतिष्ठा की परम्परा का पालन किया गया है। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि यहाँ माता को प्रतिष्ठा में और भी वृद्धि दिखाई पड़ती है। माता कुंती के प्रति पाण्डवों एवं कर्ण का भी आदरभाव देखते ही बनता है। माता गांधारी के प्रति कौरवों का भी पूज्यभाव प्रशंसनीय है। शांतिपर्व में तो माता की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिया गया है-

दशैवतु सदाऽऽचार्य श्रोत्रियानतिरिच्यते।
दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान्पिता दश।।

अर्थात् आचार्य सदा दस श्रोत्रियो से बढ़कर है, पिता दस उपाध्यायों से अधिक महत्त्व रखता है और माता की महत्ता दस पिताओं से भी अधिक है। वह अकेली ही अपने गौरव द्वारा सारी पृथ्वी को तिरस्कृत कर देती है। अतः माता के सिवा कोई दूसरा गुरू नहीं है। महाभारत में माता सम्बन्धी और भी कई उल्लेख हैं।

महाभारत में पुत्रों का माता के प्रति प्रेम और असीम श्रद्धा की बात बार-बार आयी है।[6] गरूड़ ने अपार कष्ट उठाकर अपनी माता विनता की प्राणरक्षा उसकी सौत कद्रू से की थी।[7] पुत्रों के प्रति माताओं का भी स्वाभाविक प्रेम, त्याग, बलिदान एवं उत्साहक प्रेरणा स्रोत महाभारत में हमेशा चर्चा का विषय रहा है। इस संबंध में कुन्ती, सत्यवती, सुभद्रा इत्यादि माताओं के आदर्श चरित्र को महाभारत याद करता है।

महाकाव्यों के बाद हम धर्मशास्त्रों के युग में आते हैं तो वैसी ही परम्परा की प्रतिष्ठा का यहाँ भी प्रज्ञा प्रधान परिवेशन पाते हैं। आचार्य वशिष्ठ का मत है कि दस उपाध्यायों से अधिक गौरव आचार्य का है, सौ आचार्यों से अधिक पिता का और एक हजार पिताओं से अधिक माता का।

उपाध्यायाद्दशाचार्या आचार्याणां शतं पिता।

पितुर्दशगतं माता गौरवेणातिरिच्यते॥

स्मृतियुग में माता के सम्मान के प्रति स्मृतिकारों का ध्यान कुछ ज्यादा ही ध्यायित है। इसी तरह बार–बार यह भी जिक्र किया जा रहा है कि यदि माता में व्यभिचार का दोष दिखाई पड़ता हो तो भी पुत्र का यह कर्त्तव्य है कि वह माता के भरण–पोषण के प्रति अपनी जिम्मेदारी को न छोड़े।[8] इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि माता के प्रति वैदिक एवं महाकाव्यीय प्रतिष्ठा–परम्परा में पतन के पीले पत्ते पनपने लगे थे। फिर भी स्मृतिकार इस बात की गम्भीरता को पहचान कर बार–बार अपने स्मृतिग्रंथों में माता के प्रति पुरानी प्रतिष्ठा के अनुरूप पुत्रों को चलने की सलाह दे रहे थे; उसे धार्मिक विषयों के अधीन लाकर आमलोगों के मानस में इसे पुण्य कार्य से संबंधित कर परम्परा को पुराने पद पर प्रतिष्ठित करने का पूरा प्रयास कर रहे थे। जहाँ तक माता एवं पिता के प्रतिष्ठा एवं गौरव का तुलनात्मक संबंध है; यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पतित पिता के प्रति पुत्र अपनी जिम्मेदारी का परित्याग कर सकते थे; परन्तु माँ का किसी भी दोषारोपण के तहत त्यागने की सलाह वे कभी नहीं देते। आपस्तम्ब धर्मसूत्र कहता है–

माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते।

तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि॥[9]

लेकिन यहाँ हमें एक बात के प्रति सावधानीपूर्वक विचार करना है, वह यह कि जहाँ मनुस्मृति के अध्याय 2 के 145वें श्लोक में यह बात कही जा रही है कि दस अध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यो की अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओं की अपेक्षा माता गौरव में अधिक है, वहीं उसी अध्याय के 220वें श्लोक में कहा जा रहा है–

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।

नार्तेनावमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥[10]

अर्थात् आचार्य, पिता, माता, सहोदर भाई का अपमान दुखित होकर भी न करे तथा विशेषतः ब्राह्मण तो कदापि न करें। इससे यह स्प्ष्ट होता है कि समय के साथ–साथ माता की वह गौरवमयी महिमा, जिसमें उसे पिता से भी अधिक सम्मान दिया गया है; अब धीरे–धीरे पिता के समकक्ष आती जा रही है। पिता ही कया सहोदर बड़े भाई के साथ भी माता को तुल्य माना जा रहा है। आगे के श्लोक में इस कारण को समझाने की जो बात कही गयी है–यथा-

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजायते।

माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वोमूर्तिरात्मनः॥[11]

अर्थात्; (क्योंकि) आचार्य परमात्मा की, पिता प्रजापति की, माता पृथ्वी की और सहोदर भाई अपनी मूर्ति है; इसलिए देवरूप इन आचार्यादि का अपमान नहीं करना चाहिए, इससे यह बात स्पष्ट होती है कि माता की प्रतिष्ठा तो परम्परा के अनुरूप सुरक्षित है पर उसमें समयानुसार बदलाव के भी संकेत हैं। यह स्पष्ट संकेत करता है कि परिवार में माताओं के ऊपर पुरूष वर्चस्वी धारणा कहीं न कहीं क्रियाशील थी जिसे या तो स्वीकृति देने के लिए या फिर माताओं की गिरती हुई स्थिंति को प्रतिष्ठा देने के लिए इस तरह के श्लोक प्रकाश में आ रहे थे। एक बात और भी विचारणीय है। वह यह कि जब भी सिद्धान्त रूप में किसी विधायक़ विचार का ज्ञानियों, ऋषियों तथा मनीषियों द्वारा प्रयोग किया गया है तो उसके साथ–साथ हम उसके विरोधी निषेधात्मक विचारपरम्परा की भी अनदेखी नहीं कर सकते। समाज, परिवार या किसी भी भौतिक विचार या आचरण का सम्बन्ध द्वंद्ववाद से हमेशा रहा है। अर्थात् कोई भी विधायक विचारधारा अपने विरोधी निषेधात्मक विचारधारा की पृष्ठभूमि में भी पनपती है। अगर हम इस ढंग से देखें तो हमें यह कहना पड़ेगा कि बार–बार माता की प्रतिष्ठा को कायम रखने तथा उसे प्रतिष्ठा देने की बात्त तभी उठ रही है जब माता के प्रति परिवार–समाज का वास्तविक व्यवहारिक परिपालन नहीं हो रहा है। उदाहरण के लिए आगे श्लोक कहते हैं:

यं माता पितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥[12]

अर्थात्, मनुष्यों के उत्पन्न होने में, (गर्भधारण, प्रसववेदना, पालन, रक्षण वर्द्धन,

संस्कार तथा वेद–वेदाङ्गादिका अध्यापनादि कर्म द्वारा) माता पिता जिस कष्ट को सहते हैं, सैकड़ों वर्षों (या अनेक जन्मों) में भी उसका बदला चुकाना अशक्य है। क्या यह उस वास्तविक चुनौती के प्रति एक विधायक उत्तर नहीं हो सकता है जहाँ माता पिता की प्रतिष्ठा की परम्परा का क्षरण हो रहा हो? आगे के श्लोक में भी उसकी बात की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है जब यह कहा जा रहा हो–

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।

तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते।।[13]

अर्थात् माता, पिता और आचार्य का नित्य प्रिय करे, उन्हें संतुष्ट करे। उन तीनों के संतुष्ट होने पर ही सब तप पूरा होता है। उसी तरह आगे कहा गया है–

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।

न तैरनभ्यनुज्ञाता धर्मग्रन्थं समाचरेत्।।

अर्थात् उन तीनों (माता पिता और आचार्य) की शुश्रूषा श्रेष्ठ तप कहा जाता है। उन तीनों से आज्ञा पाये बिना किसी दूसरे धर्म का आचरण न करें। क्या इसका पुनः पाठ इस तरह अर्थात्, वे (माता पिता और आचार्य ही तीनों (भूः भूवः स्वः) लोक हैं। वे ही तीनों आश्रय (ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम) हैं। वे ही तीनों वेद हैं और वे ही तीनों अग्नि (गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि) हैं। श्लोक संख्या 233 में कहा गया है–

गुरूशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।।

अर्थात्, माता की भक्ति से मृत्युलोक को, पिता की भक्ति से अन्तरिक्ष लोक को और आचार्य की सेवा से व्यक्ति ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

ऊपर के श्लोकों के परीक्षण से दो बातें साफ होती है। प्रथमतः यह कि माता, पिता एवं आचार्य की प्रतिष्ठा में या तो तीनों को समान स्तर की प्रधानता दी जा रही है या फिर अगर तुलनात्मक दृष्टि से देखें तों कहीं–कहीं माता से पिता की अधिक प्रधानता है और पिता से भी अधिक आचार्य की प्रधानता है। पहले के श्लोकों में माता को पिता एवं आचार्य से भी अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि माता की प्रतिष्ठा में गिरावट के संकेत मिल रहे थे। यह प्रतिष्ठा की गिरावट सम्पूर्ण नारी की

प्रतिष्ठा की गिरावट का संकेत है। यह कई भौतिक कारणों की पृष्ठभूमि में उत्पन्न हुई होगी; जिसकी अलग से गवेषणा की जरूरत है। दूसरी बात यह महत्त्वपूर्ण है कि माता के साथ–साथ पिता एवं आचार्यों के प्रति सेवा एवं आदर की जो बात बार–बार कही जा रही है, वह इस बात का संकेत है कि समाज या परिवार में परम्परागत प्रतिष्ठा की चट्टान कई कारणों से दरक रही थी। उसे ही जोड़ने के लिए ये श्लोक बार–बार ऋषियों की चिंतनधारा में जगह बना रहे थे। आगे के श्लोक, संख्या 234 से 237 तक इसी विचारधारा, को पुष्ट करते हैं जब वे कहते हैं–

सर्वे तस्यादृता धर्मा यैस्ते त्रय आदृता।

अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रिया।।

अर्थात् जिसने इन तीनों (माता, पिता और आचार्य) का आदर किया, उसने सब धर्मों का आदर किया। (उनके लिए सब धर्म फल देनेवाले होते है।) जिसने उन तीनों का अनादर किया, उसकी सब क्रियाएँ (श्रुतिस्मृति विधि सहित) निष्काम होती हैं।

इस श्लोक में क्रियाओं के निष्फल होने के भय का उपयोग किया जाना इस बात के संकेत हैं कि माता की प्रतिष्ठा में पहले की अपेक्षा कमी आती जा रही थी। इस विषय में अलग से शोध की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ऋग्वेद, 81,98.11
2. अथर्ववेद 3.30.2
3. ऋग्वेद 4.6.7
4. महाभारत 12.266.31
5. बालकाण्ड 191.1

6. महाभारत 15.22.1
7. महाभारत 1.26.34
8. आ.ध.सू. 1.10.29.9
9. वही, 1.10.28.9
10. मनुस्मृति 2.227
11. मनुस्मृति 2.226
12. मनुस्मृति 2.227
13. वही।

पूजा वात्स्यायन
व्याख्याता, संस्कृत विभाग
आर.एस.एस. कालेज
चोचहाँ, मुजफ्फरपुर



निरूक्त के दैवतकाण्डीय मन्त्रो में विद्युत् विज्ञान

डॉ. (श्रीमती) तोषी

वेद के स्वरूप को जानने में जो उपयोगी शास्त्र है उन्हे वेदांग के नाम से जाना जाता है। "अङ्गयन्ते ज्ञायन्ते अभिरिति अङ्गानि इति।" इन वेदांगो की उत्पत्ति संभवतः उपनिषद् काल में ही हो गई थी। इन वेदांगों के नाम तथा क्रम का वर्णन सर्वप्रथम मुण्डकोपनिषद् (1/15) में मिलता है। इन्हें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द तथा ज्योतिष के नाम से जाना जाता है।

वेद के इन छह वेदांगों में महर्षि यास्क का निरूक्त "निरूक्तं श्रोत्रमुच्यते" कहा गया हैं। आचार्य सायण ने निरूक्त का लक्षण अपने ऋग्वेद भाष्य–भूमिका में देते हुए कहा है– "**अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरूक्तम्**" अर्थात् अर्थज्ञान के लिए स्वतंत्र रूप से जहाँ पदों को कहा गया हैं वह निरूक्त है।

महर्षि यास्क रचित निरूक्त निघण्टु के ऊपर लिखी गई टीका है और निघण्टु वैदिक शब्दकोष हैं। इसमें कुल पाँच अध्याय हैं जिसके प्रथम तीन अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड कहते हैं। चतुर्थ अध्याय को नैगमकाण्ड तथा पंचम अध्याय को दैवतकाण्ड के नाम से जाना जाता है। इसी निघण्टु में प्रयुक्त वैदिक शब्दों का निर्वचन तथा वैदिक मन्त्रों की व्याख्या यास्क के द्वारा निरूक्त में किया गया हैं।

यास्क मुनि ने अपने निरूक्त के अन्तर्गत आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गालव, गार्ग्य, तैटीकि, वार्ष्यायणि शाकपूणि और स्थौलाष्ठीवि इत्यादि द्वादश निरूक्तकारों का उल्लेख किया हैं। सम्प्रति निरूक्त वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ यास्क रचित "निरूक्तम्" हैं। निरूक्त के प्रथम काण्ड के तीन अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड के नाम से जाना जाता हैं जिसमें पर्यायवाची शब्दों का संग्रह हैं। द्वितीय

काण्ड के तीन अध्यायों को नैगमकाण्ड के नाम से जाना जाता हैं जिसमें सभी शब्द स्वतंत्र हैं तथा अनेकार्थक हैं। तृतीय काण्ड के छः अध्यायों को दैवतकाण्ड के नाम से जाना जाता हैं जिसमें देवताओं से सम्बन्धित शब्दों का विवेचन है और जो वैदिक नाम या पद देवताओं की स्तुति से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दियें गयें हैं। इस तरह सम्पूर्ण ग्रन्थ चतुर्दश अध्यायों में विभक्त हैं।

महर्षि यास्क के दैवतकाण्डीय मन्त्रों में जिन वैज्ञानिक तथ्यों का दर्शन होता है वह समसामयिक विज्ञान है। विज्ञान शब्द "वि" उपसर्गपूर्वक "ज्ञा" धातु से प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ ज्ञान, बुद्धिमता, प्रज्ञा एवं समक्ष आदि है।[1] विज्ञान में "वि" उपसर्ग विशेष अर्थ का द्योतक हैं। विज्ञान में तर्कसंगतता विश्वसनीयता एवं वैधता होती हैं इसलिए इस विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के "**ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।**"[2] गीता के इस अंश पर आचार्य शंकर ने व्याख्या करते हुए "विज्ञानसहितम् स्वानुभवसंयुक्तम्" लिखा है। अथर्ववेद में "विज्ञान" शब्द का प्रयोग विशिष्ट ज्ञान के लिए हुआ है।[3] वस्त्र जिस प्रकार शरीर को आच्छादित करके उसकी रक्षा करता है, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान मानव के रक्षक है तथा उसके सुख के साधन है।[4]

महर्षि यास्क ने निरूक्त के दैवतकाण्ड में जिन ऋग्वैदिक मन्त्रों को उदाहृत किया है तथा तत्सम्बन्धी शब्दों का निर्वचन किया है उसमें हमें मन्त्रों में सन्निहित वैज्ञानिक तत्त्वों का परिज्ञान होता है। महर्षि यास्क ने दैवतकाण्ड के सातवें अध्याय में अग्निदेवता के मध्यमाग्नि स्वरूप की एक ऋचा को उदाहृत किया है।[5] जिसमें यह सुन्दर ऋचा वैज्ञानिक तथ्य को भी प्रकाशित करता है जिसका भाव यह है कि जैसे कल्याणकारी स्त्रियाँ मन से एक ही पति पर अनुरक्त रहती है; वैसे ही जल की धाराएँ प्रदीप्त मध्यमस्थानीय विद्युत को प्राप्त करती है। इस मन्त्र में हमें जल की धाराओं से विद्युत् के उत्पन्न होने का स्पष्ट संकेत मिलता है। इन जल की धाराओं से विद्युत् के उत्पन्न होने की प्रक्रिया का उल्लेख अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है जिसके अनुसार जल का पित्त (उष्मा) अग्नि को माना गया है जिसका अभिप्राय यह है कि जल में अग्नि सदा विद्यमान रहती है। जैसे घर्षण या मंथन से दही–घी, दूध से मक्खन निकाला जाता है वैसे ही मन्थन से जल से उष्मा या अग्नि का प्रकटीकरण होता है।[6]

इसी तथ्य का आचार्य यास्क के पूर्वोत्तरषट्क में स्पष्ट रूप से वर्णन प्राप्त होता है कि सूर्य की किरणें चन्द्रमा को प्रकाश देती है अर्थात् सूर्य से चन्द्रमा प्रकाशित होता है।[7] जिसका दैवतकाण्ड में ऋग्वेदीय मन्त्र द्वारा सूर्य तथा चन्द्रमा के इस सम्बन्ध को उदाहृत किया है। जिसके अनुसार चन्द्रमा में अमृत है और वह सूर्य से प्रकाश प्राप्त करता है। सूर्य की जिस किरण से इस चन्द्रमा में प्रकाश आता है सूर्य अपनी उसी किरण द्वारा उसी अमृतत्त्व से सूर्य अमरधर्मा बना हुआ है अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा दोनों में उपजीव्योपजीवक भाव हैं।[8]

इस महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य के उल्लेख में ऋग्वेद[9] तथा अथर्ववेद[10] के अनुसार चन्द्रमण्डल में सूर्य की गुप्त किरणें पहुँचती है। मन्त्र के अन्तर्गत "अपीच्य" शब्द गुप्त या रहस्यमय किरण का बोधक है। यजुर्वेद में इस गुप्त किरण का नाम "सुषुम्ण" नामक सूर्य रश्मि दिया गया है जो चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। अतएव चन्द्रमा को गन्धर्व (किरणों का धारक) कहा गया है।[11]

इसके साथ ही आचार्य यास्क ने दैवतकाण्ड के सातवें अध्याय में "वैश्वानर" शब्द के निर्वचन द्वारा अन्य निरूक्तकारों के मतानुसार तथा ऋग्वेदीय मन्त्र के माध्यम से मध्यम–अग्नि विद्युत् को बताते हुए पृथ्वीस्थानीय अग्नि तथा मध्यमस्थानीय अग्नि अर्थात् विद्युत् में अत्यन्त सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक भेद को स्पष्ट किया है जिसमें आचार्य यास्क के निर्वचन के अनुसार वैश्वानर[12] सभी मनुष्यों को इस लोक से परलोक पहुँचाता है। इसे सभी मनुष्य प्राप्त करते हैं। सबमें विद्यमान रहने वाली यह अग्नि वैश्वानर कहलाती है।

आचार्य शाकपूणि के मतानुसार यह वैश्वानर अग्नि लौकिक अर्थात् पृथिवीस्थानीय ही है,[13] क्योंकि विद्युत् और सूर्य इन दोनों से ही इस अग्नि का जन्म होता है। इसलिए इसे विश्वानर का अपत्य वैश्वानर कहलाता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए आचार्य शाकपूणि ने अन्तरिक्ष में विद्युत् और पृथिवी के अग्नि के भेद को बताया गया है, जिसमें अन्तरिक्षस्थ जल में चमकने वाला विद्युत् है जो पार्थिव धातु से शान्त होने वाला शरीरोपशमन है। परन्तु पृथिवी पर पार्थिव अग्नि से उत्पन्न किया गया विद्युत् शरीर दीप्ति और उदकोपशमन अर्थात् पानी से शान्त हो जाने वाला है।[14]

आज हमारे घरों में जो विद्युत् धारा काम करती है वह लोहे और पाकशाला के बर्तनों को अत्यन्त गरम करके दीप्त कर देती है और जल में वह शान्त होती है। यह पृथ्वीस्थानीय विद्युत् (अग्नि) जल को धूम बना कर उड़ा सकती है अर्थात् वाष्प बनाती है। पर उसमें स्वयं दीप्ति

नहीं होती है। निरूक्त के टीकाकार पं. भगवद्दत्त के अनुसार प्राचीन काल में आर्य मन्दिरों पर लगाया गया त्रिशूल इस वैद्युत् अग्नि को पकड़ने का ही साधन था।[15]

आचार्य यास्क ने इसके पश्चात् सूर्य से उत्पन्न अग्नि का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में उदाहृत मन्त्र के आशय के अनुसार जब सूर्य ऊपर की ओर जाता है अर्थात् सूर्य के उत्तरायण होने पर यदि हम कांसा या मणि को साफ करके सूर्य के सामने रखें तो उससे निकलने वाले ताप से पास में रखा गया गोबर जल जाता है। यदि समीप में रूई भी रखी होगी तो भी वह जल जाएगी। इस तरह सूर्य से निकला ताप ही पार्थिव अग्नि के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[16]

अतः आचार्य यास्क ने निर्वचन तथा ऋग्वेद के मन्त्र द्वारा यह स्पष्ट किया है कि वैश्वानर का सूर्य के साथ संगत होता है।[17] यह वाक्य सार्थक प्रतीक होता है। इसी वैश्वानर अग्नि के सम्बन्ध में आचार्य यास्क ने ऋग्वेदीय ऋचा[18] को उदाहृत करके यह स्पष्ट किया है कि वैश्वानर, इस पार्थिव अग्नि से भी अन्न की उत्पत्ति होती है। इन्होंने वर्षा कराने का उत्तरदायी अग्नि को ही माना है। इसी अग्नि में हम जो आहुति डालते है वह सूर्य को पहुँचती है और आदित्य से वर्षा, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है तथा इस अन्न से प्रजाओं का पोषण होता है। इस संदर्भ में दूसरी ऋचा को उदाहृत किया है जिसका भाव यह है कि सूर्य की किरणें जल को भाप के रूप में अपने आकर्षण से ऊपर ले जाती है और पुनः इसको वृष्टि के रूप में नीचे लाती है जिससे यह पृथिवी गीली होती है। मनुस्मृति[19] और ब्राह्मण ग्रन्थ[20] में भी उल्लिखित है कि पृथ्वीस्थानीय अग्नि ही विद्युत् स्वरूप को प्रेरित करती है।

इस प्रकार आचार्य यास्क ने निरूक्त के दैवतकाण्ड के उदाहृत मन्त्रों में हमें जिस विज्ञान का दर्शन कराया है वह अंतरिक्ष में स्थित विद्युत् ही है, वही जल में सदैव विद्यमान रहने वाली विद्युत् धारा है, तथा वही पृथ्वी पर अग्निस्वरूपा है। इस दृष्टिकोण से यह वैदिक विज्ञान आज भी समसामयिक प्रतीत होता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. संस्कृत हिन्दी कोष, वामन शिवराम आप्टे, पृ. सं. 931
2. ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। गीता 7.2

3. एषामहं समासीनानां वचो विज्ञानमाददे।
अस्याः सर्वस्याःसंसदोमामिन्द्रभगिनं कृणु।। अथर्ववेद–7.12.3

4. उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधोविज्ञानं वासो ऽ हरुषणीषं।
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तो कल्मलिर्मणि ऽ।। अथर्ववेद – 15.2.13

5. अभी प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य घाराः नसन्तता जुषाणो हर्यति जातवेदाः।। निरूक्त7.19,ऋग्वेद–4.58.8

6. अग्ने पित्तमपामसि। अथर्ववेद–18.3.5

7. अस्यैको रश्मिः चन्द्रमसं प्रति दीप्यते आदित्यीऽस्य दीप्तिर्भवति। निरूक्त–2.6

8. समुद्रादूर्मिर्मघुनां उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानामृतस्य नाभिः।।ऋग्वेद–9.58.1
टि.–समुद्रात् उदकं संधातात् उर्भिः सर्वस्य तेजसः छादकः
प्रकाशेन मधुमान् उदकणन् उदारात् उदेति अहन्यहनि।। निरूक्त–7.18

9. अत्राह गोरमन्वतः नाम त्वष्टुपीच्यम्।
इत्थाचन्द्रमसो गृहे।। ऋग्वेद–1.84.15

10. अत्राह गोरमन्तनाम त्वष्टरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो।। अथर्ववेद–20.41.3

11. सुषुम्णाः सूर्य रश्मिश्चन्द्रमा अस्यैको रश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वः।
अस्यैको रश्मिः चन्द्रमसं प्रति दीप्यते।। यजुर्वेद–18.40

12. वैश्वानरः कस्मात्! विश्वान्नरान्नयति विश्वं एवं
नराप्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः। निरूक्त–7.20

13. अयमेवाऽग्निः वैश्वानर इति शाकपूणिः
विश्वन्रावित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषि।। निरूक्त–7.20

14. यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति यावदनुपात्तो भवति।
मध्यमघर्मैव तावद् भवत्युकेन्घनः शरीरोपशमनः।।
उपादियमान एवायं सम्पद्यत उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः। निरूक्त–7.22

15. निरूक्तम् – पं. भगवद्दत्त की टीका, पृ.सं. 424

16. अथादित्यात् उदीचि प्रथमसमावृत्त आदित्ये कंस वामणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयम् अस्पर्शयन् धारयति तत्प्रदीप्यते। निरूक्त–7.23

18. समानमेतदुकमुच्चैत्यवचाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वत्यग्न्यः।। ऋग्वेद–1.164.51

17. वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवानाममिश्रीः।
इति जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण।। ऋग्वेद–1.98.1

19. अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याजाय वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा।। मनुस्मृति–3.76

20. अग्नेवैधूमोजायते, घूमादभ्रम् अभ्राद् वृष्टिः। शतपथब्राह्मण–5.3.5.17

डा. (श्रीमती) तोषी
प्रवक्ता - संस्कृत
जे.पी.महिला महाविद्यालय,
छपरा



क्षेमेन्द्रकालीन कश्मीरी समाज की विशेषताएँ

डॉ. मधुबाला सिन्हा

कश्मीर निवासी महाकवि क्षेमेन्द्र अपने विषय–विस्तार तथा वैविध्य के कारण संस्कृत–साहित्य में उच्च स्थान रखते हैं। अद्वितीया प्रतिभा के धनी महाकवि ने अपनी अनेक कृतियों से संस्कृत–साहित्य को समृद्ध किया। इनका जीवन–काल 990 ई. से 1070 ई. माना गया है। कुछ लोग इनका काल 1000 ई. से 1075 ई. तक मानने के पक्षधर हैं (आचार्य बलदेव उपाध्याय–संस्कृत साहित्य का इतिहास 1990, पृ.222)। अपने दीर्घ जीवनकाल में क्षेमेन्द्र ने कश्मीर का राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक वातावरण पूर्णतः देखा तथा उन्हें अपने रचनाओं में व्यक्त करने का प्रयास किया। इनकी प्रथम रचना भारतमञ्जरी (1037 ई.) तथा अन्तिम रचना दशावतारचरित (1066 ई.) है।

किसी भी कवि का ग्रन्थ तत्कालीन समाज का दर्पण होता है। ग्रन्थ में वर्णित घटनाओं तथा विचारों से तत्कालीन संस्कृति और समाज का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित होता है। महाकवि क्षेमेन्द्र की रचनाएँ भी इस का अपवाद में नहीं हैं। समाज के सकारात्मक पक्ष की अपेक्षा उसके नकारात्मक पक्ष के उद्भेदन पर उन्होंने अधिक बल दिया। इसके पीछे 'समाज–सुधार' की शुभ भावना निहित थी। इनके ग्रन्थों मुख्यतः कलाविलास, समयमातृका, देशोपदेश तथा नर्ममाला के अध्ययन से क्षेमेन्द्रकालीन समाज का जो रूप उभर कर सामने आता है वह सर्वथा निन्दनीय है। इन्होंने अपने समाज की कुरीतियों, यौनाचार, अंधविश्वास, धूर्तता तथा षडयंत्र की कटु आलोचना की है। व्यंग्यात्मक शैली में महाकवि ने समाज के दुर्गुणों को नग्न कर दिया।

समाज में स्त्रियों का चरित्र पतनोन्मुख था। वेश्यावृत्ति की प्रथा बहुतायत प्रचलित थी। वे धनी कामुकों को पूरी तरह चूस डालती थीं। वेश्यावर्णन के संदर्भ में क्षेमेन्द्र कहते हैं कि कपट करने वाली उन स्त्रियों को निर्धनों से संकोच है, अछूतों से नहीं। यदि काल

कृपालु है यदि कायस्थ (राजकर्मचारी) चोर नहीं है तो वेश्या भी प्यार कर सकती है।[1] निर्धनता के कारण कन्या के विवाह में असमर्थ पिता धनी किन्तु वृद्ध पुरूष से उसका विवाह कर देते थे। ऐसी अवस्था में अपने वृद्ध पतिसे असन्तुष्ट स्त्रियाँ परपुरूष से पुत्रवती हो अपने वृद्ध पति को सदैव पैर दबाने का आदेश देती थीं?[2] वृद्ध के अधमरे होने पर चोर की तरह गृहिणी उसके पास जाकर "तेरे पास कहाँ और कितना धन है" यह पूछती थीं।[3] वह वृद्ध पति को रात में तीखी बातों से सताती थी। कला विलास (तृतीय सर्ग, श्लोक 16) में कवि कहते है–अनेक युवको के साथ मज़े उड़ाने वाली वेश्या धन्य है ऐसा अकेले में साँसें भरकर स्त्रियाँ कहती हैं।" अथवा "महल में बैठी चपला गली में देखती है, भद्दे गाने गाती है।[4]

क्षेमेन्द्र के अनुसार अनेक भेष में ऐसी स्त्रियाँ होती हैं जो कुलीन स्त्रियों को कुमार्ग पर ले जाती हैं। इनमें वे भस्म रमाये हुई वेश्याओं, वृद्ध बौद्ध भिक्षुणियों तथा गणकों की स्त्रियों को रखते हैं।[5] अर्थात् समाज में इस वर्ग का अर्धपतन हो चुका था। प्रबोधचन्द्रोदय इसी काल का ग्रन्थ है जो ऐसा ही चित्र उपस्थित करता है। कुछ स्त्रियाँ कुट्टिनी होती थीं। क्षेमेन्द्र कहते है कि सब कुछ देने पर भी असन्तुष्ट अत्यधिक प्रेम करने पर भी रूखी, सब लोगो को चट करके अट्टाहास करने वाली, झगड़े का सोता बहाने वाली कुट्टिनी संसार में विचरती है (देशों 4.33)। कुट्टिनी के कुकृत्यों की भयावहता का अनुमान निम्न श्लोक से सहजतापूर्वक लगाया जा सकता है जिसमें उसके विनाश की कामना की गई है–

जनुपुण्यैरसामान्यैः कुटनी कुट्टनी नृणाम्।

कङ्काली बालकङ्काली भक्षिता व्रजतु क्षयम्।। (देशो 4.9)

अर्थात् यह लोगों का बड़ा भाग्य होगा यदि मनुष्यों को नष्ट करने वाली और युवाओं को बाल कंकाली की तरह खा जाने वाली कुटनी का सत्यानाश हो जाए। कहा जा सकता है कि समाज में इस वर्ग का अधःपतन हो चुका था। प्रबोधचन्द्रोदय में, जो प्रायः इसी काल का ग्रन्थ है, ऐसा ही चित्र उपस्थित होता है।

पुरूष भी वेश्यागामी होने के साथ–साथ परदारानुबद्ध थे। क्षेमेन्द्र कहते हैं कि क्रोध से डण्डा मारकर सब नौकरों को निकाल बाहर करके वह उसी नौकर की परवाह करता है जिसकी पत्नी युवा होती है।[6] वे अन्यत्र कहते हैं–विधवा अथवा परस्त्री[7] की खोज करने के

लिए वह अपने पिता के नाम से घर–घर में परिचय बढ़ाता है।

धर्म में पाखण्ड, अंधविश्वास तथा जन्तर–मन्तर ने अपना विशेष स्थान बना लिया था। वे बातें प्रायः सभी धर्मो में प्रचलित थीं। धार्मिक कृत्य आडम्बरपूर्ण तथा घृणित बन चुके थे। अंधविश्वास और धर्म के नाम पर कुत्सित यौनाचार समाज में पूर्णतः व्याप्त था। इस संदर्भ में समयमातृका की कंकाली उल्लेखनीय है जिसने अनेक रूप धारण कर धर्म का ढोंग रचकर लोगों को मूर्ख बनाया। ज्योतिषी भी लोगों को मूर्ख बनाकर स्वार्थ सिद्ध करते थे।[8] स्त्रियाँ तथा वेश्याएँ योग में विश्वास करती थीं।[9] वे रुग्ण होने पर भूत की आशंका से गुरूओं की शरण में जाती थीं तथा गणकों से ग्रह–स्थिति की जिज्ञासा करती थीं।[10] बाल कंकाली देवी (देशों.4.9) और महर्षि का बलिदान चाहने वाली महाकाली, (देशों.4.21) की लोग पूजा करते थे। उस समय लोगों का यक्षों पर विश्वास था और उनका लोगों पर आवेश होता था। ऐसी मान्यता थी कि निर्वस्त्र होकर सूने घर में स्नान करते समय स्त्रियों को यक्ष पकड़ लेते थे। साथ ही देवतावेश और चेटावेश के उल्लेख भी मिलते हैं।

क्षेमेन्द्रकालीन समाज में रसायनवादियों और धातुवादियों का मुख्य उद्देश्य सोना और औषधियाँ बनाना था। क्षेमेन्द्र इन्हें वञ्चक कहते हैं–वह अपना सर्वस्व खोकर दूसरों को नष्ट करता है। निर्बल और निकृष्ट बना हुआ वह कहता है कि मुझे शतवेधी और सहस्त्रवेधी सिद्ध हैं। गंजों को बाल उगाने की बात कहकर वह उन्हें ठगता है।[11] उस समय बिलसिद्धि के चमत्कार पर लोगों का विश्वास था। 'समयामातृका' में बिलसिद्धि के व्याज से आभूषण और वस्तु लूट कर लोगों को अन्धें कुएँ में डालने की बात कही गयी है।[12] साथ की यह भी विश्वास था कि मन्त्र से सेना–स्तंभन किया जा सकता है।[13]

वशीकरण और मोहन मन्त्रों पर लोगों का विश्वास था। ऐसी मान्यता थी कि बाल पर वशीकरण चूर्ण फेंकने से स्त्रियाँ वश में हो जाती थीं।[14] वशीकरण के जन्तर बाँटने वाले विशेष गुरू होते थे।[15] तथा बौद्ध भिक्षुणियाँ वशीकरण मन्त्रों में निपुण मानी जाती थी।[16]

उस समय मंदिरों, ब्राह्मणों तथा तीर्थों की बड़ी महत्ता थी। देवमंदिर देवार्चना के साथ–साथ कला–संस्कृति के स्थल भी थे। ये देवमंदिर अकूत सम्पत्ति से युक्त होते थे। अतः अधिकारीगण इसे लूटने का अवसर हाथ से जाने नहीं देते थे (नर्म.1.13–14,1.28, 1.47,1.65)। (सम्भवतः अधिकारियों में यह दुष्प्रवृत्ति मुस्लिम प्रभाव से आयी थी)।

कायस्थ राजकर्मचारी होते थे। इसके अन्तर्गत नियोगी, पिशुन परिपालक, लेखकोपाध्याय, गंजदिविर मार्गपति, ग्राम दिविर, तुणरक्षक, आस्थान दिविर, अधिकरण भट्ट सस्यपाल, प्रासादपाल, बंधनपाल, अश्वशालादिविर इत्यादि अनेक राजकर्मचारी होते थे जो प्रायः धनलोलुप होते थे। ये वक्रविन्याप्तकला (वक्र लिपि लिखता), सततप्रवेश (हर बात में दखल देना), संग्रहलोक (लोगो को वश में करने की कला) तथा नष्टविशीर्णप्रदर्शनकला (वस्तुओं को नष्ट करने अथवा लुप्त करने वाला) में दक्ष होते थे। गृहकृत्य के रूप में ये सदैव लूट में संलग्न रहते थे।[17] उत्कोच से इनके घर सदा पूर्ण रहते थे।

कायस्थों और ब्राह्मणों के सम्बन्ध मधुर नहीं थे। अपने स्वत्व के रक्षार्थ ब्राह्मण प्रायः अनशन (प्रायोपवेश) कर देते थे। विजयेश्वर के मंदिर में अनशन कर्त्ता की मृत्यु के बाद शव के साथ दुर्व्यवहार की बात आती है (नर्म.1.39–41)। पर इन घटनाओं में प्रायः राजनीतिक कारण भी आ जाते थे।

वाणिज्य–व्यापार की स्थिति दृढ़ थी किन्तु यहाँ भी लोभ का साम्राज्य था। लोभ के वर्णन के सन्दर्भ में वणिकों की पोल खोलते हुए महाकवि कहते हैं कि वणिक् दिन में ही लोगों को ठगते हैं–एते हि दिवसचौरा मुष्णान्ति मुदा जनं वणिजः, (कला 2.4)। वे छल–प्रपंच से युक्त क्रूर, कृतघ्न, कंजूस तथा दान–धर्म नहीं करने वाले होते थे। यदि व्यापारी और वणिक् ब्याज लेने में चतुर, दूसरों के धन को हड़पनें वाले थे तो स्वर्णकार भी सोना चुराने की कला में दक्ष थे। वैद्य भी धनलोलुप हो गये थे। वैद्य विभिन्न औषधियों के परिवर्तन से और अनेक रोगियों को कवलित करके सिद्ध बनते थे (क.वि.9.2.64 स.मा.1.28–31)। नर्ममाला में वैद्य का विद्याविहीन, अनेक लोगों को मारने वाला कहा गया है किन्तु वह कटी नाक जोड़ देता था (सः मा. 4.16)। लोग धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, मदिरा, सूप, कुम्भ, छत्र आदि का व्यवसाय भी करते थे। चर्मकार, नापित का उल्लेख भी आया है। कुछ लोग दूसरे के घरों में जाकर बच्चों को पढ़ाने का काम करते थे। कायस्थ के घर में एक शिक्षक अपना समय काटने (कर्तन), नकाशी बनाने (लिखने) तथा टुकड़ों पर तूजियों से नकाशी बिनने (सूचीपट्टिकावान) का काम करता था (नर्म.2.45)।

क्षेमेन्द्र के काव्यों से तत्कालीन वेश–भूषा पर भी प्रकाश पड़ता है। टोपी (टुप्पिका, न.मा.1.47), मृदु अंगरखा (अंगरक्षक, न.मा.1.72–73), शाटिका, पाजामा (संपुटी,

कर्परी) मयूरोपानह (न.मा. 1.124), मोचोट, रेशमी फीता (पाटल पट्टक), मोटा कंबल (घनकंबल) इत्यादि। वस्त्रों का प्रचलन था। शृङ्गार में कर्पूर और चंदन का विशेष स्थान था (सं.मा.1.14,3.23)। ललाट पर नील तिलक की प्रथा की (स.मा.2.106)। श्रीखण्डोज्जलमल्लिका–तिलक (स.मा.6.28) का उल्लेख भी मिलता है। शृंङ्गार की प्रथा गणिकाओं में विशेष रूप से प्रचलित थी। कुछ पुरूष भी शृङ्गार करते थे (देशो.6.9)। लोग सफेद बालों को काला करते थे (स.मा. 2.44, 5.43, 6.25)। स्त्री–पुरूष दोनों में आभूषणों के प्रति झुकाव था। मेखला (स.मा.1.14,3.37) किंकिणी (स.मा.3.13), शंखलतिका (स.मा.2.7), मूंगे की कंठी (स.मा.2.67), सोने के छल्ले (स.मा.2.11, देशो. 6.29) इत्यादि आभूषण स्त्रियों में प्रचलित थे तो पुरूषों में काल के बाले, कंठाभरण में हेमरक्षा तथा राजावर्त मणि से सजे कड़े लोकप्रिय थे।[18]

भोज्य पदार्थों में मछली, घी, दूध, मधु, खीर, दही, लड्डू लोकप्रिय थे। भांडा (भंडक) निर्धनों का भोजन था। मदिरा की प्रथा प्रचलित थी। स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं किन्तु पद्यपान के दुष्परिणाम के उल्लेख भी मिलते हैं। लोग द्यूत--क्रीड़ा भी करते थे। इसमें छल–प्रपंच किया जाता था।[19]

क्षेमेन्द्र के समय कश्मीर शिक्षा का एक प्रधान केन्द्र था। जहाँ देश–विदेश के छात्र ज्ञानार्जन के लिए आते थे। किन्तु उनका चारित्रिक पतन हो गया था। वे मांस, मदिरा, छुआछूत, आडम्बर, कलह, हिंसा, शृंङ्गार तथा कामवासना के चक्रव्यूह में फंसकर पथभ्रष्ट हो गये थे।

अपने ग्रन्थों में उन्होंने कश्मीर के दो राजाओं (अनन्त तथा उनके पुख कलश) का उल्लेख समकालिक प्रशासक के रूप में किया है। अपनी अधिसंख्य रचनाएँ अनन्त के राज्य–काल में तथा कुछ रचनाएँ कलश के शासन–काल में उन्होंने की थीं। राजनीतिक संघर्ष के फलस्वरूप सामाजिक अव्यवस्था तथा अशान्ति का साम्राज्य था। सभी स्वार्थसिद्धि में संलग्न थे। दम्भ और लोभ से समाज ग्रस्त था। मिथ्या स्नान–ध्यान, पूजा–पाठ, वेशभूषा, आदि इससे प्रभावित थे। फलस्वरूप एक कुत्सित समाज का स्वरूप उभर कर सामने आया जिसमें द्वेष, लोभ, यौनाचार, अंधविश्वास, आडम्बर, छल आदि का साम्राज्य था। यह स्वरूप कितना अतिरंजित है, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु इनके मूल में तथ्य हैं ही। समाज में ऐसे दोष रहे हैं और रहेंगे भी किन्तु क्षेमेन्द्र के समय ये दोष

अपनी चरम सीमा पर दिखते हैं। समाज के इस निन्दनीय स्वरूप के वर्णन में महाकवि का विश्वास था कि इनके दुष्परिणामों से शिक्षा लेकर लोग सजग होंगे, एक नवीन और स्वस्थ समाज का निर्माण होगा तथा लोगों का चारित्रिक विकास होगा। कवि कहते हैं कि विविध विषयों की चर्चा करके उन्होंने जो हास्योत्पादन किया है वह प्रकारान्तर से उपदेश हैं।[20]

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. नर्ममाला,
2. देशोपदेश,
3. देशोपदेश,
4. कलाविलास,
5. कलाविलास,
6. देशोपदेश,
7. कलाविलास,
8. देशोपदेश,
9. देशोपदेश,
10. देशोपदेश,
11. कलाविलास,
12. समयमातृका,
13. समयमातृका,
14. समयमातृका,
15. कलाविलास,
16. नर्ममाला,
17. नर्ममाला,
18. समयमातृका,
19. समयमातृका,
20. देशोपदेश,

डा. मधुबाला सिन्हा
मुजफ्फरपुर



वैदिक ऋचाओं में नीतितत्त्व

श्याम कुमार झा

एवं

डॉ. श्रीनिवास

संस्कृत विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है एवम् ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रन्थ। संस्कृत साहित्य में नीतिपरक सूक्तियों की परम्परा वेदों से प्रारम्भ होकर वर्तमान समय में रचित हो रहे साहित्यों में भी देखी जा सकती है। संस्कृत-साहित्य की विविध विधायें काव्य, नाटक, गद्य-काव्य, चम्पू-काव्य, गीति-काव्य तथा कथा-साहित्य में भी नीति के तत्त्व जो स्वाभाविक रूप से विद्यमान है, उसका उत्स कहीं न कहीं वेदों में निहित है।

ऋग्वेद में यद्यपि प्रधानतया देवताओं की स्तुति की गयी है तथापि उन स्तुतियों के माध्यम से मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने किसी न किसी रूप में समाज को नीतिपरक शिक्षा देने का भी कार्य किया है। ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद परवर्ती रचना होने के कारण ज्यादा व्यावहारिक ग्रन्थ है इसलिए यहाँ नीतिकथाओं का भण्डार उपलब्ध है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में वर्णित है-'श्रद्धा से धन पाया जाता है'-

'श्रद्धया विन्दते वसु।' (ऋ. 10.151.4)

यहाँ वैदिक ऋषियों ने स्पष्ट सङ्केत दिया है कि धनाभिलाषी मनुष्य के लिए श्रद्धावान् होना परम आवश्यक है। यहाँ सामाजिक सहिष्णुता की बात सर्वत्र कही गयी है। प्रथम मण्डल में एक स्थान पर ऋषि कहते हैं-

'मा नो मर्ता अभिद्रुहन्।' (ऋ. 1.5.10)

अर्थात् मनुष्य परस्पर द्वेष न करें।

धन की उपमा एक स्थान पर रथ के पहियों से दी गयी है-

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा। (ऋ. 10.117.5)

अर्थात्, धन तो रथ के पहिये के समान घूमता रहता है।

सच में, पाँच हजार वर्ष पहले भी ऋषियों ने धन की गति के बारे में सुन्दर उपमा देते हुए जैसा आकलन किया है, वह आज के समय में भी पूर्णतः युक्तिसंगत है।

अथर्ववेद कहता है कि हम ऐश्वर्य वाले हों–'अद्या वयं भगवन्तः स्याम।' (अ.7.73.10) वेद मनुष्यों से ऐश्वर्य की कामना करने को कहता है, किन्तु अनीति के मार्ग से नहीं। अथर्ववेद के ही षष्ठ अध्याय में कहा गया है–

'मा मा हिंसीः।' (मेरी हिंसा मत करो)। (वा.सं.3.63)

'मा हिंसीः पुरूषं जगत्।' (मनुष्य तथा गतिशील प्राणियों की हिंसा मत करो।) (वा.सं.16.3)

लगता है कि अहिंसा की अवधारणा सम्भवतः यही से प्रारम्भ हुई होगी। वैदिक वाक्य सूत्र रूप में, अल्प शब्दों में ही गम्भीर अर्थ का प्रतिपादन करता है। वेद की ये ऋचायें इस बात का प्रमाण हैं कि वेदों में सिर्फ यज्ञ एवं प्रार्थना की बातें ही वर्णित नहीं हैं, इसके इतर भी वेद मनुष्य को शान्तिप्रद जीवन जीने का मार्ग बताता है।

ऋग्वेद कहता है कि ईश्वर एक ही है जिसके विभिन्न नाम हैं–

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' (ऋ.1.164.46)

अथर्ववेद भी इसी बात की पुष्टि करता है–

'एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।' (अ. 20201)

एक परमेश्वर ही पूजा के योग्य है।

इससे स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि वेद एकेश्वरवाद में विश्वास रखता है। सम्भवतः पुराण–काल में एकेश्वरवाद से समाज अनेकेश्वरवाद की ओर अग्रसर हुआ और यहीं से विभिन्न सामाजिक कुरीतियाँ प्रारम्भ हुईं। यहाँ हम निश्चित तौर पर कह सकते हैं कि वेद जितना पवित्र है, उतना ही पवित्र वैदिक समाज।

वेदों में कर्म की प्रधानता है। कर्म न करने वाले को ऋग्वेद 'दस्यु' तक की संज्ञा दे डालता है–

अकर्मा दस्युः। (ऋ. 10.22.8)

अर्थात् कर्म न करने वाला दस्यु सदृश है।

इसी सन्दर्भ में ऋषि उदाहरणस्वरूप कहते हैं–'कर्षण करने से ही अन्न की प्राप्ति

****

होती है'–

कृषन् इत् फाल आशितं कृणोति। (ऋ.10.117.7)

अर्थात्, हल कर्षण करके ही अन्न को उत्पन्न करता है। तात्पर्य है कि ठीक उसी तरह हमें भी फल की प्राप्ति हेतु सतत् कर्मशील रहना चाहिए।

यजुर्वेद भी मनुष्य को अपने कर्मों को याद करने के लिए कहता है–

कृतं स्मर। (यजु. 40.15)

अर्थात्, हे मनुष्य! अपने कर्मों को याद करो।

ईशावास्योपनिषद् इसी विषय में कहता है–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे।। (ईशा. 2)

अर्थात् इस भूलोक में (हे मनुष्यों) कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करो एवं कभी भी (संसार में) इन कर्मों से (सर्वथा) लिप्त न रहो। इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं। अथर्ववेद भी कर्मवाद को स्थापित करते हुए कहता है–

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह। (अ.3.24.5)

अर्थात् हे मनुष्य! करणीय कार्यों का विस्तार करो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों के ये सुवचन देशकाल के बन्धन से परे रहते हुए सहस्रों वर्षोंपरान्त आज भी जनमानस के लिए सर्वथा ग्राह्य हैं। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कर्मवाद का जो उपदेश देते हैं–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मां कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। (2/47)

यहाँ वेदों के कर्मवाद का ही विस्तार है। कर्मों के सन्दर्भ में ऋग्वेद में बड़ा ही ठीक कहा गया है–

स मृज्यते सुकर्मभिः। (ऋ.9.99.7)

अर्थात्, सत्कर्मो से व्यक्ति शुद्ध होता है।

विभिन्न स्थलों पर ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में अधिक प्रगतिशील एवं समाज के

उत्थान की बातें की गयी हैं–

केतुं कृण्वन् अकेतवे। (अ.2026.6)

अर्थात्–ज्ञानहीन को ज्ञान का प्रकाश दो। तात्पर्य है कि जो ज्ञानी है उसे ज्ञान की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी अज्ञानी को। यदि वास्तव में समाज की प्रगति करनी हो, तो समाज से अज्ञानता दूर करनी होगी। अथर्ववेद आगे कहता है–

जीवा ज्योतिरशीमहि। (अ.20.79.1)

अर्थात्, हम जीव ज्ञानरूपी ज्योति प्राप्त करें।

ऋग्वेद में भी इसी बात की पुष्टि की गयी है–

ज्योतिषा बाधते तमः। (ऋ.10.127.2.)

अर्थात्, ज्ञान–ज्योति अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करती है। सूक्तिप्रद ये समस्त ऋचायें इस बात का प्रमाण हैं कि वेद केवल और केवल मनुष्य मात्र के कल्याण की बात करता है। वेदों में जो अन्यान्य विषय वर्णित हैं, वे इसके आनुषङ्गिक विषय हो सकते हैं, मुख्य प्रयोजन नहीं। वेद का शाब्दिक अर्थ भी ज्ञान है और इसमें मुख्यतया ज्ञान की बातें की गयी हैं। ज्ञान मनुष्य का आन्तरिक कवच है। अथर्ववेद में कहा गया है–

ब्रह्म वर्म ममान्तरम्। (अ.1.19.4)

अर्थात्, ज्ञान ही मेरा अन्तःकरण है।

अपरं च, यस्य ब्रह्मवर्धनम्। (अ.20.34.15)

ज्ञान से मूलतः तात्पर्य आत्म–ज्ञान और ब्रह्मज्ञान से है। उपनिषद् में कहा भी गया है– **अयमात्मा ब्रह्म।** (बृहदारण्यक उप.2.5.19)

अर्थात् यह आत्मा ही ब्रह्म है। और ऋग्वेद स्पष्टतया कहता है–

यस्तन्न वेद किम् ऋचा करिष्यति। (ऋ.1.164.39)

अर्थात्, जिसे ब्रह्म का ज्ञान नहीं, उसको मन्त्र (ऋचा) क्या करेगा?

इससे हम कह सकते हैं कि वेद की ऋचायें विशेषतया ऋग्वेद आत्मज्ञान की बात करता है। वर्तमान सन्दर्भ में भी जिसे स्वयं का ज्ञान न हो, उसे केवल पुस्तकों के पढ़ने से कोई विशेष लाभ नहीं होगा।

वेदों में दान की बड़ी प्रशंसा की गयी है। ऋग्वेद में कहा गया है–

'उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति।' (ऋ.10.117.1)

अर्थात्, देने वाले का धन नष्ट नहीं होता।

इसी प्रसङ्ग में बड़ी ही व्यावहारिक बात की गयी है–

'ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः।' (ऋ.10.117.9)

अर्थात्, एक ही परिवार में रहते हुए दो व्यक्ति समान दान नहीं करता।

अपरं च, 'उतापरीषु कृणुते सखायम्।' (ऋ.10.117.3)

अर्थात्, दानकर्ता अपने विरोधियों को भी सखा बना लेता है।

ये सारी सूक्तियाँ वेदों के समाजोपयोगी दृष्टि को दर्शाती हैं। आज भी सच्चे मन से एवं सत् परिश्रम के द्वारा अर्जित धन का दान सर्वोपरि माना जाता है। वेद की ऋचाओं के माध्यम से तत्कालीन पारिवारिक जीवन के बारे में पता चलता है। ऋग्वेद में नारी का सम्मान करते हुए कहा गया है–

'तमु चिन्नारी नर्यं सुसूव।'

अर्थात्, मानवों के कल्याण हेतु नारी ने पुत्र को जन्म दिया।

स्त्री को ही घर की संज्ञा दी गयी है– **जायेदस्तम्।** (ऋ.3.53.4)

अर्थात्, स्त्री ही घर है।

पुनः ऋग्वेद कहता है–स्त्रियों की आसक्ति विद्वानों में होती है–

देवत्रा कृणुते मनः। (ऋ.5.61.7)

अर्थात्, स्त्री विद्वानों में मन अनुरक्त करती हैं।

इन ऋचाओं से यह पता चलता है कि ऋग्वेदकालीन समाज में महिलाओं को समादर प्राप्त था। विभिन्न ऋषिकाओं ने तो मन्त्रों की रचनाएँ भी की हैं, यथा–गार्गी, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा इत्यादि।

अथर्ववेद में पारिवारिक समरसता का कितना सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है–

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारम् उत स्वसा।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ (अ.3.30.3)

अर्थात्, भाई भाई से एवं बहन बहन से विद्वेष न करे तथा सभी एक साथ मिलकर शुभ वचन कहें। यहाँ पारिवारिक सामञ्जस्य का अर्पूव उदाहरण दिखाई देता है। इससे यह भी पता चलता है कि ऋग्वेद का समाज पारिवारिक तथा सुखी था। ऋग्वेद में मित्र कें सम्बन्ध में कहा गया है–

सदावृधः सखा। (ऋ.4.31.1)

अथर्ववेद भी ऋग्वेद का ही अनुगमन करते हुए कहता है–

सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु। (अ.7.51.1)

अर्थात्, मित्रों का हित करें।

इस प्रकार ऊपर वर्णित वेदों के सूक्तिपरक मन्त्रों का अवलोकन करने के पश्चात् मैं यह कह सकता हूँ कि वेद केवल देवतादि के स्तुतिविषयक ग्रन्थ नहीं है, इसमें ऋषियों की वाणी में तत्कालीन समाज–व्यवस्था के साथ–साथ नीतिपरक ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो आज के वर्त्तमान परिवेश में भी उतने ही उपादेय एवं ग्राह्य हैं जितने तब थे। आवश्यकता इस बात की है कि वेदों में निहित ऐसी सदुक्तियों को समाज के सामने लाया जाए।

श्याम कुमार झा
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
माथाभङ्गा, महाविद्यालय, कोच
बिहार, पं. बंगाल

डॉ. श्रीनिवास
वाराणसी।



जानकीजीवनम् महाकाव्य का कथास्त्रोत एवं प्रकृत कथा में परिवर्तन

राधाकान्त तिवारी

रामायण की कथा अब सारे विश्व की साहित्यिक चेतना में अंकित हो चुकी है। दक्षिण और दक्षिण–पूर्वी एशियाई भू–भागों में इस कथा के प्रसार तथा स्वतंत्र विकास का इतिहास भी लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पुराना है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के हमारे आधुनिक युग में रामायण की कथा ने सुदूर अमेरिका और यूरोप के क्षितिज को भी आलोकित किया है। रामायण की कथा अपने मूल रूप में संस्कृत साहित्य की धरोहर है और महर्षि वाल्मीकि से इसका अभेद सम्बन्ध है। भारत से बाहर कुछ एशियाई अंचलों में यह रामकथा उनकी अपनी जातीय अस्मिता की अभिव्यक्ति बन कर भी उभरी है, जबकि ये अंचल इसके मूल संस्कृत रूप के साथ वाल्मीकि से भी अपना परिचय प्रमाणित करते हैं। देश और काल की परीधि के अन्तर्गत निरन्तर परिवर्तनशील भाषाई परिवेश में रामायण कथा के अनगिनत संस्करण और उनका इतिहास भी सहस्त्राब्दी की देहरी लांघ चुके हैं। यह प्रश्न केवल अपभ्रंश और प्राकृत भाषाओं का नहीं है। रामकथा भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाओं से लेकर अद्यतन आंचलिक लोक–भाषाई चेतना में भी गहरी आस्था के साथ अपनी जीवन्त प्रामाणिकता प्रतिपादित कर रही है। भारत के वनवासी समुदाय से लेकर अभिजात्य और बुद्धिजीवी वर्ग तक कोटि–कोटि भारतीय राम नाम को मुक्ति का साधन मानते हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने 'हे राम' कहकर ही अन्तिम साँस ली थी वास्तव में रामायण की कथा में ही भारत की आत्मा का साक्षात्कार होता है।

भारतीय साहित्य की परम्परा में रामायण को आदि–काव्य और वाल्मीकि को आदिकवि कहा गया है। मूलतः आदिकवि शब्द ब्रह्मा का वाचक है। वैदिक वाङ्मय से भिन्न लौकिक साहित्य के सर्वथा नवीन छन्द की रचना का श्रेय महर्षि वाल्मीकि को है।

वाल्मीकि के अन्तःकरण का सन्ताप, संवेदना के स्वर में छनकर नया छन्द बन गया। ब्रह्मा के निर्देशानुसार ही मानवीय संवदेना ने रामायण का रूप ले लिया।

राम–कथा और श्रीराम की परमप्रिया सहधर्मिणी जानकी भारतीय सुधी जनों और सचेतनों की ही नहीं सामान्य जनता की भी श्रद्धा, विश्वास और प्रेरणा की आधार रहीं हैं। जानकी वैदेही का नाम ही पावनता, त्याग और महान् उद्देश्यों के निमित्त सर्वस्व समर्पण करने का पर्याय है। जनमानस में सीता के चरित के प्रथम निदर्शन वाल्मीकि–रामायण में मिलते हैं। यह परम्परा कालिदास कृत रघुवंशम्, प्रवरसेनकृत रावणवध या सेतुबन्ध, भट्टिकृत रावणवध, कुमारदासकृत जानकीहरण, अद्भूत रामायण, आध्यात्म रामायण आदि अनेकशः ग्रन्थों में अविच्छिन्नभावेन चलती रही।

राजेन्द्रमिश्र कृत 'जानकी-जीवनम्' इसी परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। यह आधुनिक संस्कृत–लेखन की प्रवृत्तियों और प्राचीन साहित्य–सृजन की विशिष्टताओं का सुष्ठु सम्मिश्रण है। वर्तमान काल में रामायण आधारित लेखन के इस प्रयास से निश्चय ही संस्कृत कविता को नवीन समृद्धि प्राप्त हुई है।

जनकनन्दिनी वैदेही के चरित्र की शब्दबद्ध गाथा, जानकी–जीवन यों तो विभिन्न शास्त्रों, साहित्य की विविध विद्याओं, महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक आदि का अपनी सामग्री, अपनी कथा तथा अवान्तर कथाओं के लिए ऋणी है लेकिन इसका मुख्य उपजीव्य वाल्मीकीय रामायण ही कहा जा सकता है। परन्तु यह इसकी परम्परा का प्रस्थान बिन्दु है अवसान बिन्दु नहीं। इस क्रम में अनेकानेक ग्रन्थ और साहित्यक गौरव कृतियाँ आती हैं।

'जानकी–जीवनम्' महाकाव्य के सन्दर्भ में इसके कथास्रोतों का संक्षिप्त एवं क्रमिक परिचय प्रस्तुत है। इससे प्रकृत के सन्दर्भ में इनकी उपादेयता प्रकाशित होती है–

1. **वाल्मीकीय रामायण**–संस्कृत में रामकथा से ओतप्रोत धार्मिक एवं ललित साहित्य का पल्लवन आदिकाव्य की रचना के साथ ही प्रारम्भ होता है। यह एक सर्वप्राचीन तथा प्रेरणास्रोत ग्रन्थ है। सात काण्डों में विभक्त इस ग्रन्थ में श्लोकों की संख्या चौबीस हजार है। रामायण का प्रारम्भ वाल्मीकि तथा नारद के संवाद के साथ होता है। जिसमें नारद वाल्मीकि को संक्षेप में रामचरित सुनाकर रामायण की रचना हेतु प्रेरित करते हैं। वाल्मिीकि रामायण की मूलकथा युद्धकांड के अंत में ही समाप्त हो जाती है। उत्तरकांड परवर्ती रचना है। उत्तरकांड की कथा ही जानकीजीवनकार को अत्यधिक प्रभावित करती

है। परिणामतः जानकी जीवन की कथा में एक नया मोड़ आता है। वाल्मीकि–रामायण के तीन पाठ उपलब्ध हैं। इनकी तुलना करने पर इनमें कुछ भिन्नता पाई जाती है। डॉ. बुल्के ने अपनी रामायण में, इन पाठान्तरों का प्रमुख कारण, प्रारम्भिक काल में वाल्मीकीय रामायण के मौखिक रूप का प्रचलन बताया है। रामायण के तीन पाठ हैं–दक्षिणाव्य, गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय। गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में अधिक समानता है। रामायण के रचनाकाल के विषय में मतभिन्नता है, पुनरपि रामायणकालीन राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था के आंतरिक एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर कुछ विद्वानों ने रामायण का काल 500 वर्ष ईसा पूर्व माना है। अतः कालविषयक मत वैभिन्य होने पर भी सभी विद्वान् निर्विरोध होकर रामायण को महाकाव्य परम्परा में सर्वप्रथम एवं पथप्रदर्शक रचना के रूप में अंगीकार करते हैं। इस महाकाव्य का मूल आधार ही नारी पात्र है। नारी के कारण ही रामवनवास होता है तथा नारी के कारण ही राम तथा राक्षसों का युद्ध होता है। इस ग्रंथ में कुल ललनाओं की मर्यादाशीलता तथा दुष्टप्रकृति की नारियों, संकीर्णहृदयता का सुंदर विवेचन किया गया है। सांस्कृतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से भी नारी पात्रों का सबसे अधिक चित्रण इसी महाकाव्य में उपलब्ध होता है।

2. रघुवंश – कविकुलगुरू कालिदास प्रणीत यह रघुवंश महाकाव्य, राम महाकाव्यों की परम्परा में संस्कृत महाकाव्यों का मुकुटमणि है। इसमें सर्गों की कुल संख्या उन्नीस है। यद्यपि इसका आधार रामायण ही है तथापि महाकवि की सूक्ष्म दृष्टि और विचार मौलिकता ने इसे अद्वितीय बना दिया है। समस्त विश्व के मूर्धन्य कवि द्वारा निर्मित, सम्पूर्ण विश्व को आनंदित करने वाला, आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा देने वाला यह महाकाव्य रचनाकाल की दृष्टि से अभी तक अनिश्चय रूपी हिंडोले में झूल रहा है। कुछ विद्वान् इसे ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की रचना मानते हैं जबकि कुछ विद्वानोंने इसे चार सौ ईस्वी के लगभग की रचना मानते हैं किन्तु इस बात पर सभी विद्वान् एकमत हैं कि कालिदास ने इस ग्रन्थ की रचना उस काल में ही की है जब वाल्मीकीय रामायण अपना वर्तमान रूप धारण कर चुकी थी।

इस ग्रन्थ में रामकथा का प्रारम्भ नवम् सर्ग से होता है और षोडश सर्ग में राम स्वर्गारोहण के साथ ही रामकथा की समाप्ति हो जाती है। रघुवंश महाकाव्य की सीता महर्षि वाल्मीकि की सीता से कुछ भिन्न नजर आती है। सीता परित्याग के समय वाल्मीकि की भाग्यवादिनी सीता की भाँति कालिदास की सीता मौन रहकर अपने दुःख को अन्दर ही अन्दर सहन नहीं करती है अपितु उसका आक्रोश व्यंग्य से परिपूर्ण उस सन्देश के रूप में

प्रकट होता है जिसे वह लक्ष्मण के माध्यम से राम के पास भेजती है। यह कहती है कि सबके समक्ष अग्नि में विशुद्ध हुई पत्नी को लोकनिन्दा के भय से छोड़ रहे हो। क्या यही तुम्हारे लोकविख्यात कुल की परम्परा है।

3. रावण वध या सेतुबन्ध – प्रवरसेन विरचित इस ग्रन्थ का मूल महाराष्ट्री प्राकृत में है। बाद में इसे संस्कृत भाषा में अनूदित किया गया है। कुछ विद्वानों की यह भ्रान्त धारणा रही है कि इस ग्रन्थ के रचनाकार कवि कालिदास है। विद्वानों के मतानुसार इसका रचनाकाल पाँचवी या छठीं शताब्दी का रहा है। कवि ने इस ग्रन्थ में अलंकृत एवं व्याकरणिक शैली का प्रयोग किया है। अतः इसे शास्त्रकाव्य से भी विभूषित किया जा सकता है। इस महाकाव्य को कुल पन्द्रह सर्गों में विभक्त कर कवि ने वाल्मीकीय रामायण के युद्धकाण्ड के कथानक का अपरिवर्तित वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में सीता की दृढ़ पतिभक्ति तथा पवित्र प्रेम के कारण राम की कठिनाईयों की समाप्ति का मनोहारी वर्णन किया गया है।

4. रावणवध या भट्टिकाव्य – महर्षि वाल्मीकिकृत आदिकाव्य की कथावस्तु को किञ्चित् परिवर्तित करते हुए व्याकरणिक नियमों को निरूपित करने के लिए महाकवि भट्टि ने इस ग्रन्थ की रचना सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में की है। भामह ने विभिन्न स्थलों पर भट्टि का अनुकरण किया है। महाकवि माघ भी इससे परिचित जान पड़ते हैं। इस ग्रन्थ के चार काण्डों को कुल बाईस सर्गों में विभक्त किया गया है। इसके चार काण्ड निम्नलिखित हैं–1.प्रकीर्णकाण्ड, 2. अधिकार काण्ड, 3. प्रसन्न काण्ड और 4. तिङन्त कांड। अंतिम काण्ड व्याकरण से परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ में भी मर्यादापालक राम जब सीता के चरित्र पर सन्देह प्रकट करके उसको ग्रहण करने के प्रति अनिच्छा प्रकट करते हैं और यथेष्ट गमन की आज्ञा देते हैं तो भट्टिकाव्य की सीता भी वाल्मीकि की सीता की तरह दुःख को अन्दर ही अन्दर सहन नहीं करती है अपितु ओजस्विनी वाणी के द्वारा अपने चरित्र की पवित्रता व्यक्त करती हुई कहती है कि तुम्हें मुझे असती होने का आरोप लगाते हुए भाग्य तथा लोक से डरना चाहिए। कवि सरल वाक्यों से रचित वैदर्भी रीति से पाठकों का अनुरंजन करते हुए ग्रन्थ की प्रभावशालिता तथा सरलता को वर्धित करते हैं।

5. जानकी-हरण – कालिदास के पश्चात् रामसम्बन्धी महाकाव्यों की परम्परा में नवीन युग का प्रारम्भ निःसन्देह कुमारदास ने किया है। भट्टि और प्रवरसेन के ग्रन्थ व्याकरणिक है। परन्तु कुमारदास ने रामायणी कथा पर आधृत इस ग्रन्थ में शृंगार–रस की

चरम–सीमा का स्पर्श किया है। इस काव्य में सम्पूर्ण कथा का केन्द्रबिन्दु जानकी–हरण की घटना ही है। नारी पात्रों के चरित्र पर यह ग्रन्थ विशेष प्रकाश डालता है। अन्य प्रमुख महाकाव्यों की भाँति इसका रचनाकाल भी अनिश्चित है। डॉ. कीथ के मतानुसार कुमारदास माघ के पूर्ववती हैं।

6. रामचरित – छत्तीस सर्गों में निर्मित इस महाकाव्य की रचना कालिदास की श्रेणी में गिने जाने वाले प्रसिद्ध कवि अभिनन्द ने वाल्मीकिय रामायण के कथानक के आधार पर ही की है। अनेक ग्रन्थों में उद्धृत इस ग्रन्थ के उद्धरण इसकी विशेष प्रतिष्ठा को प्रकट करते हैं।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थ रत्नों से क़विवर डॉ. राजेन्द्र मिश्र जी जानकीजीवन की कथा को प्राप्त किया है। इनमें महाकवि क्षेमेन्द्र कृत रामायणमंजरी, दशावतारचरित, योग वशिष्ठ रामायण, राघवपाण्डवीय राघव नैषधीय, अध्यात्म रामायण, अद्भुत रामायण तथा महाकवि भवभूति प्रणीत उत्तररामचरित अग्रगण्य है।

जानकीजीवन महाकाव्य के रचनाकार कविवर राजेन्द्र मिश्र जी ने तो इक्कीस सर्ग वाले इस महाकाव्य के अट्ठारह सर्ग के कथा का वर्णन काव्यों के अनुसार किया है। परन्तु उन्नीसवें सर्ग में कवि ने लीक से हटकर वर्णन किया है। डॉ. मिश्र जी का कथन है कि कुछ वर्षों के बाद सीता ने लव–कुश नामक दो जुड़वा पुत्र रत्नों को जन्म दिया। इन पुत्रों के आगमन पर अयोध्या में मंगल गान होने लगा। सारा राजभवन पुत्र जन्म का समाचार पाकर प्रफुल्लित हो उठा। धीरे–धीरे दोनों रघुकुलभूषण बड़े हुए तथा उन्होंने स्वतः रघुनाथ गाथा अपनी सुरीली आवाजों में गाना प्रारंभ कर दिया। एकदा महर्षि वाल्मीकि मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम के दरबार में आये। उन्होंने उन जुड़वा बालकों की प्रतिभा को देखकर उन्हें अपने आश्रम में ले जाने का आग्रह किया। उनके आग्रह को सीता ने स्वीकार कर लिया तथा स्वयं भी अपने पुत्रों के साथ आश्रम में जाने के लिए तैयार हो गई। उन्होंने अपने प्राणवल्लभ श्रीराम से अभ्यर्थना की। भगवान श्रीराम के समझाने के बाद भी वह अपने पुत्रों के साथ वाल्मीकि के आश्रम में जाने के लिए उद्यत हो गई। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न तीनों भाइयों ने ससम्मान उनको आश्रम तक पहुँचाया। जानकी जी ने आश्रम गमन के कारण राम को किञ्चित व्यथाएँ हुई।

उपर्युक्त कथानक के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि जानकीजीवनकार ने

अपने राम को पूर्णतया परिवर्तित कर दिया है। जानकी जीवन महाकाव्य के नायक राम धोबी के द्वारा लाच्छन लगाए जाने के बाद न तो उसके ऊपर क्रोध करते हैं और न सीता को त्यागने के विषय में सोचते हैं बल्कि इस पीड़ा को स्वयं सहन कर लेते हैं। रजक को भी ससम्मान उसके घर वापस कर देते हैं। जैसा कि जानकी जीवन महाकाव्य के अष्टादश सर्ग के निम्नलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है-

एवं राघवतोषितस्स रजकस्सम्प्राप्तसञ्चेतनः
चञ्चतप्राण इवाभवद्रधुपतेः संस्पर्शसौख्यं दधत्।
सर्वे जानपदाश्च खेदरहिताः सम्यक पुनजीर्विताः
भूपालं मुदितं विलोक्य मुदितास्सर्वे बभूवुश्चिरम्।।

कथा में यह साम्य वैषम्य एक ही प्रमुख कारण से अनुस्यूत है कि वाल्मीकि के काल में भी नारियों का समाज में स्थान उत्कृष्ट था, उनके अधिकार सुरक्षित थे किन्तु जानकी जीवन के काल में तो स्त्री के अधिकार चरमसीमा पर पहुँच गये। अतः यहाँ सीता की फटकार में तीखापन है, नारी आक्रोश सीता के शब्दों में उमड़ पड़ा है। जानकी जीवनकार ने रामायण के राम से पृथक होकर अपने राम की रक्षा की है। राम के अनुचित शब्दों को उन्होंने प्रस्तुत करने से परहेज किया है। यहाँ पर कविवर राजेन्द्र मिश्र जी ने राम के कथ्य को कुछ मनोरम साहित्यिक रूप दे दिया है। जिसे हम जानकी जीवन महाकाव्य के सर्ग पन्द्रह के श्लोक 25 से 29 तक में देख सकते हैं।

एवमेव जानकीजीवनकार ने राम और सीता के चरित्र को पूर्णतया भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के आलोक में उजागर किया है। एतावता आज भी सम्पूर्ण विश्व में राम सीता का चरित्र प्रासंगिक बना हुआ है। अतः तुलसीदास का कथन सर्वथा सत्य है-

सियाराममय सब जग जानी।

डा. राधा कान्त तिवारी
ग्राम-करनमेया
पत्रालय-लालगढ़,
भाया बेतिया, पं. चम्पारण
(बिहार)

****

लोकभाषा की भारतीय नाट्यपरंपरा और कर्पूरमंजरी

डॉ. अश्विनीकुमार शर्मा

भारतीय नाट्यपरंपरा के दो तल्प भरत के पूर्व भी प्रचलित रहे हैं। भरत ने देशी और मार्गी नाट्यपरम्पराओं का उल्लेख इसी आधार पर किया है। उन्हें लोक अंचलों में प्रचलित नाटकों की भी पर्याप्त जानकारी थी। ये नाटक लोकनाट्य परंपरा के रूप में ही प्रस्तुत हो रहे थे। उन्होंने अपने नाट्य–नियमों में लोक से प्रभावित होने के कारण शुष्कता के बजाय तारो ताजगी का परिचय दिया है। उनके समक्ष प्रेक्षक की सजीव प्रतिक्रियायें अधिक महत्वर्पूण थी। यही कारण है कि भरत से जो नियम या निर्देश छूट गये हैं-उन्हें वे लोक से ग्रहण करने की उत्प्रेरणा देते हैं–'नोक्तानि च मया यानि लोक ग्राह्याणि तान्यपि।' (नाट्यशास्त्र 23/2/4) भरत मुनि ने यह स्पष्ट परिलक्षित कर लिया था कि लोकभाषाओं की संप्रेषणकारी शक्ति का विस्तार अवश्यंभावी है। प्राकृत भाषाओं में लोकजीवन के अधिकांश काय–व्यापार संपादित हो रहे थे। सर्व साधारण वर्ग में इन भाषाओं का प्रयोग वृद्धितर हो रहा था। संस्कृत का दायरा सिमट रहा था। अपनी उदार दृष्टि का परिचय देते हुये भरत ने प्राकृतिक भाषाओं के प्रयोग का निर्देश अपने नाट्य सिद्धान्तों में प्रस्तुत किया है। उन्होंने न केवल मागधी, अवंतिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्द्धमागधी और दक्षिणात्या को ही नाटक में सम्मिलित करने की बात की है। अपितु कम महत्त्व की लोक बोलियों के द्वार उन्होंने नाटकों के लिये खोले। इन बोलियों में अमीर, चाण्डाल, द्रविण, उद्रज आदि बोलियों का भी उल्लेख किया है।

इस समय तक नाट्य के अभिजनवादी स्वरूप का ढाँचा हिलने लगा था। राजनैतिक अस्थिरता और राज विग्रहों ने रंगशालाओं में विक्षेप उत्पन्न कर दिया था। अतः संस्कृतनाट्कों के मंचन की प्रक्रिया में अवरोध सा आने लगा। अभिनय के क्षेत्र में भी उच्चवर्ग ने अपनी हिस्सेदारी कम कर दी थी। नाट्यशास्त्र में भरतों को मिलने वाले जिस शाप की काल्पनिक कथा आचार्य ने दी है। वह इसी वास्तविक स्थिति की ओर संकेत

करती है- **'यश्च वो भवतां वशः सच्च शूद्रो भविष्यति।'** (नाट्यशास्त्र षट्त्रिशो 9.36)

परिणामस्वरूप संस्कृत नाट्य पठनीय एवं श्रवणीय अधिक हो गये। किन्तु इसके विपरीत लोकनाट्य–परंपरा का अपना एक स्वरूप लोक के भीतर विस्तारित होता रहा। जिसमें लोक बोलियों के संप्रसारण के साथ लोक बोलियों का प्राचुर्य भी रहा है। अपने समय इस प्रक्रिया के प्रारंभिक अनुमानों को भवभूति ने भी अपने नाटकों में रचनात्मक स्तर पर अनुभव कर लिया था। यही कारण है कि उनका नाट्यकर्म लोक प्रभावों से अनुप्राणित हो रहा था। यह मात्र संयोग ही नहीं है कि राजशेखर अपने आपको भवभूति का अवतार कहते हैं। अपितु यह एक परंपरा यथार्थ है। भवभूति ने जिस लोक–परंपरा का अनुसरण करते हुये आपने नाटकों को कालप्रियानाथ की यात्रा में लोकमण्डली द्वारा मंचित कराया था। उसका एक अन्तः प्रभाव राजशेखर में भी प्राप्त होता है।

वभूव वल्मीक भवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमण्ठताम्।

स्थितः पुनर्यो भवभूति रेखया स वर्तते संप्रति राजशेखरः॥ व.रा. 1/1

इस परंपरा में भवभूति के समय तक पद्य के लिये प्राकृत का प्रयोग नहीं था यह कार्य आगे चल कर सर्वभाषाचतुर राजशेखर ने किया।

राजशेखर ने कर्पूरमंजरी नाट्यकृति की सम्पूर्णतः लोक भाषा प्राकृत में ही रचना की है। अपनी अलग प्रस्तुति भंगिमा के कारण इसे सट्टक कहा गया है। निश्चित ही यह नामकरण लोक के प्रभाव पक्ष को उद्योतित करता है। लोक में ही वह शक्ति निहित है जो रचनात्मकता को निरन्तर नवीनता प्रदान करती है। और उसे नये तरह से आविष्कृत करती है। राजशेखर ने कर्पूरमंजरी को भारतीय नाट्यपरंपरा में ऐतिहासिक महत्त्व की परिवर्तनकारी कृति के रूप में रचा है। इसलिये बहुत संभव है कि इसमें परंपरा प्रचलित संस्कृत नाट्यादर्शों को भी कहीं कहीं नये प्रयोगों में अभिव्यक्त किया है। राजशेखर ने सट्टक को कुछ नवीन दृष्टियाँ भी अपनी रचनात्मकता के सहज उद्वेलनों से प्रदान की है। ये सट्टक की निजी विशेषताओं के रूप में उभर कर आयी है। उन्होंने नाटिका में प्रयुक्त अंक के स्थान पर जवनिका शब्द का प्रयोग किया है। सट्टक का नामकरण नायिका के नाम पर है। नृत्य का प्रयोग अनिवार्य रूप से है। और संपूर्ण पात्रों द्वारा मात्र प्राकृत भाषा का व्यवहार किया गया है। (राजशेखर के नाटक ले. डा. श्यामा वर्मा पृ.82) भरत ने लोक भाषाओं के प्रयोग हेतु जिस लचीले स्वरूप को व्यक्त किया था। उसमें उन्होंने प्रकृतों के प्रयोगों का

स्थानानुकूल निदर्शन किया है। स्थानीय प्रदर्शनों हेतु इन प्रकृतों का अपना महत्त्व था। शौरशेनी और मागध प्राकृतों का प्रयोग नाटक में इसी आधार पर प्रचुर मात्रा में हुआ है।

कर्पूरमंजरी की प्रकृत शौरसेनी है। कहीं कहीं महाराष्ट्री का भी आभास होता है। किन्तु शौरसेनी और महाराष्ट्री सीमावर्ती होने के कारण एक दूसरे के बहुत नजदीक थीं। अतः महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव कर्पूरमंजरी की शौरसेनी में क्वचित् क्वचित् परिलक्षित होता है। अन्यथा राजशेखर ने शौरशेनी को ही अपनी इस कृति का आधार बनाया है। राजशेखर का प्रकृति के प्रति लगाव था, उन्होंने स्वयं कहा है।

परूसा साकि-अबंधा पाउदंबद्यो विहोइ सुउमारो।

पुरूस महिलाणं जेतिअमिंहत्तरं तेत्तिअ मिभाणं।। कर्पूरमंजरी 1/8

संस्कृत भाषा में की गई रचनायें नीरस होती हैं। प्रकृति की रचनायें ही मधुर होती है। जिस तरह पुरूष कठोर होते हैं उसी तरह संस्कृत रचनायें कठोर होती है। जिस तरह स्त्रियाँ सुकुमार होती है। उसी तरह प्राकृत रचनायें मधुर और सुकुमार होती है। राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में काव्य पुरूष की जो कल्पना की है उसमें उनके मतानुसार काव्यपुरूष का शब्दार्थ शरीर है संस्कृत मुख प्राकृत बाहु और अपभ्रंश जंघा है। पैशाच पैर तथा मिश्र भाषा उनका उर है। इस विवेचना से राजशेखर की भाषा विषयक दृष्टि का सम्यग् परिचय प्राप्त हो जाता है। (का.मी. अ.उ.पृ.6)

राजशेखर की शौरसेनी में आज की मध्यदेशीय बोलियों कन्नौजी, और बुन्देली का स्वभाव अभिव्यक्त होने लगा था। वे अपनी भाषा में अपनी स्थानीयता को नहीं त्याग पाये थे। उन्होंने भाषागत यथार्थ को कर्पूरमंजरी में बहुत महत्त्व प्रदान किया है। आज के बुँदेली शब्दों की भनक उनके इस नाटक में है। बुँदेलों का छैला छदूल्लक के रूप में मिल जाता है। जो रस विदग्ध के अर्थ में आज भी प्रचलित है। मंत्रों में देवता को आहूत करने के लिये हंकारी बुदेली में प्रयुक्त होता है। जो कर्पूरमंजरी में हक्कारिआ के रूप में भी प्राप्त होता है। शिथिल के अर्थ में दिल्ला कर्पूरमंजरी में प्रयुक्त शब्द है। जो बुंदेलों में ज्यों का त्यों प्राप्त होता है। जो होई सा होई, का जो होय सो होय नच्चि का नाच बुदेंलो के प्रभाव को ही व्यक्त करने वाले शब्द है। कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो सीधे आज की बुंदेलों में भी हैं। ससुर, ससुरी, पौत्थ, गंठि, बंभन, सेज्या दोही मोसिया, सटठी, घरनी, संझा, पलका, सुहाग, खुट्ट, खाँटने के अर्थ में भी सच्चा रामसुआ आदि को इस संदर्भ में याद किया जा सकता है।

लोक बोलियों की जीवतंता उनकी कहावतों और उनके मुहावारों में निहित रहती है। भाषा की प्राकृतिक भंगिमा का अनुरक्षण उनके माध्यम से होता है। भाषा में नाटकीयता की भी प्राप्ति इन प्रयोगों के माध्यम से ही संभव होती है। राजशेखर ने इस तरह की देशज कहावतों और देशज मुहावरों को कर्पूरमंजरी में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त किया है। 'हत्थे कंकणं कि दप्पणेन पाइया जण्ण मंजरिया दृद्धं त्ति तक्कं' जैसी लोकोक्तियों का प्रयोग शौरशेनी के यथार्थ को अभिव्यक्त करने में समक्ष है। ऐसी अनेक लोकोक्तियाँ कर्पूरमंजरी में उपलब्ध हो जाती हैं।

भाषा लोक-यथार्थ से संपृक्त होकर और अधिक विश्वसनीय बनती है। यह लोक–समाज लोक-स्वभाव और लोक-क्रियाओं के सूक्ष्म अवलोकन से ही प्रकट होने वाला भाषा–व्यापार है। वसंत के आगमन पर मध्यप्रदेश में रात्रि के दौरान हल्की सी ठंड रह जाती है। यदि सोते समय रजाई पूरी ओढ़ ली जाये तो गरमी का अनुभव होने लगता है। और यदि एक दम उघाड़ दी जाये तो शीत का अनुभव हो उठता है। इस स्थिति में पादों पर रजाई डाल ली जाती है। राजशेखर इस अनुभव को प्राकृत में इस तरह प्रस्तुत करते हैं।

एविर्हिसुवंतिघर माज्झिम् सालियासु

पाआंत पुंजि अपउं मिहुनाई पेच्छ

अब घरों के अन्दर कोठरियों में पावों के छोरों पर वस्त्र इकट्ठा करके पादों में लपेट कर सोने लगे हैं, इस वर्णन में जो गृह रचना है वह बुंदेलखंड के भवनों में प्राप्त प्रकोष्ठों की ओर संकेत करती है। हिण्डोला चौथ का वर्णन, इसकी पूजा का ब्योरा तथा ऋतुओं की प्रकृति की विवेचना में लोकजीवन की उष्मा को प्रकट करने में लोक बोली एक महत्त्वपूर्ण कारक है। घनसारमंजरी और राजा के विवाह की विधि भी लोक-जीवन की झलक प्रस्तुत करती है। इस प्रसंग की भाषा में भी लोक–जीवन का हृदय स्पंदित होता है यह सम्पूर्ण विश्वव्यापार मध्यदेशीय देशज संस्कारों से निष्पन्न है। बुंदेलखंड के जन–जीवन के नजदीक ले जाने वाली सौरशेनी कर्पूरमंजरी को लोक–जीवन के नायाब चित्रों की कृति बना देती है। विदूषक और चेटी के पारस्परिक गालीमय संबाद बुंदेली–स्वाँग–परंपरा की ओर संकेत करते हैं। आठवीं नौवीं शताब्दी में शौरसेनी से निष्पन्न हो कर बुंदेली के स्वरूप का स्वतंत्र संधान होने लगा था। और बुंदेली स्वॉगों की धारणा भी इस समय अपना

आकार ग्रहण कर रही थी। विदूषक का कथन स्वॉग की जातीय स्मृति को ताजा कर देता है।

"आः दासीए घूदे भविस्सकुट्टिणि णिल्लक्खने विअक्खने। ईदि सोहं मुक्खो जो तये वि उबहसी आमि। अण्णं च हे परपुत्त विट्टालिणि भमर टेटें टेंटाकराले तुछि संघडिदे।"

यह वर्णन फाल्गुन और चैत्र के आस पास का है अर्थात् होलिकोत्सव से ही कर्पूरमंजरी के कथानक का प्रारंभ होता है। बुंदेलखंड के लोक जीवन में इस तरह की गालियों का प्रयोग होलिकोत्सव में अब भी प्रचलित है। राजशेखर की दृष्टि लोक प्रधान थी इस दृष्टि ने उन्हें संस्कृत नाट्यपरंपरा में कुछ नया करने का साहस प्रदान किया था। कर्पूरमंजरी के संवादों में माधुर्य है शब्दों के चयन में राजशेखर ने विशेष कवित्व कला का परिचय दिया है माधुर्य और ओज को प्रकट करने वाली शब्दावली का समावेश इस कृति में है बुंदेली लोक साहित्य में भी माधुर्य और ओज गुण की प्रधानता है लोक स्वभाव के अनुकूल भाषा के प्रयोग में राजशेखर की अपनी विशेषता है कर्पूरमंजरी अपनी भाषाप्रस्तुति में इसी लिये संस्कृत नाट्यपरंपरा में एक ऐतिहासिक घटना की तरह स्मरण की जायेगी।

डॉ. अश्विनी कुमार शर्मा
संस्कृत विभाग
मुजफ्फरपुर



प्रदूषण : समस्या और निदान

डॉ. भगवन्नारायण मिश्र

प्रदूषण क्या है?

पर्यावरण प्रदूषण एक ऐसी समस्या है, जो सार्वभौमिक है। इससे निपटने के लिए विश्व स्तर पर कार्य शुरू हो चुका है। संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा समय-समय पर गोष्ठी एवं रिपोर्टों द्वारा जन मानस को पर्यावरण प्रदूषण से अवगत कराया गया है। यह एक विडम्बना है कि जन साधारण अभी तक यह नहीं जान पाया है कि वास्तव में पर्यावरण प्रदूषण क्या है?

प्रदूषण का अर्थ

प्रदूषण वायु, जल एवं स्थल की भौतिक, रासायनिक विशेषताओं का वह अवांछनीय परिवर्तन है, जो मनुष्य अपने लाभ के लिए करता है।

साधारण शब्दों में हम प्रदूषण की परिभाषा निम्न प्रकार से कर सकते हैं "वह प्रक्रिया जिसके द्वारा पर्यावरण सन्तुलन बिगड़ता है, प्रदूषण कहलाता है।"

"पर्यावरण प्रकृति के स्वरूप का शुद्ध रूप है। यदि प्रकृति विधान, नियम तथा स्वरूप से छेड़छाड़ की जाय तो उससे पर्यावरण प्रभावित होता है, यही पर्यावरण प्रदूषण है।"

प्रदूषण का प्रभाव

आजकल समस्त विश्व जिस समस्या से चिन्ताग्रस्त है, वह समस्या है प्रदूषण। प्रदूषण इतना बढ़ चुका है कि इससे निजात पाना कठिन एवं दुरूह हो चुका है। ऊर्जा की बेतहाशा खपत, वनों का विनाश, तेजी से बढ़ती जनसंख्या, शहरीकरण, वाहनों की बढ़ती संख्या एवं तेजी से फैलता प्रदूषण अनेक समस्याओं को जन्म देता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य तथा अन्य जीव-जन्तुओं एवं वनस्पतियों का स्वास्थ्य प्रभावित हो रहा है। जब

प्रदूषण अधिक होगा तो वह जीवों पर तथा वनस्पति पर प्रभाव डालता है। इसके दुष्प्रभाव से मनुष्य का स्वास्थ्य भी खराब होता है। पर्यावरण प्रदूषण के कारण हवा, पानी, भोजन सभी कुछ प्रभावित है तथा प्रदूषित तत्त्व मनुष्य के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं। इन प्रदूषित तत्त्वों के कारण मनुष्य का बीमार होना तथा बार-बार बीमार होने के कारण मनुष्य का स्वास्थ्य क्षीण एवं दुर्बल हो जाता है। कई बच्चे जन्म के समय से ही शुद्ध वातावरण के न मिलने के कारण बीमारियों की पकड़ में आ जाते हैं। इसलिए प्रदूषण से स्वास्थ्य की समस्या उत्पन्न होती है।

प्रदूषण के कारण

हमारे देश के पर्यावरणविदों ने जो तथ्य प्रदूषण के सम्बन्ध में एकत्रित किये हैं, उनसे देश की ही नहीं, वरन् समूचे विश्व की भयावह स्थिति का पता चलता है। प्रदूषण के लाने में सबसे बड़ा योगदान कल-कारखानों का है। इन औद्योगिक इकाइयों से धुआँ, कचरा, गैस, गन्दा पानी, रसायन आदि प्रदूषक निकलते हैं जिसके कारण प्राणदायिनी आक्सीजन विषैली गैसों में परिवर्तित होकर समस्त सृष्टि को विनाश की ओर ले जाती है। इतने सारे प्रदूषण तो अकेला उद्योग विभाग ही पैदा करता है, अन्य प्रदूषण कारकों के बारे में भी जानकारी होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रदूषण के कारण निम्न हैं–

1. उद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण
2. शहरीकरण
3. जनसंख्या वृद्धि
4. यातायात के साधन
5. कचड़ा (कूड़ा करकट)
6. कीटनाशक दवाइयाँ
7. वनों का विनाश
8. लुप्त होती जीव प्रजातियाँ
9. ध्वनि

10. रासायनिक उर्वरक

11. वातानुकूलन

12. प्राकृतिक खनिजों का दोहन

13. बीड़ी सिगरेट का धुँआ

14. परमाणु विस्फोट

प्रदूषण का समाधान

इन प्रदूषणीय समस्याओं को ध्यान में रखते हुए कुछ समाधान खोजे गए हैं, जिनका विवरण निम्न हैं–

1. वन विकास वन विकास के कारण विश्व की जलवायु प्रभावित हो रही है। इससे बचने के लिए वन विकास हेतु कार्य करना होगा तभी पर्यावरण संतुलन बनाने में सफलता मिल सकेगी। इस हेतु निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है–

(क) चारागाह का विकास – पशुओं को चराने की कोई जगह शेष न बचने के कारण आज पशु वनों में ही चरते हैं, जिसके कारण छोटे वृक्षों के पौधों को पशुओं द्वारा नष्ट किया जा रहा है, उसे रोकने के लिए पशुओं के चरने हेतु समुचित चारागाह की व्यवस्था सुनिश्चित करनी होगी।

(ख) नये पौधों का लगाना – वन विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि नये वनों के पौधे लगाने चाहिए। प्रतिवर्ष हमारे वनों का ह्रास किया जा रहा है। यदि नए पेड़ पौधे नहीं लगाये जायेंगे तो वन इस प्रकार पृथ्वी से नष्ट हो जायेंगे।

(ग) वन्य जीवों का संरक्षण – वनों में प्रायः जीव जन्तुओं का बाहुल्य रहता है, जिसके फलस्वरूप ग्रामीण तथा अन्य लोग वनों में घुसने से डरते हैं। इस प्रकार हम जानवरों की रक्षा करके भी वन विकास को प्रोत्साहन प्रदान करते हैं और प्रदूषण समस्या के निदान में सहायक बनते हैं।

(घ) वन संरक्षण अधिनियम बनाना – वन विकास के लिए वनों का संरक्षण बहुत ही आवश्यक अंग है। हमारे देश में 1927 में भारतीय वन अधिनियम लागू किया गया,

जिससे वनों को संरक्षण प्रदान किया जा सके। जिस प्रकार शरीर तथा मन को स्वस्थ रहने के लिए स्वास्थ्यकर भोजन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार पौधे प्रदूषित वायु, कार्बन डाइ आक्साइड आदि विषैली गैसों को सेवन कर हमें प्राणदायिनी आक्सीजन देते हैं।

2. जनसंख्या वृद्धि पर अंकुश—वर्तमान संसार जनसंख्या विस्फोट की गिरफ्त में आ चुका है। इस बढ़ती जनसंख्या के कारण पर्यावरण पर कुठाराघात हुआ है। यह एक ऐसी समस्या सम्पूर्ण विश्व के लिए पैदा हो चुकी है कि इसके समाधान हेतु सभी राष्ट्रों को एकजुट होकर इसका समाधान खोजना होगा।

3. ऊर्जा की उचित खपत—आज मानव के सम्मुख ऊर्जा की विकट समस्या मुँह बाये खड़ी है। इस समस्या को पैदा करने में निम्न कारणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

1. प्रति व्यक्ति तेल की अधिक जरूरत के प्रति उत्तरदायी।
2. अधिक जनसंख्या वृद्धि के कारण ऊर्जा का ह्रास होना।
3. विश्व में ऊर्जा के साधनों का समाप्ति की ओर अग्रसर होना।
4. ऊर्जा का बढ़ता उपभोग भौतिक व जैविक पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

4. बढ़ते ताप पर नियन्त्रण—प्रदूषण की रोकथाम के लिए बढ़ते तापमान को रोकना भी आवश्यक है। कई कारण ऐसे हैं जिनसे पृथ्वी पर ताप बढ़ता जा रहा है। जो सबसे बड़ी प्रदूषण की समस्या है।

बढ़ते ताप की रोकथाम के लिए उद्योगों, परमाणु विस्फोट एवं युद्ध जैसे भंयकर परिणाम देने वाले कार्यों पर रोक लगाना जरूरी है।

5. विषैली गैसों पर नियन्त्रण—पर्यावरण शुद्धि के लिए विषैली गैसों पर नियन्त्रण बहुत आवश्यक है। इन सब गैसों की रोकथाम के लिए उद्योगों एवं वाहनों से निकली विषैली गैसों के नियन्त्रण के बिना पर्यावरण का शुद्धिकरण असम्भव है। इसलिए इन विषैली गैसों की रोकथाम के लिए इन पर नियन्त्रण जरूरी है।

6. धुएँ की रोकथाम—आज पर्यावरण प्रदूषण में धुएँ की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इस बढ़ते धुएँ के संसार ने जीव, वनस्पति तथा ओजोन परत को नुकसान पहुँचाया है। इसलिए धुएँ नियन्त्रण आवश्यक है।

7. जल का शुद्धिकरण–''प्रदूषण का समाधान बिना शुद्ध जल के होना असम्भव है, क्योंकि जल ही जीवन है। यदि जल प्रदूषण न रोका जाय तो प्राणी जगत् तथा वनस्पति का जीवन खतरे में पड़ जाएगा। इसलिए जल प्रदूषण को दूर करना अति आवश्यक है।

8. वन्य जीव-जन्तु एवं वनस्पति की रक्षा–पर्यावरण की सुरक्षा एवं सन्तुलन के लिए जीव जन्तु तथा वनस्पति का संरक्षण अति आवश्यक है।

9. रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशकों का समुचित प्रयोग–द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हरित क्रांति में खाद्यान्न का उत्पादन तो बढ़ा, लेकिन साथ ही रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशकों क[illegible] बढ़ा। कीटनाशकों के अनुचित प्रयोग ने प्रदूषण में आवश्यकता से अधिक प्रदूषण को प्रोत्साहन प्रदान किया है। इसलिए इसके अनावश्यक प्रयोगों पर रोक लगानी चाहिए। इस प्रकार हम उर्वरकों के कम उपयोग से पर्यावरण की सुरक्षा कर सकते हैं तथा पेस्टीसाइज्स (कीटनाशकों) के प्रभाव से बच सकते हैं।

10. पर्यावरण शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना–पर्यावरण प्रदूषण के कारण 'ओजोन परत' नष्ट हो रही है। इसलिए पर्यावरण शिक्षा का प्रचार-प्रसार आवश्यक है। इस प्रकार हम पर्यावरण शिक्षा को बढ़ा सकते है। पर्यावरण शिक्षा हेतु रेडियो, टी.वी. चित्रपट, आदि दृश्य श्रव्य सामग्री का प्रयोग किया जा सकता है। स्वास्थ्य शिक्षा की पर्यावरण शिक्षा का माध्यम हो सकती है। धर्म में भी प्रकृति प्रेम के दर्शन होते हैं, धार्मिक स्थानों का भी हम पर्यावरण जागृति हेतु सहारा ले सकते हैं।

11. प्राकृतिक सम्पदा का दोहन कम करना–मानव उद्योगों के विकास के लिए अन्धाधुंध खनिज सम्पदा का दोहन कर रहा है। लकड़ी उद्योग के लिए वनों का विनाश, बिजली उत्पादन हेतु कोयले का दोहन, सीमेन्ट के लिए पत्थर का दोहन तथा काँच उद्योग के लिए रेत को दोहन किया जा रहा है। उद्योग धंधों के द्वारा प्रदूषण कम से कम हो तथा खनिज का दोहन भी इस प्रकार किया जाए कि उसका विकल्प पहले ही तैयार कर लिया जाए।

संदर्भ-ग्रंथ

1. हरीशचन्द्र व्यास–'पर्यावरण शिक्षा' विद्या विहार, दिल्ली–2, संस्करण–1193

2. भारतीय वन संरक्षण रिपोर्ट। 1987, 1988, 1991, 1993

3. भारत 2003 – सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।

4. वी.के. नन्दा – एन्वार्यमेन्ट एजुकेशन – अमोल पब्लिकेशन, दिल्ली – 2

5. पी.के. गोयल – वाटर पालूशन – न्यू एल इन्टरनेशनल पब्लिशर, नई दिल्ली।

6. आर.एस.त्रिपाठी–पोपुलेशन ग्रोथ एण्ड डेवेलपमेन्ट इन इंडिया–पब्लिशिंग का.,दिल्ली

7. राजेन्द्र सिंह दिनेश कुमार – डेवेलपमेन्ट एण्ड एनवार्यमेन्ट चेन्ज इन इंडिया–पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, नई दिल्ली – 2

डॉ. भगवन्नारायण मिश्र
प्रवक्ता
धर्मसमाज संस्कृत महाविद्यालय
मुजफ्फरपुर।



विद्यापति की लिखनावली में वर्णित मिथिला समाज के कुछ पहलू

श्री सुशान्त कुमार

लिखनावली की रचना विद्यापति ने मिथिला के शासक शिव सिंह के रण–पराभव के बाद राजबनैली के तत्कालीन शासक पुरादित्य गिरिनारायण के आश्रय में 1416–17 में की।[1] सप्तरी राज्य में राज्य सत्ता स्थापित करने वाले राजा पुरादित्य के आग्रह पर लिखी गई लिखनावली[2] पत्र लेखन पद्धति की पुस्तक है। यह पुस्तक चार कक्षों या प्रकरणों में विभाजित है जिसमें कुल 84 **पत्रों के** नमूने दिये गए है।[3] विद्यापति ने लिखनावली के प्रस्तावना में पुस्तक के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उन्होंने अल्प पठित व्यक्तियों के उपदेशार्थ, बहुपठित व्यक्तियों के विनोदार्थ और सज्जनों के प्रीत्यर्थ लिखनावली की रचना की है।[4]

विद्यापति रचित लिखनावली में तत्कालीन समाज की आंतरिक दशा तथा सामाजिक व्यवहार के संबंध में पर्याप्त सूचनाएँ संग्रहीत है। सामाजिक वर्गीकरण का आधार इस समय भी वर्ण व्यवस्था ही थी, जिसमें ब्राह्मणों को यदि सम्मानजनक स्थान प्राप्त था तो शूद्रों को प्रताड़ित किये जाने और यातना देने के दृष्टांत लिखनावली में प्राप्त होते हैं। उदाहरणस्वररूप प्रथम कक्ष के पत्र संख्या 7 में एक सामंत द्वारा शूद्र को रस्सियों में बांधकर बंधक बनाये रखने का उल्लेख मिलता है[5] वस्तुतः शूद्रों की स्थिति दासों के समकक्ष थी, जिन पर उनके भूस्वामी की पूर्ण प्रभुत्व होता था और दास–दासियों के साथ–साथ शूद्रों के क्रय–विक्रय के अनेक उल्लेख लिखनावली में प्राप्त होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि शूद्रों एवं दासों की खरीद–बिक्री को विधिक मान्यता प्राप्त थी और विक्रय के समय क्रेता तथ विक्रेता के मध्य लिखित इकरारनामा होता था, जिसे भरण पत्री कहा जाता था।6 भरण पत्री बनाने के समय या लिखने के समय लिखने वाले व्यक्ति, पंच, मध्यस्थ तथा साक्षी आदि का जिक्र होता था, जो हमें लिखनावली में देखने को

मिलता है। भरण पत्री में शूद्र अथवा शूद्र पत्नी या दास–दासी का विनास स्थान, पिता का नाम, रूप–रंग, अवस्था, कार्य दक्षता और उसके मूल्य का उल्लेख होता था।[7] संभवतः लिखनावली में वर्णित शूद्र तथा उसकी पत्नी का तात्पर्य उन घरेलू सेवकों से था, जो अपने भरण पोषण के लिए पूर्णतः स्वामी पर निर्भर थे क्योंकि अन्य कोई भी समकालीन साक्ष्य विभिन्न व्यवसायों में संलग्न शूद्र जातियों पर स्थानीय सामन्त अथवा भूस्वामी के किसी इस प्रकार के क्रय–विक्रय के ऐसे स्वत्वाधिकार की सूचना नहीं देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्र जातियों में धानुक, क्योट, अमात आदि ही ऐसे थे जो पूर्णतः उच्च वर्णों की सेवा से जीविकोपार्जन करते थे। इस बात के प्रमाण परवर्त्ती काल में भी उपलब्ध होते है कि इन जातियों के सेवक–सेविकाओं को प्रायः अपने पुत्री–दमाद अथवा मित्रों को उपहार स्वरूप देने का व्यापक चलन रहा है। अतः लिखनावली द्वारा दी गई सूचना के आधार पर यह माना जा सकता है कि गृहसेवक अथवा सेविका के रूप में काम करने वाले शूद्रों पर गृहस्वामी का पूर्ण अधिकार होता था, जिन्हें वे क्रय–विक्रय भी कर सकते थे अथवा उपहार स्वरूप किसी को प्रदान कर सकते थे। लेकिन जैसा कि भरण पत्री शब्द से प्रतिध्वनित होता है, गृहस्वामी पर अपने शूद्र सेवक, सेविकाओं के भरण पोषण के साथ–साथ उनके पारिवारिक, वैवाहिक एवं धार्मिक दायित्वों को उनके द्वारा निर्वहन किए जाने में पूरी सहायता करने का दायित्व होता था।[8] न केवल सेवक–सेविकाओं की खरीद–बिक्री होती थी, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर गृहस्वामी द्वारा उन्हें बंधक भी रखा जा सकता था। उल्लेखनीय है कि किसी सेविका के विक्रय के समय उसके गर्भस्थ शिशु के भविष्य का निर्धारण भी भरणपत्री में ही कर दिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति ने गृहसेवक–सेविका और दास–दासियों में कोई अंतर नहीं किया है। अतः मिथिलांचल में घरेलू सेवा में काम करने वाले सेवक सेविका की शूद्र जातियों के नृतात्विक अध्ययन से विद्यापति के द्वारा दी जाने वाली उनके क्रय विक्रय अथवा बंधक रखने वाली सूचनाएँ सही प्रतीत होती है किन्तु जिन्हें विद्यापति ने लिखनावली में शूद्र कहकर संबोधित किया है, उसकी परिधि में सारी शूद्र जातियों को नहीं समेटा जा सकता है और विद्यापति के शूद्र का अभिप्राय मात्र गृह कार्य में लगे सेवक और सेविकाएँ ही हैं। ऐसे सेवक–सेविकाओं अथवा दास–दासियों को स्वतंत्र होने का कोई अवसर प्राप्त नहीं था। फिर भी स्वामी प्रसन्न होकर दासों को मुक्त भी किया करते थे। जिससे वह कहीं भी जाने के लिए स्वतंत्र हो गया। इस प्रकार के पत्र को निस्तार पत्री के पत्र कहा गया है।[9]

मालिक के घर से भाग कर यदि शूद्र या दास राजा के पास जाता था तो उसे राजा तक से पुनः लाकर दास कर्म में नियुक्त किया जाता था।[10]

सामाजिक जीवन का मुख्य घटक परिवार था और पारिवारिक शिष्टाचार तथा मूल्यों के संबंध में लिखनावली से यथेष्ठ जानकारी प्राप्त होती है। माता–पिता को और ज्येष्ठ भ्राता को परिवार में अति सम्मानीय स्थान प्राप्त था और कनिष्ठों के द्वारा श्रेष्ठजनों के प्रति सदैव सम्मानजनक भाषा का ही प्रयोग किया जाता था बल्कि उनकी प्रत्येक आज्ञा का शिरोधार्य करना उनका परम कर्तव्य हो जाता था।[11] आज्ञाकारिता और विनम्रता का यह भाव तथा शिष्टाचार तत्कालीन सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग था जो सामंतवादी विशेषता मानी जाती है। पिता–पुत्र ही नहीं गुरू–शिष्य, स्वामी–सेवक और राजा तथा उसी अधीन कर्मचारियों के बीच औपचारिक शिष्टाचार के अनेक दृष्टान्त लिखनावली के पत्रों में दिखाई पड़ते हैं। पत्रों में न केवल संबोधनसूचक सम्मान को प्रकट किया गया है बल्कि भेंट, उपहार आदि के माध्यम से अपने गुरूजनों को सम्मानित करने की व्यापक प्रथा का उल्लेख मिलता है।[12]

समाज में माता–पिता का स्थान बहुत ही ऊँचा था। पिता की आज्ञा के बिना पुत्र घर से बाहर अधिक समय तक नहीं रह पाते थे।[13] राज सम्मान में रहते हुए भी एक पुत्र को माता का अभाव कष्ट देता है, इसकी जानकारी लिखनावली के पत्रों से मिलती है।[14] समय आने पर कर्त्तव्य पालन के लिए उपदेश देने की बात भी कही गई है। माँ पुत्री को लिखती है कि यदि ननद दुश्शीला है और सौतिन विद्वैषिणी होकर विरूद्ध आचरण करती है तब भी अत्यधिक बोलना छोड़कर अपने स्वभाव के अनुरूप आचरण करना चाहिए। नम्रता दोनो लोक (इहलोक एवं परलोक) में उपकारी है, सौभाग्य को बढ़ाने वाला है। अतः प्रत्येक क्षण पति के संकेत के आदेशानुसार कार्य करते हुए मन लगाकर स्वामी की भक्ति प्रदर्शित करने की सलाह दी गई है।[15] इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि बहुविवाह के कारण गृहकलह होता था। इसी पत्र से यह भी ज्ञात होता है कि बरसात के समय बेटी को ससुराल से घर नहीं मंगाया जाता था, जो प्रथा आज भी मिथिलांचल में कायम है। किन्तु द्विरागमन के प्रथम वर्ष में आने वाले श्रावणभादव में वधू के माँ के पास रहने का प्रचलन आज भी दिखाई पड़ता है।

विद्यापतिकालीन मिथिला में जनसंख्या के संचरण की गति बहुत ही तीव्र थी। गाँव तेजी से उजड़ते और बसते थें। उजड़ने और बसने के कारण प्राकृतिक तो घर ही साथ–

ही–साथ राजकर का बोझ भी एक प्रमुख कारण था। लिखनावली के एक पत्र में अधीन सामंत के द्वारा राजा को यह सूचित किया जाता है कि दरिद्रता के कारण कर चुकाने के बजाय कई गाँव उजड़ने पर मजबूर हो गए थे।[16] कभी–कभी असामाजिक तत्त्वों के उपद्रवों में भी गाँव उजड़ जाते थे। राजा के द्वारा किसी अपराधी को माफी देने का उल्लेख एक पत्र में हुआ है जिसमें उजड़े हुए गाँव को पुनः बसाने और अपराध वृत्ति को छोड़ देने की सलाह दी गई है। यही कारण है कि राजस्व की उगाही के लिए राजा के द्वारा उजड़े हुए गाँवों को फिर से बसाने का विशेष प्रयास किया जाता था। ऐसे ही एक पत्र में अधीन पदाधिकारी ने राजा को यह सूचना दी है कि उजड़े हुए गाँव को बसाने के काम में बाधा डालने वालों का उसने पूर्णतः दमन कर दिया है। जाहिर है कि विद्यापति काल में गाँव की स्थिरता बन रही थी, जनसंख्या के एक निश्चित भाग की नियति अत्यंत ही दोलयमान थी।[18] सामाजिक जीवन अस्थिर ही नहीं, बल्कि शांति और व्यवस्था की दृष्टि से समस्या ग्रस्त भी था। चोरी, डकैती और हत्या का चलन एक प्रमुख सामाजिक समस्या थी। समाज द्रोही और चोरों का शमन करने के लिए विशेष राजकीय प्रयत्न करने पड़ते थे। अनेक पत्रों में राज कर्मचारियों ने उनके द्वारा किए गए शांति एवं विधि व्यवस्था का प्रतिवेदन अपने स्वामी राजा को दिया है।[19]

समाज में सम्पत्ति के विभाजन, उत्तराधिकार, महाजनी, क्रय–विक्रय आदि सम्बन्धी विवाद प्रायः हुआ करते थे। न्यायालय किस प्रकार का होता था और न्यायधीश का काम कौन करते थे, इसकी कोई जानकारी तो लिखनावली नहीं देती है, परन्तु किसी विवाद में न्यायिक दृष्टि से साक्ष्य का अत्यधिक महत्त्व था। न्यायालय में लिखिल साक्ष्य देने का भी प्रचलन था। न्याय के सर्वोच्च अधिकरी को महाधर्माधिकरणिक कहा जाता था। धर्माधिकरणिक के लिए एक निश्चित योग्यता रखी गई थी।[20] धर्माधिकरण (न्यायालय) में किसी एक पक्ष के उपस्थित नहीं होने पर दूसरे पक्ष की जीत की घोषणाकर दी जाती थी। न्याय में वादी–प्रतिवादी के साथ–साथ साक्षी का बयान भी लिया जाता था। बाकी प्रतिवादी की बातों पर अनुसंधान किया जाता था, तत्पश्चात निर्णय दिया जाता था। निर्णय में साक्षी के बयान को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। इसलिए यह नियम था कि जो साक्षी जिसकी प्रतिज्ञा को झूठ, वह पराजित होता था।[21] छोटे–मोटे झगड़ों तथा ऋण अदायगी आदि की स्थिति में न्याय की व्यवस्था गाँव में भी प्रचलित थी, जो किसी के मध्यस्थता में होती थी।[22] न्याय के लिए एक निराकरण दिव्य होता था। दिव्य 9 प्रकार का

होता था।[23] इसमें से लिखनावली में दो प्रकार के दिव्य की चर्चा की गई है 'तत्फलाकर्षण दिव्य' एवं 'जलमज्जन दिव्य'।[24] जाहिर है कि अपराध पूर्णतया प्रमाणित हो जाने के बाद ही अपराधी को दंडित किया जा सकता था। धर्मशास्त्र के नियम के आधार पर विचार करके किसी को डिग्री प्रदान की जाती थी।[25]

लिखनावली से यह संकेत मिलता है कि इस समय समाज में पारस्परिक विश्वास की कमी हो गई थी। प्राचीन काल में लेन–देन, बंधक, सम्पत्ति–विभाजन किराया–भत्ता, पारिश्रमिक अथवा ठेका दिए जाने में लिखित एकरारनामे का प्रायः बहुत अधिक चलन नहीं था, परन्तु लिखनावली में इस प्रकार के करार–पत्रों के लिए गए नमूनों से सिद्ध होता है कि पारस्परिक विश्वास का संकट इस समय समाज में पैदा हो गया था और इसलिए लिखित साक्ष्य एवं करारनामा का व्यापक चलन हो चुका था। यही कारण है कि विद्यापति ने लिखनावली में विभिन्न प्रकार के साक्ष्य–पत्र, करारनामों, किराया–पत्र, विक्रय–पत्र आदि के प्रारूपों को संलग्न किया है।[26]

लिखनावली से यह विदित होता है कि उच्च वर्णों में शिक्षा का व्यापक चलन था। सामान्य पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध पत्रों के नमूनों से यह जाहिर होता है कि उच्च वर्ग के सामान्य परिवार में भी शिक्षा का व्यापक प्रसार था और पुरूषों के साथ–साथ स्त्रियाँ भी शिक्षित होती थीं। शिक्षा के इस व्यापक प्रसार के कारण ही आचार्यों के प्रति शिष्य के ह्रदय में अतिशय आदर भाव था जिसकी अभिव्यक्ति वे गुरुओं को भेट–उपहार आदि देकर करते थे। पत्रों के नमूनों से यह ज्ञात होता है कि इस समय मिथिला के छात्र विद्याध्ययन के लिए बनारस भी जाया करते थें। जाहिर है कि 15वीं सदी में मिथिला के बाद बनारस (काशी) भी एक प्रमुख शिक्षा केन्द्र के रूप में उभर रहा था।[27] आमतौर पर आचार्य के सान्निध्य द्वारा ही विद्यार्जन का उल्लेख मिलता है। पाठ–पुस्तकों के द्रव्य–गुण, लीलावती तथा कुसुमांजलि काफी लोकप्रिय था। यह विश्वास किया जाता था कि गुरू को पर्याप्त दान दक्षिणा देकर ही ज्ञानार्जन का सही फल प्राप्त हो सकता था।[28] इस काल में मिथिला के अनेक मठ, आश्रम और मन्दिर थे जिनके महन्तों एवं संन्यासियों के प्रति काफी आदर का भाव व्यक्त किया जाता था। दान तथा भिक्षा को पुण्य कमाने का एक प्रमुख साधन माना जाता था। गृहस्थ सामान्यतः साधु–महात्मओं को प्रत्यक्ष दान अथवा भिक्षा प्रदान करते थे, परन्तु कभी–कभी मठों एवं आश्रमों के माध्यम से भी भिक्षा का वितरण करवाते थे। ऐसा लगता है कि 15वीं सदी के मिथिला में भिक्षा एक वृत्ति के रूप में विकसित हो

चुकी थी। विशेष रूप से ब्राह्मणों को सिफारिशी पत्र भी लिखना पड़ता था। इसीलिए विद्यापति ने न केवल भिक्षा भेजने संबंधी पत्रों को प्रारूप लिखनावली में दिया हैं अपितु भिक्षा मांगने अथवा दिलाने के लिए सिफारिशी पत्र का नमूना भी संलग्न किया है।[29] दरअसल समाज में भयंकर गरीबी व्याप्त थी और आजीविका के लिए अथवा करों को न चुका पाने की स्थिति में लोगों के पलायन एवं गाँवों के उजड़ने के उल्लेख भी लिखनावली में मिलता ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्षा–वृत्ति गरीबी का ही परिणाम था। सेवक–सेविकाओं अथवा दास–दासियों की खरीद–बिक्री, चोरी, डकैती जैसी अपराध की बढ़ती प्रवृत्ति, सम्पत्ति तथा करारनामें सम्बन्धी बढ़ते विवाद आदि को तत्कालीन दरिद्रता के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। लिखनावली से तत्कालीन समाज में उच्च वर्णों की वेश–भूषा, खान–पान, विवाह संस्कार आदि के सम्बन्ध में भी थोड़ी–बहुत जानकारी मिलती है जिससे कतिपय नवीन तथ्यों का पता चलता है। भोजनादि व्यवस्था के लिए अलग से सेवक की व्यवस्था होती थी। सेवक के आवश्यक कार्यों में (बेटी विवाह आदि में) चले जाने पर भी दूसरे सेवक की व्यवस्था करनी होती थी।[30] विभिन्न अवसरों पर पीने के पानी के लिए गुलाब से सुवासित खस से युक्त जल की व्यवस्था करके रखी जाती थी।[31] पान के प्रबंध करने के लिए राजा की बहन के पास अलग से सेवक रहते थे और बाहर से पान का पत्ता लाया जाता था।[32] अंदाजा लगाया जा सकता है कि राजा के पास कितनी संख्या में सेवक रहते थे। लिखनावली से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में सूदखोरी की प्रथा से कई लोग लाभ उठाते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर विवाह के समय कन्या के पिता महाजन को सूद देने को तैयार रहते थे।[33]

लिखनावली में प्रतिविम्बित 15वीं सदी के मिथिला के सामाजिक जीवन के कुछ पहलुओं के सर्वेक्षण से यह जाहिर होता है कि इसमें प्राप्त कुछ जानकारियाँ बिल्कुल नवीन एवं मौलिक है जिनका अब तक ऐतिहासिक अध्ययन नहीं किया जा सका है। यद्यपि लिखनावली में सामाजिक पहलुओं की अपेक्षा तत्कालीन राजनीतिक–आर्थिक जीवन पर कहीं अधिक प्रसंगों के विवरण हैं फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक जीवन की दी गई कुछ झाँकियों का विशेष महत्त्व है। खासकर सेवक–सेविकाओं तथा दास–दासियों के क्रय–विक्रय का प्रसंग और पारिश्रमिक, व्यवहार एवं मूल्य, जनसंख्या के संचरण तथा परम्परागत सामाजिक मूल्यों की क्रमशः ह्रासोन्मुखता के संबंध में लिखनावली द्वारा प्रस्तुत तथ्यों का बृहत ऐतिहासिक अध्ययन किया जाना आवश्यक है, ताकि परम्परागत भारतीय

समाज में संक्रमण के उन तत्त्वों की तलाश की जा सके जिनके परिणामस्वरूप मध्ययुगीन सामाजिक प्रगतिशीलता अथवा संकीर्णता और प्रतिबंधों एवं निषेधों के विविध रूपों का निर्धारण हुआ था।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. द्रष्टव्य इंडियन ऐंटीक्वेरी–28.57.58 महामहोपाध्याय उमेश मिश्र कृत 'विद्यापति ठाकुर।

2. इन्द्र कांत झा संपादित "विद्यापति कृत लिखनावली" (मूल एवं मैथिली अनुसार) पटना 1990 पृ. 38 तथा इन्द्र कांत झा संपादित "विद्यापति कृत लिखनावली" पटना 1990 तथा (मूल एवं हिन्दी अनुसार) पृ.38

3. इन्द्र कांत झा संपादित "विद्यापति कृत लिखनावली" पटना 1990 (मूल एवं हिन्दी अनुसार)

4. पूर्वोक्त पृ.सं.9

5. पूर्वोक्त विद्यापति कृत लिखनावली पत्र सं.7

6. पूर्वोक्त पत्र सं.56.57

7. पूर्वोक्त पत्र सं.55-62

8. पूर्वोक्त पत्र सं.60

9. पूर्वोक्त पत्र सं.67

10. पूर्वोक्त पत्र सं.55

11. पूर्वोक्त पत्र सं.7

12. पूर्वोक्त पत्र सं.1-4

13. पूर्वोक्त पत्र सं.5

14. पूर्वोक्त पत्र सं.6

15. पूर्वोक्त पत्र सं.36

16. पूर्वोक्त पत्र सं.12-13

17. पूर्वोक्त पत्र सं.24

18. पूर्वोक्त पत्र सं.10

19. पूर्वोक्त पत्र सं.10, 13, 24-25

20. पूर्वोक्त मैथिली अनुवाद, पृ.2 हिन्दी अनुवाद पृ.6

****

21. पूर्वोक्त पत्र सं.54
22. पूर्वोक्त पत्र सं.83
23. पूर्वोक्त मैथिली अनुवाद सं.3 हिन्दी अनुवाद पृ.7
24. पूर्वोक्त पत्र सं.82
25. पूर्वोक्त पत्र सं.67
26. पूर्वोक्त पत्र सं.4
27. पूर्वोक्त पत्र सं.3-4
28. पूर्वोक्त पत्र सं.3-4
29. पूर्वोक्त पत्र सं.60
30. पूर्वोक्त पत्र सं.40
31. पूर्वोक्त पत्र सं.42
32. पूर्वोक्त पत्र सं.41
33. पूर्वोक्त पत्र सं.70

डॉ. सुशान्त कुमार
भास्कर भवन, शिवपुरी
बेगूसराय-861101



कौषीतकिब्राह्मण के कुछ यज्ञवर्गीय शब्दों में अर्थ-परिवर्तन

डॉ. विजेन्द्र कुमार तोमर

'कौषीतकिब्राह्मण' में सोमयाग का विस्तृत विवेचन किया गया है। समग्र ग्रन्थ में एक भी पृष्ठ ऐसा नहीं है जो यज्ञ एवं उसके सहवर्ती शब्दों से रहित हो। यज्ञवर्गीय शब्दों में यज्ञ एवं उसमें काम आने वाले उपकरणों, ऋत्विजों अथवा किसी न किसी प्रकार से यज्ञ से सम्बद्ध रहने वाले शब्दों को लिया गया है, जैस–अध्वर, होता, कृष्णाजिन, पुरोरूक्, ओषधि सोमहुति, घृत, यूप और पशु आदि। 'कौ.ब्रा.' में प्रयुक्त इस प्रकार की व्यापक शब्दराशि के अर्थपरिवर्तनों के विवेचन से पता चलता है कि कुछ शब्दों में 'भाव–सादृश्य' एवं भाव–साहचर्य, के कारण अर्थ परिवर्तन हुए हैं तो कुछ में प्रकरण–भेद से और कुछ में औपचारिक अथवा लाक्षणिक प्रयोग मात्र से अर्थ परिवर्तन हुए हैं। कुछ शब्दों में एक ही अर्थ की निरन्तर प्रधानता है तो कुछ में सुश्राव्यता अथवा स्पष्टता लाने के कारण अर्थपरिवर्तन हुए हैं। कहीं–कहीं अर्थों की पुनरावृत्ति मात्र हैं तो कहीं यज्ञीय मनोवृत्ति अथवा संस्कृति के व्यापक प्रभाव के कारण अर्थो में परिवर्तन हुए हैं। अब आगे इस कोटि के कुछ शब्दों के अर्थ–परिवर्तन पर विचार किया जा रहा है–

अध्वर

'कौ.ब्रा.' में 'अध्वर' शब्द अपने विभक्तिक रूपों सहित कुल बारह बार प्रयुक्त है।[1] इसका मूल विवादास्पद है। इसकी तीन व्युत्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं–

1. अध् । व्याप्तौ। + वरच् । अ. 3.2.175।[2]
2. अ + ध्वृ + अप्[3]
3. अध्वन् + रा + क । अध्वानं सत्पथं रति इति।[4]

****

प्रथम व्युत्पत्ति व्याकरणसम्मत है। वैदिकपदानुक्रमकोष में इसकी व्याख्या ''अधति व्याप्नोति कर्त्तव्यभावेन जीवनम् इति'' दी गयी है[5] जिसके अनुसार यज्ञ कर्त्तव्यभाव से जीवन को व्याप्त करता है, अतः अध्वर कहलाता है। यह व्युत्पत्तिगत अर्थ बहुत व्यापक है। यह व्यापकता यज्ञीय कर्त्तव्यों, सृष्टि एवं जीवन के रहस्यों को वैदिक–साहित्य विशेषतः ब्राह्मण–ग्रन्थों के संदर्भ में भली–भाँति देखी जा सकती है। इन ग्रन्थों का सारा प्रतिपाद्य प्रमुखता से सृष्टि के रहस्यों को सुलझाने एवं यज्ञीय–विधानों से भरा पड़ा है। वैदिकपदानुक्रमकोष में अध्वर का अर्थ याग और प्रधान रूप से सोमयाग दिया है।[6] यह अर्थ प्रमुख ब्राह्मण–ग्रन्थों विशेषतः 'कौ.ब्रा.' के प्रसंग के बहुत अनुकूल है क्योंकि कौ.ब्रा. में सोमयाग का ही प्रमुखता से वर्णन किया गया है।

दूसरी व्युत्पत्ति 'ध्वृ' हिंसार्थक धातु से निषेधार्थक नञ् ।अ। पूर्व प्रत्यय को मानकर दी गयी है। निरूक्त आदि वैदिक ग्रन्थों और कोशकारों ने इसी व्युत्पत्ति को बहुलता से अपनाया है। प्रायः यह मत रहा है कि जिसमें हिंसा न हो, वह अध्वर है। यह यद्यपि विवाद का विषय रहा है क्या यज्ञों में हिंसा होती थी अथवा नहीं? पक्ष–विपक्ष में इस पर बहुत कुछ कहा जा सकता है तथापि कौ.ब्रा. में अध्वर शब्द सौम्य अध्वर के रूप में अधिक प्रयुक्त है जिसका अर्थ सर्वांग सम्पूर्ण सुन्दर श्रेष्ठ यज्ञ होता है। सोमयाग निश्चय ही श्रेष्ठ यज्ञ है, उसीका सारे ग्रन्थ में वर्णन किया गया है। निरूक्तकार ।1.7। ने भी हिंसा रहित को ही अध्वर माना है? यह मत मूलतः ब्राह्मण–ग्रन्थों पर ही आधारित है। शब्दकोशों में भी प्रधानता से यही अर्थगृहीत है।

तीसरी व्युत्पत्ति गति अर्थक 'रा' धातु से मानी गयी है जिसके अनुसार जो सत्पथ पर ले जाये, वह अध्वर है। मूलतः यज्ञ का विधान निश्चय ही सत्पथ पर ले जाने के लिए किया गया था। यह बात भिन्न है कि यज्ञों में पश्चाद्वर्ती काल में हिंसा कार्यरूप दुष्ट कर्म होने से कुपथ विस्तृत होने लगा। ब्राह्मण–ग्रन्थों में प्रधानता से यज्ञीय विधान के साथ–साथ प्रसंगवश वैदिक शब्दों की व्याख्या, आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थों का विवेचन किया गया है। साथ ही सृष्टि के गूढ़ रहस्यों का विवेचन–आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, पुनर्जन्म, मृत्यु, मोक्ष एवं अन्य ब्रह्माण्ड के रहस्यों का वर्णन किया गया है। यह समस्त अध्वरीय विवेचन निश्चय ही सत्पथ पर ले जाने वाला है, किन्तु धीरे–धीरे यज्ञीय विधानों के अल्प अथवा लुप्त होते जाने के भाव–साहचर्य से यह अर्थ भी लुप्त होता गया। बहुत कम कोशकारों ने इस तृतीय धातुगत अर्थ को ग्रहण किया है।

इस युग के वैदिक साहित्य के परम मनीषी विद्वान् महर्षि दयानन्द ने सर्वत्र 'ध्वृ' हिंसार्थक धातु से सम्पन्न अध्वर के अहिंसक आदि अर्थ ग्रहण किये हैं, यथा हिंसा धर्मादिदोषरहित, अहिंसनीय सुखस्वरूप यज्ञ, विद्या–विज्ञानवर्धकयज्ञ, अहिंसनीय यज्ञ, अहिंसनीय राज्यव्यवहार और अनीश्वर यज्ञ आदि।[7] कौ.ब्रा. के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण–ग्रन्थों में भी अध्वर अहिंसनीय यज्ञ का सूचक है।[8]

कौ.ब्रा. के एक प्रसंग से भी यह बात स्पष्ट है कि हिंसा आदि दोष रहित सौम्य यज्ञ ही सोमयाग है, यथा कहा गया है–"यज्ञ पशु से चक्षुष्मान् होता है। उस यज्ञ को चार आँखों वाला वीभत्स न करूँ अर्थात् दो आहुति पूर्णमासी की न देकर केवल दो आहुति अमावस्या की ही दूँ।"[9]

यहाँ भाव–सादृश्य से अध्वर का अर्थ हिंसा, कुरूपता, वीभत्सता आदि दोषरहित सुन्दर सम्पूर्ण सोमयाग हो जाता है। अन्यत्र कौ.ब्रा. में सोमयाग को सौम्य अध्वर कहा है। इसकी पूर्णता ही इसका सौम्य भाव है।

एक अन्य आख्यान में कहा गया है–"जब होता प्रातरनुवाक का पाठ करने को उद्यत होता है, तो सभी देवता इस कामना से कि यह मेरे से प्रारंभ करेगा, होता के पास आते हैं। यदि वह एक देवता को उद्देश्य करके प्रारंभ करे तो देवों का अपराधी होगा। अतः वह "आपो रेवती" (ऋ.10.30.12) ऋचा से प्रारंभ करता है, क्योंकि सभी देवता आप हैं। इस प्रकार वह सभी देवताओं से प्रारंभ करता है। वह "उपप्रयन्तो अध्वरम्" (ऋ. 1.7.41) ऋचा से प्रारंभ करता है.......इससे सबको प्रसन्न करता है.....ये दोनों देवता।। अग्नि, सूर्य।। बलिष्ठ, अहिंसित और अनति हैं"।[10]

इस प्रकार यहाँ पर अभिप्राय लिया गया है कि जिसमें सब देवता प्रसन्न हों और यज्ञ हिंसित न हो यज्ञ अधूरा न रहे, पूर्ण हो, वह अध्वर है। कौ.ब्रा. में अन्यत्र भी सर्वत्र सौम्य अध्वर का अर्थ सोमयाग लिया गया है।[11]

इस प्रकार कौ.ब्रा. में धातुगत अर्थ को सुरक्षित रखते हुए हिंसा आदि दोषरहित सम्पूर्ण सुन्दर यज्ञ अध्वर माना गया है सौम्य शब्द का विशेषण के रूप में प्रयोग ही इसकी पुष्टि करने में पर्याप्त है। इस प्रकार यहाँ भाव–सादृश्य के आधार पर एक विशेष दिशा में अर्थादेश हुआ है।

दक्षिणा

इसके मूल में दक्ष धातु है जो समृद्धि और सामर्थ्य की ओर संकेत करती है। यज्ञीय प्रसंग में इसमे विशिष्ट अर्थादेश हुआ है।

कौ.ब्रा. में यह शब्द अपने विभक्तिक और तद्धित रूपों सहित कुल सत्रह बार प्रयुक्त हुआ है।[12] इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से मानी गयी है–

1. दक्ष् समृद्धौ + इनन् उणा. 2.50
2. दाश् दाने – दक्षिणा।[13]

ये दोनों व्युत्पत्तियाँ निरूक्त, ब्राह्मण–ग्रन्थों आदि वैदिक ग्रन्थों और कोशकारों द्वारा ग्रहण की गयी हैं। दाश् दानार्थक धातु के प्रयोग अल्प ही हैं। कौ.ब्रा. में निर्वाचन देकर दक्ष् समृद्ध होना धातु से इसकी व्युत्पत्ति दर्शायी गयी है, यथा कहा गया है–"दक्षिणा आहुतियों के हवन हो जाने पर दक्षिणा ली जाती है। उस समय अभिषव रूक जाता है और जो दक्षिणा ली जाती है उसमें वह अपना ही निष्क्रय करता है। दक्षिणाओं से वह यज्ञ को दक्ष। पूर्ण, दृढ़। करता है क्योंकि दक्षिणा से वह यज्ञ को दक्ष करता है, अतः दक्षिणाओं का यह दक्षिणात्व है।"[14]

दक्षिणा क्यों दी जाती है? इसका क्या लाभ है? यह प्रश्न भी कौ.ब्रा. में सुलझाया गया है, यथा कहा गया है–"सत्र की आत्मा दक्षिणा है, अतः वह अनुदिन जप करे। यह मैं अपने को कल्याणमयी कीर्ति, स्वर्गलोक तथा अमरत्व के लिए दक्षिणा के रूप में लेता हूँ।[15] निश्चय ही इस प्रकार अपने को प्रशस्त यश, स्वर्गलोक तथा अमरत्व के लिए दक्षिणा में लेते हैं।[16]

इस प्रकार दक्षिणा यशवृद्धि, स्वर्गलोक और अमरता की प्राप्ति के लिए दी जाती है। बिना दक्षिणा दिये यज्ञ अधूरा माना गया है। अतः यज्ञ की सम्पूर्णता के लिए हवन हो जाने पर दक्षिणा अवश्य दें। इस सम्बन्ध में कौ.ब्रा. में कहा गया है–आहुतियों के हवन हो जाने पर दक्षिणा ली जाती है।"[17]

इस प्रकार कौ.ब्रा. में भाव–साहचर्य से दक्षिणा शब्द के अर्थो में अर्थ–विस्तार होकर भी दक्षिणा अर्थ की प्रधानता रहने से अर्थादेश की ही प्रवृत्ति अधिक बलवान् रही है।

भरत

इस शब्द के मूल में भृ। धारण–पोषण। क्रिया स्पष्ट है। इसका मूलार्थ–भरण–पोषण करने वाला होता है। कौ.ब्रा. में यह शब्द कुल दो बार विभक्ति एवं तद्धित रूप में प्रयुक्त हुजा है।[18] वैदिकपदानुक्रमकोष में इसकी व्युत्पत्ति भरणार्थक भृ धातु से अतच्। (उणा. 3.110) मानकर की गयी है, जहाँ इसके अर्थ अग्नि और रूद्र लिये गये हैं।[19] इसके तद्धित रूप भारत में स्वार्थ और अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय (पा.4.1.86) मानकर इसके अर्थ अग्नि और भरत संतति लिये गये हैं।[20] उपनिषदों में इसके अर्थ रामानुज, जड़भरत, भारतदेश, नृपविशेष, क्षत्रियकुल और अर्जुन लिये गये हैं। वेदांगों में इसके अर्थ 'अग्नि', 'आदित्य', 'देशविशेष' आयुधजीवीसंघ और ऋत्विज् लिये गये हैं।[21]

'शब्दकल्पद्रुम' में इसकी व्युत्पत्ति भरणार्थक भृ धातु से – विभर्ति स्वाङ्गमिति, विभर्ति लोकानिति वा' से अतच् प्रत्यय लगाकर करते हुए इसके अर्थ – मुनिविशेष, 'नट', 'रामानुज', 'दौष्यन्ति', 'शबर', 'तन्तुवाय', भरतात्मज, शाकुन्लेय, सर्वदमन, ऋषभपुत्र, पावकपुत्र और कैकेयीपुत्र लिये गये हैं।[22] वाचस्पत्यम् में 'भरं तनोति विग्रह करके भर+तन्+ड से इसकी व्युत्पत्ति मानी गयी है।[23] इस प्रकार इस शब्द में मुख्य धातु भृ प्रयुक्त हुई है।

कौ.ब्रा. में दर्शपूर्णमास के प्रसंग में सामिधेनी मन्त्र और आर्षेय। ऋषि सम्बन्धि कथन को उद्धृत करते हुए कहा गया है–"अग्ने यहाँ असि ब्राह्मण भारतेति। अग्निर्वै भरतः स वै देवेभ्यो हव्यं भरति"[24] –अर्थात् अन्तिम सामिधेनी मन्त्र के तृतीय पाठ में वह इस निगद ।कथन। को ओउम् से संयुक्त करता है–हे अग्नि! आप महान् हैं, हे ब्राह्मण! हे भारत! अग्नि भरत है, वे देवों के लिए हव्य धारण करते हैं।

इस कथन का स्पष्टीकरण कौ.ब्रा. की उदय व्याख्या में किया गया है, यथा 'आ जुहोता दुवस्यत (ऋ. 5.23.6), यह सामिधेनी मन्त्रों में अन्त्य है, इसका तीन बार पाठ करना चाहिए, ऐसा कहा है। उसमें तृतीय वचन है, उसके अन्त में जो प्रणव है, उसके साथ 'अग्ने महाँ असि' (तै.सं. 2.5.9.1) इत्यादि जोड़कर पाठ करें। 'वृणीध्वं हव्यवाहनो अग्ने महाँ ब्राह्मण भारत इति'–इस प्रवर मन्त्र का अर्थ है–हे अग्नि! तुम देवों के मध्य महत्त्वयुक्त हो और महत्त्व सर्वदेवतात्मक होने से है, सब आहुतियों का आधार होने से।

ब्राह्मण यह अग्नि का सम्बोधन है। ब्राह्मण वर्ग के अभिमानी होने से ब्राह्मणत्व है और वह 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः'। (तै.सं. 5.6.4.5) से जानना चाहिए, एक कारण से प्रभाव से। अतः यह दो पद को सुगम मानते हुए भारत आमन्त्रण पद कहा है। भारत ही भरत है, तद्धित होने से अतिरिक्त अर्थ नहीं होता, जैसे-'रक्षस् ही राक्षस है। इस अभिप्राय से भरत यह व्याख्येय पद का अनुवाद है। कैसे फिर अग्नि का भरत शब्द से वाचकत्व है? यदि यह कहा जाय तो अग्नि में रूढि वृत्ति नहीं है अपितु अव्यय अर्थ के योग से यहाँ अर्थान्वय है, जिससे वह अग्नि देवों के लिए यजमान द्वारा दी गयी हवि को भरता। धारण करता है। अतः भरतत्व धारणत्व अग्नि का हो गया।[25]

इस विस्तृत व्याख्या से स्पष्ट है कि हव्य ढोने ।भरण। के भाव-साहचर्य से अग्नि को भरत कहा गया है। अग्नि को भरत अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी कहा गया है, यथा "एषः (अग्निः), उ वै इमा प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति।"

इस प्रकार कौ.ब्रा. के उक्त अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि हवि-भरण के भाव-साहचर्य के कारण यहाँ भरत शब्द का अग्नि अर्थ में अर्थादेश हुआ है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. अध्वरः 3.6.10, अध्वरम् 3.6.11, अध्वरे 10.10.10 आदि,
2. वैदिकपदानुक्रमकोष, संहिता भाग पृ.152,
3. वही, पृ. 152, नि.1.7
4. वाचस्पत्यम् पृ.152,
5. वैदिकपदानुक्रमकोष पृ.152,
6. वही, पृ.152,
7. दयानन्दवैदिककोष पृ.43-44,
8. वही, पृ.44,
9. कौ.ब्रा. 3.6.10,
10. कौ.ब्रा. 10.10.10.-13

11. कौ.ब्रा. 11.3.9,

12. कौ.ब्रा. 22.1.8, हविर्यज्ञ आग्नीधिये सौम्येध्वरे - 6.6.11 आदि,

13. दक्षिणा 4.2.15, दक्षिणाम् 15.1.25, दक्षिणाः 15.1.20 आदि,

14. वैदिकपदानुक्रमकोष, संहिता भाग, पृ. 1538, दयानन्दवैदिक कोष पृ.444

15. कौ.ब्रा. 15.1.17.-22,

16. कौ.ब्रा. 3.3.1, 3.3.2,

17. वै.कोष, संहिता भाग पृ.2376

18. वही, पृ.2376

19. वही, उपनिषद् भाग, पृ.623

20. वही, वेदांग भाग, पृ.1875

21. भाग 3, पृ.848

22. वही, पृ.4642

23. कौ.ब्रा. 3.3.1-3

24. उदय-व्याख्या, पृ.66-70

25. श.ब्रा. 15.18

26. कौ.ब्रा. 25.12.14., 23.2.24, 2.1.8, 2.1.6, 8.6.13, 3.12.20, 6.4.1, 8.6.36, 1.3.33, 1.2.28, 26.7.15, 4.3.6, 25.2.25, 4.1.8, 3.4.5, 30.3.14, 4.7.6, 6.5.2, 14.5.1, 3.4.13, 3.3.8, 1.3.11, 2.2.5, 12.5.18, 1.3.10, 10.1.1 और 4.8.14 आदि।

डॉ. विजेन्द्र कुमार तोमर
रीडर, संस्कृत-विभाग
के.पी.जी. कालेज मवाना, मेरठ



मानव की समस्याएँ एवं ज्योतिष द्वारा निराकरण

डॉ. दिनेश झा

मानव संवेदनशील प्राणी है। इसकी भावनाएँ सतत जाग्रत और प्रगतिशील होती हैं। देश, काल, जाति के अनुसार सबों की अपनी संस्कृति होती है, जिसके अनुसार मानव अपना जीवन संचालित रखता है। ''सम्यकतया कार्याणि परम्परयां आगतानि क्रियन्ते इति संस्कृतिः'' इस अर्थ के अनुसार सांस्कृतिक कार्यों से गर्भाधान पुंसवन् केशान्त नामकरण, अन्नप्राशन चूड़ाकरण, कर्णवेध, यज्ञोपवीत आदि सोलहों संस्कार तथा गृह निर्माण, गृहप्रवेश, वास्तुविचार, राज्याभिषेक, यात्रा आदि का विचार पञ्चागों के आधार पर तिथि, नक्षत्र योग, करण और दिनों के शुभाशुभत्व एवं मास, वर्ष ग्रहादि स्थिति योगज समय आदि के शुभाशुभत्व को परखकर किया जाता है, तो पूर्णतः वैज्ञानिक और शास्त्रसम्मत है। आज के विज्ञानवाद में भी ज्योतिषशास्त्र वैज्ञानिक कसौटियों पर कसा जाकर खरा उतरा है, अपनी सत्य स्थिति के कारण ही ज्योतिष अभी भी विश्व में उज्जवल मणि के समान चमक रहा है। संस्कृति किसी भी देश या जाति की रीढ़ है। उसे सुरक्षित रखे बिना कोई देश अपनी स्थिति को नहीं बचा सकता है। ज्योतिष के ज्ञान के अभाव में हम अपनी संस्कृति एवं सभ्यता को बचाकर नहीं रख सकते, इतना ही नहीं ज्योतिष–गणना के अभाव में भारतीय संस्कृति की पावन सलिला गंगा का प्रवाह ही रुक जायेगा। मानव के व्यावहारिक जीवन में भी ज्योतिष शास्त्र की अक्षुण्ण और अमूल्य देन है। कहा भी गया है–

> ''सिद्धान्त–संहिता–होरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्।
> वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिः शास्त्रमकल्मषम्।।
> विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्त कर्म न सिद्ध्यति।
> तस्माज्जगद्धितामेदं ब्रह्मणानिर्मितं पुरा।।''

ग्रहों की नाक्षत्रिक स्थिति के अनुसार फसलों का बीज–वपन से लेकर उसकी रोपनी

और निरौनी कटना खलिहान से लाना, लगानी लगाना एकत्र करना आदि सभी लौकिक कार्य किए जाते हैं। ग्रहों की गतियों स्थितियों, संचारों और शुभाशुभत्व के आधार पर ज्योतिष शास्त्र कृषकों को पहले ही सूचित कर देता है कि किन–किन नक्षत्रों में कितनी–कितनी वर्षा होगी। किस अनाज की उपज इस वर्ष अच्छी और किस अनाज की उपज इस वर्ष खराब होगी कृषक पहले ही सचेष्ट हो जाते हैं और उपजने वाले अनाज की खेती पर लाभन्वित होते हैं। वर्षा के विषय में कादम्बिनी में कहा है–

पौषे मूलाद् भरत्यन्तं चन्द्रचारेण गर्भति।
आर्द्रादिये विशाखान्ते सूर्यचारेण वर्षति।।
पौषशुक्लादितो गर्भो यदा दशा तिथिष्वपि।
चातुर्मास्यं सुवृष्टिः स्याद्गर्भपातो मघौ न चेत्।।(कादम्बनी41–42)

व्यापारी को भी यह शास्त्र अपना विचार देकर लाभान्वित करता है। यह शास्त्र अपने उचित विचार से व्यापारी को जितना लाभ पहुँचाता है, उतना प्रायः अन्य को नहीं। ग्रहों की संक्रान्ति नाक्षत्रिक संचार, शुभाशुभ दिनों की संख्या के ऊनाधिक्य, ग्रहों के उदय, अस्त, मार्ग, चक्र, चन्द्रकला, आदि के आधार पर कौन–कौन वस्तु कब सस्ती और कब मंहगी होगी, इसकी जानकारी प्राप्त कर सस्ती के समय में उन वस्तुओं को संग्रह कर मंहगी के समय उन्हें बेचकर अति लाभान्वित होते हैं।

सर्वतोभद्रचक्र और सहतशलाका वेध के द्वारा नक्षत्रगत पाप और शुभ ग्रहों के वेध की जानकारी कर उसके शुभाशुभ का निर्धारण कर सोना, चाँदी, ताम्बा, कांसा, लोहा, पितल, मैंगजिन आदि धातुओं के शुभाशुभत्व को परखकर उनकी सस्ती और मँहगी का विवेचन भी करते हैं, जिनसे व्यवसायी लोगों को अपार धन कमाने का अवसर मिलता है। इसी तरह तेल, मसाला, घी, चीनी, जौ, गेहूँ, चावल, धान, मटर, मसूर खेसारी, उड़द, अरहर आदि वस्तु कब मँहगी और कब सस्ती होगी, इनकी जानकारी हासिल कर सस्ते समय में संग्रह कर और महगें समय में बेचकर उससे विशेष लाभ कमाते हैं।

वर्षा के शुभाशुभत्व के बारे में ज्योतिषियों के विचार–गाम्भीर्य को आज के वैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं। ज्योतिष शास्त्र के द्वारा निर्दिष्ट जलचर नक्षत्रों में जब चन्द्रमा की स्थिति रहती है तभी आज के वैज्ञानिक अकाल वर्षा का आयोजन कर वर्षा करवाते हैं।

आयुर्वेद यानि भैषज शास्त्र तो ज्योतिष शास्त्र का पूर्व रूप से ऋणी है। भैषज निर्माण में ग्रहों की रश्मियों, उससे उत्पन्न तिथि, नक्षत्र, योग और करणों का प्रभाव कम नहीं पड़ता है। यहाँ तक कि जो अच्छे वैद्य हैं वे जिन-जिन प्रकृतियों से युक्त दवाओं को तैयार करना चाहते हैं, उन्हें उन्हीं प्रकृतियों से युक्त नक्षत्र, तिथि योग करण और मुहूर्तों में तैयार करते हैं ओर करवाते हैं। इस प्रकार की विधि से तैयार की गयी दवाओं का प्रभावरोगी पर अधिक पड़ता है। कहा गया है-

भैषज्य-सल्लघुमृद्वचरे मूलभे द्व्यङ्गलग्ने।

शुक्रेन्द्विज्ये विदिशदिवसे चापि तेषां खेश्च।। (मु.चि.न.प्र.श्लो.15)

मनुष्य भ्रमणशील प्राणी है। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सतत् यात्रा करनी पड़ती है। इस कार्य के लिये ज्योतिष का इतिहास गणक तरंगिणी में बबुआ जी नामक ज्योतिषी की कथा स्पष्ट करता है कि योग यात्राओं का प्रभाव मानव शरीर पर कितना पड़ता है।

प्रत्येक प्राकृतिक अणुओं के ज्ञान के विषय में ज्योतिष शास्त्र कम सहायता नहीं पहुँचाता। अतः प्राचीन अन्वेषक या तो स्वयं ज्योतिषशास्त्र का ज्ञाता होता या किसी ज्योतिषी को अपने साथ रखता था। जब सर्दी या गर्मी के कारण अन्वेषक को कहीं जाना कठिन होता था या आधुनिक यन्त्र काम नहीं देता था वहाँ ज्योतिषी चन्द्र सूर्य और तारों के आधार पर दिग्, देश काल आदि का बोध ज्योतिषशस्त्र के आधार पर निर्धारित करता था।

प्रागैतिहासिकों को भी ज्योतिषशास्त्र से कम सहयोग नहीं मिला है। फलतः उनके लिए भी ग्रह, नक्षत्र और तारों का कम महत्त्व नहीं है। जिन बातों की तिथियों का ज्ञान अन्य साधनों के द्वारा नहीं लगता, उनका ज्ञान ज्योतिष के ग्रह नक्षत्रों के द्वारा आसानी से लगता है। यदि ग्रह और नक्षत्रों का ज्ञान नहीं होता तो वेद की प्राचीनता का ज्ञान कैसे और किसे होता है? श्रद्धेय लोकमान्य तिलक जी ने ज्योतिष के ग्रह नक्षत्रों के आधार पर ही वेद की प्राचीनता को सिद्ध किया है। सूर्य और चन्द्र ग्रहण के आधार पर आज भी प्राचीन तिथियाँ क्रमबद्ध की जा सकती हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में भी ज्योतिष का कम सहयोग नहीं है। सूर्य, चन्द्र के आधार पर बहुतों की प्राकृतिक चिकित्सा की जा सकती है। जैसे फलेरिया के रोगी को मुक्ति के लिये बतलाए गए नियम से अवश्य ही लाभ होता है। ज्योतिषियों का अनुमान है कि जिस प्रकार चन्द्रमा समुद्र के जल में उथल-पुथल मचाता है

उसी प्रकार वह शरीर के रक्त प्रवाह में भी उथल–पुथल मचाकर अपना प्रभाव डालता है और निर्बल मनुष्यों को रोगी बनाकर उसे कष्ट पहुँचाता है। अतएव ज्योतिषी के द्वारा चन्द्रमा के तत्त्व से बने पदार्थो को जानकर एकादशी और अमावस्या को वैसे तत्वों के पदार्थों के सेवन से बचने पर फैलेरिया रोग में लाभ होता है। इस प्रकार निर्बल रोगी उस रोग मे आक्रमण से अपनी रक्षा कर सकता है।

धार्मिक विचारों को सुरक्षित रखने में ज्योतिष के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं है। मनुस्मृति में बताए गए नियमों को पालने में धर्मशास्त्र तथा वैदिक यज्ञों को व्यवस्थित करने में ज्योतिषशास्त्र का ग्रह, नक्षत्र आदि एक मात्र आधार है शुक्र और गुरु के अस्त और उदय के समय किन–किन कार्यों को करना चाहिए और न करना चाहिए के निर्णय कैसे होंगे? एकादशी आदि तिथिव्रतों का पालन तथा उसकी सही स्थिति की जानकारी किस आधार पर होगी? वर्ष मास तिथियों का आरम्भ और अन्त कब होगा, इनकी जानकरी कैसे की जाएगी। इनके ज्ञान के अभाव में जीवन यज्ञ की कार्य-पद्धति ही विशृंखलित हो जायेगी। अतः जिन कार्यों का पालन ग्रहों की गतियों स्थितियों मानों और उदयास्तादि विचारों के आधार पर होता है उनका व्यवहार ज्योतिष के ज्ञान भाव के बाद कैसे होगा इस प्रकार समस्त शुभाशुभ कालों कार्यों व्रतों आदि का संवाहक ज्योतिषशास्त्र है। कहा भी गया है–

वेदा हि यथार्थमगिप्रवातिः कालभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।

तस्मादिदं काल विधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्।। (वेदांग ज्यो.श्लोक3)

इस प्रकार हम देखते है कि सभी श्रौतस्मार्त कार्यों के व्यावहारिक रूप देने का श्रेय ज्योतिषशास्त्र के ग्रह नक्षत्र आदि को है अन्यथा यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता कि एकादशी व्रत कब होगा। महापुरूषों की जयन्ती मनाने की प्रथा को भी ज्योतिषशास्त्र के ग्रह-नक्षत्रादि की शरण लेनी पड़ती है, अन्यथा जन्माष्टमी, रामनवमी, दीपावली, दशहरा, तुलसी जयन्ती, गांधी जयन्ती आदि का संस्मरण कैसे संभव होता है। इन सभी विषयों में यह कहा जा सकता है कि इनके आधार वैज्ञानिक नहीं है। इस भौतिक युग में इनकी कोई प्रमाणिकता नहीं है पर तात्विक विचार से देखने पर ऐसा मालूम होता है कि ज्योतिष के ग्रह नक्षत्रों के आधार पर बतलाए गए कार्य-कलापों में पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है और विज्ञान के आधार पर इसे साबित किया जा सकता है कि इसके मार्ग वैज्ञानिक है। जैसे

मान लिया जाय कि वैवाहिक सम्बन्ध में वर-कन्या के कुण्डलियों के मिलान करने में क्या तात्विक विशेषता है?

जन्मपत्रियों के मिलान करने का आशय एक परम्परा का निर्वाह करना मात्र नहीं है। इसमें दम्पति के भावी जीवन के स्वभाव, गुण, दोष प्रेम और आचार–विचार के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना है। समान आचार-विचार वाले वर कन्या के अभाव में उनके जीवन को सुखमय नीर माना जा सकता है। भारतीय संस्कृति में प्रेम विवाह करना कल्याणकारी नहीं माना गया है, पर दो अपरिचित व्यक्तियों का जीवनभर के लिए गठबन्धन कर दिया जाना सामान्य कार्य नहीं है। अतः वर-वधुओं की कुण्डलियों के द्वारा उनके स्वभाव, व्यवहार, गुण धर्म आदि की जानकारी दोनों के साथ मिलान खाता है कि नहीं इसका विचार कर ज्योतिषीगण विवाह करने का आदेश देते हैं।

ज्योतिष ग्रह, नक्षत्र, योग और राशि आदि के आधार पर व्यक्ति के स्वभाव गुण आदि का निश्चय करता है और वह बतलाता है कि अमुक, ग्रह, नक्षत्र राशि के प्रताप से उत्पन्न पुरुष को अमुक ग्रह, नक्षत्र और राशि के प्रभाव से उत्पन्न वधू के साथ सम्बन्ध करना उत्तम है या प्रभाव शामक सामंजस्य के होने से दोनों के स्वभाव गण में समानता है। अतएव मेलनपद्धति द्वारा वर कन्या की जन्म–पत्रियों का विचार अवश्य करना चाहिए। इसके विषय में बनाए गए नियमों का उल्लेख मुहूर्त के ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से किया गया है। कहा भी गया है–

भार्या त्रिवर्गकरांगशुभशीलयुक्ता
शीलं शुभं भवति लग्नवलेन तस्याः।
तस्माद् विवाहसमयः परिचिन्त्यते हि
तन्निध्नतामुपगता सुतशीलधर्माः॥

ज्योतिष तत्त्वावलोकियों का कहना है कि प्राणी जिन ग्रह–नक्षत्र जनित वातावरण के तत्त्व प्रभाव विशेष में उत्पन्न होता है तथा पोषित होता है, उसमें उन तत्त्वों की अधिकता होती है। ग्रहों की स्थिति की विलक्षणता के कारण अन्य तत्त्वों का न्यूनाधिक प्रभाव होता है। देशकृत् ग्रहों का संस्कार इस बात का प्रमाण है कि स्थान विशेष के वातावरण में उत्पन्न एवं पुष्ट होने वाला प्राणी उस स्थान पर पड़ने वाली ग्रहराशियों की अपनी निजी

विशेषता के कारण अन्य स्थान पर उसी क्षण जन्मे व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न स्वभाव होता है। ग्रह राशियों को प्रभाव के बल प्राणी पर ही नही बल्कि, वन्य–स्थल तथा उद्‌उभिज आदि पर भी समान रूप से अवश्य पड़ता है।

इस प्रकार आकाश मण्डलस्थ ग्रहों और नक्षत्रों की विष, अमृत तथा उभय गुण मिश्रित या गुणहीन किरणों के कारण उनके प्रभाव प्रत्येक समय सभी स्थान पर एक सा नही रहता, गति विलक्षणता के कारण कभी–कभी ऐसे ग्रह तथा नक्षत्रों के प्रभाव विशेष तत्त्वों की विशेषता के कारण किसी विशेष कार्य की सिद्धि के लिए ही उपयुक्त होते है। इसीलिए ज्योतिष के मुहूर्त की मार्मिक व्यवस्था का विधान किया गया है। हमारे तत्त्वदर्शी ऋषियों ने उन वातावरण तथा प्रभावों को अपनी आध्यात्मिक दृष्टियों से प्रत्यक्ष कर उन्हें जन-कल्याण के लिए आदेशात्मक ज्योतिषशास्त्र के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अतएव विभिन्न कार्यो के लिए मुहूर्तों का संशोधन अन्ध परम्परा नहीं है तथा न अन्ध विश्वास की चीज है। ज्योतिषशास्त्र विज्ञान सम्मत है। रहस्यपूर्ण है। हाँ कुशल परीक्षक के अभाव में भले ही इसके परिणाम में अन्तर दिखलाई पड़ता है।

डॉ. दिनेश झा
दे.ह.चौ.सं. महाविद्यालय,
चानपुरा, मधुबनी (बिहार)



साहित्य का अभिप्रेत

डॉ. वीरेन्द्र झा

लोकमङ्गलकारी सत्साहित्य–सृजन हेतु प्रेरणा देकर उसके द्वारा लोकानुरंजन और लोकमङ्गल का विचार करना ही साहित्यानुशासन ग्रन्थ–रचना का प्रयोजन है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने सत्य कहा है–

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।

यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।

अर्थात् इस अपार काव्य संसार का प्रजापति केवल कवि होता है। उसे जैसे अच्छा लगता वैसे ही वह संसार को ढ़ाल लेता है। अतः अनेक कवियों ने इस अलौकिक सौविध्य का समुचित उपयोग किया है। उन्हें जो वस्तु, दृश्य, कथा, व्यक्ति रूचिकर लगा उसे उन्होंने काव्य रूप में परिणत किया, महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, रीति, नाटक, उपन्यास, कहानी में निबद्ध किया। हृदयानन्दकारी रीति से वर्णित, साधु और समग्र विद्याओं से युक्त कविकर्म साहित्य कहा जाता है।

हृद्य–साधु–सकल विद्यादिसहितं कविकर्म साहित्यम्।।

राहित्य का उल्टा साहित्य होता है। जिस कृति में प्रत्यक्ष और कल्पित विश्व की सारी प्रत्यक्ष और भावात्मिका (काल्पनिक) सृष्टि वर्णित हो वहीं साहित्य है। नाट्यशास्त्र इसका प्रमाण है–

ऐसा कोई शास्त्र, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाट्यशास्त्र में दृश्य काव्य में नहीं दिखाया जा सके।

न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

न तद् योगो न तत्कर्म नाटयेऽस्मिन्न दृश्यते।। (भारतनाट्यशास्त्रम्)

इसी प्रकार, अन्य साहित्यिक रचनाओं में भी अनेक शास्त्रों, शिल्पों, विद्याओं, कलाओं, योगों और कर्मों का समुचित समावेश होता है। काव्योत्पत्ति में व्युत्पत्तिज्ञान भी विशेष कारण है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में कहा है–

(1) शक्ति, (प्रतिभा), (2) लोकजीवन, शास्त्र और काव्य आदि के सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा प्राप्त ज्ञान (व्युत्पत्ति) और (3) किसी काव्य–निपुण से प्राप्त काव्य–कौशल की शिक्षा के द्वारा अभ्यास से ही 'काव्य' की उत्पत्ति होती है। इस सम्बन्ध में यह पद्य उद्धृत है–

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

कुछ लोग शब्द और अर्थ के सहभाव को साहित्य मानते। शब्द और अर्थ का सहभाव सम्पूर्ण वाग्व्यवहार में रहता है। वह साहित्य नहीं कहा जा सकता है। कतिपय विद्वज्जन साहित्यशब्द की व्युत्पत्ति करते हैं और कहते हैं कि हित के सहित या हित से युक्त हितकारी सहित कहलाता है और सहित का भाव–हितकारी–होने का भाव ही सहित कहलाता है और सहित का भाव–हितकारी–होने का भाव ही साहित्य है। किन्तु यह व्युत्पत्ति मान्य नहीं है। साहित्य किसी क्रिया का भाव नहीं है। वह तो है प्रत्यक्ष क्रिया या प्रवृत्ति। साहित्य तो वह वाङ्मय है जिसमें किसी भी वस्तु या विषय का अभाव न हो सभी विषयों का समुचित समावेश हो।

किन्तु अनेक विषयों के समावेश मात्र से कविकर्म साहित्य श्रेणी को प्राप्त नहीं कर सकता है। साहित्यपद प्राप्त करने के लिए किसी रचना में भाषा–शैली या उक्ति का सौन्दर्य तथा कथा–संघटन–कौशल अपेक्षित होता है। कहा भी गया है– शब्द भी वे ही हैं, अर्थ भी वे ही हैं, किन्तु रचना कौशल के कारण काव्य में नवीनता आ जाती है।

त एव पदविन्यासास्ता एवार्थविभूतयः।

तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात्॥

संसार में मनुष्यों की केवल कल्याणकारी–वृत्तियाँ श्रेष्ठ हैं, अमङ्गलकारी नहीं; अर्थात् मनुष्य के भावों को उदात्त बनाने वाला साधु काव्य श्रेष्ठ है, असाधु काव्य नहीं। साहित्य शब्द का प्रयोग कई भिन्न अर्थों में किया जाता है। कतिपय विद्वज्जन के विचार से मनोहारी–शैली

में कल्पना के आधार पर की गई रचनाओं के समूह को साहित्य कहा जाता है। इस अर्थ में केवल महाकवियों की छन्दोबद्ध रचनाएँ साहित्य के अन्तर्गत आती हैं जिनकी रचना किसी प्राचीन कथा, व्यक्ति, महापुरुष या घटना के आधार पर अथवा किसी वस्तु, विषय, दृश्य, भाव या विचार से प्रभावित और उद्दीपित होकर की गई हो। इस अर्थ में, कल्पना के आश्रय में विनिर्मित उस प्रकार की रचना को ही काव्य (साहित्य) माना गया है। उसी के अन्तर्गत केवल कल्पिता पद्यात्मक, गद्य–पद्यात्मक (चम्पू) तथा दृश्यात्मक (नाटक) आदि काव्यों की गणना की जाती है। इस विशेष अर्थ में साहित्य को काव्य का ही पर्याय माना गया है।

राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा में इसी अर्थ में, काव्य के अर्थ में, साहित्य को ग्रहण किया है। इनके मत से वाङ्मय के दो भेद हैं–शास्त्र और काव्य।

इन्होंने कल्पनाश्रित हृद्य रचनाओं को काव्य और बुद्धिपरक, चिन्मनात्मक रचनाओं को शास्त्र कहा है। इस अर्थ के अनुसार श्री काव्य–गणना साहित्य के अन्तर्गत की जा सकती है। साहित्य का व्यापक अर्थ जिज्ञासा है। अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द के पर्याय–रूप में 'साहित्य', शब्द किसी भाषा के सम्पूर्ण लिखित वाङ्मय का बोधक है। आजकल इसी अर्थ में साहित्यशब्द का प्रयोग किया जाता है।

संस्कृत साहित्य, अंग्रेजी साहित्य, हिन्दी साहित्य, बंगाला साहित्य, आसामी–गुजराती–मराठी, तमिल–तेलगु साहित्यादि का अर्थ इसी व्यापक अर्थ में लिया जाता है। जिसके अन्तर्गत श्रव्य, दृश्य, वाचनीय और मननीय कल्पित कृतियों के अतिरिक्त दर्शन, समाजशास्त्र, विज्ञान इतिहास, अर्थशास्त्र आदि विषयों पर लिखें हुए शास्त्रीय ग्रन्थों या रचनाओं की समष्टि भी समाहित हो जाती है। संकुचित अर्थ में साहित्य शब्द किसी भाषा के किसी विषय की रचनाओं की समष्टि का बोधक होता है। दार्शनिक साहित्य, पौराणिक साहित्य तथा आयुर्वेदिक साहित्य आदि संकुचित साहित्य, पौराणिक साहित्य तथा आयुर्वेदिक साहित्य आदि संकुचित साहित्य के अर्थ में आते हैं। विशेष अर्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग किया जाता है।

साहित्य न तो शुद्ध काव्य का ही पर्यायवाची है और न व्यापक साहित्य का ही। जहाँ साहित्य के अन्तर्गत काव्य–शब्द के अर्थ में समाहित किये जाने वाले कल्पनात्मक, हृद्य और अनुरञ्जक गद्य–पद्यात्मक दृश्य और श्रव्य काव्यों कथाओं का समावेश होता है वहीं 'साहित्य के अन्तर्गत उन दृश्य, श्रव्य तथा कल्पनात्मक रचनाओं पर लिखें हुए आलोचनात्मक तथा

विवेचनात्मक ग्रन्थों, टीकाओं तथा विचारात्मक निबन्धों की भी गणना होती है। अर्थात् कल्पनात्मक, हृद्य, श्रव्य, दृश्य वाचनात्मक और चिन्तनात्मक सम्पूर्ण रचनाओं की समष्टि को साहित्य कहते हैं। जिनकी रचना उपर्युक्त प्रकार के साहित्यिक रूपों से भी सम्बद्ध हो और जिनमें किसी विशेष मानवीय ज्ञान के दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा व्यवहार्य–पक्ष के व्यवस्थित शास्त्र पर कोई सिद्धान्त–निरूपण, शास्त्रार्थ, पूर्वा–पर–विचार, निष्कर्ष और परिणाम न निकाला गया हो। भारत के साहित्यचार्यों ने साहित्यशब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में काव्यशब्द का जन–मनोरञ्जनकारी काव्य के अर्थ में साहित्यशब्द का प्रयोग होता है।

सङ्गीतमपि साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्।

एकमपातमधुरमन्यदालोचनामृतम्॥

अर्थात् संगीत और साहित्य दोनों सरस्वती के दो स्तन हैं जिनमें से एक सद्यः मधुर है और दूसरा पढ़ने या पढ़ाने पर अमृत से परिपूर्ण लगता है। काव्य के अर्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग यथा–

शिशुर्वेति पशुर्वेति वेत्ति गानरसं फणी।

साहित्यरस–माधुर्यं शङ्करो वेत्ति वा न वा॥

संगीत रस शिशु भी जानता है, पशु भी जानता है, सर्प भी जानता है किन्तु साहित्य–रस–माधुर्य ऐसा गम्भीर है कि उसे शङ्कर भी जानते या नहीं, इसमें सन्देह है।

विदेशी विद्वानों ने भी साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है–

कार्लाइल महोदय ने अपने 'स्कौट के जीवन की स्मृतियाँ' (मेमौयर्स ऑफ दि लाइफ ऑफ स्कोट) शीर्षक ग्रन्थ में साहित्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि चिन्तनशील–विचारशील आत्माओं का विचार की साहित्य है। इस विद्वान् की परिभाषा भ्रामक है अस्पष्ट है। विचारशील 'आत्मा' शब्द का प्रयोग केवल दार्शनिकों के लिए किया गया है। यदि कवियों की वाणी के लिए शब्द का प्रयोग किया गया हो तो उन्हें केवल चिन्तनशील और विचारशील क्यों माना जाय, अनुभवशील भी क्यों न मान लिया जाया।

अमरीकी साहित्य पर टिप्पणियाँ (Remarks on American Literature) शीर्षक लेख में चैनिंग महाशय ने साहित्य की व्यापक एवं सुस्पष्ट परिभाषा दी है। इनके विचार से

किसी जाति के मस्तिष्क की लिखित अभिव्यक्ति का नाम साहित्य है। इस परिभाषा के अनुसार विश्व की सम्पूर्ण लिखित अभिव्यक्ति ही साहित्य है जिसके अन्तर्गत केवल छन्दोबद्ध कल्पित काव्य का ही नहीं अपितु समस्त लिखित और प्रकाशित वाङ्मय का समावेश हो जाता है। आइजक डिसराइली महोदय ने 'प्रतिभाशील पुरुषों के साहित्यिक लक्षण – (Literature character of men of genious chapter 24) पुस्तक में कहा है– "साहित्य तो कीर्ति की ओर ले जाने वाला वह कुञ्ज है जो उन प्रतिभाशील मनुष्यों के लिए खुला रहता है जो धन, लोकसम्मान और राजसम्मान सबसे वञ्चित रहते हैं।" संसार के अधिकांश लोक–प्रसिद्ध कवियों का जीवन चरित इस सत्य का प्रमाण है। महाकवि माघ ने दरिद्र अवस्था में अपने प्राण दिए। फारसी के प्रसिद्ध कवि–फिरदौसी को उस समय महमूद गजनी ने पुरस्कार भेजा जब उसकी शव–यात्रा निकल रही थी। महान कवि भवभूति यही कहते रह गए–

कालोऽह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वीः॥

(समय अनन्त है और पृथ्वी विशाल है, कभी तो कोई हमारा आदर करेगा।)

यों तो, संसार के अधिकांश साहित्यकार, सरस्वती के वरदपुत्र सदा लक्ष्मी के कोप–भाजन बने रहे और उनका सारा जीवन दरिद्रता में ही बीता। सम्भवतः जौन मौर्ले महोदय ने 'वर्क का जीवन चरित' (Life of work) में लिखा है कि साहित्य अत्यन्त अध्यवसाय साध्य, अत्यन्त प्रवंचनाशील तथा अत्यन्त घातक जीविका–वृत्ति है।' वस्तुतः ऐसे बहुत कम कवि या साहित्यकार हुए हैं जिन्होंने शान्ति और सुख से जीवन–यापन किया हो। विलियम गौडविन ने केवल उसी व्यक्ति को मनुष्य माना है जो साहित्य–व्यसनी हो। यह परिभाषा भर्तृहरि भारतीय कवि की परिभाषा से मिलती जुलती है–

साहित्य–संगीत–कला–विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

तृणन्न खादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम्॥

अर्थात् साहित्य–संगीत और कला से विहीन मनुष्य बिना सींग–पूँछ वाली साक्षात् पशु है जो घास न खाकर भी परम पशु के समान ही जीवन–वहन करता है। जे.डब्लू. मेकायह ने 'उदात्त काव्यों का अध्ययन' (Classical Studies) में साहित्य की बड़ी सुन्दर परिभाषा दी है–"यदि भाषा का प्रयोग–उसके सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसकी

पूर्णतम शक्ति और परम विलक्षण कौशल के साथ किया जाय और ऐसी व्यवस्था की जा सके कि वह क्षीण न हो सके, न उड़ सके और न भुलाई जा सके तो किसी अन्य विलक्षण शब्द के अभाव में हम उसे 'साहित्य' कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि सुन्दर–प्रभावशाली भाषा में, कौशल पूर्ण शैली में, उदात्त उद्देश्य से जो रचना की जाय वही साहित्य है। अर्थात् मेकायल महोदय ने लोक मङ्गलकारी हृद्य रचना को ही साहित्य माना है। साहित्य मनुष्य की आत्मा है।

डॉ. वीरेन्द्र झा
प्रभारी प्राचार्य,
डॉ. रामजी मेहता आदर्श संस्कृत महाविद्यालय,
मालीघाट, मुजफ्फरपुर (बिहार)



विराट् स्वरूप ब्रह्म का साकार रूप मनुष्य

प्रकाश चन्द्र झा 'पुरूषोत्तम'

श्रुति स्मृति यथा शास्त्रानुमोदित सिद्धान्तों से परिलक्षित रहस्यात्मक बात तो यह है कि जीव ब्रह्म का नित्य शाश्वत चिरस्थायी रहने वाला अभिन्न स्वरूप है "ईशावास्यमिदं सर्व्वम्" इस श्रुति के अनुसार चराऽचर जगत् में ब्रह्माण्ड के पिण्ड में जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है या अदृश्य है वह सब के सब एक ही ईश्वर से व्याप्त है। "ईश्वर अंश जीवन अविनाशी" मानस जीवन ईश्वर का ही अंश है जो अविनाशी परमतत्त्व का अधिकारी या भोक्ता है। शिवोऽहं, अहम् ब्रह्मास्मि, तथा सोऽहम् का भी यही तात्पर्य है कि जब स्वयं भाव से नित्य रस को प्राप्ति में संलग्न रहकर विचरण करता है तब उस ब्रह्मस्वरूप जीव और ब्रह्म में कोई भेद उठने की आशंका ही नहीं रह जाती अर्थात् ब्रह्म जीव में कोई भेद नहीं रह जाता है।

शंका – यदि जीव ब्रह्म का अभिन्न स्वरूप है तो ब्रह्म न कहकर ब्रह्म से जीव को अलग क्यों स्वीकार किया गया? समाधान – जीव यद्यपि ब्रह्म का नित्य सहभागिता प्रकट करने वाला अचल परतत्त्व अभिन्न स्वरूप है तथापि वह ब्रह्म जब अपनी माया के साथ अलौकिक दिव्यानुमोदित रसानन्द की परिपुष्टि हेतु लीला करना चाहता है तब वो अपनी त्रिगुणाविध रूपा माया से आवद्ध होता है साथ की मायाजन्य लीलाओं में रत होकर संस्कारों के वशीभूत हो जाता है जिससे वह ब्रह्म का अंश जीव संस्कार वश कर्मों से लिप्त हो जाता है और माया को न समझते हुए प्रपंचों से घिरकर नाना योनियों में परिभ्रमण करता रहता है।

जीवः शिवः शिवो जीवः नास्ति भेदोऽत्र कुत्रचित्।

मायाबद्धो जीवो ज्ञेयः मायारहितो शिवो भवेत्॥

इस वाक्य से यह स्पष्ट उद्घोष हो जाता है कि जीव नित्य परमतत्त्व सदाशिव का ही स्वरूप है, जीव और शिव में कोई भेद नहीं है परञ्च जीव जब मायावद्ध होता है तो वह जीव कहलाता है और माया के तिरोहित होने पर वह शिव स्वरूप बनकर शिव कहलाता है। द्रष्टव्य है कि ब्रह्म और जीव के मध्य सदाशाश्वत रहने वाली माया रहती है जो अपने प्रपंचों के जीव को पाश से बांधी रखती है। साथ ही जीव माया से आबद्ध होकर माया के ऊपर रहने वाला ब्रह्म को प्राप्त नहीं होता अर्थात् ब्रह्म को नहीं अनुभव में ला सकता है। सिद्धान्तः जो जीव यह जान लेता है कि मैं माया का दास नहीं, मैं परम सत्यस्वरूप ब्रह्म का ही अवतंश हूँ, वो मनुष्य ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। यहाँ जीव और ब्रह्म के गुणों पर किञ्चित् प्रकाश डाला जाता है, जो इस प्रकार से अ[illegible] है–ब्रंह्म सर्वज्ञ होता है तो जीव अल्पज्ञ, ब्रह्म के अधीविनस्थ शासन में रहने वाली माया होती है तो जीव माया के अधीनस्थ होकर माया से शासित होता है। ब्रह्म कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् में समर्थ होता है लेकिन जीव इन गुणों से रहित होता है। ब्रह्म अविनाशी, तो जीव विनाशी तत्त्व है। ब्रह्म जरा रोग, हानि–लाभ मान–मद, अहंकारादि से शून्य होता है पर जीव इन सब से व्याप्त रहता है। ब्रह्म दीर्घायु तो जीव अल्पायु, ब्रह्म सर्वविद् जो जीव अल्पविद् हैं। इस प्रकार से जीव को ब्रह्म से मिलना अत्यन्त ही दुरूह कार्य हो जाता है, लेकिन जो जीव जीवत्व से उठकर ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता हैं, उस जीव में ब्रह्म रूप होकर जो गुण ब्रह्म में है तत्क्षण वे गुण जीव में प्रकटीभूत हो जाते हैं। तब जीव और ब्रह्म में कोई भेद ही नहीं रह पाता।

उदाहरणार्थ – जीव के सहज स्वाभाविक गुण इस प्रकार से व्यक्त है–काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, राग, द्वेष, घृणा, मान–अपमान, हानि–लाभ, जीवन–मरण, यश–अपयश, सुख–दुख, व्याधि ग्लानी, भय–कातरता, निद्रा–तन्द्रा, आलस्य विचारहीनता, कुरूपता, छल, छद्म, पाखड, दंभ, लालसा, जुगुप्सा, क्षुधा, पिपासा, तितिक्षा, चिंता, अपूर्णता, आदि–आदि गुणों से मनुष्य (जीव) सदा ही आबद्ध होता है जो खास मायिक धर्मो में रहने वाले प्राणी मात्र को प्राप्त होता है। लेकिन इस के ठीक विपरीत स्थिति में आने से जीव जब ब्रह्मत्त्व को प्राप्त करने की स्थिति में आ जाता है तब ये सम्पूर्ण ब्रह्म के गुण उस जीव में सहज ही आयाम पा लेते हैं। उदाहरणर्थ–ब्रह्मस्थिति में जीव का स्वरूप इस प्रकार हो जाता है–मन में कोई विकार न जगना, सांसारिक वातावरण से अलग हो जाना, सभी चिन्ताओं से तिरोहित होकर जरा–बन्धन–भय–शोक आदि जो कुछ भी गुण प्राणीमात्र में स्थित होता है उन सब से ऊर्ध्व होकर त्रिगुणातीत हो जाता है। अर्थात् वह

जीव सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण से उठकर त्रिगुणातीत बनकर ब्रह्म का सर्वरूप हो जाता है। वह दूरदर्शी, सर्वज्ञ बनकर ब्रह्मभाव से सदा स्वच्छन्द रूप में संसार में रहते हुए भी संसार से अलग होकर नित्य स्वच्छ रूप में निर्मुक्त भाव से विचरण करता है उसको सुख की चिन्ता न दुःख की, न भय की न शोक की न खाने की न पीने की, न जन्म से भय न मरण से आदि वह शत्रु–मित्र, हानि–लाभ, सर्दी–गर्मी सब में समभाव होकर अपने आप को ब्रह्म से अभिन्न स्थिति को जोड़ लेता है, उसकी वाणी सत्य हो जाती है वह सर्वज्ञ बन जाता है समस्त दैवी–गुणों की सम्पदा समा जाती है। मन के समान उसकी गति हो जाती है, वह अष्टसिद्धि, नवनिधि को सहज में ही प्राप्त कर लेता है, वह प्राणीमात्र के हितार्थ ही स्वेच्छानुसार जीवन को स्वीकार करता है। पुनः वो ब्रह्म में मिल कर ब्रह्म स्वरूप बन जाता है।

सिद्धान्त–ब्रह्मज्ञानी लोग संसार में रहते हुए भी सांसारिक कर्मबन्धनों से अलग रहते हैं उन्हें संसार नहीं व्याप्त करता। जैसे कि भगवान या महापुरूष भी इस संसार में जब जीवों पर अहैतुकी कृपा करने के लिए सतत् आते–जाते रहते हैं, पर उनके तो एक ब्रह्मानन्द की ही लीला होती है, वो संसार में रहते हुए भी संसार से ऊर्ध्व होकर ब्रह्मस्थिति में रहते हैं। अक्षरशः सत्य बात यह है कि मनुष्य का शरीर ब्रह्म का ही अभिन्न स्वरूप होता है जो विराट् स्वरूप ब्रह्म का साकार रूप है। उदाहरणार्थ–इस मनुष्य शरीर के अन्तर्गत सर्वप्रथम आत्मा जो स्वयं ब्रह्म ही है, पृथ्वी, जल, पावक, गगन, समीर आदि से निर्मित यह शरीर है जो कि नित्य है, तदनन्तर पञ्चतन्मात्र पञ्चस्थूलभूत, पंचसूक्ष्मभूत, पञ्चप्राण (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान) इसके बाद षट्चक्र या अष्टचक्र की विद्यमानता होती है। शरीरान्तर्गत आद्याभगवती कुण्डलिनी शक्ति आदि विराजमान हैं। सूर्यचन्द्र रूप में इडा–पिंगला दो नाड़ियाँ, नेत्र, हस्त में पञ्चतीर्य आदि होते है। पञ्चब्रह्म का निवास (अन्नमय प्राणमय, ज्ञानमय–विज्ञानमय, आनन्दमय) आदि होता, जो मनुष्य शरीर में नित्य शाश्वत भाव से लिप्त रहता है। सदा शिव के स्वरूप में स्वयंभूलिंग, अनहदनाद आदि रहता है इस प्रकार के मनुष्य शरीर विराट् रूप ब्रह्म का सत्य स्वरूप है।

द्रष्टव्य है कि मनुष्य अपने शरीर को कुत्सित न करके दिव्य भाव से प्रथमतः देवत्व को प्राप्त करे पुनः उत्तरोत्तर ब्रह्म भाव से संलग्न हो इसी में उसकी धन्यता है।

इसके लिए नियम–जप, ध्यान, स्मरण, कीर्तन, भजन, सत्संग, साधुसंगति, नित्यसत,

शास्त्राध्ययन, आत्मचिन्तन, योग, तपश्चर्या आदि हैं। तब उस जीव में परम स्थिति आयाम करती है। लक्षण–करूणा, दया, वत्सलता, प्रेम, स्नेह, सत्य, अहिंसा, समभाव, प्रसन्नचित्त, कर्मबन्धनों से रहित, अनासक्त, माता–पिता, गुरू, शास्त्र पर पूरी श्रद्धा तथा विश्वास, गुरू में ब्रह्मभाव दर्शन चिन्तन मनन ब्रह्मचर्यव्रत पालन, आहार शुद्धि शरणागति कर्त्तव्याकर्तव्यविचार का बोध षड्विकारों से रहित मुमुक्षत्त्व की प्राप्ति में उत्कर्ष होना, तत्वजिज्ञासा, ककारत्रय पंचवर्ण युक्त पवर्गो से रहित होना, त्रिविध एशणाओं से मुक्ति अत्यावश्यक है।

प्रकाश चन्द्र झा 'पुरूषोत्तम'
का.सि.द.सं.वि.वि.
दरभंगा



आचार्य विश्वनाथ की विलक्षणता

डॉ. मंगलेश्वर कुमार

साहित्य को जीवन मिलता है संवेदना से और संवेदना को शक्ति मिलती है आचार से। जिसके जीवन में भावग्राही संवेदना की विशदता हो और उस संवेदना को आत्मसात् कर सात्त्विक जीवन अनुभूतियों को विवेक सम्मत ढंग से अभिव्यक्त करने की 'कला' हो उस कलाविद् व्यक्तित्व को आचार्य कहते हैं। आचार्य उत्कृष्ट जीवन मूल्यों को साहित्य और चिंतन का आधार देकर एक ऐसा प्रतिमान खड़ा कर देता है जो आमलोगों के लिए हितकर होता है, सत्य की प्रतिष्ठा कायम करने के लिए मंगलकारी होता है और हर दृष्टि से सुन्दर होता है।

भारतीय काव्य शास्त्र में ऐसे ही आचार्यों की परंपरा मिलती है। इस परंपरा को साहित्य शास्त्र का निर्धारण करने के क्रम में विभिन्न मतों, सिद्धांतों और दार्शनिक जीवन-धाराओं को संयोजित स्थापित करने का श्रेय प्राप्त है। अतीत में लम्बे समय तक साहित्य के प्रतिमान के लिए जो तत्त्व निर्धारित किए गये, जो घटक निर्धारित किये गये उनका आधार वह चिंतन है, जिसमें साहित्य के लिए स्थायी मूल्यों की खोज है। अतः वे प्रतिमान आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने अपने समय में थे।

भारतीय काव्य शास्त्र में अनेक सम्प्रदाय हैं और हर सम्प्रदाय के अलग-अलग आचार्य। चाहे वे ध्वनिवादी हों, चाहे वक्रोक्तिवादी, अलंकारवादी हों, चाहे रसवादी, सबका उद्देश्य पवित्र है क्योंकि उनका लक्ष्य उस काव्य वैशिष्टय को बताना है जिस वैशिष्टय के आधार पर अमर काव्य की निर्मिति हो सकती है। दूसरे शब्दों में ये सभी सम्प्रदाय शब्दार्थ रूपी शरीर में आत्मा का अनुसंधान करते हैं। अतः काव्यशास्त्र में इन सबका महत्त्व है।

काव्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्य के स्वरूप-निर्धारण की बात हो अथवा उसमें अंतर्निहित शब्दशक्ति का निरूपण, काव्य के लिए गुण और दोष की ओर ध्यान आकृष्ट करने की बात हो अथवा ध्वनि और अलंकार से संबंधित बातें आचार्य विश्वनाथ ने सर्वत्र अपनी मौलिक

प्रतिभा एवं दृष्टि का परिचय दिया है। वे ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रस को काव्य का प्राण माना है। उनका 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' सर्वमान्य तो है ही, सर्वग्राह्य भी है। काव्य की आत्मा रस है और उसकी आत्मा के सच्चे अनुभावक है–आचार्य विश्वनाथ। काव्य–लक्षण, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, अलंकार आदि प्रसंगों के साथ काव्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के लिए यदि किसी विश्वसनीय काव्यपुरूष की खोज की जायेगी तो उस खोज में विश्वनाथ की उपस्थिति स्वतः गौरव का बोध करायेगी। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के स्वरूप निर्धारण, लक्षण निरूपण, वर्गीकरण, काव्य के गुण दोष प्रकरण, शब्दशक्ति निरूपण, रीतिनिर्धारण और ध्वनि निरूपण तथा रस एवं अलंकार विवेचन के क्रम में सुलझे हुए आचार्यत्व का परिचय दिया है और यह दर्शाया है कि काव्य वस्तुतः जीवन चेतना की विवेक सम्मत अभिव्यक्ति है जो न केवल हमारी जातीय स्मृति को शक्ति प्रदान करता है, अपितु जातीय संस्कृति को परिष्कृत कर जीवन सत्य में रूपान्तरित भी कर देता है। विश्वनाथ सम्मत काव्य शास्त्रीय चिंतन न केवल समग्रता के कारण अपितु युक्ति युक्त विवेचना के कारण भी सार्थक है।

आचार्य विश्वनाथ की विशेषता यह है कि उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र की अति संश्लिष्ट और दुरूह अभिव्यक्ति को पारदर्शिता, स्वच्छता और सुसंबद्धता की आभा प्रदान की। एक आचार्य के रूप में उनके चिंतन, मनन और अध्ययन का क्षितिज जितना ही विकसित है उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता उतनी ही अधिक प्रामाणिका यह सच है कि उनहोंने पूर्ववर्ती आचार्यों से बहुत कुछ लिया है, लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने अपनी और से वह सब कुछ दिया है जिसके माध्यम से 'साहित्यदर्पण' की मूल धारणाएँ स्पष्ट होती हैं। प्रतिपाद्य विषयों की उचित ढंग से व्याख्या और यथास्थान उनका चयन विश्वनाथ की एक अलग विशेषता है।

पंडित विश्वनाथ कदाचित् प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने ने दृश्य–श्रव्य काव्य की एकता स्थापित की। भरत के नाट्यशास्त्र की परंपरा मुख्यतः स्वतंत्र रूप में नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ के रूप में विकसित है। आचार्य विश्वनाथ के पूर्व के सभी आचायों ने श्रव्य काव्य को ही अपने शास्त्रीय अध्ययन का आधार बनाया है, जबकि हम जानते हैं कि रससूत्र भरत की देन है और दृश्यकाव्य से श्रव्यकाव्य में आज भी इसी तरह नाटकों की कथा संघटना नायकत्व विधान आदि से जुड़ी बातें महाकाव्य के लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन बातों को ध्यान में रखकर ही पंडित विश्वनाथ ने काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों को एक ही ग्रंथ में विवेचित किया। इस समाहार के कारण उन्होंने काव्यालोक, काव्यप्रकाश,

काव्यालंकारसूत्र आदि नाम परम्परा के विपरीत अपने ग्रंथ का नाम 'साहित्यदपर्ण' रखा। जो दोनों का साहित्यभाव व्यक्त करता है। इसमें दृश्य श्रव्य दोनों का समाहार है।

आचार्य विश्वनाथ ने काव्यशास्त्र के विभिन्न पक्षों यथा–रस, रीति, गुण, आदि का विवेचन करते हुए एक समग्र काव्यशास्त्र देने का प्रयास किया। केवल ऊपरी तौर पर ही नहीं, भीतरी तौर पर भी। उनके 'साहित्यदर्पण' के बाद प्राप्त शास्त्रीय ग्रंथों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समाहार परक चिंतन के कारण गुण, रीति, ध्वनि अलंकारादि को काव्यात्मा मानने का चिंतन–मनन एक तरह से ठूँठ हो गया। इस काव्य की आत्मा को रूप में निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित हो गया। शेष सभी तत्त्व उसी में विभिन्न रूपों में अपनी क्षमता के अनुरूप समाहित हो गये। अतः हम यह श्रेय आचार्य पंडित विश्वनाथ को देना चाहते हैं कि उन्होंने भारतीय काव्य चिंतन की बहुमुखी समानान्तर धारा को मिलाकर एक गंगाधारा में बदलने के भगीरथ प्रयत्न में सफलता प्राप्त की। परवर्ती काव्यशास्त्र में काव्य सम्प्रदायों का प्रचलन घटता गया, काव्यात्मा पर विवाद सिमटने लगा और गुण, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति अपने अस्फालित व्यक्तित्व से सिमटकर उचित स्थान पर आ गये। इसलिए पंडित विश्वनाथ कविराज का भारतीय काव्यशास्त्र पुराने पंथों को समेट कर एक बिन्दु पर लाने और वहाँ से एक सीधा राजपथ बनाने वाले आचार्य के रूप में समादृत है।

वस्तुतः 'साहित्यदर्पण' अपनी सुबोधता और सहजता के कारण सहृदय सामाजिक के लिए साहित्य का वह दर्पण है जिसमें काव्यशास्त्र के समस्त तत्त्व स्पष्ट रूप में प्रतिबिम्बित हैं। परवर्ती काव्यशास्त्र पर इसका प्रभूत प्रभाव देखा गया है। रसगंगाधर पर इसके प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में आचार्य विश्वनाथ ने पंडित राज जगन्नाथ को काव्यशास्त्र के पुनरालोचना की प्रेरणा दी। प्रेरणा का यह स्वर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' से होकर 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के रूप में प्रकट हुआ। अतः काव्यशास्त्र की विशिष्टतम उपलब्धि है 'साहित्यदर्पण' और इसके लिए आचार्य विश्वनाथ पिछले सात सौ वर्षों से स्मरणीय हैं और स्मरणीय रहेंगें निश्चित रूप से वे कालजयी आचार्य हैं।

डॉ. मंगलेश्वर कुमार
व्याख्याता (संस्कृत)
मेघु साहतारा देवी इंटर कालेज
बलरामपुर कटिहार

****

पृथिवीपूर्वरूपं द्यौरुत्तररूपम्

तोषी

विवाह संस्कार में पति–पत्नी से कहता है "द्यौरहं पृथिवीस्त्वम्" हे पत्नि! मैं द्यौ हूँ तू पृथिवी है। पृथिवी कहकर वेदवाणी ने स्पष्ट रूप से पत्नी का वर्णन किया है। यहाँ पति को बताने वाला द्यौः शब्द स्त्रीलिङ्ग है।

द्यु के तेज प्रकाश पुंज स्वरूप तत्त्व, वायु तथा जल के सूक्ष्म कणों को पृथिवी अपने अन्दर आत्मसात् कर लेती है इस द्यु के पराक्रम से तथा उर्वराशक्ति से बीज अंकुरित हो बढ़ता है और धान्यादि समस्त उद्भिज प्राप्त होते हैं।

द्यौ और पृथिवी की संधि–संहिता है। अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविध, अधिप्रज्ञ और अध्यात्म ये ही पाँच अधिकरण हैं ये पाँच महासंहिताएँ कहलाती हैं।[1]

अधिलोक दर्शन के वर्णन में कहा गया है – संहिता का प्रथमवर्ण पृथिवी है, अन्तिम वर्ण द्युलोक, मध्यभाग आकाश है और वायु अन्धान अर्थात् द्यु और पृथिवी का परस्पर सम्बन्ध करने वाला है – यह अधिलोक दर्शन कहा गया है।

अधिज्योतिष दर्शन में संहिता का प्रथम वर्ण अग्नि है, अन्तिम वर्ण द्युलोक है, मध्यभाग जल और विद्युत् सन्धान है।

अधिविध दर्शन में संहिता का प्रथम वर्ण आचार्य है। अन्तिम वर्ण शिष्य है, विद्या सन्धि है और प्रवचन अर्थात् प्रश्नोत्तर रूप से निरूपण करना सन्धान है। यह विद्या सम्बन्धी दर्शन कहा गया है।

अध्यात्म दर्शन में संहिता का प्रथम वर्ण नीचे का हनु (नीचे के होठ से ढोडी तक का भाग है) अन्तिम वर्ण ऊपर का हनु (ऊपर के होंठ से नासिका तक का भाग है) है, वाणी सन्धि है और जिह्वा सन्धान है।

अधिप्रज्ञ दर्शन में संहिता का प्रथम वर्ण माता है, अन्तिम वर्ण पिता है, प्रजा (सन्तान) सन्धि है और प्रजनन सन्धान है।

इस प्रकार ये महासंहिताएँ कही जाती हैं। संहिता शब्द का जो चमत्कारिक गतिपरक अर्थ है वह अधिप्रज्ञ और अधिलोक में भी ग्रहण किया जा सकता है।

'संहिता' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से 'क्त' तथा टाप् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है एकत्र रखा हुआ अर्थात् वर्णों अथवा पदों इत्यादि का मेल। भिन्न–भिन्न वर्णों के मिलने पर ही शब्द बनते हैं, उनमें जब एक दूसरे वर्ण से योग होता है तो उन पूर्वोत्तर वर्णों के योग को सन्धि कहते हैं और जिस शब्दोच्चारण सम्बन्धी प्रयत्न के योग से सन्धि होती है, उसे सन्धान कहा जाता है। प्रातिशाख्य–ग्रन्थों में 'संहिता' शब्द बहुत बार वर्ण, अक्षर, पद इत्यादि के सन्निकर्ष को बतलाने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

भारतीय साहित्य में 'संहिता' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में ''मिला हुआ'' अर्थ में किया गया है।[2] तै. स. में भी 'संहिता' शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] यहाँ संहिता का अर्थ दुआ मेल से बनी हुई।

ऐ. आ. के संहितोपनिषद् नामक तृतीय आरण्यक में 'संहिता' के स्वरूप का विषय प्राप्त होता है। इसके संहितोपनिषद् के आरम्भ में ''पृथिवीपूर्वरूपं द्यौरुत्तररूपम् है, इसमें पूर्वरूप से पूर्ववर्त्ती अक्षर विवक्षित है, उत्तररूप से परवर्त्ती अक्षर विवक्षित है। पूर्वरूप और उत्तररूप के मध्य में जो अवकाश है वह 'संहिता' शब्द से विवक्षित है।[4] जिसके द्वारा व्यक्ति संधि का सम्पादन करता है, स्वर और अस्वर विवेक करता है तथा मात्रा और अमात्रा का विभाग करता है।[5]

आचार्य यास्क ने निरूक्त में 'संहिता' का लक्षण करते हुए कहा है कि वर्णों का अत्यधिक सामीप्य 'संहिता' कहलाता है।[6]

प्रातिशाख्यों में जो संहिता पद का विवेचन हुआ है। ऋग्वेद–संहिता का अर्थ तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुरूप अर्थ हुआ वेद आचार्य है, वेद को जानने को उत्सुक मनुष्य शिष्य है तथा वेद के और वेद जानने के अधिकारी के बीच ज्ञान का जो तारतम्यता है जो विद्या की प्राप्ति हो रही है वही संहिता हुयी जो हमें वेद से जोड़ रही है अर्थात् ज्ञान की जो अक्षुण्ण धारा प्रवाहित हो रही है वह संहिता कहलाती है। इस ऋग्वेद संहिता के अर्थ के अनुसार ''ऋच्'' स्तुतौ धातु में 'क्विप्' प्रत्यय करके ''अन्येऽभ्योऽपि दृश्यते' से घटित करके ऋक् शब्द की व्युत्पत्ति होती है जिसका अर्थ स्तुतिपरक वाणी[7] है।

अन्तेवासी और आचार्य के मध्य चारों पुरूषार्थों से सम्बन्धित सत्तात्मक ज्ञान

विषयक वाणी अर्थात् सामान्य भाषा में ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड विषयक ग्रन्थ है।

वेदों में द्यौ लोक और पृथिवी को क्रमशः हमारे पिता और माता वर्णित किया गया है। इस प्रकार ये परस्पर पति–पत्नी हैं। ऐतरेय ब्राह्मण[8] में इनके विवाह का वर्णन मिलता है। पृथिवीस्थ जड़ पदार्थ में संहिता के क्रम में द्युलोकस्थ वायु, जल, ऊर्जा, प्रकाश, धूम आदि का पृथ्वी में सन्धान होता है। द्यौ लोक पृथिवी पर सूर्य के रश्मियों का और वृष्टि जल का सेचन करता है। पृथिवी द्वारा सूर्य की परिक्रमा करने से ऋतुओं का आवागमन होता है एवं द्यावापृथिवी के संसर्ग और सामञ्जस्य से ही औषधि, वनस्पति, धन–धान्य, स्वर्णरजत आदि की सृष्टि होती है। कहा गया है–

सबमें विद्यमान सामंजस्य–युक्त कर्मों वाले हमारे पिता–माता तुल्य द्यौ लोक और पृथिवी हमारे अन्न रस और प्राण को सींचे। मिलकर एक–दूसरे का उपकार करते हुए सबका कल्याण करने वाले द्यावापृथिवी हमारे लिए सेवनीय पदार्थों को, बल को तथा धन को मिलकर प्रदान करें।[9]

इस प्रकार द्यावापृथिवी का विवाह एवं पारस्परिक सम्पर्क होने से हमें सर्वविध धन–धान्यबल प्राण आदि प्राप्त होते हैं।

"**पृथिवीपूर्वरूपं द्यौरुत्तररूपम्**" इस संहिता पद पर विचार करें तो पृथिवी रूपा पत्नी को पूर्वरूप समझा गया है तात्पर्य यह कि देवयज्ञ में पत्नी को पति (द्यौ) के दक्षिण स्थान दिया गया है साथ ही दक्षिण स्थान से यह ध्वनित होता है कि पुरूषार्थ में वह अनुकूल (दक्षिण) रहे।[10]

यजुर्वेद के 37वें अध्याय के मन्त्र संख्या 12 में इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए कहा गया है।

"**पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्थाधिपत्ये प्रजाम्मे दाः।**"[11]

जिसका विनियोग वैवाहिक संस्कार में हुआ करता है पति यह मन्त्र पत्नी को सम्बोधित करते हुए करता है–

"**पृथिवीपूर्वरूपं द्यौरुत्तररूपम्**"

साथ ही पति अपने को स्त्रीवाची द्यौ इस पद से अभिज्ञात करता है, यह मेरे अनुसार रहस्य की बात है जिसका रहस्योद्घाटन सुधिजनों से अपेक्षित है।

सन्दर्भग्रन्थ

1. तैतिरीयोपनिषद् - प्रथमवल्ली तृतीय अनुवाक अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्थायः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्योतिमधिविद्यमधि प्रजमध्यात्मम्। ता महासंहिता इच्याचक्षणे अथाधिलोकम्। पृथिवीपूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम् आकाशः संधिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम् 1-4।।

2. ऋग्वेदः - 11.17.8.6 यच्च्यावयथ विद्युरेव संहितम्

3. तै. स. - 1.5.6.2 संहिताऽसिविश्वरुपीरा

4. ऐ.आ. - 3.1.5 पूर्वमक्षरं ...... संहितेति।।

5. ऐ.आ. - 3.1.5 अथवयं .... विजानाति येन।

6. त्रि. - 1.6 परः संन्निकर्षं संहिता। पद प्रकृतिः संहिता पदप्रकृतीनि, सर्वचरणानां पार्षदानि।।

7. निघ. 1.11 ऋक् वाङ्नाम। नि.108 ऋक अर्चनी।

8. ऐ. ब्रा. 4.27.5.6

9. ऋग्वेद 6.70.6

10. नि. 3.17 नार्य्यः यज्ञनाम्।

11. यजुः - 37-12

अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्ये आयुर्मेदाः।
पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्थाधिपत्ये प्रजाम्भे दाः
सुषदा पश्चात् देवस्थ सवितुराधित्ये चक्षुमेदाः
आश्रतिरुप्तरतो धातुराधिपत्ये रायरपोषणभेदाः
विधृतिरूपरिष्टाद् वृहस्थतेराधित्ये ओजो भेदाः।
विश्वाभ्यो मा नाष्ट्रय्यस्पाहिमनोरश्वासि।।

तोषी
संस्कृत विभाग
वनस्थली विद्यापीठ
राजस्थान

गुरुशब्दविमर्श

नागानन्द

संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'गिरति अज्ञानम्' अथवा 'गृणाति उपदिशति धर्मं यः स' –इस विग्रह में 'गृ गिरणे' धातु से अथवा 'गृ शब्दे' धातु से कर्त्ता में अथवा 'गीर्य्यते स्तूयते यः स' की दृष्टि से कर्म में 'कु' प्रत्यय करने पर 'गुरु' शब्द निष्पन्न होता है। इसका जितना लघु स्वरूप है (अर्थात् दो ही वर्ण हैं, दोनों लघु हैं) उतना ही व्यापक अर्थ। हो भी क्यों नहीं, आखिर यह 'गुरु' शब्द संस्कृत के दो–दो लिङ्गों में प्रयुक्त जो होता है। पुलिंग के 'गुरुरूपदिशति'–इस प्रयोग में और 'गुरुदायित्वम्' के नपुंसक प्रयोग में। रामायण (2/76/2) के "गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः"–प्रयोग में भी गुरु का औत्कर्ष्य ही प्रकट होता है। वैसे गुरु शब्द की निष्पत्ति पाँच अलग–अलग धातुओं से होती है, जो कि क्रमशः दो भ्वादिपरस्मैपदी, तुदादिपरस्मैपदी, क्रयादिपरस्मैपदी तथा तुरादादि आत्मनेपदी धातु है। जैसे–अष्टाध्यायी की धातु संख्या–574–गुर्वी उद्यमने, 927 –गृ सचने, 1411–गृ निगरणे, 1499 –गृ शब्दे तथा 170 –गृ विज्ञाने। जब कि "कृग्रोरूच्चे" (1/24) इस उणादि सूत्र के द्वारा गृ धातु से कु (उत् अन्तादेश) प्रत्यय करने पर भी गुरू शब्द की निष्पत्ति मानी गयी है।

'गुरु' शब्द भले ही अध्यापक के अर्थ में आज रूढ़ हो गया हो, परन्तु भारतीय संस्कृति में इसका बहुत अर्थों में व्यवहार देखा जाता है। अर्थात् संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों में इसका अर्थ विभिन्न रूपों में मिलता है। कहीं आचार्य–उपाध्याय, तो कहीं पिता, श्रेष्ठ और भी कई अर्थो में गुरु शब्द का प्रयोग होता है।

हमारे पूर्वजों के मत में कहा गया है–'धर्मं धनं च धान्यं च गुरोर्वचनमौषधम्। सुगृहीतञ्च कर्त्तव्यम् अन्यथा तु न जीवति।।'

अर्थात् धर्म, धन, धान्य, गुरू का वचन और औषध इन पाँचों का समुचित प्रकार

से ही अनुष्ठान होना चाहिये, अर्थात् उचितरीत्या ही ग्रहण करना चाहिये। किसी आडम्बर या स्वेच्छा से नहीं, अन्यथा भयङ्कर विपरिणाम हो जाता है। वस्तुतः धर्म उचित प्रकार से ही अनुष्ठेय होता है, आत्महितार्थ और लोकहितार्थ ही। आडम्बर या परधर्मद्वेष से धर्म अनुष्ठेय नहीं है। इसी प्रकार धन का उपयोग यदि समाज और राष्ट्र के हितार्थ किया जाय प्राणरक्षा के लिए किया जाय तो वह सुधन हो जाता है। विलास और परपीड़न के निमित्त किया गया धनोपयोग कुधन ही कहलायेगा। धान्य भी, सुपोषित परिशुद्ध और परिमित ही भोक्तव्य है, न कि पूतिपर्युषित, उच्छिष्ट या अपरिमित। औषध का सेवन भी वैद्य द्वारा निर्दिष्ट मात्र में ही लेना चाहिये, निर्दिष्ट समय पर ही ग्रहण करना चाहिये, तभी वह औषध, दवा बनती है अन्यथा विषवत् अपकारी हो जाती है। इसी तरह गुरु का उपदेश या गुरुवाणी, गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा को भी युक्तायुक्तचिन्तनधिया सुविमृष्टतया ही ग्रहण करनी चाहिये न कि अन्यथा अर्थपरिकल्पना के द्वारा अथवा विपर्यास से व्याख्या करके। क्योंकि ये गुरु कोई सामान्य व्यक्ति थोड़े हैं, ये तो वेदविहित शास्त्रसम्मत तर्कयुक्त वाणी के प्रयोक्ता हैं, सब कुछ जानते व देखते हैं–

''वेदशास्त्राविरोधेन तर्केण व्याहरन् वचः। स गुरुः सर्वदर्शी स्यान्न सामान्यगुरुर्गुरुः॥''

यह 'गुरु' देवताओं के आचार्य बृहस्पति को भी कहते है, जैसा कि कोषकार अमरसिंह ने कहा है–''**वृहस्पतिसुराचार्यो गीष्पतिर्धिषणो गुरुः**'' (अमरकोश – 1/3/24)। बस इतने से ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने तो अपने गुरु की श्रद्धा में इतने लीन हो गये कि ''अथ स्यान्निषेकादिकृद्गुरुः'' (2.7.7) 'गुरुर्गोपतिपित्रादौ'' (3.3.162) आदि तक कह डाला। चाणक्य के अनुसार स्त्रियों का एक मात्र गुरू पति होता है– ''पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्।'' परन्तु यह केवल पत्नी के लिए सर्वसाधारण के लिए 'गुरु गम्भीर' अर्थ रखता है। जिसका विवेचन आगे करेंगे।

भारतीय संस्कृति में गुरु का बहुत महत्त्व है, जो शब्द विद्यादाता के लिए प्रयुक्त होता है। उसी के समान श्रेष्ठ और पूज्य को भी सम्मान देने के लिए गुरु पद इन लोगों के हेतु भी व्यवहृत होता है। हमारी संस्कृति में जन्म देनेवाला उपनयन संस्कार करने वाला, विद्या देने वाला, अन्नदाता तथा भय से त्राण देलाने वाला ये पाँच गुरु कहलाते हैं–

''जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते गुरुवः स्मृताः॥''

किसी के मत में इन्हें गुरु न कहकर सीधे पिता ही कह दिया गया है–"पञ्चैते पितर' स्मृताः"–इस पाठान्तर के द्वारा कुछ धर्माचार्य पाँच नहीं, सात पिता बताते हैं उनमें भी गुरू परिगणित हैं–

"कन्यावाताऽन्नदाता च ज्ञानदाताऽभयप्रदः।

जन्मदो मन्त्रदो ज्येष्ठभ्राता च पितरः स्मृताः॥"

जब कि विष्णुपुराण के अनुसार गुरुओं की ग्यारह संख्या मानी गयी है और उनमें ज्ञान देनेवाला प्रथम कहा गया है।

इतना ही नहीं, गुरु तो उन तीन पूज्य लोगों में भी गिने जाते हैं जिनकी पूजा–प्रतिष्ठा और सत्कार प्रिय कहे गये हैं और जिनकी सेवा करने से मनुष्य इस देह में उत्तम भोग करते हुए पुण्य और यश का भागी तो बनता ही है, बल्कि परलोक में भी उत्तम गति को प्राप्त करता है–

"मातृपितृगुरुणाञ्च पूजा बहुमता मम। इहलोके नरो भोगान् यशश्च महदश्नुते॥"

यह सत्य है कि माता–पिता भी गुरू कहलाते हैं, व्यवहार के गुरु–"गुरुर्बन्धुरबन्धूनां गुरुश्चक्षुरचक्षुषाम्। गुरुः पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्त्तिनाम्।।"

किन्तु कुछ आचार्य माता को ही सर्वश्रेष्ठ और प्रथम गुरु मानते हैं, उनमे मत में– **"गुरुत्वेनाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः॥"**

हो भी क्यों नहीं, आखिर वह दश महीनों तक अपने गर्भ में रख कर शिशु के अनुकूल ही आहार विहार जो करती है। उसके जीवन की प्रथम बोली वही तो सिखाती है। तभी भगवान् मनु ने कहा–"**उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्त्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥**"

किसी अन्य ने पिता से दशगुणा अधिक माता को महत्त्व दिया है–"पितुर्दश तु मातैका सर्वाम्बा पृथिवीपतिः।।"

अतएव माता–पिता और गुरु की सेवा ही परम तप है, उनकी आज्ञा के बिना और सब अनुष्ठान व्यर्थ है–

"तेषा त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते। न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यसमाचरेत्॥"

इसीलिए मनु महाराज ने भी मनुस्मृति (2/227–28) में कहा है–

''यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्त्तुं वर्षशतैरपि।।''

''तयोर्मित्य प्रिय कुर्यात् आचार्यस्य च सर्वदा। तेष्वेव त्रिषुतुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते।।''

हो भी क्यों नहीं, माता – पिता और गुरु ये तीनों त्रिलोक जो है, तीन आश्रम, तीन वेद और तीन अग्नि जो हैं–

''त एव हि त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः।।'' (मनु. 2/230)

इन तीनों अग्नियों में भारतीय साहित्य गुरू को आहवनीय अग्नि मानता है।

अतः यह कहा गया है कि गुरुसेवा से ब्रह्म लोक मिलता है, अतएव इन तीनों गुरुओं के साथ सावधान रहें–

''ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्या नियमेन तरिष्यसि।
सम्यगेतेषु वर्त्तस्व त्रिषुलोकेषु भारत।।''

वस्तुतः ये ही तीनों त्रिलोक हैं। 'भूर्भुवः स्व' को किसने देखा हैं? ये तो दृश्यमान हैं। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो प्रत्यक्ष को छोड़ परोक्ष को स्वीकार करेगा? जैसा कि (मनु. 2/233) कहा गया है–

''इमं लोक मातृभक्त्या तु मध्यमम्। गुरूशुश्रूषयात्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते।।''

गुरू सत्य का उपदेश करता हुआ विद्यारूपी अमृत पिलाता है, अतः माता–पिता जानकर उनका कभी अनादर नहीं करना चाहिये। प्रश्नोपनिषद् भी कहती है कि–''त्वं हि नः पिता योऽस्माकम अविद्यायाः परं पार तारयसि।'' (3/8)। गुरु माता–पिता ही नहीं, परमेश्वर के समान है। परमेश्वर और गुरु दोनों एक दूसरे में बसते हैं और दोनों में कुछ भी भिन्नता नहीं हैं, बल्कि गुरु में ही कुछ वैशिष्ट्य है और वह है उनके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति। इसी बात को कविवर सुन्दरदासजी यों कहते हैं कि–

परमेश्वर अरू परमगुरु दोनू एक समान। सुन्दर कहत विशेष यह गुरूतें पावे ज्ञान।।
परमेश्वर में गुरू बसे परमेश्वर गुरु मांहि। सुन्दर दोऊ परस्पर भिन्न भाव कछु नाहिं।।

गुरू के साथ कभी हठ नहीं करना चाहिए, यदि गुरु क्रोध भी करें तब भी स्वयं नम्र होकर उन्हें प्रसन्न ही रखना चाहियें।

जो गुरु से थोड़ी सी विद्या भी पाकर उन्हें आदर नहीं देता, उसे भ्रूण हत्या से भी अधिक पाप लगता है। शास्त्रकारों ने कहा है–

''विद्यां श्रुत्वा गुरूं येनाद्रियन्ते प्रत्यासन्ना मनसा कर्मणा वा।

तेषां पापं भ्रूणहत्या विशिष्टं नान्यस्तेभ्यंः पापकृदस्ति लोके।।''

वे वही गुरु हैं, जिनके सम्बन्ध में बृहज्जावालोपनिषद् (6/12) कहती है–''स गुरुः सर्वेषां मन्त्रोपदेष्टा भवति।'' साथ ही मनुस्मृति में भी कहा गया है कि–**''अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः। तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया सह।।''** (2/149)

गुरु केवल वे ही नहीं, जिनसे समग्र शास्त्र पढ़ा जाय, बल्कि गुरु वे भी हैं, जिनसे एक अक्षर का भी ज्ञान मिला हो। आपके भ्रम या मति में उस एक अक्षर से भी यदि सुमार्ग प्राप्त हुआ हो, तो उस एक अक्षर का दाता गुरु कहलाता है।

''एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्।।''

यही एक अक्षर अज्ञान का बिन्दु होता है, बिन्दु की क्यों, सागर कह लीजिए। सभा–सम्मेलनों में एक अक्षर भी गलत होने से समग्र समाज में ऐसी अप्रतिष्ठा बन जाती है, जिसे सुधनरे–सुधारने में वर्षों लग जाते हैं। अतः यह एक ऐसा अन्धकार, अज्ञान और दोष है, जिसका निवारण नितान्त आवश्यक है। और यह निवारण गुरु ही कर सकता है, बस केवल गुरु। अतः कहा गया है–''गु शब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।।'' (अद्वैतारण्यकोष)

वस्तुतः ''गुरु बिनु ज्ञान कहाँ ते लाऊँ?'' क्योंकि–**''जाको गुरु! मुखि आप बुझायी। ताके हिरदै रह्या समायी।।''**

तभी तो गुरु प्रदत्त ज्ञान को प्रसाद मानकर किसी न कहा हे–**''गुरु परसादी पाइआ जाई। हरि सिउ चित्त लागै फिरि कालु न खाई।।''**

शास्त्रकार कहते है कि मित्रद्रोही, कृतघ्न, स्त्रीघ्न और गुरुधातियों के लिए शास्त्र में

कोई भी अशुद्धि नहीं हैं–"मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीध्नस्य गुरुघातिनः। चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नानुशुश्रुमः।।" घात का अर्थ हत्या या वध ही नहीं है, बल्कि अपमानित या उपेक्षा करना भी होता है। अतः गुरु का अपमान या उपेक्षा करने वालों की कोई भी शुद्धि किसी भी धर्मशास्त्र में नहीं हैं। यह गुरु, जैसा कि ऊपर कहा है, चाहे एक ही अक्षर को देने वाला क्यों न हो, पर श्रद्धेय, पूज्य और वन्दनीय बड़ावर है। एक अक्षर देनेवाले गुरु की भी जिसने श्रद्धा और वन्दना नहीं की, वह तो चाण्डाल ही चाण्डाल है–

"एकाक्षरप्रदातारं गुरुं यो नाऽभिवन्द्यते। पशुयोनिं शमं प्राप्यं चाण्डालमधिगच्छति।।"

गुरू न केवल शिष्य के, उनके बच्चों के, पत्नी के ही पूज्य हैं, अभिनन्दनीय हैं, बल्कि शिष्य के माता–पिता के भी पूजनीय कहलाते हैं–**"येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्मपूजितम्। मातृतः पितृतश्चैव तस्मात्पूज्यतमो गुरुः।।"**

अतः यदि किसी ने कहा कि–"न च माता न च पिता यादृशो मन्यते गुरुः" तो अक्षरशः सही ही नहीं है। ये किसी भी तरह अवज्ञा के पात्र नहीं हैं–**"केनचिच्च त् वृत्तेन ह्यवज्ञेयो गुरुर्भवेत्।"** बल्कि गुरु तो नित्य पूजा के अधिकारी होते हैं–

"तस्मात्पूजयितव्याश्च संविभोज्याश्च यत्नतः। गुरवोऽर्चयितव्याश्चं पुराणं धर्ममिच्छता।।"

क्यों न हो गुरु की पूजा, उनकी वन्दना? जिस प्रकार वायुदेव लोककल्याण के लिए सर्वत्र घूमते विचरते रहतें हैं, उसी प्रकार गुरुदेव भी छात्रहितार्थ परिभ्रमण करते हैं, उन्हें पवित्र और धन्य करते रहते हैं। जैसा कि ऋग्वेद (7/56/19) में कहा गया हैं–

इमे तुर मरूतो रामयन्ति मे सहः सहस आमनन्ति।

इमे शसं मनुष्यतो निपान्ति गुरुद्वेषो अररूषे दधन्ति।।

अथर्ववेद में भी यह कहा गया है कि शिष्यों की अविद्यारूपी पाश से मुक्ति दिलाने के लिए गुरु ही अपनी दिव्यशक्ति को प्रकट करते हैं। छात्र भी परमेश्वर से यह प्रार्थना करता है कि मुझे अविद्यारूपी बन्धन में कभी मत बान्धना, मैं आपकी विविध प्रतिमाओं की भक्तिभाव से पूजा करूँगा–

"मा नः पाशं प्रतिमुचो गुरुर्भारो लघुर्भव। मधुमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि।।" (9/3/24)

इन्हीं सबको दृष्टि में रखकर निरूक्तकार ने लिखा होगा–“गुरुः शिष्योपकर्त्ता च सत्पथस्य प्रदर्शकः।” वस्तुतः शिष्यादि परिवेष्टित आश्रमस्थित वह आचार्य ही गुरु कहलाता है, जो तात्कालिक ब्रह्मचर्याश्रम और भारतीय संस्कृति का परिचायक हो। प्रायः इसीलिए योगकुण्डल्युपनिषद् (2/10) में लिखा गया होगा–

“शास्त्रं विनाऽपि संबद्धो गुरवोऽपि न शक्नुयुः।”

महामति मनु के अनुसार जहाँ विप्र गुरु कहलाने के अधिकारी हैं, वही तंत्रासार के मत में ब्राह्मणविशेष। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है–

“निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम[illegible]ति चान्नेन स विप्रो गुरुरूच्चते।।” (2/42)

यहीं तंत्रसार कहता है–

“गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः।
उद्धर्त्तुश्चैव संहर्त्तुं समर्थो ब्राह्मणोत्तमः।।
तपस्वी सत्यवादी च गृहस्थो गुरुरुच्यते।।”

परन्तु संस्कृत काव्यों में गुरु को कहीं राजा के रूप में तो कहीं उपाध्याय के रूप में उपस्थित किया गया है। कालिदास के रघुवंश में भी–“गुरूर्नृपाणां गुरवे निवेद्या” तथा “गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा” (2/68 आदि) जैसे अनेको वाक्य प्राप्त होते हैं। सम्भव है महाकवि श्रीमद्भागवत (7/32) और शतपथब्राह्मण (12/22/11) से प्रभावित रहे हों, जिसमें क्रमशः कहा गया है कि–**“सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः तथा “सर्वैस्तोमैः पृष्टैर्गुरूभिः स्वर्ग लोकमस्पृशन्।”** अस्तु

संस्कृतवाङमय में गुरूके तीन रूप पाये जाते हैं–आचार्य, उपाध्याय और शिक्षक। इनमें आचार्य वे होते हैं जो अपने शिष्यों को वेद–वेदाङ्गादि की शिक्षा प्रदान करे। जैसा कि कहा है–

“उपनीयतु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः। सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते।।”
(मनु.–2/140) पद्मपुराण (उत्तरखण्ड–6/6/223) में भी कुछ इसी तरह कहा गया है–

“आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।

मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्रात्मकः शुचिः।”

अथर्ववेद (11/5/8) का तो मानना ही है कि–**''आचार्यस्ततक्ष नभसी उमे इमे। उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च॥''**

तथा – **''आचार्ये मृत्युर्वरूणः सोमः ओषधयः पयः। जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वरामृतम्॥''** (वहीं–11/5/4) इतना ही नहीं–**''आचार्य उन्नयमानो ब्रह्मचारिणं कृणते गर्भमन्तः। तं रात्रिस्तिस्त्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥''** के वैशिष्ट्य से विभूषित विद्या विदिता साधिष्टं प्रापयतीति तस्मै हतदेवोवाचात्र ह न किञ्चन वीर्यायेति।।'' वहाँ पर और भी कई तरह के वाक्य आचार्य के वैभव को दरसाते हैं; जैसे– 'आचार्यादेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' 'आचार्यस्ते गतिं वक्ता' 'आचार्यः प्लावयिता आदि। जब कि अर्थान्तर होने पर भी आचार्य पद का वैशिष्ट्य इससे बढ़कर और क्या हो सकता है कि–**''आचार्यवान् पुरूषो वेद।''**

इस आचार्य शब्द की निष्पत्ति पाणिनि के 'ऋहलोर्ण्यत्' (3/1/124) सूत्र के द्वारा आङ्पूर्वक चर् धातु से ण्यत् करने पर होती है, जिसके सम्बन्ध में कोषकार कहते हैं– 'मन्त्रव्याख्याकृदाचार्यः'। (अमर)। यास्क ने भी कहा है–**''आचार्य आचारं ग्राह्यति आचितोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा।''** इस प्रकार निष्पन्न आचार्य से भिन्न उपाध्याय की परिभाषा में कहा गया है।

''एक देशन्तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्चते॥''

जब कि शिक्षक को लेकर यह सुप्रसिद्ध उक्ति उसके लक्षण समान ही लगती है–

शिलष्टा क्रियाकस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥''

परन्तु योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में गुरू के लक्षण क्रम में जो कुछ भी कहा है, वह आचार्य और शिक्षक दोनों को अभिन्न मानने में बड़ा प्रमाण बन सकता है–

''उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृति-पूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं लोचाचारांश्च शिक्षयेत्॥'' (2/1/15)

जब कि ''चरेराङि चागुरौ' वार्त्तिक में आचार्य और गुरु दोनों को महर्षि कात्यायन ने एक

ही स्वीकार किया है। इसी तरह किसी और ने गुरु, आचार्य, उपाध्याय, शिक्षक, अध्यापक आदि सभी को एक ही मानते हुए कहा है कि जिसकी उक्ति गूढ़ हो और जो गूढ़ तत्त्व का उपदेष्टा हो, वही गुरु है–"गुरूः गूढ़तरो भवति, गूढ़ रौति इति वा।" जो भी हो, भारतीय समाज इन सभी को एक ही मानता है, और आचार्य को साक्षात् ब्रह्म की मूर्ति स्वीकार करता है– "आचार्यो ब्रह्मणो मूर्ति; पिता मूर्तिः प्रजापतेः। भ्राता मरूत्पत्तेर्मूर्तिः माता साक्षात्क्षितेस्तनूः।।" तैत्तिरीयोपनिषद् (1/11/2) में भी इन्हें देवता ही माना गया है–"मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।" आचार्य के इसी महत्व को देखकर भगवान् शंकर भगवत्पाद ने चार मठों की स्थापना कर वहाँ देश आचार्य परम्पराओं की नीवं रक्खी। जैसे–1.पूर्वाम्नाय गोवर्द्धनपीठ में वन, आरण्य– दो आचार्य परम्परा। 2. पश्चिमाम्नाय कालिकापीठ में तीर्थ, आश्रम–दो आचार्य परम्परा। 3. उत्तररम्नाय ज्योतिष्पीठ में गिरि, पर्वत, सागर–तीन एवं 4. दक्षिणाम्नाय शारदापीठ में सरस्वती, भारती, पुरी–तीन परम्पराएँ।

वराहोपनिषद् (4/32) में गुरू को शिव की कहा गया है अथवा शिव ही गुरु हैं–"शिवो गुरुः शिवो वेदः शिवः देवः शिवः प्रभुः।" महाभारत भी गुरु को शिव ही कहता है–"आदिदेवो महादेवो देवेशो देवभृद्गुरुः।" (13/149/64)। आगमकार भी कहते हैं–**"गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः सत्त्वप्रकाशकः। उकाराच्छिवतादात्म्यं दद्यादिति गुरुः स्मृतः॥"**

और भी यथा– **"गकारः सिद्धिदः प्रोक्तः रेफः पापस्य हारकः।**
उकारः शम्भुरित्युक्तः त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः॥"

इससे भिन्न "कृष्णं वन्दे जगदगुरूं" की मान्यता से ओतप्रोत महोपनिषद् ने विष्णु को ही गुरू मान लिया है, वह कहती है–**"स्फुरन्ति हि भीमाशा मृगतृष्णा सरस्वीत। अतो मां बोधयत्वाशु तत्त्वज्ञानेन वै गुरो॥"**

जबकि शब्दकलपद्रुमकार के अनुसार–**गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य हारकः। उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः॥** में भी गुरु विष्णुरूप ही माने गये हैं।

योगकुण्डल्युपनिषद् (3/17) के अनुसार गुरू ब्रह्मदेव के समान हैं, तभी तो उसमें कहा गया है–**"गुरुवाक्यसमाभिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत्। कर्णधारं गुरुं प्राप्यं कृत्वा सूक्ष्मे तरन्ति च॥"**

किसी ने कहा भी है–**"गुकारः प्रथमे वर्णो मयादिगुणभासकः। रुकारो द्वितीयो ब्रह्म माया भ्रान्तिविमोचकः॥"**

मुण्डकोपनिषद् भी कुछ इसी प्रकार के महत्त्व को दरसाती है–"**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।**" इन सबके सार को लेकर ही मनुस्मृति ने गुरू की महिमा एक वाक्य में बता दी–"**सहस्त्रमूर्द्धा देवेन्द्रः सर्वदेवमयो गुरुः**" (17/130)। साथ ही–

"गुरूब्रह्मा गुरूर्विष्णुः गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरुस्साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।"

गुरु की ऐसी महिमा होने के कारण ही कहा गया होगा–

"ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥"

इनके माहात्म्य महर्षि वाल्मीकि ने भी शबरी के मुख से क़हलवाया है कि आज मेरा जन्म सफल हो गया। क्योंकि आज तक जो मैंने गुरुओं की सेवा की है उसके ही प्रभाव से आपका दर्शन हुआ है–

"अद्य प्राप्ता तपः सिद्धिस्तव सन्दर्शनान्मया।
अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः॥" (अरण्यका–74/9)

यह ऐसी महिमा का ही प्रभाव है कि सम्प्रदाय बहुल अपने समाज में सम्प्रदाय श्रेष्ठ व्यक्ति को भी 'गुरू' पद वाच्य माना गया है। गुरू नानकदेव से लेकर गुरू गोविन्दसिंह पर्यन्त परम्परा के गुरू थे। आचार्य या पथ–प्रदर्शक होने पर भी सब गुरू नहीं हो सकते, गुरू में श्रेष्ठत्व और सामर्थ्य दोनों अपेक्षित होते हैं। तभी तो शिवाजी महाराज के गुरू रामदास 'समर्थगुरु' कहलाये। इनसे पहले भी अद्वैतवादी आचार्य शंकर के सामने प्रायः यही मान्यता रही होगी, तभी उन्होंने विवेकचूड़ामणि में लिख होगा–

"सर्व-वेदान्त सिद्धान्तगोचरं तमगोचरम्।
गोविन्दं परमानन्दं मद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम्॥"

अस्तु।

नागानन्द
सुस्मिता निवास, पथुरिया
साही, पुरी, (उड़ीसा)

श्रीमद्भगवद्गीता में योगतत्त्व का स्वरूप-विवेचन

डॉ. कौस्तुभानन्द पाण्डे

संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत योगशास्त्र का अपना अद्वितीय स्थान है। वेद, उपनिषद् एवं भगवद्गीता को आधार मानकर ब्रह्मविद्या का प्रवर्तन माना जाता रहा है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य एवं अन्य वैष्णव वेदान्ती आचार्यो ने उक्त प्रस्थानत्रयी का मन्थन करके जीव, जगत् एवं ईश्वर तत्त्वों का विवेचन अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रकाशन हेतु किया है। श्रुति एवं स्मृति के रूप में शास्त्रों का पर्यालोचन भारतीय धर्म, दर्शन एवं अध्यात्मविवेचन की समृद्ध परम्परा रही है। इन शास्त्रों में स्मृति के अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता का महत्त्व सर्वविदित है। भगवद्गीता लक्षश्लोकात्मक महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या में योगशास्त्र के नाम से ख्यात है। उपनिषद् के तुल्य मान्यता रखने वाला यह शास्त्र श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के संवाद के माध्यम से लोक व्यवहार की शिक्षा प्रदान करने वाला अप्रतिम दर्शन ग्रन्थ है। प्रस्तुत लेख में श्रीमद्भगवद्गीता को योगशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग, एवं भक्तियोग तथा मोक्षयोग आदि की मीमांसा प्रामुख्येन प्राप्त होती है। गीतोक्त योग का अपना विशिष्ट अर्थ है। योग की व्युत्पत्ति युजिर् योगे धातु से घञ् प्रत्यय करने से होती है। जहाँ योग का आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध परक अर्थ का ग्रहण किया जाता है, वही परवर्त्ती पतञ्जलि प्रभृति योगप्रवक्ताओं ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के रूप में योग की समाधिपरक विवेचना प्रस्तुत की है। योगशास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्य के रूप में हिरण्यगर्भ का नाम प्रसिद्ध है। तदनन्तर आचार्य पतञ्जलि ने योगसूत्र का निर्माण करके ऐसे चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय के रूप में प्रस्तुत किया है। सामान्यतः योग शब्द से आसन एवं प्राणायाम को जाना जाता है। अष्टांगयोग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि को लिया जाता है। योग में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति के रूप में

पाँच चित्त की भूमियाँ भी स्वीकृत हैं। इनमें समाधि की दृष्टि से एकाग्र एवं निरूद्ध भूमियाँ उत्कृष्ट मानी गयी हैं। वृत्तिनिरोधात्मक योग सम्प्रज्ञात (सबीज) तथा असम्प्रज्ञात (निर्बीज) के रूप में द्विविध रूप में मान्य है। भगवद्गीता में ध्यानयोग के अन्तर्गत वृत्तिनिरोधात्मक योग का संकेत प्राप्त होता है। वास्तव में भगवद्गीता 'समत्वं योग उच्यते' तथा 'योगः कर्मसु कौशलम्' के रूप में योग को नवीन अर्थ प्रदान करती है। इसीलिए श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश देते हुए 'तस्माद्योगी भवार्जुन' कहते हैं।

भगवद्गीता में योग का अर्थ है–लाभ, प्राप्त करना तथा लगाना। यहाँ योग कर्म, ज्ञान, भक्ति की त्रिवेणी से संवलित है। योग व्यावहारिक जीवन के विविध पक्षों का प्रकाशक है। भगवद्गीता में प्रतिपादित योग है–अनासक्तिपूर्वक कर्म का अनुष्ठान करना। आसक्तिपूर्वक कर्म करने तथा अनुकूल फल की प्राप्ति न होने में दुःख है।

वास्तव में क्षात्रोचित कर्म से विमुख हुए विवादग्रस्त अर्जुन को अष्टादश अध्यायों के अन्तर्गत युद्ध करने को तत्पर करना भगवद्गीता का सामायिक लक्ष्य था। परन्तु यह लक्ष्य मात्र अर्जुन के प्रति ही संगत न होकर सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक बन गया है। इसीलिए यह समस्त मानवजाति के प्रति चरितार्थ होता है। 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' अर्थात् किसी भी क्षण कर्म किये बिना प्राणी नहीं रहता है। यह मूलमंत्र भगवद्गीता के योग में विहित है। गीता व्यवहार की शिक्षा प्रदान करने वाली, समन्वयवाद की दृष्टि से परिपूर्ण ब्रह्मविद्यापरक योगशास्त्र है। यह यज्ञादि कर्मो का निषेध नहीं करता, किन्तु द्रव्ययज्ञादि की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ मानता है।

भगवद्गीता का योग उसके प्रथम अध्याय से प्रारम्भ होकर अष्टादश अध्यायपर्यन्त चलता रहता है। इसीलिए यह योगशास्त्र है। यहाँ वर्णित योग के अन्तर्गत हठयोग, लययोग, कुण्डलिनीजागरण जैसे दुरूह एवं दुःसाध्य योग की चर्चा नहीं है। वहाँ तो अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, संन्यासयोग, ध्यानयोग, ज्ञानविज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्याराजगुह्ययोग, विभूतियोग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-योग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग, दैवासुरसम्पद्विभागयोग, श्रद्धात्रयविभागयोग तथा मोक्षयोग का अष्टादश अध्यायों के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् में विशद विवेचन है। उक्त रूप में योगतत्त्व का स्वरूप विवेचन प्रकृत लेख के अन्तर्गत किया जा रहा है।

तृतीय अध्याय में जो कर्मयोग के नाम से ख्यात है, स्पष्ट मत है कि ज्ञानयोग से

सांख्यों की तथा कर्मयोग से योगियों को सिद्धि मिलती है।[1] रामानुज यहाँ कहते हैं कि विषय से व्याकुल बुद्धि वालों कि लिए ही कर्म योग का अधिकार है तथा अव्याकुल बुद्धि वालों के लिए ज्ञानयोग का अधिकार है अतः इस विषय में कोई विरोध नहीं है।[2] शंकराचार्य इस विषय में कहते है कि ज्ञानयोग से आत्मा एवं अनात्मा का विवेक करने वाले ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास को धारण किये, वेदान्त के अर्थ को जानने वाले परमहंस तथा परिव्राजक आदि ब्रह्मनिष्ठ जनों की निष्ठा कही गयी है तथा कर्मयोग से कर्म को ही प्रमुख मानने वाले व्यक्तियों की निष्ठा को कहा गया है।[3] इसी अध्याय में आता है कि किसी भी क्षण में कोई भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।[4] रामानुज कहते कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ, यह जानकर भी सभी लोक प्रकृति द्वारा प्राचीन कर्मो के अनुसार प्रवृद्ध गुणों से अवश होकर कर्म करते हैं।[5] कर्म से ही जनक आदि ज्ञानी पुरुष संसिद्धि को प्राप्त हो सके। अतः कर्म करना ही श्रेयस्कर है, कर्म के बिना अभीष्ट लक्ष्य परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है।[6]

चतुर्थ अध्याय में जो ज्ञानयोग के नाम से विश्रुत है, वहाँ समस्त कर्मो की परिसमाप्ति को ज्ञान माना गया है। इस ज्ञानयज्ञ को सर्वश्रेष्ठ मानकर ज्ञान से इस पवित्र इस संसार में कोई भी वस्तु नहीं कही गयी। ज्ञान प्राप्ति हेतु श्रद्धा को आवश्यक माना गया है। ज्ञान द्वारा ही परम शान्ति को प्राप्त किया जा सकता।

पञ्चम अध्याय में संन्यासयोग की चर्चा है। संन्यास एवं कर्मयोग दोनो के ही निःश्रेयस् अर्थात् मोक्षप्रद कहा गया है। उन दोनो में कर्मसंन्यास से कर्मयोग की विशिष्टता प्रतिपादित की गयी है। रामानुज का मत है कि संन्यासयोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोग, ज्ञानयज्ञ सिद्ध होने पर भी निरपेक्ष रूप में दोनों मोक्षप्रदायक हैं।[7]

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।[8]

रामानुज ने यहाँ स्पष्ट किया है कि जो आत्मावलोकन रूप फल ज्ञानयोग के द्वारा प्राप्य है, वही कर्मयोग निष्ठ के द्वारा भी प्राप्य है।[9] ईश्वर जीव के कर्तृत्वभाव या कर्मफल संयोग की सृष्टि नहीं करते, किन्तु जीव का स्वभाव ही प्रवृत्त होता है। यही कारण है कि मनुष्य कार्य करने को विवश है।[10] रामानुज स्वभाव को प्रकृतिवासना के नाम से स्पष्ट करते हैं।[11] गीता कहती है कि ज्ञानरूपी नौका में आरोहण करके-पाप रूपी समुद्र से पार

पाया जा सकता है। ज्ञानाग्नि ही सभी कर्मो को भस्मसात् करती है।[12] ज्ञान से पवित्र इस संसार में कुछ भी नहीं है।[13]

ध्यानयोग के विषय में भी भगवद्गीता का दृष्टिकोण स्पष्ट रहा है। बाद में पतञ्जलि आदि द्वारा जिस प्राणायामप्रत्याहारपरक योग का विवेचन किया गया, उसे भगवद्गीता से षष्ठ अध्याय में देखा जा सकता है। ज्ञानयोग में आरूढ़ होने के लिए निष्काम कर्म ही कारण है। योगारूढ़ होने पर कर्मनिवृत्ति ज्ञान की पूर्णता की साधक है। जब सभी प्रकार के संकल्प का संन्यास लेकर साधक इन्द्रिय अर्थो में आसक्त नहीं होते तो उन्हें योगारूढ़ अथवा ज्ञानयोग में प्रतिष्ठित माना जाता है।[15] ज्ञान तथा विज्ञान से जिसकी आत्मा तृप्त हो चुकी है, जो निर्विकार एवं इन्द्रिजयी है, उनके लिए मृत्तिका, प्रस्तर एवं स्वर्ण में समदृष्टि सिद्ध हो जाती है, वहीं योगी आत्मनिष्ठ है।[15] योग के इस सन्दर्भ में ध्यानयोग की विशेष विधि का प्रतिपादन भी किया गया है। पवित्र स्थान में स्थिर भाव से न अधिक ऊँचे तथा न नीचे कुश, तृण बिछाकर उस पर व्याघ्रचर्म तथा ऊपर वस्त्र द्वारा आसन स्थाापित करके चित्त तथा अन्तरिन्द्रिय मन तथा बाह्य इन्द्रियों को संयमित करके, मन को एकाग्र करके आत्मविशुद्धि हेतु आसन में स्थित होकर योग का अभ्यास करना चाहिए। शरीर, मस्तक एवं कण्ठ को सीधा रखकर अचल भाव से नासिकाग्र को देखते हुए चारों ओर न देखकर प्रसन्नचित्त एवं भयरहित होकर, ब्रह्मचर्य धारण करके, मन को संयमित करके, मुझ परमात्मा में चित्त को लगाकर समाहित भाव से अवस्थित रहे।[16] इत्यादि रूप में ध्यान की विधि द्वारा योग की सिद्धि मानी गयी है। गीता के अनुसार ज्ञान की दिशायें हैं–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः।।[17]

प्रथम दृष्टि है कि सभी भूतों (प्राणियों) में आत्मा का दर्शन तथा दूसरी दृष्टि में, आत्मा में सब भूतों का दर्शन। ये दोनो ही दिशायें पूरक हैं। विश्वरूपदर्शन में आत्मा में सभी भूतों का दर्शन स्पष्ट हुआ है। ऐसा योगी समदर्शन कहा जाता है। इसी अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को योगारूढ़ होने का उपदेश देते हैं–

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन।।[18]

योगी व्यक्ति तपस्वियों, ज्ञानियों तथा कर्म करने वाले सभी से श्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन तुम योगी बनो। जो श्रद्धायुक्त होकर मन को मुझमें लगा लेता है तथा मुझे ध्यान में रखता है, वह योगियों में भी श्रेष्ठतम है।[19]

ज्ञान विज्ञानयोग के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान एवं विज्ञान के विकास के लिए भी योग का अवलम्बन आवश्यक है। अनेकत्र 'ज्ञानी' शब्द का प्रयोग ज्ञानमार्ग के साधक के लिए ही प्रोक्त है। गीता का वचन है–

तेषां ज्ञानी नित्युक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।[20]

रामानुज इस सन्दर्भ में कहते हैं कि ज्ञानी का ईश्वर से नित्य योग रहता है, अन्य लोगों का योग प्रयत्नपूर्वक सिद्ध होता है।[21] श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी मेरा भजन करते हैं, उनमें ज्ञानी ही श्रेष्ठतम है।

अक्षरब्रह्मयोग नामक अष्टम अध्याय का अपना विशेष महत्त्व है। इस अध्याय में ब्रह्मतत्त्व ब्रह्मोपासना तथा ईश्वर के चिन्तन पर बल दिया गया है। अन्तकाल में भगवान् को स्मरण करके ही मोक्ष मिलता है, इस तथ्य का दिव्य उपदेश इस अध्याय की विशेषता है। 'मामनुस्मर युध्य च' मेरा स्मरण करो तथा युद्ध करो, इस भाव से अक्षरतत्त्व ब्रह्म का प्रतिपादन करके पापादि से रहित हुआ जा सकता है। प्रयाण अर्थात् मृत्युकाल में चित्त से भक्तिपूर्वक योगबल के द्वारा दोनों भौहों के मध्य में प्राण को उत्तम रूप से धारण करके ध्यान करने वाला दिव्य परमपुरुष को प्राप्त करता है।[22] सभी इन्द्रियों के द्वारों को भ्रूमध्य में धारण करके आत्मसमाधिरूप योग में अक्षरब्रह्म की साधना सिद्ध होती है। गीता 'ओम्' इस एकाक्षर ब्रह्म का ध्यान करके शरीरत्यागपूर्वक मोक्ष की सिद्धि मानती है–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।[23]

ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग का उपदेश श्रेयःमार्ग एवं प्रेयःमार्ग के रूप में उपनिषद् में भी मिलता है।[24] गीता का मत है कि दोनों मार्गो का ज्ञान होने पर योगी मोह से परे हो जाता है, अर्थात् संसार को प्राप्त कराने वाले कर्म उसे लिप्त नहीं करते, वह मोक्षप्रापक मार्ग का

अवलम्बन करके ईश्वरनिष्ठ हो जाता है। इसलिए हे अर्जुन! तुम सदा योगयुक्त बने रहो।[25] वेद, यज्ञ, तप, दानादि कर्मो से जो पुण्यफल वाला शास्त्रोपदेश दिया गया है, योगी उन सबका अतिक्रमण करता हुआ परमस्थान को प्राप्त होता है–

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव, दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा, योगी परं स्थानमुपैति दिव्यम्॥[26]

राजविद्याराजगुह्ययोग के अन्तर्गत ईश्वरीय योग के सामर्थ्य, भगवान् के भक्तों हेतु, दैवी सम्पत्ति से युक्त एवं आसुरी सम्पत्ति से युक्त अभक्त, ईश्वर का विश्वानुगतभाव, योगक्षेम तथा शरणागति को भक्ति के उपाय के रूप में विवेचित किया गया है। गीता का मत है–

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥[27]

राजविद्या विद्याओं की राज्ञी है तथा राजगुह्य या गोपनीय ज्ञान गुह्य का राजा है। इस सन्दर्भ में श्रीकृष्ण का कथन है कि जो अनन्य रूप से उस ब्रह्म का चिन्तन करके उपासना करते हैं, उनके लिए वे योगक्षेम का वहन करते है–**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।**[28] यहाँ योगक्षेम के अर्थ को स्पष्ट करते हुए रामानुज कहते हैं कि मेरी प्राप्ति रूप फल को ही योग कहते हैं तथा अपुनरावृत्ति पूर्वक मोक्ष प्राप्ति को क्षेम कहा जाता है।[29] जबकि शंकर अप्राप्त की प्राप्ति को योग कहते हैं तथा प्राप्त के रक्षण को क्षेम कहते हैं।[30] श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति कहते है कि जो तुम कर्म करते हो, जो आहार लेते हो, जो हवन करते हो, जो कुछ दानादि करते हो तथा जो भी तप करते हो, उसे मुझे ही अर्पित कर दो। यही गुह्ययोग है। मुझमें कर्मफल के त्याग से मुक्त होकर तुम कर्मबन्धन से भी विमुक्त होकर मुझे प्राप्त कर लोगे। अतः मुझमें मन लगाकर मेरे भक्त बनो, मेरे पूजक होकर मुझे नमस्कार करो, मेरे शरणागत बनकर अपने को मुझ में लगाओ, इस प्रकार मुझे ही प्राप्त कर लोगे। विभूतियोग में ईश्वर के विश्वानुगत होकर विश्वातीत होने का प्रतिपादन मिलता है। गीता में वचन है–

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥[31]

अर्थात् जो मेरी इस विभूति और योग को यथार्थ रूप में जानते हैं, वे अविचलित तत्त्वज्ञान से युक्त हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इसी अध्याय में श्रीकृष्ण का वचन है कि मैं ही समस्त जगत् का उत्पत्तिस्थान हूँ तथा मुझसे ही सभी पदार्थ प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन निम्नवत् है–

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।[32]

विश्वरूपदर्शनयोग के अन्तर्गत अर्जुन को दिव्य चक्षु प्रदान करके श्रीकृष्ण ने वह सब स्वरूप प्रकट कर दिया जो चर्मचक्षुओं से द्रष्टव्य नहीं हो सकता। 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य में योगमैश्वरम्'[33] के रूप में ईश्वरीय योग को यहाँ प्रस्तुत किया गया है। हे अर्जुन! मेरे सैकड़ो, हजारों, नानाविध दिव्य, नानावर्णो वाले रूपों के दर्शन करो तथा मेरे असाधारण योग का लाभ करो। रामानुज ने इस असाधारण योग को श्रीकृष्ण के अनन्त ज्ञानादि योग तथा अनन्तविभूतियों के रूप में स्पष्ट किया है।[34] जब श्रीकृष्ण ने विश्वदर्शनयोग का प्रदर्शन किया तो वे कहने लगे कि द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण अन्य सभी योद्धाओं को मार डालो, इस युद्ध में तुम शत्रुओं को नष्ट कर दोगे, क्योंकि उन्हें मैं पहले ही मान चुका हूँ, अतः युद्ध करो।[35] इस वचन से अर्जुन का विषाद नष्ट हो चुका होगा; क्योंकि उत्पत्ति एवं लय ईश्वराधीन हैं, मनुष्य तो निमित्तमात्र है।

भगवद्गीता में भक्ति के प्रतिपादन को अत्यन्त महत्त्व मिलता है। भक्तियोग नामक द्वादश अध्याय में अनन्या भक्ति का प्रतिपादन मिलता है। भगवान् के साथ ऐक्य भाव को प्राप्त होना ही भक्ति का स्वारस्य है। गीता सकाम एवं निष्काम उपासना में भेद मानती है तथा निष्काम उपासना को ग्राह्य मानती है। श्रेष्ठ योगी के विषय में वचन है–

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता॥[36]

मुझमें मन को निविष्ट करके जो सदा युक्त रहकर परमश्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं, वे ही श्रेष्ठ योगी हैं। जो सभी कर्मों को मुझ में छोड़कर मत्परायण हैं, वे अनन्य योग से ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं–

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥[37]

मुझमें ही मन लगाओ, मुझमें ही बुद्धि का निवेश करो, शरीर छोड़ने पर मुझमें ही निवास करोगे, इसमें संशय नहीं है–

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।[38]

गीता का भक्तियोग आर्त्त, जिज्ञासु अर्थार्थी तथा ज्ञानी सभी के लिए है। उनमें ज्ञानी भक्त भगवान् का आत्मस्वरूप ही है। इसीलिए 'ज्ञानी त्वात्मैव मतम्' 7.18, 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते' 7.17 जैसे वचनों से ज्ञानी को महत्त्व प्रदान किया गया है।

क्षेत्रक्षेज्ञविभागयोग के अन्तर्गत क्षेत्र अर्थात् शरीर, क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा के भेददर्शन को मोक्ष हेतु स्वीकार किया गया है। देहात्मविवेक ही गीता के मत में मोक्ष है। युद्ध में शरीर नाश होना सिद्ध है। आत्मा को तो गीता के ही शब्दों में किसी शस्त्रादि से छिन्न नहीं किया जा सकता है, न उसे अग्नि जला सकती है, न वायु ही उसे सुखा सकती है।[39] इसीलिए गीता का उद्घोष है–

कर्मण्येवाधिकास्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।[40]

देह, मन, बुद्धि आदि सभी पदार्थ सृष्ट हैं। अतः अनित्य हैं, नश्वर हैं। आत्मा निर्गुण है, शरीरादि सगुण हैं। माया के गुणत्रय सत्त्व रजस् तथा तमस् से आत्मा परे है। गीता स्पष्ट कहती है–

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।[41]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी माया को प्रकृति तथा मायावी को महेश्वर कहा गया है।[42] गीता में ही 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिःसूयते सचराचरम्' 9.7 तथा

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।[43]

इत्यादि के रूप में शरीरात्मभेद को सिद्ध किया गया है।

समत्व का उपदेश देते हुए वचन आता है–

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।[44]

जो विनाशशील भूतों में अविनाशी परमेश्वर को समान भाव से स्थित देखता है, वही वास्तव में देखता है, वही समदर्शी है। जो समान भाव से सभी प्रकार अवस्थित ईश्वर का द्रष्टा है, वही अपनी हिंसा कभी नहीं करता। इसीलिए वह परमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।[45]

भगवद्गीता के गुणत्रयविभागयोग नामक अध्याय में सत्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों के स्वरूप एवं स्वभाव का विमर्श प्राप्त होता है–

सत्त्व रजस्तम इति गुणा प्रकृतिसम्भवाः।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।[46]

सत्त्व, रजस्, तमस् ये प्रकृति से उत्पन्न तीन गुण निर्विकार आत्मा को शरीर में निबद्ध करते हैं। गुणातीत, मान एवं अपमान में, मित्र एवं शत्रु में तुल्यबोध रखने वाला कहलाता है; वह सभी उद्यमों का परित्याग करने वाला है, इसी योग को गुणत्रययोग के रूप में गीता में उपदिष्ट समझना चाहिए–

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।[47]

जो दुःख में परेशान नहीं होता, सुख में स्पृहा नहीं रखता, रोग, भय तथा क्रोध से रहित है, ऐसे मुनि को स्थितप्रज्ञ कहते है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते।।[48]

पुरुषोत्तम योग में पुरुषोत्तम तत्त्व के स्वरूप को प्रदर्शित किया गया है–

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।[49]

क्योंकि मैं क्षर से अतीत हूँ तथा अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसी कारण लोक व्यवहार एवं पुराणवेदादि में मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। पुरुषोत्तम को प्राप्त करना ही मुक्ति का स्वरूप है। इस संसार में दो प्रकार के पुरुष हैं–क्षर या विनाशशील एवं अक्षर अर्थात् अविनाशी। उनमें जीव, जगदादि क्षर हैं तथा कूटस्थ आत्मा अक्षर है–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।[50]

दैवासुरसम्पद्भागयोग नामक अध्याय में प्रधान तथा दैव एवं आसुरी सम्पत्तियों का वर्णन एवं योग प्रस्तुत किया गया है। दैवी सम्पदाओं में भयराहित्य, अहंकारशून्यता आदि को स्पष्ट किया गया है। वहीं आसुरी सम्पत्तियों में दर्प, दम्भ, अभिमान, क्रोध, नैष्ठुर्य, अज्ञानादि का उल्लेख हुआ है। इनमें दैवी सम्पदा ही मोक्ष का मार्ग है तथा आसुरी सम्पत्ति संसार का मार्ग है–

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता।

मा शुचःसंपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।[51]

श्रद्धात्रयविभाग के अन्तर्गत त्रिविधा श्रद्धा का विवेचन मिलता है–

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।[52]

त्रिविध श्रद्धा के अन्तर्गत त्रैगुण्य के कारण भेद सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त सात्त्विकादि भेद से त्रिविध आहार, त्रिविध यज्ञ, विविध तप तथा त्रिविध दानादि का भी इसी सन्दर्भ में सुष्ठु विवेचन मिलता है।

भगवद्गीता का सारभूत एवं महत्त्वपूर्ण अष्टादश अध्याय मोक्षयोग के नाम से जाना जाता है। श्रीकृष्ण के मुख से परमपुरुषार्थ मोक्ष का लाभ इस अध्याय की विशेषता रही है। कर्मप्रवृत्ति के तीन हेतु हैं–करण इन्द्रिय, कर्म क्रिया तथा कर्त्ता–ये तीन कर्मसंग्रह या क्रिया के आधान हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा किसी कर्म का प्रवर्त्तक अथवा आश्रय न होकर स्वयं निर्विकार है। भगवद्गीता में साररूप निर्देश हैं कि ब्रह्मभाव के भाव को जाने पर योगी प्रसन्नात्मा हो जाते हैं तथा शोक व आकांक्षा से भी परे हो जाते हैं। सभी प्राणियों

के प्रति समदर्शित्व की सिद्धि होकर ईश्वर की पराभक्ति को प्राप्ति करते है–

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।[53]

ब्रह्म का साधक ईश्वर निष्ठ होकर अपने–अपने आश्रमोचित कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है तथा ईश्वर के अनुग्रह से ही शाश्वत अव्यय स्थान का अधिकारी बनता है। ईश्वर ही सभी प्राणियों के हृदयदेश में स्थित होकर मायाशक्ति द्वारा यन्त्रस्थित पुत्तलिका की भाँति उन्हें परिचालित करते हैं।[54] अतः उपदेश हैं कि शरीर, मन तथा वाणी से उसी ईश्वर की शरणगति प्राप्त करो, उससे ही परमशान्ति एवं नित्यस्थान प्राप्त होता है।[55] ईश्वर में ही हृदय को अर्पित करके उसके भक्त बनो, उसकी ही पूजा करो तथा उसे ही प्रणाम करो। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मेरी कृपा से ज्ञान द्वारा मुझे पा लोगे; क्योंकि तुम मेरे अति प्रिय हो।[56] सभी प्रकार के धर्मो (कर्त्तव्याकर्त्तव्य) का त्याग करके मेरी ही शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें कर्मबन्धन रूप समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, अतः तुम शोक न करो–

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।[57]

यह श्रीभगवान् का अन्तिम उपदेश या वाणी है, गीता का भी अन्तिम उपदेश है, यह केवल अर्जुन के लिए नहीं, विश्व के सभी मनुष्यों के लिए है।[58] अतः प्रपन्न भाव से ईश्वर को ही अपना परम हितैषी मानकर सभी कर्मो को ईश्वरार्पित करके उसकी शरण में ही मोक्षसिद्ध होता है। यही मोक्षयोग है।

उक्त रूप में प्रस्तुत विवेचन द्वारा यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि प्राणायाम प्रत्याहारादि के रूप में जो योग जन सामान्य में प्रचलित है, उससे भिन्न व्यापक परिप्रेक्ष्य में योग का स्वरूप भगवद्गीता में प्रस्तुत किया गया है। कर्म की कुशलता भी योग है, समत्व भी योग है तथा साथ ही कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग एवं भक्तियोग का समन्वय भी गीता की व्यापक दृष्टि का परिचायक है। भगवद्गीता अनासक्ति भाव से कर्म करने का उपदेश प्रदान करती है, तो यह भी प्रतिपादित करती है कि किसी धर्म, जाति आदि के बन्धन से आत्मा परे है तथा प्रेरित कराना एकमात्र प्रासंगिक, सामयिक एवं

औपचारिक लक्ष्य होकर भी समस्त प्राणियों को अहर्निश कर्म करने की प्रेरणा गीता प्रदान करती है। तभी तो कहा गया है–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।[59]

भगवद्गीता पर अनेकानेक टीकायें, भाष्य, शोध कार्यादि हो चुके हैं तथा भविष्य में भी होते रहेंगे क्योंकि यह मानवमात्र के लिए प्रस्तुत दर्शन है।

सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता, 3.3
2. तात्पर्यचन्द्रिकासहितं गीताभाष्यम्, पृ. 108
3. भगवद्गीता, शाङ्करभाष्यम्, पृ. 84
4. तात्पर्यचन्द्रिकासहितं गीताभाष्यम्, पृ. 105
5. वहीं, पृ. 105
6. भगवद्गीता, 3.20, गीताभाष्यम् पृ. 118
7. तात्पर्यचन्द्रिकासहितं गीताभाष्यम्, पृ. 181
8. भगवद्गीता, 5.5
9. गीताभाष्यम्, पृ. 183-84
10. भगवद्गीता, 5.14
11. गीताभाष्यम्, पृ. 190
12. भगवद्गीता, 4.36
13. 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'; वहीं 4.38
14. भगवद्गीता, 6.4
15. वहीं, 6.8
16. वहीं, 6/11-14
17. वहीं, 6.29

18. वही, 6.46
19. वही, 6.47
20. वही, 7.17
21. गीताभाष्यम्, पृ.123
22. भगवद्गीता, 8/10
23. वही, 8/13
24. कठोपनिषद्, 1.2.1
25. भगवद्गीता, 8.27
26. वही, 8.28
27. वही, 9.2
28. वही, 9.22
29. गीताभाष्यम्, पृ.310
30. भगवद्गीता, शांकरभाष्यम्, पृ.238
31. भगवद्गीता, 10.7
32. वही, 10.8
33. वही, 11.8
34. गीताभाष्यम्, पृ.362
35. भगवद्गीता, 11.34
36. वही, 12.2
37. वही, 12.6
38. वही, 12.8
39. वही, 2/23-24
40. वही, 2.47
41. वही, 13.1
42. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4.10

43. भगवद्गीता, 14.3
44. वही, 13.27
45. वही, 13.29
46. वही, 14.5
47. वही, 14.25
48. वही, 2.56
49. वही, 15.18
50. वही, 15.16
51. वही, 16.5
52. वही, 17.2
53. वही, 18.54
54. वही, 18.61
55. वही, 18.62
56. वही, 18.63
57. वही, 18.66
58. वही, सम्पादक एवं टीकाकार, स्वामी अपूर्वानन्द, श्रीमद्भगवद्गीता, पृ.462
59. भगवद्गीता, 2.69

डॉ. कौस्तुभानन्द पाण्डे
उपाचार्य, संस्कृतविभाग
एस.एस. जीना परिसर,
अल्मोड़ा



कल्प साहित्य में विविध यज्ञ

डॉ. गीताञ्जलि तिवारी

देवता को उद्दिष्ट कर द्रव्य का अग्नि में त्याग याग कहलाता है।[1] यज्ञ का शाब्दिक अर्थ है–पूजा करना अथवा यजन करना। जहाँ भिन्न–भिन्न देवताओं के लिए भिन्न–भिन्न हवियों की आहुतियाँ अग्नि में दी जाती हैं, वे ही यज्ञ अथवा याग कहलाते हैं।

महर्षि कात्यायन अपने श्रौतसूत्र में 'अथ यज्ञं व्याख्यास्यामः' इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए यज्ञ की परिभाषा करते हैं–

'द्रव्य, देवता और त्याग–ये तीन यज्ञ के लक्षण हैं'

स्मार्तोल्लास नामक ग्रंथ में यज्ञीय द्रव्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि– तेल, दही, दूध, सोमलता, यवागू (चावल या जौ की लपसी), भात, घी, कच्चे चावल, फल और जल – ये दस द्रव्य ही वैदिक यज्ञों में देवताओं के प्रीत्यर्थ प्रयोग में आते हैं।[2] देवता आधिदैविक शक्तियों से सम्पन्न होते हैं, जो यज्ञ को सर्वथा व्याप्त करके मंत्ररूप में अभिव्यक्त होते हैं। निरुक्तकार के अनुसार – 'जिस कामना से ऋषि जिस देवता के प्रति अपने प्रयोजन की सफलता की इच्छा करते हुए स्तुति का प्रयोग करते हैं, उसी देवता का स्वरूप वह मन्त्र होता है।[3]

इस प्रकार नाना प्रकार के अभिप्रायों के साथ ऋषि की मन्त्र – दृष्टि भी नाना प्रकार की होती हैं। मन्त्रों में जिस स्थानों पर रथ, आयुध, अश्व, इषु आदि का उल्लेख आता है, वे सब पदार्थ देवताओं के स्वरूप – भूत ही हैं। उनसे पृथक् नहीं।[4]

अतएव आपाततः पदार्थान्तर को देखकर मन्त्रों के विषय में अन्यथा सोचना ठीक नहीं। यास्काचार्य का भी यही विचार है।[5]

देवता के स्वरूप के विषय में शंकायें की जाती हैं कि वह निराकार हैं या साकार,

जड़ है या चेतन? परन्तु ये द्वन्द्वात्मक विकल्प आधिभौतिक सृष्टि में होते हैं। आधिदैविक लोक की विभूतियों के विषय में ये प्रश्न नहीं उठते। देवता वह सब कुछ हैं या कुछ नहीं हैं – जो हो, उपासक के लिए तो मन्त्ररूप में ही वे सब कुछ प्रदान करते हैं। यज्ञ एक विधान हैं, जिसके द्वारा देवताओं को तृप्तकर यजमान अपने अभिलषित आनंद को प्राप्त करता है। स्वर्गलोक की प्राप्ति यज्ञानुष्ठान का एक मुख्य उद्देश्य होता है। यह स्वर्ग है क्या?[6] जिसमें दुःख का सम्पर्क, उपभोग के पश्चात् जो दुःख ग्रस्त नहीं होता तथा इच्छामात्र से बिना प्रयत्न किये जो प्राप्त होता है, इस प्रकार का सुख स्वर्ग कहलाता है।

वेदों में असंख्य प्रकार के यज्ञों का विधान हैं, परन्तु यज्ञ मुख्यतः पाँच प्रकार के होते हैं 'अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग। इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद बहुत होते हैं – जैसे सोमयाग के भेदों में अश्वमेघ, नरमेघ, एकाह और अहीन याग। दो दिन से लेकर एकादश रात्रिपर्यन्त अहीनयाग होते हैं। साथ ही त्रयोदश रात्रियों से लेकर सहस्त्र संवत्सर पर्यन्त असंख्य प्रकार के याग होते हैं, जो सत्र कहलाते हैं।

वैदिक यज्ञों में पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ भेद से यज्ञों के तीन प्रकार दिखलाकर प्रत्येक के सात–सात भेद करके 21 प्रकार के यागों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः यज्ञयुग का काल इतना विस्तृत है कि आज हमारे सामने कोई ऐसा साधन नहीं कि उसकी गणना की चेष्टा करे। हिन्दू, शास्त्रों की दृष्टि से यह युग कोटि – कोटि वर्षों तक व्याप्त रहा है, यज्ञों के असंख्य भेद भी इस बात को प्रमाणित करते हैं। यज्ञ वैदिक धर्म का मेरूदण्ड है। अग्नि में नाना देवताओं को उद्दिष्ट कर हविष्य अथवा सोमरस का हवन यज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ–संस्था का साम्राज्य है तथा उसके विविध अनुष्ठानों का इतना सूक्ष्म तथा विस्तृत वर्णन है कि आलोचकों को आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। इस संस्था का पूर्ण विवेचन श्रौत तथा गृह्यसूत्रों की सहायता से ही हो सकता है। इसका पूर्ण–वैभव वहीं दृष्टिगोचर होता है।

गौतम के अनुसार यज्ञ 3 संस्थाओं एवं 21 भेदों वाला होता है। ये संस्थायें हैं – पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ। पाकयज्ञ का अनुष्ठान औपासन अग्नि (लौकिक अग्नि) में करने का विधान है। इस संस्था में 7 गृह्ययाग परिगणित है जिनका विशद वर्णन गृह्यसूत्रों का विषय है। हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ संस्थायें ही वैदिक यागों की विवेचिका हैं। हविर्यज्ञ में सात तथा सोमयज्ञ में सात याग परिगणित हैं। इस प्रकार 21 उपभेदों वाली

यज्ञ संस्थायें स्मार्त एवं श्रौत यज्ञ के रूप में विभक्त की गयी हैं। पाकयज्ञ ही स्मार्त एवं अन्य संस्थायें श्रौतयज्ञ हैं। श्रौतयज्ञ सुविधा की दृष्टि से हवि, पशु एवं सोम तीन भागों में विभाजित किये गये हैं।

हविर्यज्ञ – अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयणः चातुर्मास्य।

पशुयज्ञ – निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणि पिण्डपितृ यज्ञादिक दर्वीहोम।

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम, वाजपेय, राजसूय, एकाह, अहीन, सत्र, द्वादशाह, गवामयन आदि।[7]

बाह्यरूप से देखने पर यज्ञ तो केवल किसी देवताविशेष के लिए द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप है, परन्तु वह विलक्षण रहस्य से संवलित है। जिस कर्म से शुद्धि देह शुद्धि, इन्द्रिय शुद्धि, अहंकार शुद्धि और चित्त शुद्धि होती है, जिस कर्म का फल स्वार्थ नहीं, परार्थ होता है, जिस कर्म से नया आवरण नहीं बनता, प्रत्युत पहले का आवरण क्षीण हो जाता है, जो मार्ग जीव को क्रमशः कल्याण के मार्ग में अग्रसर होने में सहायक होता है और अन्त में महाज्ञान तक की प्राप्ति कराता है – वही यज्ञ है। गीता के अनुसार निष्काम भाव से किया गया, फलाकांक्षा से रहित योगस्थ कर्म या स्वभावसिद्ध कर्म ही यज्ञ कहलाता है। इस यज्ञ से उत्पन्न फल की यथार्थता समझने के लिए त्याग तथा ग्रहण के सिद्धान्त को भली–भाँति समझना चाहिए। त्याग और ग्रहण – ये दोनों कर्म के अंग हैं। जो आसार होने से हेय हैं, उसका त्याग करना तथा सारवान् होने से जो उपादेय हैं, उसका ग्रहण करना – ये दोनों क्रियायें ही यज्ञ के स्वरूप की प्रतिपादिका हैं। क्रिया–कौशल से शुद्धाशुद्ध – मिश्रित पदार्थ से क्रमशः अशुद्ध अंश का त्याग तथा शुद्ध अंश की वृद्धि होती है यज्ञ के द्वारा इस रहस्य का उद्घाटन सिद्ध होता है।

बहियोग के रहस्य को समझना अन्तर्याग के रूप को समझने से सिद्ध होता है। अज्ञान को निरस्त कर ज्ञान तथा महाज्ञान की प्राप्ति करना ही यज्ञ का उद्देश्य है। अग्नि के देहाभिमान को हवन कर शुद्ध सत्व में प्रतिष्ठित होना यज्ञ का प्रधान उद्देश्य है। चैतन्य के विकास के पाँच स्तर हैं, जो कोषों से सम्बद्ध हैं। ये कोष पाँच हैं – अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय, जो क्रमशः उच्च से उच्चतर चैतन्य की वृद्धि के सूचक हैं। जीवन को भगवान के चरणारविन्द में अपना सर्वस्व समर्पण करना होता है।

दुःख तथा सुख, हेय तथा उपादेय, मृत्यु तथा अमृतत्त्व इन सबका समर्पण अनन्त ब्रह्माण्ड– नायक भगवान् के चरणों में करने से ही जीव का परम कल्याण सम्पन्न होता है। यज्ञ आत्म–बलिरूप है। उसके द्वारा मलिन अंश का त्याग कर शुद्ध अंश का ग्रहण किया जाता है। अन्ततः विशुद्ध सत्व में आत्मा प्रतिष्ठित होता है। यज्ञ की चरम आहुति या पूर्णाहुति ग्रहण करने की क्षमता न तो किसी लौकिक अग्नि में है, और न किसी अलौकिक अग्नि में ही, यह तो विशुद्ध अमृत है। एकमात्र ब्रह्माग्नि में – विशुद्ध चैतन्य रूप अग्नि में ही उस परम अमृत को धारण करने की क्षमता है।

यज्ञ का एक अन्य प्रयोजन भी है, और वह है जगत्–चक्र के यथावत् संचरण के लिए साधन जुटाना। सृष्टि के कार्य में यज्ञ का ही साधन आवश्यक होता है। यह एक प्रजापति ने भूतों की सृष्टि तथा यज्ञ का सर्जन एक साथ किया और देवमानवों के परस्पर साहाय्य–भाव उसी आदिकाल में स्थापित किया। इस चक्र की कड़ियाँ निम्न रूप में द्रष्टव्य हैं – संसार में जीव ही अपने स्वरूप से प्रधान है। इन जीवों की सृष्टि होती है अन्न से, अन्न उत्पन्न होता है पर्जन्य से (मेघ वृष्टि से) और पर्जन्य उत्पन्न होता है, यज्ञ से, यज्ञ उत्पन्न होता है कर्म से और कर्म उत्पन्न होता है ब्रह्म से और ब्रह्म से और ब्रह्म उत्पन्न होता है अक्षर परमेश्वर से।[९]

पारस्परिक भावना ही इस विश्वचक्र के संचरण का मूल तत्त्व है। देवता तथा मानव दोनों की परस्पर भावना से ही यह विश्व चलता है और इस भावना का मूल साधन है– यज्ञ। यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य देवताओं का आहार प्रस्तुत करता है, जिससे वे पुष्ट होते हैं और देवता मानवों के कल्याणार्थ नाना कर्मों का सम्पादन स्वयं करते हैं। फलतः यज्ञ की आराधना करना मानव के मंगल का प्रधान पन्थ है। ईश्वर का यह मंगलमय उपदेश यज्ञ की उपादेयता का मूल मन्त्र है।[10]

अग्नि मुख्यतया दो प्रकार का होता है – स्मार्ताग्नि तथा श्रौताग्नि इनमें प्रथम अग्नि की स्थापना प्रत्येक विवाहित व्यक्ति को करना चाहिए। उस गृहाग्नि में क्रियमाण यज्ञ 'पाकयज्ञ' के नाम से अभिहित होते हैं। अन्तिम दो प्रकार की यागसंस्थाओं का सम्बन्ध श्रौताग्नि से है। अग्न्याधान करने वाला व्यक्ति ही इन यज्ञों का अधिकारी होता है। अग्नि के आधान का अधिकार पच्चीस से चालीस वर्ष के उम्र वाले सपत्नीक व्यक्ति को है तथा एक बार आधान करने पर उसे यावज्जीवन अग्नि की उपासना करते रहना अनिवार्य होता

है। श्रौत अग्नि के पाँच प्रकार हैं–

1. गार्हपत्य

2. आहवनीय

3. दक्षिणाग्नि

4. सभ्याग्नि

5. आवस्थ्याग्नि इन्हीं में नाना होमद्रव्यों के प्रक्षेप का विधान हैं।

यज्ञ में पञ्चाग्नियों में आहुतिप्रदान मुख्यतया विहित हैं। याज्ञिक दृष्टि से पञ्चाग्नियों के नाम तथा वेदी पर निर्दिष्ट स्थान इस प्रकार है – श्रौत अग्नि वह अग्नि है जिसमें श्रौत सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित यागानुष्ठान विहित है। ये संख्या में तीन हैं – आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि, इनकी स्थापना एक ही दिन में की जाती है। प्रत्येक अग्नि का कुण्ड भिन्न–भिन्न आकार का होता है। आह्वनीय का कुण्ड चौकोर होता है, गार्हपत्य का गोलाकार और दक्षिणाग्नि का अर्धचन्द्राकार। इनमें मुख्य अग्निकुण्ड आह्वनीय है जिसमें देवताओं के उद्देश्य से आहुति प्रदान की जाती है। गार्हपत्य अग्नि सा धारणतया हवि के पाक के लिए व्यवहृत होती है और इसमें पत्नीजन्यं होम (पत्नी – संयाज आदि) किये जाते हैं। दक्षिणाग्नि में पितृकर्म की साधारणतः व्यवस्था मान्य है। श्रौत–कर्म के लिए श्रौताग्नि की आवश्यकता होती है और स्मार्तकर्म के लिए एकमात्र गृह्याग्नि आवश्यक होती है। इस गृह्याग्नि में गृस्यसूत्रों के द्वारा विहित कर्म, जैसे–ओपासन होम आदि, का अनुष्ठान विहित होता है।

सभ्याग्नि इन पूर्वोक्त चारों अग्नियों से पृथक् पंचम अग्नि हैं। इसका श्रौतसूत्र में ही विधान है। इसे सभामण्डप में स्थापित करना पड़ता है और इसीलिए इसे सभ्य (सभा+यत्) नाम से अभिहित किया जाता है। याज्ञिकों की ये ही पञ्चाग्नियाँ होती हैं। पञ्चाग्नियों के इतर नाम भी शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं। भागवत् में वानप्रस्थ आश्रमी को 'पञ्चतपा' नाम से अभिहित किया गया है। (ग्रीष्मे पञ्चतपा वीर वर्षास्वासारषाण् मुनिः)।[11] यहाँ पञ्चाग्नि–साधन का उल्लेख है जिसमें चारों दिशाओं में चार अग्नि (भौतिक) को तथा आकाश में सूर्य को पञ्चम अग्नि के रूप में ग्रहण किया गया है।

शतपथब्राह्मण में यज्ञ को पञ्चांग सम्पन्न कहा गया है। यज्ञ के इस पञ्चांग का निर्देश अधोलिखित रूप में समझना चाहिए।

एक आत्मा की विभिन्न विभूतियाँ ही देवता है। देवता को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है – आजानज देवता, कर्म, देवता तथा आजान देवता। इसमें आजानज देवता तथा कर्म देवता कर्मफल के भोक्ता होते हैं तथा दिव्य लोक में रहकर अपने कृतकर्म का फल–भोग करते रहते हैं। आजान देवता की स्थिति इनसे भिन्न होती है। ये देवता सृष्टि के आदिकाल में उद्भूत हुए हैं (जैसे – सूर्य, चन्द्र, वायु, इन्द्र आदि)। ये दिव्य, साकार और ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं, तथा सिद्ध योगियों के साथ एक समय में अनेकत्र प्रकट होने की क्षमता भी रखते हैं।[12]

आजान देवताओं को यज्ञ में आहुति में दिया जाने वाला पदार्थ द्रव्य कहलाता है। आहुति का प्राचीन वैदिक अर्थ है–आह्वान, आहुति यज्ञों में देवताओं को मन्त्रों के द्वारा बुलाया जाता था और वे प्रत्यक्ष होकर अपना भाग ग्रहण करते थे, परन्तु प्रचलित अर्थ है–द्रव्य का वह भाग जो देवतादिकों को अर्पण किया जाता है 'आहुति' कहलाता है। 'अग्निमुखा वै देवाः' के नियमानुसार अग्नि में दी गई आहुति वस्तुतः देवताओं के मुख में ही दी जाती है। याज्ञिक लोगों का सिद्धान्त है कि अग्नि में प्रविष्ट होने पर आहुति अमृत के रूप में परिणत हो जाती है और अमृतभोजी देवों के लिए वह जीवनाधार पदार्थ बन जाती है।

मन्त्र का मन्त्रत्व उसके मनन के कारण है। मन्त्र शक्तिसम्पन्न वह शब्द राशि है जिसके प्रभाव से हवि देवताओं के पास योग्य रूप में प्रस्तुत होती है। मन्त्र चैतन्यात्मक होते हैं, मीमांसा की दृष्टि में मन्त्र को देवताओं का विग्रह है।

यज्ञ के लिए आमन्त्रित तथा यज्ञ कार्य कराने में निष्णात ब्राह्मण 'ऋत्विज' कहलाता है। ये चार प्रकार के होते हैं और एक–एक वेद के साथ सम्बद्ध होकर उसकी सहायता से अपने यज्ञीय कार्य का निष्पादन करते हैं–

(क) होता – ऋग्वेद के मंत्रों के द्वारा देवताओं का यज्ञ में आह्वान करता है।

(ख) अध्वर्यु – याजुष मंत्रों के द्वारा यज्ञ में होमादि का निष्पादन करता है।

(ग) उद्गाता – साम मंत्रों का उच्चस्वर से गायन करता है।

(घ) ब्रह्मा – अथर्ववेद के साथ सम्बद्ध होने पर भी अन्य वेदों का भी ज्ञाता होता है। इस प्रकार इन चारों में प्रत्येक के सहायक तीन–तीन अन्य ऋत्विज होते हैं। महत्त्वपूर्ण

यज्ञों में षोडश ऋत्विजों का रहना अनिवार्य होता है। इनमें प्रत्येक के निर्दिष्ट कार्य पृथक्–पृथक् होते हैं।

यज्ञ के अन्त में ऋत्विजों को पारिश्रमिक के रूप में दिया गया द्रव्य 'दक्षिणा' कहलाता है। 'निर्दक्षिणो हतो यज्ञः' के अनुसार दक्षिणा देना यज्ञ की पूर्णता के लिए नितान्त आवश्यक होती है। दक्षिणा सर्वोत्तम द्रव्य से दी जाती है। इसके लिए वैदिक युग में गाय से बढ़कर पूततम पदार्थ अन्य नहीं था। इसलिए गाय की दक्षिणा में दी जाती थी। 'दक्षिणा' गो का पर्यायवाची माना जाता था।

यज्ञ की पूर्णता के लिए इन पाँचों अङ्गों की समग्रता तथा विशुद्धि आवश्यक मानी जाती थी। यदि इन अङ्गों में से किसी एक में थोड़ी भी त्रुटि हो जाती थी तो यज्ञ का अभीष्ट फल प्राप्त नहीं होता था। प्रत्येक अंग का विस्तार भी उपलब्ध होता है, जैसे–मन्त्र की उच्चारण विधि, उसका प्रकार अनुष्ठान के अवसर पर विधिवत् प्रयोग आदि। इसीलिए यज्ञ प्राचीन युग में अपने पूर्ण विस्तार तथा वैभव के साथ सम्पन्न होता था।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. द्रव्यदेवतात्यामः यागः। (का.श्रो.सू.पू. 1/2.2)
2. तेलं दधि पयः सोमो यावागुरौदनं घृतम्।
   तण्डुलाः फलमापश्च दश द्रव्याण्यकामतः।। (स्मार्त्तो.आ.श्री.1.10.19-18)
3. यत्कामः ऋषिद्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्ते। तद्देवतः स मन्त्रे भवति। (निरुक्त - 7.1.1)
4. निरुक्त - 7.1.4
5. आत्मैदैषां स्थो भवत्यात्मा अश्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्व देवस्य।
6. यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
   अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्।।
7. गो. धर्म. सूत्र - 8.20
8. पुरुष सूक्ता, भगवद्गीता - 3.10-16

****

9. 'मम योनिर्महद् ब्रह्म। (गीता 14/13)

अनुयज्ञं जगत् सर्वम् यज्ञश्चासु जगत् स च। (शान्तिपर्व 26/734)

10. देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। (गीता 3/11)

11. तत्रैव

12. एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गतां गच्छतीति परैश्च न दृश्यते, अनार्धानादिक्रियायोगात्।। (ब्र.सू. शाङ्करभाष्य 1.3.27)

डॉ. गीताञ्जलि तिवारी
प्राध्यापिका
इ. वा. ग. डि., गोरखपुर



भूमण्डलीकरण के दौर में साहित्य की सृष्टि और दृष्टि

डॉ. अर्पणा श्रीवास्तव

भारतीय लेखन एवं चिन्तन में युगधर्म का स्पन्दन हमेशा से स्पन्दित होता रहा है। हमारे साहित्य ने सदैव ही विपरीत परिस्थितियों में भी जीवन के तत्कालीन मूल्यों को समाज में सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है। आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिककाल तक "वसुधैव कुटुम्बकम्" और "स्वान्तः सुखाय परिजन हिताय" जैसे सूत्र वाक्य भारतीय साहित्य और संस्कृति के मूल उद्‌गार रहे हैं। लेकिन उन परिस्थितियों और आज के जीवन के स्वरूप में बहुत अन्तर आ चुका है। आज समस्याओं का स्वरूप पूरी तरह से बदल चुका है।

आज वैश्वीकरण के साथ तेजी से बढ़ते हुए बाजारवाद में भोगवादी प्रवृत्ति को ही गौरवान्वित किया जा रहा है। भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप एक ओर तो दुनियाँ सिमटती चली जा रही है। सभी देशों के लोग पास-पास आ गए हैं किन्तु दूसरी ओर संदेवनाएँ कुण्ठित होती जा रही हैं। मूल्यहीनता और अराजकता का वर्चस्व बढ़ रहा है। उदारता, विवेकशीलता का पतन हो रहा है, व्यक्ति 'निज' में बद्ध होकर रह गया है तथा राष्ट्र की अस्मिता के सामने रक्षा का प्रश्न गहराता जा रहा है।

आज स्थानीयता का अन्तर्राष्ट्रीयता के नीचे दबकर दम घुटता जा रहा है। लोग अपनी स्थानीय भाषा, संस्कृति, जीवन-शैली, वेशभूषा भूलकर 'अन्तर्राष्ट्रीय कल्चर' की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। इलेक्ट्रानिक मीडिया और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने इस मनोवृत्ति को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ऐसे में यदि यह कहा जाय कि-बाजार और मशीन के माध्यम से नई तरह की नैतिकता आई है। हम नैतिकता से अनैतिकता की तरफ जा रहे हैं। सारे मूल्यों को मूल्यहीनता स्थापित कर रही है-तो सम्भवतः गलत न होगा। साहित्यकार प्रेमचन्द ने इस बाजारवादी संस्कृति को 'महाजनी सभ्यता के रूप में देखते हुए

बहुत पहले ही इसके खतरों से समाज को आगाह किया था। मार्क्स ने भी कहा कि – आदमी का अलगाव खत्म करना होगा और इसके लिए शोषण से मुक्ति की आवश्यकता है। गाँधी जी ने कहा था (उपनिवेशवाद के सन्दर्भ में) कि–"आदमी को केन्द्र में लाना होगा। लेकिन आज की व्यवस्था में इन सिद्धान्तों से भी कुछ नया निकलता नहीं दिख रहा। बल्कि आज तो हमारा चिन्तन ही खत्म होता जा रहा है। भूमण्डलीकरण ने न केवल दुनिया की सोच को बदला बल्कि साहित्य के सामने भी चुनौतियाँ खड़ी की हैं। चौबीसो घण्टे चलने वाले टी.वी. केबल चैनलों की बाद में जहाँ विज्ञापनों के माध्यम से अपसंस्कृति परोसी जा रही है, साहित्य और संस्कृति का एक भी कवरेज नजर नहीं आता। हल्के और सस्ते किस्म के मनोरंजन की अधिकता है जिनमें रचनात्मकता की कमी खटकती है। लेकिन हमारा समाज जिन षडयंत्रों और चुनौतियों से जूझ रहा है हमारा साहित्य उसे पूरी तन्मयता के साथ अभिव्यक्त कर रहा है। कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने ठीक ही लिखा है–

कलम देश की बड़ी शक्ति है भाव जगाने वाली।

दिल ही नहीं दिमागों में भी आग लगाने वाली।

भारतीय हिन्दी परिषद के 20वें अधिवेशन के सभापति डॉ. नगेन्द्र ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि–"साहित्यकार समाज का सामान्य अंग न होकर विशिष्ट अंग है। साहित्यकार का योगदान दो प्रकार का होता है–तात्कालिक और स्थायी। तात्कालिक योगदान में वह कारयित्री प्रतिभा का सद्यः प्रयोग करता है तथा तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार अपनी रचनाएँ करता है। स्थायी योगदान में उसकी रचनाएँ समाज का स्थायी रूप से मार्ग प्रशस्त करती हैं।" इस विचार दृष्टि के आलोक में कहा जा सकता है कि संचार क्रान्ति के युग में एक अभिनव सोच, लेखन एवं चिन्तन ही देश और समाज को एक नई दिशा प्रदान करेगी। अतः साहित्यकार को अपनी शुद्ध–प्रबुद्ध चेतना से समाज और विश्व में मंगल की अलख जगानी होगी। इस सन्दर्भ में प्रसाद जी की यह पंक्तियों बड़ी सार्थक लगती हैं–

अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।

प्रशस्त पुण्य पथ है–बढ़े चलो, बढ़े चलो।।

आधुनिक कवि राजेश जोशी के शब्दों में–"कविता हमारी चेतना और अवचेतन के बीच जो छिपा हुआ–सा, ढँका–मुँदा–सा सम्बन्ध है, उसे न केवल आपस में जोड़ देती है। वह ऐसी तमाम ऐन्द्रिक चीजों को फिर से संयोजित करती है, जिनमें जीवन की धड़कन हो, ताप हो। ऐसा करते हुए वह पहेली सी लग सकती है और जादू भी। लेकिन हर हाल में प्रथमतः और अन्तिम रूप में कविता जीवन को बेहतर बनाने के लिए संघर्षरत, हर अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करते लड़ते हुए आदमी के पक्ष में बोला गया शब्द है। उसकी हर जद्दोजहद में हिस्सेदारी करता हुआ। इसलिए साफ है कि वह कभी तटस्थ नहीं हो।"

आज साहित्य के संबंध में अनेक विरोधी धारणाएँ सुनने को मिलती हैं। कभी कहा जाता है कि–"साहित्य मर रहा है, कभी 'कहाँ है साहित्य?' तो कभी साहित्य पर भावशून्यता का आरोप लगाते हुए कहा जाता है कि 'आज के साहित्यकारों के पास अपना कोई रचनात्मक संघर्ष नहीं, और कभी कहा जाता है कि 'आज साहित्य में बोझ वहन करने का सामर्थ्य नहीं। वास्तविकता तो यह है कि आज भी साहित्य अपने में पूरा कथासागर समाए जनमानस में विराजती है। यदि ऐसा न होता तो क्यों वैचारिक विमर्शों में कविता के उद्धरण प्रस्तुत किये जाते? आज भी सहृदय नए–पुराने साहित्यकारों, सन्त और भक्तों को वार्तालाप में श्रद्धा से स्मरण करते हैं। वैसे भी प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, निर्मल वर्मा, राही मासूम रजा, उदय प्रकाश, मंगलेश डबराल आदि साहित्यकारों द्वारा साहित्य को जिस समाज से जोड़ा गया उनसे हम आज से पहले कब जुड़े थे। वस्तुतः उपन्यास ही या कहानी, कविता हो या साहित्य की अन्य विधाएँ उसे भावशून्य कहना सम्भवतः अपनी भावशून्यता का परिचय देना ही कहा जा सकता है–

साधारण मनुष्य की व्यथा
और इस शताब्दी की साँझ की कराह ने
पुरवा हवा की तरह
मेरे दर्द को बढ़ा दिया है।

काव्य की ये पंक्तियाँ इस बात का प्रमाण है कि भूमण्डलीकरण के दौर में भी साहित्य–यात्रा समाजोन्मुख है। "यह कहा जा सकता है कि आज हमारे काव्य के अन्तर्गत रामायण, महाभारत, रघुवंश, रामचरितमानस, सूरसागर जैसी विशाल कृतियाँ नहीं लिखी

जा रही हैं जो जीवन की व्यापक भूमिका में सर्वसाधारण को रमा सकें तथा जिनके सामूहिक पाठ और परायण भी हो सके। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि आज कविता से सृजन का क्षेत्र सूना पड़ा हुआ है। आज कविता सम्बन्धी मान्यताएँ बदल गई हैं। आज के जीवन की प्रतिक्रिया कवि के जीवन पर इतनी गहरी है कि अतीत और भविष्य की कल्पना-छवियों के अपेक्षा वर्तमान युग के संघर्षरत एवं स्वार्थ-सजग क्रिया-कलापों को ही हजार नेत्रों से देख रहा है और उसकी कवि संवेदना शतबार होकर फूट रही है। अपने इस कार्य में वह काव्य-सृजन के दायित्व को पूरी तरह निभा भी रहा है।''

वस्तुतः आज का साहित्य एक व्यापक वैज्ञानिक और यथार्थपरक संवदेनशील दस्तावेज है। जिसमें जीवन की विषमताओं, धार्मिक विसंगतियों, शोषण के लिए निर्मित विभिन्न उपादानों तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी को उजागर करते का प्रयास मिलता है। वर्त्तमान कविता की प्रसिद्धि 'सौन्दर्य एक रहस्य है' के कारण नहीं है बल्कि यथार्थ के बेबाक प्रस्फुटन में समाहित है। आज का कवि सूरज को देवता और चन्द्रमा को नायिका के मुख सदृश ना देखकर वह सूरज को सजग चेतना का प्रखर प्रहरी और चन्द्रमा को भूख से छटपटाते व्यक्ति की रोटी के रूप में देखता है। इस प्रकार कल्पना और रोमैण्टिक भावों-विचारों के स्थान पर घटनाओं का खुरदुरापन अपने वास्तविक रूप में अभिव्यक्त हुआ है। आज का कवि कहता है-

कविताओं से हटकर सीधा आदमी पर आना चाहता हूँ

आदमी जिसमें समाहित है/फूल पत्तियाँ दरख्त पहाड़ नदियाँ

यहाँ तक कि धमनियों शिराओं में बहते रक्त की तरह

फैली है कविताएँ।

व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक जीवन के व्यापक सरोकार और राजनीतिक हस्तक्षेप मनुष्य को अन्दर ही अन्दर से तोड़ता जा रहा है। बाहरी दुनियाँ की आपाधापी और भीतरी दुनियाँ की आहत कशमकश के साथ आज का पूरा जीवन आर्थिक कठिनाइयों और सामाजिक दुष्चक्रों में फँसकर तनाव, विसंगति, संत्रास, कुण्ठा और निरीहता की एक शृंखला बन गया है। इन शृंखलाओं में जकड़े मनुष्य की उपलब्धि चाहे कुछ हो या न हो इतना जरूर है कि निजी फायदे के लिए वह अपने जैसे ही दूसरे मनुष्य का मोल कम से

कमतर करता जा रहा है। ऐसे भयानक माहौल में मानवीयता को गहराई से रेखांकित करते हुए कवि कहता है–

आदमियों की इस दुनियाँ में/अक्सर होते हैं/नये शोध उपयोगिता पर

लेकिन बैलों की दुनिया में/शायद यह पहला शोध है

कि बैल संतोष कर सकते हैं/कि बैल काम नहीं करते

उपर्युक्त पंक्तियाँ समकालीन समाज के मन-मस्तिक एवं क्रिया-व्यापार का यथार्थ निरुपण है। जो साहित्यकार की अपने समाज के प्रति अतिशय सतर्कता का प्रमाण है। यह आज के जड़ एवं संवेदनशून्य समाज का चित्रण है जहाँ मनुष्य-मनुष्य के बीच का प्रेम, कृतज्ञता तथा आन्तरिक परितोष का भाव सर्वथा उपेक्षित हो गया है। इस उपेक्षा और तिक्तता के कारणों की पड़ताल करता हुआ कवि कभी कहता है–

लड़ाई करने के लिए हम भिन्नताएँ ढूँढ़ निकालेंगे उन्हें तो

की तरह पालेंगे जो भिन्नताएँ लड़ाई में सहायक होगी उसे

बार–बार उछालेंगे।

तो कभी बुद्ध के सत्य को अपने–अपने मिथ्या दम्भ से झूठलाने वाले हिन्दू मुसलमान को फटकारते हुए जिस आमी के तट पर कबीर ने कभी अलख जगाया था उसके माध्यम से अतीत को याद करते हुए वर्त्तमान विषमताओं के प्रति अपनी खींझ व्यक्त करता हुआ वह कहता है–

''आजकल उसी नदी पर बने पुल से रोज गुजरता हूँ मैं/हाथ में अखबार

लिए/जिसे एक झटके में पढ़ लेती है आमी भी/और पढ़कर अखबार/चिल्लाती है

गुजरात पूछती है किसी पागल स्त्री की तरह/कहाँ है बुद्ध की धरती/कहाँ है कबीर

वतन/कहाँ बह रही हू मैं/किस देश में?''

साम्प्रदायिक हिंसा, धार्मिक कलह और आतंकवादी घटनाएँ भी आज जीवन के मूल्यों और मान्यताओं को तहस-नहस करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इस प्रकार की हिंसक घटनाओं और आतंकी वारदातों से आज सम्पूर्ण विश्व स्तब्ध और परेशान है।

वर्ल्ड ट्रेड सेण्टर की घटना हो या बाबरी मस्जिद की, 1984 का सिक्खों का कत्लेआम हो या 2003 का गुजरात दंगा और गोधरा काण्ड हो, 2005 का मऊ दंगा हो या मुम्बई ट्रेन विस्फोट, अमृतसर का स्वर्ण मन्दिर हो या बनारस का संकटमोचन मन्दिर या मालेगांव का हादसा, अफगानिस्तान में तालिबान की कार्यवाही हो या गुजरात और राजस्थान का सीरियल बम ब्लास्ट इन सभी घटनाओं के मूल में आतंक और अमानवीयता का सर्वाधिक घिनौना रूप दिखायी देता है। देश और समाज की इन भयावह स्थितियों के प्रति भी आज का कवि अत्यन्त जागरूक है। एकान्त श्रीवास्तव की दंगे के बाद कविता इसका एक सशक्त उदाहरण है–

एक नुचा हुआ फूल है या शहर/जिसे रौंद गए आततायी/एक तड़का हुआ आईना/जिसमें कोई चेहरा/साफ-साफ दिखायी नहीं देता।

वस्तुतः संक्रमणकालीन समाज का पूरा रचनात्मक बिम्ब आप आज की कविताओं में देख सकते हैं। व्यवस्था का क्रमशः अमानवीय क्रूर होता चेहरा हो या आधुनिकता के दबाव के कारण पीढ़ियों के बीच की बढ़ती दूरी हो, गाँव के शोषण हो या शहरों का एकाकीपन शिक्षा की दुनिया हो या राजनीति की,अपनी अस्मिता के लिए बेचैन स्त्री की पीड़ा हो या सामाजिक अहंकार के शिकार दलित का दर्द हो, इन सभी स्थितियों और सन्दर्भों में वर्त्तमान दौर के कवि की सहानुभूति और पक्षधरता पीड़ित, निरीह और आहत के प्रति स्पष्ट लक्षित होती है। बाल मजदूर के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त करते हुए वह कहता है–

अलख सुबह काम पर जाता हुआ बच्चा कोहरे में डूबी हुई

सड़क पार कर रहा है सड़क जितनी लम्बी है।

उतनी ही चौड़ी है सड़क को यह सब नहीं पाता

और बच्चा उसे भी कहाँ पता कि वह सड़क पार कर रहा है।

आर्थिक तकनीकि भूमण्डलीकरण के इस दौर में जिस पर सबसे ज्यादा चर्चा सुनने को मिलती है वह है–स्त्री–समस्या, स्त्री–विमर्श। परन्तु निष्कर्ष कुछ नहीं निकलता। चर्चाएँ सिर्फ सभागार तक सिमट कर रह जाती हैं। आज भी स्त्री के प्रति किये जाने वाले शोषण और जघन्य अपराधों की संख्या अनगिनत है। कानून द्वारा इसे काबू में रखने की कोशिश

की जा रही है, परन्तु समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी हुई है। स्त्री की दुर्दशा और उसकी पीड़ा को उजागर करते हुए कवयित्री अनामिका लिखती हैं–

पढ़ा गया हमको

जैसे पढ़ा जाता है कागज

बच्चों की फटी कापियों का

चना जोर गरम के लिफाफा बनाने से पहले।

स्त्री के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहारों की कसक के साथ ही आधुनिक साहित्य में इनके आक्रोशी तेवर क: ि अभिव्यक्त किया गया है–

अपनी ही खून मज्जा से गढ़नी है

बाल और कटार

युद्ध तुम्हारा सदा लड़ा है औरों ने–

हार भी जाए पर जो जिसकी जंग है, वही लड़े।

विघटन और अवमूल्यन की जो स्थिति वर्तमान दौर में देखने को मिलती है, निश्चय ही वह बाजारवाद का परिणाम है। जिसका समाज और संस्कृति पर भी बुरा असर पड़ा। किन्तु इस प्रवृत्ति से हमारी राजनीति जितनी बेबस और लाचार नजर आती है साहित्य उतना असहाय नहीं दिखता। आज का साहित्यकार अपने पैरों के नीचे से खिसकती धरती पर दृढ़ता से खड़े होकर बदलते समाज के अन्तर्विरोध की पड़ताल करते हुए मानवीय अस्मिता, समत्वबोध और आस्थाओं तथा जीवन के सौन्दर्य बोध की रक्षा के लिए संघर्षरत दिखता है। यही कारण है कि आज जबकि जीवन और समाज में विषमताओं विडम्बनाओं का साम्राज्य व्याप्त है साहित्यकार इनसे घबड़ कर हताश और निराश नहीं होता बल्कि इन विपरीत परिस्थितियों में भी वह सामाजिक विसंगतियों को विच्छिन्न करने की दिशा में चुनौतीपूर्ण संकल्प लेते हुए कहता है–

उठूँगा जरूर एक दिन

और चीर जाऊँगा हरियाली का स्वाँग करती

इस पाखंडी झील की सतह को बीचोबीच

डूब जाने से पहले एक अनवरत चलते हुए

झूठ को अनावृत करते।

आज जबकि भोगवादी वृत्ति जीवन के पल–पल को बंजर करने की कोशिश में लगा है, जबकि सभी लोग अपार धन, सम्पत्ति और अनेक भौतिक वस्तुओं को भावी पीढ़ियों के लिए संग्रहित कर छोड़ जाना चाहते हैं, ऐसे समय में कवि के पास एक विकल्प है–

कितना अच्छा होता सब छोड़ जात विरासत में.........

चुटकी भर हँसी मुट्टी भर कोमलता अँकवारी भी प्यार।

अन्त में श्री कल्याणमल लोढा के शब्दों में कहा जा सकता है कि–"आज जिस उत्तर आधुनिकता का नारा उठ रहा है, वह वस्तुतः मानसिक विच्छिन्नता का परिणाम है। कलात्मक सृजन की प्रतिमा प्रज्ञा किसी का स्वामित्व स्वीकार नहीं करती, वह न अनुगमन चाहती है। दूसरों की दृष्टि उधार देकर वह नहीं चलती, क्योंकि उसका विराट 'विजन' है। विशिष्ट प्रतिमा कृत्रिम बौद्धिकता के समापन पर आगे बढ़ती है, कविता को लोकोत्तर गिनते हुए भट्ट गोपाल ने कहा है, **काव्यस्य बीजमपुद स्थानीय संस्कार विशेषः**। यह उचित और अनुचित के विवेक में ही अपना श्रेयस् व प्रेयस् प्राप्त करती है। इसे ही राजशेखर में '**चित्त की एकाग्रता**' कहा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. हिन्दी का अतीत और वर्तमान - डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल - भूमिका
2. पूर्णता के विरुद्ध - डॉ. कुमार विमल
3. हिन्दी का अतीत और वर्तमान, पृ.163
4. समुद्र के बारे में - भगवत रावत
5. अनभै कथा (बेल) - जितेन्द्र श्रीवास्तव

6. एक सूर्य यह भी - देवीशंकर द्विवेदी

7. अनभै कथा - जितेन्द्र श्रीवास्तव

8. अन्न मेरे शब्द (दंगे के बाद) - एकान्त श्रीवास्तव

9. समुद्र के बारे में

10. कथा क्रम, पृ.2 जुलाई-सितम्बर, 2007

11. कथा क्रम, पृ.3, जुलाई-सितम्बर, 2007

12. बसन्त खोजती चिड़िया - अनूप कुमार

13. अनभै कथा - जितेन्द्र श्रीवास्तव

14. हिन्दी का अतीत और वर्तमान, पृ.256

डॉ. अर्पणा श्रीवास्तव
शोध प्रवक्ता
राज्य हिन्दी संस्थान,
वाराणसी। (उ. प्र.)



रामायण की भाषा-शैली

डॉ. रागिनी झा

महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना संस्कृत भाषा में की है। अतः रामायण की रचना के समय लोक में संस्कृत अवश्य समझी जाती होगी। उस समय संस्कृत जनसामान्य के लिए एक सुविदित व बोलचाल की भाषा रही होगी।[1] सुन्दरकाण्ड में हनुमान विचार–विमर्श करते हैं कि यदि मैं द्विज की भाँति सीता से संस्कृत भाषा में बातचीत करूँ, तो कहीं यह मुझे रावण न समझ ले।[2] हनुमान के इस विचार से पता चलता है कि रामायण के समय में संस्कृत एक जीती–जागती व बोलचाल की लोकप्रिय भाषा थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः उस समय जनसामान्य और शिक्षितजनों की भाषा तो संस्कृत ही थी। किन्तु इन दोनों की संस्कृत में शुद्धता की न्यूनाधिकता के आधार पर अन्तर रहा होगा।[3]

पाश्चात्य विद्वान् कीलहार्न ने रामायण की भाषा में पालि की झलक देखी है।[4] हापकिन्स का भी कहना है कि रामायण के शब्दविन्यास व ध्वनियों पर विभिन्न प्राकृतों का प्रभाव कहीं–कहीं दृष्टिगोचर होता है।[5]

वाल्मीकि की भाषा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि उनकी भाषा लोकजीवन के कितना समीप थी। किन्तु रामायण में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिससे पता चलता है कि उनकी भाषा में शिष्ट ब्राह्मणों की संस्कृत, सामान्य संस्कृत, अपभ्रंश अथवा वानरी संस्कृत और पालि एवं प्राकृत का पुट था। अपभ्रंश संस्कृत परिशिष्ट एवं सामान्य संस्कृत से भिन्न थी।[6] सुन्दरकाण्ड में जब दधिमुख नामक वानर सुग्रीव को मधुवन के उत्पात की बात बताता है, तब लक्ष्मण उसे समझ नहीं पाते हैं। सुग्रीव बाद में लक्ष्मण को दधिमुख वानर की कही हुई बात समझाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यही वानरी संस्कृत या संस्कृत का दक्षिणी अपभ्रंश रूप है।[7]

आदिकवि ने रामायण की रचना जनसाधारण के लिए की थी।[8] अतः उन्होंने

जनसुलभ संस्कृत भाषा का प्रयोग किया है। किन्तु दूसरी ओर हम देखते हैं कि उनकी भाषा में महाकाव्योचित पाण्डित्य भी विद्यमान है–

उदावृत्तार्थपदैर्मनोरमैस्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान्।

समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः॥[9]

सरलता, सरसता एवं स्वाभाविकता रामायण की भाषा की मुख्य विशेषताएँ हैं। उसमें मधुरता, लयात्मकता है।[10] भाषा वर्ण्य–विषय के अनुरूप है। भाषा एवं भाव में अनुरूपता है। जैसा भाव है, वैसी ही भाषा है। वर्णन हृदय को केवल स्पर्श ही नहीं करते, बल्कि हृदय पर अपनी अमिट छाप छोड़ देते हैं। कवि की भाषा कोमल भावों को प्रकट करने में उतनी ही समर्थ है जितनी उग्र भावों के प्रकाशन में। रामायण की भाषा क्लिष्ट तथा प्रयाससाध्य नहीं है। यह उत्कृष्ट, अलंकृत, सुसंस्कृत व काव्यसौन्दर्य की वृद्धि करने में सहायक है। वह उदात्त, भावाभिव्यक्ति में समर्थ तथा रसमयी है।

रामायण में हृदयपक्ष की प्रधानता है लेकिन ऐसा नहीं है कि कलापक्ष की उपेक्षा की गई हो। हृदयपक्ष की प्रधानता होने पर भी कलापक्ष पुष्ट व सजीव है। कवि ने छोटे–छोटे तथा प्रायः समासरहित शब्दों का प्रयोग किया है। कवि का शब्द–विन्यास बहुत सुन्दर है। हेमन्त ऋतु में प्यासे हाथी की जलपान–क्रीड़ा का वाल्मीकि ने कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है–

स्पृशन् सविपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।

अत्यन्ततुषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥[11]

वाल्मीकि ने रामायण में प्रसंगानुकूल तथा रसानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। विभिन्न रसों की अभिव्यंजना में कवि की भाषा का विशेष योगदान है। जहाँ जैसा रस है, उसी के अनुकूल वाल्मीकि ने भाषा का प्रयोग किया है। शृंगार तथा करुण रस के प्रसंगों में रामायण की भाषा कोमल शब्दावली से युक्त है–

अपश्यमानो वैदेहीं मेने शून्यमिदं जगत्।

शोकेन परमायस्तो न शान्तिं मनसागमत्॥[12]

वीर, भयानक, रौद्र तथा बीभत्स रस के प्रसंगों में कवि ने दीर्घ समासों से युक्त,

कठोर व ओजगुणपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है–

धनुर्मण्डलनिर्मुक्तैराशीविषविषोपमैः।
शरैर्हन्तुं महेष्वासो रावणं समितिंजयः॥[13]

रामायण की भाषा अलंकृत भाषा है। अलंकारों का कवि ने जहाँ भी प्रयोग किया है, वहाँ रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। उपमा व रूपक अलंकारों का कवि ने चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया है। कवि ने अलंकारों में कल्पना का बहुत आश्रय लिया है। वाल्मीकि की कल्पनाशक्ति उच्चकोटि की है। इस कल्पनाशक्ति के द्वारा कवि ने लौकिक, अलौकिक तथा मानवीय क्रिया–कलाप सम्बन्धी बिम्बों की सफल अभिव्यक्ति की है। काले मेघों से आवृत्त, जलधाराओं से युक्त तथा वायु से परिपूर्ण गुफा वाले पर्वतों में कवि ने कृष्णाजिन व यज्ञोपवीत धारण किए हुए तथा वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हुए ब्राह्मणों की कल्पना की है–

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः॥[14]

इसी प्रकार मेघों में चमकती हुई बिजली में कवि को रावण की क्रोड में छटपटाती हुई सीता के दर्शन होते हैं–

नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी।[15]

रामायण की शैली सुबोध व प्रासदिक है। कवि ने प्रायः लौकिक व मुहावरेदार शैली का प्रयोग किया है। वन में राम के द्वारा भरत को दिए गए राजनीतिविषयक विचारों में उपदेशात्मक शैली है।[16] भरत को दुःखी हो विलाप करते दुख राम जीवन की अनित्यता बताते हुए पिता की मृत्यु के लिए शोक न करने का उसे उपदेश देते हैं।[17] यहाँ भी उपदेशात्मक शैली है।

वाल्मीकि ने रामायण में आर्यों के गौरवपूर्ण जीवन को एक अपूर्व, संगीतमय, छन्दोबद्ध तथा भावनात्मक शैली में अभिव्यक्त किया है।[18] इस प्रकार उन्होंने साहित्य को कलात्मक बना दिया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. विश्वनाथ, सा. द. 3/183–186
   श्रृगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
   आमन्त्रयति विप्रान् स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः।।
   वही 7/12/26–27 मात्रा तु तस्याः कन्यायाः स्नेहेनाक्रन्दितं वचः।।
   सरो मा वर्धयस्वेति ततः सरमाभवत्।
   वही 7/93/5 स शिष्यावब्रवीद्धृष्टौ युवां गत्वा समाहितौ।
   कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परया मुदा।।
2. वही 5/30/18 यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
   रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।।
3. अग्रवाल रामप्रकाश, वाल्मीकि और तुलसी, साहित्यिक मूल्यांकन, पृ.407
4. हापकिन्स वी., दि ग्रेट एपिक आफ इण्डिया, पृ.262 की पदाटिप्पणी।
5. वही, पृ.263
6. शर्मा श्रद्धा, वाल्मीकि एवं उत्तररामचरित का तुलनात्मक अध्ययन, (शोध प्रबंध)पृ.351
7. हापकिन्स वी, दि ग्रेट एपिक आफ इण्डिया, पृ.261
8. वा.रा. 7/93/6–7 ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च।
   रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च।।
   रामस्य भवनद्वारि यत्र कर्म च कुर्वते।
   ऋत्विजमग्रतश्चैव तत्र गेयं विशेषतः।।
9. वही 1/2/42
10. वही 1/4/7–20 प्रशशंसुः प्रशस्तव्यौ गायमानौ कुशीलवौ।
    अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।
    चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।
    प्रविश्य तावुभौ सुष्ठु तथाभावायताम्।।

****

सहितौ मधुरं रक्तं सम्पन्नं स्वरसम्पदा।

एवं प्रशस्यमानौ तौ तपःश्लाघ्यैर्महर्षिभिः।।

संरक्ततरमत्यर्थं मधुरं तावगायताम्।

11. वा.रा. 3/16/21

12. वही 7/99/4

13. वही 6/85/11-12

14. वा.रा. 4/28/10

15. वही 4/28/12

16. वही 2/100

17. वही 2/105/15-31

18. व्यास, शांतिकुमार नानूराम, रामायणकालीन संस्कृति, पृ.2

19. विश्वनाथ, सा.द.2/3

वाच्योऽर्थोऽभधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणयामतः।

व्यङ्गयो व्यञ्जनया ताः स्युस्त्रिः शब्दस्य शक्तयः।।

डॉ. रागिनी झा

छपरा, (बिहार)



धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार

डॉ. प्रीति श्रीवास्तव

जीवन के प्रति सम्पत्ति की अनिवार्यता एवं महत्ता को देखते हुए नारी को अपने साम्पत्तिक अधिकारों का ज्ञान होना अति आवश्यक है। यद्यपि धर्मशास्त्रों में स्त्री उत्तराधिकार के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन उपलब्ध है। तथापि हिन्दू स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार–यह विषय प्राचीन काल से ही शास्त्रकारों के मध्य विवाद का विषय रहा है। प्राचीन काल में स्त्रियों को संयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति में विभाजन की माँग का कोई अधिकार नहीं था। किन्तु अवान्तर काल में बलदते हुए सामाजिक मूल्यों तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर इन्हें भी दायाद घोषित किया गया।

धर्मशास्त्रकारों ने स्त्रियों के साम्पत्तिक स्वत्वों की विवेचना कन्या, पत्नी, विधवा, माता एवं पितामही इन सभी रूपों में की है। पैतृक सम्पत्ति के विभाजन में स्मृतिकारों ने पुत्र–प्रपौत्र के उपरान्त विधवा को दायादों में प्रथम स्थान दिया है। अतः सर्वप्रथम विधवा के साम्पत्तिक अधिकारों का विवेचन प्रसंगानुकूल है।

विधवा–

प्रारम्भ में हिन्दू विधवाओं को अपने पति की सम्पत्ति में विभाग पाने का अधिकार नहीं था। उन्हें केवल जीवन–निर्वाह हेतु भरण–पोषण का ही अधिकार था। अधिकांश धर्मग्रन्थों में (बौ.ध.सू. 2/2/3/47, आ.ध.सू. 2/6/14/2-3 तथा मनस्मृ. 9/187) दायादों के वर्णन में कहीं भी विधवा का उल्लेख नहीं हैं। गौतम् ने भी (गौ.ध.सू. 27/19) अति निकट के सपिण्ड या सगोत्रों के साथ ही विधवा को उत्तराधिकारिणी माना है।

प्राचीनकाल में विधवा को दायाद न मानने का कारण संभवतः उस युग में प्रचलित विधवाओं के पुनर्विवाह एवं नियोग की प्रथा ही थी, जिससे समाज में विधवाओं की

संख्या बहुत कम थी। किन्तु इन प्रथाओं के लोप होने पर विधवाओं की संख्या में वृद्धि होने लगी।

सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य (याज्ञ. स्मृ. 2/135-136) एवं विष्णु ने पुत्र–पौत्र–प्रपौत्र के अभाव में विधवा को पैतृक संपत्ति का रिक्थाधिकारी घोषित किया। बृहस्पति (स्मृ. च.2/290-91) तथा कात्यायन (स्मृ.च.पृ. 292) ने उनका समर्थन किया, किन्तु नारद (ना. स्मृ. 13/51) ने पुत्र–पुत्री दोनों के अभाव में विधवा को दायाद स्वीकार किया है। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य (याज्ञ.स्मृ. 2/135) के आधार पर विधवा को पुत्र के बाद दायादों में प्रथम स्थान देते हुए यह घोषित किया कि निःसंतान मृत, विभक्त और असंसृष्ट (अलग होकर पुनः न मिले हुए) पुरुष की सम्पूर्ण सम्पत्ति को उसकी पतिव्रता स्त्री ही ग्रहण करती है। मध्यकाल के प्रायः सभी निबन्धकारों ने विज्ञानेश्वर के इस मत का समर्थन किया और 1937 ई. तक मिताक्षरा द्वारा शासित प्रदेश के न्यायालयों ने भी इसे मान्यता दी। दायभाग (11/1/1) ने विधवा के इस अधिकार को मिताक्षरा की तुलना में अधिक विस्तृत बनाते हुए उसे विभक्त एवं अविभक्त दोनों परिवारों में पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी घोषित किया। इस सम्बन्ध में 1937 ई. में 'हिन्दू स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार' का कानून पारित हुआ जिसमें दायभाग के उदार नियम को मिताक्षरा सम्प्रदाय में भी लागू किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत विधवा को अपने पति की पृथक् संपत्ति में तथा संयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति में भी पुत्र के साथ समांशी होने का अधिकार दिया गया और पुत्र के अभाव में वह सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी कही गयी।

किसी पुरुष की एक से अधिक पत्नियाँ होने पर मिताक्षरा ने समान अथवा असमान सभी वर्णों की विधवाओं को पति की सम्पत्ति में समान उत्तराधिकार देने का निर्देश दिया है। किन्तु दायभाग ने इस सम्बन्ध में वर्णों की वरिष्ठता के क्रमानुसार ज्येष्ठा पत्नी को ही एकमात्र उत्तराधिकारिणी स्वीकार किया है। वर्तमान न्यायालयों ने भी मृत व्यक्ति की कई विधवाएँ होने की स्थिति में सभी को समान रूप से पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी माना है।

सामान्यतः विधवा को पति की सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार मृत्यु–पर्यन्त प्राप्त था, किन्तु उसके द्वारा प्राप्त सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग के सम्बन्ध में विधवा के अधिकार सीमित थे। वह धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी भी कार्य के लिए स्वेच्छा

से सम्पत्तिका अपहार (दान, विक्रय अथवा बंधक) नहीं कर सकती थी। वर्त्तमान काल में भारत सरकार ने 1956 ई. में 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' लागू करके विधवा के इस सीमित स्वत्व को भी समाप्त कर दिया तथा सम्पत्ति पर विधवा के पूर्ण स्वत्व को मान्यता दे दी। पति से उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति के अतिरिक्त असौदायिक स्त्रीधन–जिस पर उसका स्वामित्व उसके पति द्वारा नियन्त्रित होता है, विधवा को पूर्ण स्वत्व दिया गया।

कन्या–

पुत्रों एवं विधवा के अभाव में कन्या को पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी माना गया है। किन्तु प्राचीन हिन्दू समाज में कन्या के साम्पत्तिक अधिकारों की उपेक्षा की गयी। इसका मुख्य कारण विवाह की अनिवार्यता, बाल–विवाह प्रचलन (छठी शताब्दी ई.पू.) दहेज एवं पितृ और पति कुल से प्राप्त स्त्रीधन था, जिसके कारण कन्या को पैतृक सम्पत्ति में अंश देने की आवश्यकता बहुत कम समझी गयी। कालान्तर में स्थितियों में परिवर्तन होने पर शास्त्रकारों ने कन्याओं को भी पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व दिये जाने का विधान निर्मित कर उसके साम्पत्तिक अधिकारों का सृजन किया।

वैदिक काल में (ऋ.3/31/2) पिण्डदान की योग्यता के आधार पर कन्याओं के भ्रातृयुक्त होने पर उन्हें कुल सम्पत्ति में कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। सूत्रकारों ने कन्या को दायादों में सबसे नीचे स्थान दिया है। गौतम (गौ.ध.सू. 28/19), बौधायन (बौ.ध.सू. 1/5/11/9-14) एवं वसिष्ठ (वसि.ध.सू. 17/81-84) ने तो उसे उत्तराधिकार की श्रेणी में ही नहीं रखा है, किन्तु आपस्तम्ब (आ.ध.सू.2/6/14/3-4) ने उसे वैकल्पिक रूप में स्वीकार किया है। सर्वप्रथम कौटिल्य (अर्थ. 3/5/9-10) ने कन्याओं को दायादों में प्रथम स्थान दिया है। मनु (मनुस्मृ. 9/130) ने इस सम्बन्ध में पुत्रिका अर्थात् पुत्र के रूप में नियुक्त पुत्री को ही उत्तराधिकारिणी माना है, सभी कन्याओं को नहीं। याज्ञवल्क्य, बृहस्पति तथा विष्णु ने कन्या के दायाद–क्रम का प्रबल समर्थन करते हुए उसे पैतृक सम्पत्ति के दायादों में विधवा के उपरान्त प्रथम स्थान दिया। किन्तु नारद (13/50) ने कन्या को विधवा के पूर्व ही उत्तराधिकारिणी स्वीकार किया है। महाभारत (अनु.प.80/11) में भी औरस पुत्र के अभाव में अन्य पुत्रों की अपेक्षा कन्या को ही सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी माना गया है। कात्यायन ने अविवाहित कन्या को विवाहिता की तुलना में वरीयता दी है। शुक्रनीति (शुक 4/5/299-200) ने अविवाहित एवं अभ्रातृका का भेद

मिटा कर सभी कन्याओं को पुत्रों के साथ पैतृक सम्पत्ति का अंशहर घोषित किया है।

मिताक्षरा ने कन्याओं के रिक्थाधिकार निर्धारण में सामान्य अनुभव के आधार पर विवाहित पुत्री की अपेक्षा अविवाहित पुत्री को और विवाहित पुत्रियों में प्रतिष्ठिता (धनी) पुत्री की अपेक्षा अप्रतिष्ठिता (निर्धन) पुत्री को वरीयता दी है। दायभाग ने भी मिताक्षरा के समान विवाहिता की तुलना में अविवाहिता पुत्री को वरीयता दी है। किन्तु विवाहित पुत्रियों के सन्दर्भ में दायभाग मिताक्षरा से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए अप्रतिष्ठिता और प्रतिष्ठिता पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रवती और संभावितपुत्रा को प्राथमिकता देता है। दायभाग के अनुसार उत्तराधिकार की मुख्य कसौटी पिण्डदान की योग्यता है। अतः पुत्रवती अथवा पुत्रवती होने वाली विवाहित कन्या को विधवा, बन्ध्या (बाँझ) या केवल पुत्रियों वाली विवाहित कन्या की तुलना में वरीयता मिलनी चाहिए। इन दोनों सम्प्रदायों द्वारा शासित प्रदेशों के न्यायालयों ने भी इन्हें मान्यता दी है।

सम्पूर्ण भारत में (मुंबई को छोड़कर) कन्या के साम्पत्तिक अधिकार विधवा के समान ही सीमित हैं। वह सम्पत्ति का केवल यावज्जीवन उपभोग ही कर सकती है, क्रम अथवा दान द्वारा उसका विघटन नहीं कर सकती। उसकी मृत्यु पर वह सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों को न मिलकर उसके पिता के अन्य दायादों को मिलती है। न्यायालयों ने भी इसे मान्यता दी है। किन्तु मुंबई में इसके विपरीत कन्या का पैतृक सम्पत्ति पर पूर्ण स्वत्व माना जाता है और उसकी मृत्यु पर वह सम्पत्ति उसके ही दायादों को प्राप्त होती है। (विनायक ब. लक्ष्मीबाई 1, मुंबई हाईकोर्ट रिपोर्ट 117)

प्राचीन व्यवस्था के अन्तर्गत शास्त्रकारों और निबंधकारों द्वारा विवेचित पुत्रियों के दायाधिकार की स्थिति सामाजिक दृष्टि से अति कटु एवं स्त्री–पुरुष की समानता के सिद्धान्त के विपरीत थी। अतः इस विषमता को दूर करने हेतु भारत सरकार ने सन् 1956 ई. में 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' का कानून पारित किया, जिसमें पुत्रियों को भी पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के साथ समान उत्तराधिकारी घोषित किया गया। आधुनिक काल में सर्वत्र यही नियम लागू है।

प्राचीन शास्त्रकारों ने स्त्रीधन में सर्वप्रथम कन्याओं को ही उत्तराधिकारिणी माना है। इस विचार का प्रकटीकरण सर्वप्रथम गौतम (गौ.ध.सू. 28/22) ने किया। जिसका परवर्ती ग्रन्थकारों (बौ.ध.सू. 2/2/3/44, मनुस्मृ. 9/131, याज्ञ.स्मृ. 2/117) ने समर्थन किया।

विज्ञानेश्वर (याज्ञ. 2/117 पर मिताक्षरा) ने इसे औचित्य पूर्ण बतलाते हुए यह कहा कि पुत्री में माता कें अंश अधिक होते हैं, अतः वह माता की सम्पत्ति (स्त्रीधन) की सर्वप्रथम अधिकारिणी होती है।

'स्त्रीधन' जिसका तात्पर्य नारी की उस सम्पत्ति से है, जिस पर उसका पूर्ण स्वामित्व होता – हिन्दू विधि का क्लिष्टतम भाग माना जाता है। प्रारम्भ से लेकर आजतक स्त्रीधन के सम्बन्ध में शास्त्रकारों एवं विधि–वेत्ताओं में पर्याप्त मतभेद रहा है। स्त्रीधन का आरम्भ वैदिक युग (ऋ. 10/85/13 एवं अथर्व. 14/1/13) में विवाह के समय कन्या को दिये जाने वाले वस्तुओ से हुआ। सभी सूत्रकारों ने (गौ.ध.सू. 28/22, बौ.ध.सू. 2/2/3/44, वसि.ध.सू. 17/46) स्त्रीधन की चर्चा में सर्वप्रथम पुत्री को उत्तराधिकारिणी घोषित किया है। कौटिल्य ने (अर्थ. 3/2/14-15) स्त्रीधन को परिभाषित करते हुए उसे वृत्ति (जीवन–वृत्ति यथा भू–सम्पत्ति और सोना) तथा आबन्ध्य (आभूषण) नामक दो भागों में विभक्त किया है।

वस्तुतः स्त्रीधन का स्वरूप वैदिक काल की अपेक्षा सूत्रकाल में अधिक विकसित होने लगा और स्मृतिकाल तक इसमें पर्याप्त व्यापकता आ गयी। स्मृतिकारों ने (मनुस्मृ. 9/194/195, ना. स्मृ. 13/8, याज्ञ. स्मृ. 2/143-144, वि. स्मृ. 17/18, याज्ञ. स्मृ. 2/143 पर मिताक्षरा, स्मृ. चं. 2/280-281, दाय.पृ. 93 तथा वि.चि.पृ. 138) स्त्रीधन के स्वरूप विवेचन में जिन स्त्रीधनों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं – अध्यग्नि, अध्यावाहनिक, प्रीति–प्रदत्त, शुल्क, अन्वाधेय, अधिवेदनिक, बन्धुदत्त तथा सौदायिक स्त्रीधन। इस सम्बन्ध में मिताक्षरा (याज्ञ. स्मृ. 2/115,123) का मत है कि किसी भी प्रकार का धन स्त्रीधन की संज्ञा पा सकता है, चाहे वह स्त्री द्वारा किसी पुरुष की विधवा, माता या पत्नी के रूप में उत्तराधिकार एवं विभाजन से प्राप्त हो। चाहे वह सम्बन्धी अथवा अन्य व्यक्तियों द्वारा भेंट में प्राप्त हो। चाहे वह स्वपरिश्रम से अर्जित की गयी हो अथवा अन्य किसी स्त्रोत से प्राप्त हो। किन्तु दायभाग (दाय. 4/118) ने मिताक्षरा के उपर्युक्त मतों का खण्डन करते हुए कहा है कि 'स्त्रीधन वही है, जिसका पति से स्वतंत्र रहते हुए पत्नी, दान विक्रय तथा उपभोग कर सकती है।' प्रिवी कौंसिल ने भी मुंबई के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में मिताक्षरा के स्त्रीधन की व्याख्या को स्वीकार नहीं किया है अर्थात् उत्तराधिकार एवं विभाजन से प्राप्त धन को स्त्रीधन नहीं माना है।

वर्त्तमान समय में 'हिन्दू उत्तराधिकर अधिनियम' की धारा 14 के अनुसार अचल सम्पत्ति, दाय अथवा विभाग से प्राप्त सम्पत्ति, जीविका हेतु प्राप्त धन, किसी भी सम्बन्धी अथवा असम्बन्धी से प्राप्त उपहार, विवाह के पूर्व तथा बाद में प्राप्त धन, शिल्प कला के द्वारा अथवा स्वयं के परिश्रम से प्राप्त धन, स्त्रीधन से क्रय की हुई सम्पत्ति तथा स्त्रीधन से प्राप्त आय एवं अन्य प्रकार से उपलब्ध सम्पत्ति स्त्रीधन कहलाता है। परन्तु उपहार, वसीयत और समझौता आदि किसी शर्त पर दिया गया धन स्त्रीधन नहीं कहलाता और न ही ऐसी सम्पत्ति पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता है।

स्त्रीधन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में अनेक मत दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु स्त्रीधन का उत्तराधिकार सर्वप्रथम कन्याओं को मिलना चाहिए, इस विषय में सभी शास्त्रकार (गौ.ध.सू. 28/22, बौ.ध.सू. 2/2/3/44, याज्ञ. स्मृ. 2/117, ना.स्मृ. 13/2, एवं कात्या.दा.82) एक मत हैं। पुत्री को स्त्रीधन का उत्तराधिकारिणी मानने में संभवतः माता का अपनी कन्या के प्रति अनुराग और विवाह के समय उसे अपने आभूषण देने की इच्छा ही मुख्य कारण रहा होगा। गौतम (गौ.ध.सू. 28/22) और विज्ञानेश्वर ने (याज्ञ. 2/117 पर मिता.) सामाजिक स्थिति एवं आवश्यकता के आधार पर पुत्रियों में भी अविवाहिता, अपुत्रा और निर्धन (अप्रतिष्ठिता) को विवाहिता, पुत्रवती और धनी पुत्री की तुलना में (स्त्रीधन में) वरीयता दी है।

पुत्रियों के अभाव में स्त्रीधन पर सामान्यतः पुत्रों का अधिकार माना गया है –(याज्ञ. 2/117 एवं कात्या. दा.72) परन्तु परवर्ती काल में काल–क्रम और लोकाचार के कारण कुछ शास्त्रकारों ने (मनुस्मृ. 9/192-193, बृह.स्मृ. 25.87, शं.लि.दा.पृ. 79 तथा कौटि. अर्थ. 3/2/36) स्त्रीधन पर पुत्र एवं अविवाहित पुत्री का एक साथ समान उत्तराधिकार स्वीकार किया है।

मिताक्षरा ने स्त्रीधन में सर्वप्रथम पुत्रियों को और उनके अभाव में पुत्रों को दायाधिकारी माना है। किन्तु दायभाग ने पुत्रियों के साथ ही पुत्रों को भी बराबर का अधिकारी घोषित किया है। पुत्र–पुत्री के अभाव में स्त्रीधन का अधिकारी पति होता है, यदि उसका विवाह बाह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य रीति से सम्पन्न हुआ हो। परन्तु अन्य प्रकार के विवाहों में स्त्री के निःसंतान मरने पर स्त्री धन का अधिकारी पति होता हैं–(मनुस्म. 9/196-197, याज्ञ. स्मृ. 2/144-145 पर मिता. एवं वि.स्मृ. 17/19-21)

सन् 1956 में 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' के लागू होने पर पूर्व प्रचलित हिन्दू विधि को समाप्त कर दिया गया और इस अधिनियम की धारा 15-16 में यह प्रावधान किया गया कि हिन्दू स्त्री के निर्वसीयती स्त्रीधन पर सर्वप्रथम पुत्र, पुत्री, पति तथा मृत पुत्र–पुत्रियों की सन्तानों को एक साथ समान अंश का उत्तराधिकार है। इनके अभाव में पति के उत्तराधिकारी, स्त्री के माता-पिता, पिता के उत्तराधिकारी और माता के उत्तराधिकारियों को (एक के अभाव में क्रमशः दूसरे को) स्त्रीधन प्राप्त होता है। पुत्र–पुत्री के अभाव में पिता के द्वारा दी गयी सम्पत्ति पिता के उत्तराधिकारियों को तथा पति के द्वारा दी गयी सम्पत्ति पति के उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती है, अन्य को नहीं।

पत्नी (सधवा)

याज्ञवल्क्य (याज्ञ. स्मृ. 2/115) का मत है कि यदि पिता पुत्रों में समान विभाग करता है तो उसे पत्नी पत्नियों को भी समान अंश देना चाहिए, जिनको अपने श्वसुर या पति से स्त्रीधन प्राप्त नहीं हुआ है। यदि उनके पास स्त्रीधन है तो उन्हें उतना ही धन मिलेगा जितना कि एक पुत्र के धन के बराबर हो जाय। मिताक्षरा (याज्ञ.स्मृ. 2/52 पर मिता.) का मत है कि पत्नी को यह अंश पति की इच्छा से प्राप्त होता है अर्थात् पत्नी विभाग के लिए माँग नहीं कर सकती।

माता

शास्त्रकारों ने (याज्ञ. स्मृ. 2/123, ना.स्म.13/12) तथा याज्ञ.स्मृ. 2/135 पर मिता.) पिता की मृत्यु के उपरान्त विभाजन होने पर पैतृक सम्पत्ति में माता को भी पुत्रों के समान अंशहार घोषित किया है। किन्तु यदि उनके पास स्त्रीधन है तो पैतृक दाय उसी अनुपात में मिलेगा। किसी पुरुष की कई पत्नियाँ हों या एक ही पत्नी के कई पुत्र हों तो विभाजन पुत्र पत्नियों एवं माताओं के अनुसार होता है।

पितामही (दादी)

धर्मग्रन्थों में (दा.पृ.67, स्मृ.चं.पृ. 267 में व्यास का वचन उद्धृत, अप.पृ. 730) पितामही के स्वत्व को भी स्वीकार किया गया है। परन्तु पितामही को दायांश तभी प्राप्त होता है जब उसके पुत्र की मृत्यु हो गयी हो और पौत्रों में विभाजन हो रहा हो अथवा उसके जीवित पुत्र और मृत पुत्र के पुत्रों में (चाचा–भतीजों) विभाजन हो रहा हो। अतः

पितामही को विभाजन की माँग का अधिकार नहीं है। (39 बम्बई लॉ रिपोर्ट 373, 50 इलाहाबाद इण्डियन लॉ रिपोर्ट्स, 532)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दू विधि की अपेक्षा वर्तमान हिन्दू विधि में स्त्रियों के साम्पत्तिक स्वत्वों का क्षेत्र वैधानिक दृष्टि से काफी विस्तृत हो गया है। पैतृक सम्पत्ति में उसे पूर्ण स्वत्व और पुत्रों के साथ समान अधिकार प्राप्त है। स्त्रियों के प्रति यह व्यवहार–व्यवस्था सामाजिक दृष्टिकोण से अति आवश्यक एवं उचित भी है। आवश्यकता इस बात की है कि हम वर्तमान में प्रचलित स्त्री सम्बन्धी अधिनियमों को जाने–समझें और उनको पूर्ण व्यवहारिक बनाने का प्रयास करें।

डॉ. प्रीति श्रीवास्तव
गर्ल्स विश्वविद्यालय
मुम्बई



ऋग्वेद में पर्यावरण चेतना

मारूत नन्दन मिश्रा

वेद का अर्थ है 'ज्ञान'। वेद चार हैं–ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद। इसमें ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन वेद है, जो दस मण्डलों में विभक्त है। वेद पौरुषेय है या अपौरुषेय इस विषय पर विद्वानों में प्राचीन काल से ही मतभेद बना हुआ है। किन्तु यह तो सत्य है कि वेद किसी एक पुरुष की रचना नहीं है अपितु यह ऋषि–महर्षियों द्वारा हजारों वर्षो में अनुभूत किये गये तत्त्वों का साक्षात् प्रतिपादक है। वेद आर्य जाति के प्राण हैं। इनमें आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विचारधाराओं का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। वेदों में पर्यावरण के स्वरूप को जानना और उसे संक्षेप में व्यक्त करना अत्यन्त कठिन कार्य है, लेकिन इसके अध्ययन से पता चलता है कि वैदिक साहित्य पर्यावरणीय तत्त्वों की व्याख्या करता है। तत्कालीन पर्यावरण में जो तत्त्व वर्णित किये गये हैं उनके बारे में ऋषियों ने प्रकृति का वर्णन करते हुए पर्यावरणीय तत्त्वों की व्यापक विवेचना की है। इसमें पर्यावरण को परमसत्ता से सम्बद्ध बताया गया है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में समस्त चराचर जगत् को परमसत्ता से उत्पन्न बताया गया है। संसार की समस्त क्रियायें उसी परमसत्ता की इच्छा से संचालित होती है। उसकी इच्छा के विपरीत कुछ भी सम्भव नहीं है–

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।[1]

ऋग्वेद में दीर्घतमा ऋषि ने पर्यावरण के अनेक तत्त्वों पर विचार व्यक्त किया है–

सकृद्ध धौरणायत् सकृद् भूमिरणायत्।
पृश्न्या दुग्धं सकृत्ययस्तदव्यो नानु जायते।।[2]

अर्थात्– निश्चित ही सूर्य एक बार उत्पन्न हुआ, भूमि एक बार उत्पन्न हुई तथा जल एक बार उत्पन्न हुआ, क्योंकि सृष्टि के लिए ये तीन तत्त्व विशेष महत्त्वपूर्ण है। शेष सभी वस्तुयें तो इन्हीं से उत्पन्न मानी जाती है। एक अन्य ऋग्वेदीय मंत्र में बताया गया है–

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।।[3]

अर्थात्– उस परमपिता के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, प्राणों से वायु तथा मुख से अग्नि व इन्द्र की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार से ऋषियों ने अनेक प्रकार के रूपक बना करके इस तत्त्व को सिद्ध किया है कि सभी लोग इस परमसत्ता से उत्पन्न हुए हैं, परमात्मा एक ही है। ऋषियों का उद्देश्य था कि सभी लोग इस पर्यावरण की रक्षा करें। ऋग्वेद में एक जगह पर्यावरण की रक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है कि–

महत्तदुल्लवं स्थविरं तदासीदृयेम विष्ठितः।[4]

अर्थात्– एक अतिव्यापक मोटी परत द्वारा जलीय वातावरण का निर्माण होता है।

वेदों में वर्षा के शुद्ध जल के संरक्षण का निर्देश दिया गया है। वर्षा के जल को एकत्र् करने के लिए मानवों द्वारा कृत्रिम जलाशय, विस्तृत भूमि की खुदाई करके बनाया जाता था। जिसे ऋग्वेद में 'खनित्रम्' शब्द से कहा गया है–

या आपोदिव्या उतवा स्त्रवन्ति।

खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।।[5]

वैदिक ऋषियों की यह मान्यता हमारे धर्म और संस्कृति में आज भी परम्परा के रूप में चली आ रही है। पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिए ऋग्वैदिक काल में यज्ञ प्रमुख साधन था। विविध प्रकार के यज्ञों के आयोजन से अग्नि में प्रक्षिप्त हवन सामग्री के प्रज्ज्वलन से भौतिक व आध्यात्मिक पर्यावरण को शुद्ध करते थे। यज्ञ से निकलने वाला धूम्र वायुमण्डल में फैल कर बादलों से पृथ्वी पर जल वृष्टि होती थी। जिससे अन्न व औषधियाँ उत्पन्न होती थी। इससे वातावरण शुद्ध होता है। अग्नि गृहस्थ के देवता है इस कारण इन्हें 'गृहपति' भी कहा गया है। अग्नि अपने उपासकों के महान् उपकारक हैं जो उनकी स्तुति करते हैं, हवि प्रदान करते हैं, उन्हें वह सभी प्रकार के सुख व ऐश्वर्य प्रदान

करते हैं। वेदों में मनीषियों ने अत्यन्त सरलवाणी में अग्नि देवता की स्तुति की है–

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः

देवो देवेभिरागमत्॥[6]

वेदों में जल को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिए मधुर निर्देश दिये गये हैं। ऋग्वेद में आया है कि यदि लोग जल को प्रदूषण से मुक्त रखेगें तभी जल की उष्मा, मानव को तेज, प्रज्ञा और दीर्घायु प्रदान कर सकती है।[7]

जल को प्रदूषण से मुक्त रखने के उपायों पर भी ऋषियों ने विचार किया। वैदिक काल में जल में फैलने वाली कृमियों को दूर करने के लिए अजशृङ्गी, गुग्गुल, पीलु, मानसी और प्रमोदिनी आदि औषधियाँ तथा पीपल, वट, शिखण्डी, अर्जुन आदि वृक्षों का प्रयोग होता था। वैदिक ऋषियों ने जल संचयन को भी प्रोत्साहित किया है। इनका मानना है कि जलों के सम्यक् बरसने और बहने के लिए ऊँचे प्रदेशों में वनों का होना और निचले प्रदेशों में जल को संग्रहित कर सुरक्षित रखना आवश्यक है।[8]

जल के वास्तविक महत्त्व को वैदिक कालीन लोग अच्छी तरह जानते थे। प्राणियों के रक्षक के रूप में जल का प्रयोग करने से तात्पर्य यह है कि जल का अधिक से अधिक उपयोग किया जाय, तथा जल को व्यर्थ न बहने दिया जाय। इस जल के प्रति सम्मान व कृतज्ञता व्यक्त की जाय। ऋग्वेद में इसके स्त्रोतों का वर्णन करते हुए इससे अपने रक्षा की बात कही गयी है–

या आपो दिव्या उत वा स्त्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।

समुद्रार्था या शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥[9]

अर्थात्– हे मनुष्यो! जो शुद्ध जल झरते हैं अथवा खोदने से उत्पन्न होते हैं समुद्र के लिए है जो पवित्र करने वाले है वे देदीप्यमान जल इस संसार में रक्षा करें।

वैदिक ऋषियों ने हजारों वर्ष पूर्व पर्यावरण को सन्तुलित करने और उसे प्रदूषण से मुक्त रखने के लिए आवश्यक सावधानियों को धारण किया। फलतः वैदिक काल पर्यावरण प्रदूषण से मुक्त रहा। पर्यावरण प्रदूषण तब प्रारम्भ हुआ, जब लोग वैदिक जीवन पद्धति का निरादर कर अधिकाधिक लाभ पाने की लालसा करने लगे, इससे न केवल

प्रकृति का दोहन हुआ, बल्कि समाज भी विश्रृंखल और हिंसक होता गया। जिसका परिणाम है कि आज मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष न होकर भोग होता जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक काल में पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिए हमारे ऋषियों–महर्षियों ने व्यापक प्रयास किया। ऋग्वेद में वर्णित पर्यावरण संरक्षण इस सुदीर्घ एवं अति प्राचीन परम्परा को आधुनिकता की आग में आने से रोकने का हर संभव प्रयास करते हैं, आधुनिक समय में प्रौद्योगिकी तथा उसकी प्रकृति का शोषण, वैभव–विलास, रीति, नीति ने स्वस्थ पर्यावरण को आज संकटापन्न कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप मानव जीवन अत्यन्त त्रस्त दिखायी पड़ रहा है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. ऋग्वेद 10/90/2
2. ऋग्वेद 6/98/22
3. ऋग्वेद 10/90/13
4. ऋग्वेद 10/51/1
5. ऋग्वेद 7/49/2
6. ऋग्वेद 1/1/5
7. ऋग्वेद 1/23/24
8. ऋग्वेद 7/49/2

मारुतनन्दन मिश्रा
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी।

संस्कृत ही संस्कृति

प्रियन्ती जयपुरियार

भारत में सैकड़ों प्रकार की भाषाएँ बोली जाती हैं परन्तु उनमें से संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है, जो समस्त भारत की संस्कृति को उजागर करती है। संस्कृत भाषा का तात्पर्य ही संस्कृति से जुड़ा है। प्राचीन काल से ही संस्कृत को परिष्कृत एवम् उत्तम भाषा का दर्जा प्राप्त है। वैसे तो संस्कृत को देववाणी या देवभाषा के रूप में निरूपित किया जाता रहा है। ऐसा नहीं कि यह भाषा देवताओं द्वारा ही प्रयोग में लायी जाती रही है। यहाँ पर देववाणीका तात्पर्य वैसे लोगों से है जो सद्गुण, विचारवान्, सहृदय एवं सुसंस्कृत गुणों से परिपूर्ण हैं। उनके द्वारा इस भाषा का प्रयोग एवं विस्तार होता रहा है। संस्कृत भाषा को व्यवहार में लाने मात्र से मनुष्य के अन्दर सात्त्विक विचारों का समावेश होता है। सूक्ष्मतापूर्वक संस्कृत–साहित्य पर विचारोपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस काल में भी इस भाषा की प्रधानता रही, उस काल ने अत्यंत ही सभ्य एवं सौम्य समाज को परिभाषित किया। उस काल में लोगों द्वारा संस्कृत भाषा के उपयोग ने उस समाज को उत्कृष्टता प्रदान कर देवताओं की श्रेणी को चिह्नित किया है, जिसके फलस्वरूप दैवी गुणों का अंश उन लोगों में हुआ। जिसके आधार पर संस्कृत को देवताओं द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा की संज्ञा प्रदान की गई। देव और दानव के गुण मनुष्य के मन, वाक् एवं कर्म पर आधारित होते हैं। जो व्यक्ति जिस अनुरूप कार्य करता है, उसे उसी रूप की संज्ञा दी जाती है।

प्राचीन काल में सद्गुण, सत्यविचार, सहिष्णु जैसे व्यक्तियों को 'देव' शब्द से इसी उद्देश्य से निरूपित किया गया; क्योंकि उनके अन्दर दुर्गुणों का समावेश लेशमात्र भी न था और जिसका श्रेय संस्कृत भाषा को ही जाता है।

भाषा मनुष्य के हर पहलू को प्रभावित करती है। संस्कृत भाषा मानव के अन्दर स्फूर्ति एवं सद्गुणों का संचार करती है, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य मानवप्रेम, समाजप्रेम,

एवं मानवधर्म की ओर अग्रेसर होता है। जितने भी सत्त्वगुण–विचार हैं; वे सभी संस्कृत भाषा की ही देन हैं। इन शब्दों की उत्पत्ति भी संस्कृत भाषा से ही हुई हैं। सबसे गूढ़ तथ्य यह है कि संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है, जिसके प्रत्येक शब्दोच्चारण से शुद्धता एवं पवित्रता का आभास होता है। आज की परिस्थिति में भी यह अनुभूत किया जाता है कि जहाँ भी संस्कृत भाषा का पाठ किया जाता है, वहाँ का वातावण अशुद्ध से शुद्ध होकर मनुष्य के अन्तर्मन को एक विलक्षण शान्ति एवम् ऊर्जा प्रदान करता है। किसी भी यज्ञ में, पूजा में या फिर किसी भी संस्कार–समारोह में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग होता आ रहा है और यह भी पाया गया है कि उक्त समारोह में उक्त समय एक विचित्र सी अनुभूति का आभास जनमानस के अभ्यन्तर होता है, जिसके प्रभाव से उनका अन्तःकरण शुद्ध एवं पवित्र होकर एक आनन्दमयक्षण प्रदान कर समस्त अवगुणों को समाप्त कर, एक आदर्श मनुष्य बनने के लिए प्रेरित करता है। जब अल्प समय में संस्कृत भाषा के श्रवण मात्र से मनुष्य के भीतर ऐसी अनुभूति जन्म लेती है, विचार्यमाण तो यह तथ्य है कि यदि संस्कृत भाषा का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय तो उसका कितना गहरा एवम् अमूल्य असर मनुष्य के अन्दर होगा और परिणामतः एक सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज की रचना होगी।

आधुनिक काल में हम भले ही विज्ञान की उपलब्धियों की बदौलत आराम एवं शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने का दंभ भरते हों; परन्तु वास्तविकता तो यही है कि आज हर मनुष्य अशांत एवं अस्थिर है। क्रोध, वासना, घृणा, लालच, तनाव की भावना से ग्रस्त आज हर मनुष्य भौतिक सुखों की लालसा में अपने झूठ के मायाजाल में फँसकर मानवता से परे एक यांत्रिक मानव की तरह व्यवहार कर खुद को असंतुलित और असहज बनाता जा रहा है। ऐसा होने के कारण स्पष्ट है कि ऐसे तत्त्व जो हमारे मन को ऊर्जा एवं स्फूर्ति प्रदान कर सकते हैं, उनका समावेश नहीं हो पा रहा है।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात है कि मनुष्य के अन्दर किसी भी विचार का जन्म कैसे होता है? मनुष्य को कौन–कौन सी चीजें प्रभावित करती हैं? इन पहलुओं पर प्रकाश डाला जाए तो यह स्पष्ट होगा कि मनुष्य को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है उसके चारों तरफ व्याप्त वातावरण। आज जिस वातावरण में हम साँस ले रहे हैं, वह एक अजीब सी घुटन पैदा करने वाला माहौल है। जिसमें प्रचुर मात्रा में हिंसा, द्वेष, स्वार्थ, क्रोध, वासना और अन्य सभी दुर्गुणों की प्रधानता है जो कभी भी विस्फोटक साबित हो सकती है। आज भले ही संस्कृत की उपयोगिता अप्रासंगिक लगती है, परन्तु यह कतई नहीं कहा जा सकता है कि हमारी प्राचीन

सभ्यता संस्कृति वर्तमान संस्कृति से निकृष्ट थी। पहले की अपेक्षा आज का मानव–समुदाय ज्यादा कष्टमय जीवन जीने को मजबूर है, जबकि भौतिक सुख–साधनों का अंबार सा है। यह एक गंभीर विषय है कि क्यों आज हमारे युवावर्ग उद्दत एवम् उच्छृंखल होते जा रहें है। पहले की तुलना में क्यों आज मनुष्य में सहनशीलता, प्रेम दया एवं करूणा की भावना कम होती जा रही है, तो इसका एकमात्र कारण है–संस्कृत भाषा का धीरे–धीरे लोप होती। एक ऐसी भाषा को हम भूलते जा रहे हैं, जो मनुष्य को ऊर्जावान्, शक्तिमान्, दयावान् बनाने में सहायक है। इतना ही नहीं संस्कृत शब्दों से बने मंत्रों का भी हमारे जीवन पर इतना गहरा असर है कि आज भी इस आधुनिक युग में इनका प्रयोग किया जाता है। मंत्रोच्चार से वाणी स्पष्ट होती है अहम् बात तो यह है कि हमारे शरीर में सुचारूप से रक्त संचार होता है जो हमें कई विकारों से मुक्त करता है। वर्तमान काल में भी संस्कृत का अध्ययन–अध्यापन विश्व के प्रायः प्रत्येक विकसित देशों में हो रहा है। अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड तथा रूस के अनेक विश्वविद्यालयों में संस्कृत के बड़े–बड़े विभाग हैं जिनमें संस्कृत के अनेको विदेशी छात्र हैं और संस्कृत के अनेक उत्तमोत्तम शोध ग्रंथों का प्रकाशन होता है। इस प्रकार आज संस्कृत केवल भारत तक ही सीमित नहीं बल्कि यह विश्व की एक बहुत परिचित भाषा बन चुकी है। परन्तु यह एक खेदजनक तथ्य है कि हम भारतीय अपनी प्राचीनतम भाषा संस्कृत से विमुख होते जा रहे हैं।

असंख्य कारणों एवं दृष्टिकोण से पूरे विश्व के लिए खासकर भारत के लिए अतुलनीय प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी संस्कृत भाषा का यथोचित प्रचार–प्रसार न होने के कारण इसकी गरिमा धूमिल पड़ती जा रही है। समय रहते इस भाषा को प्रोत्साहन न मिला तो संभव है कि संस्कृत भाषा का ह्रास होते–होते यह लुप्त हो जाए।

अतः भारतीय समाज की एकता, अखंडता के लिए संस्कृत के पठन–पाठन की अनिवार्यता निर्द्वन्द्व, निर्विवाद एवं राष्ट्रीय एकतापरक है। संस्कृत भाषा के अधिकाधिक प्रयोग से भारतीय समाज में विराजमान बुराइयों को समाप्त कर उत्कृष्ट एवम् उदात्त मूल्यों को बढ़ावा दिया जा सकता है। भारत की सभ्यता संस्कृति एवं एकता को अक्षुण्ण रखने के लिए संस्कृत ही एक मात्र विकल्प है।

प्रियन्ती जयपुरियार
शोधच्छात्रा (संस्कृत विभाग)
बाबा साहेब अम्बेडकर बिहार
विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

****

संस्कृत में समास-प्रक्रिया

राजीव कुमार

समस्त पद रचना

पद रचना की दृष्टि से संस्कृत की समस्त पदरचना भी कृत्–तद्धित पदरचना के ही निकट है। यद्यपि शब्द की दृष्टि से इसमें एकाधिक प्रातिपदिकों का योग होता है किन्तु अर्थ (द्वन्द्व को छोड़कर) एवं प्रत्यय योजना की दृष्टि से यह समस्त पद एकत्व का ही बोधक होता है। समासान्त प्रत्ययों का योग भी इसमें अन्य प्रत्ययों के समान ही पदान्त में होता है तथ रूपरचना के लिये सुबन्त विभक्ति प्रत्ययों की योजना भी कृदन्त एवं तद्धित प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों की रूप–रचना के समान होती है। अतः अन्य प्रकार की पद–रचना प्रक्रियाओं के समान ही समास प्रक्रिया भी संस्कृत की पदरचना प्रक्रिया में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

संस्कृत समास रचना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि–यद्यपि संस्कृत अमेरिका के रेड इंडियनो की भाषा के समान समासप्रधान भाषा नहीं, किन्तु फिर भी साहित्यिक संस्कृत में जो पूरे वाक्यों में समस्त पद दिखाई देते है, यद्यपि बाण, दण्डी, सुबन्धु आदि का संस्कृत में पायी जाने वाली समास–रचना भाषा की कृत्रिमता की चरम–सीमा थी तथा भारोपीय परिवार की किसी भी अन्य भाषा में नहीं पायी जाती। पर संस्कृत में स्वतंत्र पदों को एक समस्त पद के रूप में घटित करने की मूल प्रवृत्ति इसकी उत्पत्ति के आदि काल से ही अर्थात् भारोपीय काल से ही विद्यमान थी। ग्रीक, लैटिन अवस्ता आदि में भी समस्त पदों की स्थिति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि संस्कृत की समस्त पद रचना–प्रक्रिया के विश्लेषण के लिये हम उन्हीं रूपों को लेगें जो कि वैदिक संस्कृत में तथा आम बोलचाल की संस्कृत में पाये जाते है।

यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो समास या समस्त पद की रचना केवल दो पदों

के योग से होती है। संस्कृत–वैयाकरणों के द्वारा अर्थ की दृष्टि से किये गये समासों के वर्गीकरण से भी इसकी पुष्टि होती है अर्थात् उन्होंने पद–विशेष के अर्थ को ध्यान में रखकर ही समासों का वर्गीकरण किया हैं–

प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः – प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुब्रीहिः प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो दन्द्वः। व्याकरणशास्त्र की भाषा में समास के घटक इन दो पदो में से प्रथम को "पूर्वपद" तथा दूसरे को "उत्तरपद" कहा जाता है। दो से अधिक पदों वाले समासों में भी उन सबका विभाजन पूर्वपद तथा उत्तरपद की इकाई में किया जाता है तथा इन इकाइयों से बने हुए समस्त पदों का फिर परस्पर शृंखलाबद्ध रूप में समास किया जाता है। उस प्रक्रिया में भी एक बार दो ही पदों का समास होता है तथा उपर्युक्त परिभाषिक शब्दावली में पूर्ववर्ती समस्त पद को "पूर्वपद" तथा उत्तरवर्ती समस्त पद को उत्तरपद की संज्ञा दी जाती है। यथा–"जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु" जैसे समस्त पद के घटक यद्यपि पाँच पद है किन्तु समास–प्रक्रिया में केवल दो–दो पदों का ही योग हो सकता है। समस्त हो जाने पर ये दो पद स्वयं एक इकाई हो जाते है तथा इस रूप में अगले पद के साथ संयुक्त होते हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि अंतिम पद भी संयुक्त होकर समस्त पद की इकाई में एकाकार नहीं हो जाता। उपर्युक्त उदाहरण में ही प्रथम जनक। पूर्वपद + तनया। उत्तरपद। मिलकर एक समस्त पद जनकतनया की रचना करेंगे। अब अगले पद "स्नान" के साथ इसे संयुक्त करने के लिये इस समस्त पद को एक पद अर्थात् पूर्वपद के रूप में लिया जाएगा तथा स्नान को उत्तरपद के रूप में। पुनः ये तीनों मिलकर एक समस्त पद बन जायेंगे जो कि अगले पुण्य शब्द के संयुक्त होने के लिये स्वयं पूर्वपद की संज्ञा धारण कर लेता ही है। इस प्रकार की यह प्रक्रिया अन्य तक चलती रहती है। सामान्यतः केवल द्वन्द्व समास में ही दो से अधिक पदों का एक साथ समस्त होना संभव हो सकता है। यथा–पाणी च पादौ च मुखं = पाणिपादमुखम् रामश्च लक्ष्मणश्च भरतश्च शत्रुघ्नश्च = रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः।

संस्कृत की समास प्रक्रिया के ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि वैदिक काल में जबकि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, इसके समस्त पदों के घटकों (कम्पोनेन्टस।) की संख्या अत्यन्त ही सीमित अर्थात् दो होती थी। यहाँ तक कि तीन पदों के योग से बनने वाले समस्त पदों की संख्या भी नगण्य ही थी। समासों की बिल्कुल यही

स्थिति होमरकालीन ग्रीक में भी पाई जाती है जो इस बात की संकेतक हं कि भारोपीय काल में भी समास के इन घटकों की स्थिति लगभग यही रही होगी।

संस्कृत के समस्त पदों की प्रमुख विशेषतायें ये है कि एक तो इनमें पूर्वपद अपने निर्विभक्तिक (प्रतिपदिक) रूप में रहता है और विभक्ति प्रत्ययों का योग केवल उत्तरपद के साथ होता है। यद्यपि यह सर्वथा निरपवाद लक्षण नहीं, क्योंकि कुछ समस्तपदों, विशेषकर "देवताद्वन्द्व" नामक समास के प्रभेदों में इसके अपवाद पाये जाते है तथा वैदिक संस्कृत की दृष्टि से इनकी दूसरी विशेषता यह है कि एक समस्त पद में उदात्त स्वराघात प्रायः एक ही पद पर रहता है जबकि स्वतंत्र प्रयोग में एक दोनों पदों में स्वतंत्र रूप से विद्यमान रहता है। परन्तु प्रथम लक्षण के समान ही यह भी सर्वथा निरपवाद नहीं, विशेषकर द्वन्द्व समासों में जिनमें कि दोनो घटकों का स्वतंत्र अस्तित्व इतना अपेक्षित होता है कि उनके स्वतंत्र स्वराघात ही नहीं अपितु स्वतंत्र विभक्ति रूपों को भी सुरक्षित रखा जाता है। इसके अतिरिक्त समाहार द्वन्द्व को छोड़कर समस्त पद के लिङ्ग का निर्धारण भी प्रायः उत्तरपद के लिङ्ग के आधार पर होता है।

प्रो.टी. बरो का कथन है कि प्रारंभिक भारोपीय की रूप रचना (मॉरफोलॉजी) की दृष्टि से संस्कृत समासों की उपर्युक्त प्रथम विशेषता विशेष रूप से महत्त्व की है, क्योंकि यह भाषा के विकास के उस काल की स्थिति की सूचक है जबकि वाक्य संरचना में संज्ञा व विशेषण विभक्ति प्रत्ययों के बिना ही अपने प्रतिपादित रूप से ही अन्य शब्दों के साथ अपना वाक्यात्मक संबंध व्यक्त कर सकते थे जो कि बाद में इस प्रकार के संबंध की अभिव्यक्ति के लिये एक अनिर्वायता हो गई थी। विशपति (कबीले का स्वामी) तथा वृहस्मपति जैसे शब्दों में इसे देखा जा सकता है।

समास के उद्‌भव के विषय में माना जाता है कि जब दो शब्द इस प्रकार नियमित रूप में बार-बार प्रयुक्त किये जाते हैं कि वे श्रोता के लिये सभी प्रयोजनों एवं अर्थ की दृष्टि से एक रूप हो जाते हैं तो दोनों ही अपनी-अपनी (व्यस्त) स्वतंत्र अभिव्यक्ति को खोकर एक रूप अथवा समस्त रूप धारण कर लेते हैं। प्रो. बनो का कथन है कि समास एक भाषाई व्यवस्था के रूप में भारोपीय के प्रारंभिक स्थितिकाल के पाषाणीभूत (फौसिलाईज्ड) अवशेष है जिनका स्थान बहुत पहले ही उन विभक्ति प्रत्यय युक्त रूपों ने ले लिया था जो कि वैदिक संस्कृत में तथा साहित्यिक संस्कृत में दिखाई देते है।

इसके अतिरिक्त समासों में अनेक ऐसे प्रतिपादित मूल रूप (स्टीम–फोरम) देखने में आते है तो कि अन्यथा भाषा–प्रयोग में सर्वथा अज्ञात होते हैं। इनमें से कई ऐसे भी होते है जो कि स्पष्टतः भारोपीय मूल के कहे जा सकते हो। उदाहरणार्थ–कपुच्छल में कपुत् – का अनुरूपी इसी रूप में लैटिन में भी पाया जाता है। ये विशिष्ट प्रतिपादिक रूप भारोपीय में समास के प्रथम घटक के रूप में प्रयुक्त होते होंगे। राजपुत्र जैसे समस्त पदों में असवरूप (हेटरोक्लीटीक) प्रतिपादिक होना इसकी पुष्टि करता है। मूल प्रतिपादिक रूप राजन्। डॉ. घोष का कथन है कि इस समस्त पद का प्रथम घटक पद राज–मूल प्रतिपादिक राजन् का दुर्बल रूप राजन् न होकर मूल भारोपीय रूप–राजो। राजों। की ही साक्षात् प्रसूति (छिसान्डेन्ट) हैं, क्योंकि ग्रीक तथा लैटिन में इसके अनुरूपी रूपों–अक्मों तुलना ग्रीक–अक्मोथेतोन तथ होमो तथा। तुलना–लैटिन–होमिकिदा। केओ का विकास भारोपीय न से नहीं हो सकता।

ऐतिहासिक दृष्टि से समस्त पद के द्वितीय घटक का व्यवहार भी बड़ा जटिल है। समासन्त प्रत्ययों के कारण इनमें होने वाली विशेषताओं के अतिरिक्त ये प्रायः अपश्रुत्यात्मक रूप में प्रयुक्त होते हैं जो अन्यथा कभी नहीं होते और जो कि प्रायः भारत–पूर्व कालीन रूप होते हैं। इस द्वितीय घटक के रूप में पाये जाने वाले पद हैं–जो, जान और दारू जो कि समस्त हो जाने पर गु, ज्ञ, एवं द्‌ हो जाते हैं। यथा सप्त + गो = सप्तगु, सुष्ठु + गो = सुगुः, मित्र + जानु = मित्रज्ञु, असित + जानु = असितज्ञु। ये रूप कम से कम प्राचीन भारत–ईरानी काल के अवशेष कहे जा सकते हैं। तुलना प्रा.फा.–सतगु = सं. शतगु। दारू के दुर्बल रूप दु का प्रयोग केवल "पूर्वपद" के रूप में पाया जाता है। यथा–दुपद, दुणस इत्यादि।

इसी प्रकार समासान्त प्रत्ययों का ऐतिहासिक विश्लेषण भी इनकी अति प्राचीन विकास परम्परा का संकेत देता है। सामासान्त प्रत्ययों – क, –इ, –य, जो कि प्रायः बहुब्रीहि समास में प्रयुक्त संभवतः अपने मूल रूप में भारोपीय तद्धित प्रत्यय – क ही है। किन्तु एक दूसरे से केवल इस रूप में भिन्न है कि समासान्त –क सदा स्वराघातहीन होता है जबकि तद्धितान्त–क स्वराघायुक्त। बहुब्रीहि का समासान्त–इ तो स्पष्टतः भारोपीय मूल का है। उदाहरणार्थ–संस्कृत के समासान्त रूप प्रत्यर्थि। अर्थ। धूमगन्धि। गन्धि। आदि, अवेस्ता क अवि–मिश्री मिश्र। तथा लैटिन के त्रि–लिंग–इस (लीन्गमा) के समानान्तर ही

हैं। समासान्त–य की स्थिति भी भारोपीय में इसी प्रकार पायी जाती है। तुलना अवेस्ता थि। माह्वयः संस्कृत–सप्त। मास्य, ग्रीक–होमो–गस्त्रिओस्ः सं. सगर्भ्य इत्यादि। सर्वसाधारण समासान्त–अ भी स्पष्टतः भारोपीय मूल का ही है। तुलना–ओ–पत्रोस् जिनक। पिता एक होः अवेस्ता–अर्गप "महाजलाशय"। शनैः शनैः यह समासान्त–अ इतना व्यवहृत होने लगा कि इसने अनेक द्वितीय घटक के अन्तिम प्रत्ययों, विशेषकर–अन् और–इ का भी स्थान ले लिया यथा, विश्वकर्मा। कर्मन् । तथा दशांगुल। अंगुलि। पूर्णदर्व। दर्वि। आदि।

राजीव कुमार
एम. जे. के. कॉलेज,
बेतिया



अर्थशास्त्रकार चाणक्य का राजनैतिक परिवेश

डॉ. जीवानन्द झा
एवं
डॉ. संजीव आनन्द

विश्व विश्रुत अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ के रचयिता आचार्य चाणक्य, जिनका अपर नाम विष्णुगुप्त एवं कौटिल्य भी, इससे से प्रायः सभी मनीषी, राजनीतिशास्त्री, साहित्यकार, बुद्धिजीवी इतिहासकार सुपरिचित है। इनका चन्द्रगुप्त मौर्य से अभिन्नत्व सिद्ध होने से स्थितिकाल ई. पूर्व चौथी सदी है।[1] प्राचीन भारत के प्रसिद्ध तक्षशिला नामक नगर में इनका जन्म हुआ और वहीं के विश्व प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में शिक्षा पाकर अध्यापन कार्य करते रहे।[2] किन्तु, उसी काल में कुछ ऐसी घटनाएँ भारत में हुई जिनके कारण इनका भारतीय राजनीति में पदार्पण हुआ। जिस विशेष राजनैतिक परिवेश में इनका पदार्पण हुआ वह कुछ विषम था। परिवेश एक ऐसा तत्त्व होता जो व्यक्ति या वस्तु को इस भाँति पारितः आच्छादित कर देता है कि व्यक्ति या वस्तु पर उसका प्रभाव व्यापक हो जाता है। चाणक्य के समय में उसके राजनीति में प्रवेश से पूर्व का भारतीय राजनैतिक परिवेश कुछ इस प्रकार का था–

(क) भारत के विभिन्न राजाओं के मध्य घातक फूट विद्यामान थी।

(ख) शक्तिशाली मगध राज्य के सम्राट् महापद्मनन्द वैदिकधर्म, ब्राह्मण एवं प्रजाहित का शत्रु बन बैठा था।

(ग) विदेशी आक्रमणकारियों में विशेषतः यवनों का कहर निरीह भारतीयों पर पड़ता रहता था। इन सबसे इस देश को चाणक्य ने अपनी तेजस्विता एवं राजनैतिक कौशल से त्राण दिलाया।

चाणक्य से पूर्व का भारत राजनैतिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त था। प्रथम भाग में गान्धार एवं कम्बोज तथा ग्लुच से लेकर कौसल एवं विदेह तक के वे भू–भाग आते थे जिन पर वैदिक कालीन आर्यो ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था और जहाँ गणतांत्रिक प्रणाली

का शासन सत्ता उत्तर वैदिक काल तक अस्तित्व में रही। इनका सूत्रपात पाँच हजार वर्ष पहले हुआ होगा और इनके अवशेष पाणिनि तथा कौटिल्य के समय तक रहे है। भारत के राजनैतिक एकीकरण के अभियान में कौटिल्य ने ही सर्वप्रथम इन्हें निर्मूल किया था। चाणक्य से पहले के भारत में इस प्रकार गणसंघी राज्यों की संख्या कम से कम एक हजार से अधिक रही होगी। ये छोटे एवं बड़े राज्य भी थे जिनका राजनीतिक प्रभाव भी न्यूनाधिक था।

द्वितीय राजनीतिक व्यवस्था पूर्व वैदिक काल से ही चली आ रही थी। वह थी राजतांत्रिक प्रणाली जो प्रायः असुरों में लोकप्रिय थी। असुरों के अनेक राजा अत्यधिक प्रतापी एवं बलशाली हुए हैं तथा पुराणों एवं जनश्रुतियों में उनमें अनेकों के नाम अति प्रसिद्ध है। उत्तर वैदिक काल में उन्हें लांक्षित एवं कलंकित किया गया है। वैदिक काल में ही हिरण्यकश्यपु महाबली एवं प्रतापी अनार्य राजा हुए है, जिनमें ऐतिहासिक रावण भी एक है, जिन्होंने अपने राज्यों का बिस्तार किया, वैदिक आर्यो से सफल संघर्ष किया और जो आर्यो के साथ ही अनार्य राजाओं से भी सफल संघर्ष करता रहा। इन असुरों के राज्य छोटे एवं बड़े दोनो ही होते थे, जिनका राज्य सूर्योदय से सूर्यास्त तक पैदल चलकर पार किया जा सकता था। वे भी राजा ही माने जाते थे और जिनके राज्य को कोई घुड़सवार तीन दिनों तक दौड़कर भी पार नहीं कर पाता था, वे महाराज कहलाते थे। इनकी संख्या भी हजारों में थी। राजनीतिक इकाई के रूप में भारत का कोई अस्तित्व नहीं था बल्कि हजारों राजनीतिक इकाइयों में बिखरा हुआ यह एक भू–खंड मात्र था।[3]

आधुनिक काल में 20वीं सदी से पूर्वार्द्ध तक ब्रिटिश साम्राज्य जिसके विषय में कहा जाता है कि उसके राज्य में सूर्यास्त नहीं होता उसी प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास में नन्दों का साम्राज्य था। चाणक्य का जिस काल में राजनीतिक क्षितिज पर उदय हुआ वह मगध नरेश महापद्मनन्द का समय है। इस नरेश द्वारा ब्राह्मणों के अपमान किया जाना इतिहास प्रसिद्ध है। अपने अपमान का बदला लेने हेतु बाह्मणों का एक वर्ग ने दृढ़संकल्पित होकर मंत्रणा करने का विचार किया। दूसरी बात यह थी कि इस नरेश से प्रजा भी दुःखी थी। अकारण निरपराध को कारागार में डाल देना सामान्य बात थी। प्रतिक्रियावादी ब्राह्मणों को सौभाग्य से चाणक्य नामक ब्राह्मण से भेंट हुई, जो अपने पैरों को क्षत–विक्षत करने वाले कुशों को नष्ट करने के लिए उनकी जड़ों पर मट्ठा डाल रहा था।[4] ब्राह्मणों ने उसे तेजस्विता का पुँज समझा और उसे उचित अवसर पर मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में आयोजित होने वाली ब्राह्मण सभा के अध्यक्ष के रूप में आमन्त्रित

किया। निर्दिष्ट स्थान एवं तय सभा में निर्दिष्ट उच्च स्वर्णसिंहासनारूढ चाणक्य उस सभा में महापद्मनन्द के आने पर भी यथावत् बैठे रहे। जबकि अन्य ब्राह्मणों ने राजा का अभिवादन खड़ा होकर किया। कुपित राजा ने चाणक्य को भरी सभा में अपशब्द कहते हुए अपमानित किया और उसकी चोटी पकड़कर सिंहासन से नीचे उतार दिया। भुजबल का बुद्धिबल पर चोट पहुँचायें जाने से एक ऐसी भीषण प्रतिज्ञा ली गयी कि जिससे नन्द वंश का समूल नाश तय हो गया। चाणक्य अपनी चोटी को राजा से छुड़ाते हुआ प्रतिज्ञा करता है कि–मैं नन्द वंश का विनाश करके ही इस चोटी को पुनः बाधूँगा।[5]

बुद्धि के साथ शक्ति का संयोग सोने पर सुहागा होता है। चाणक्य स्वयं अप्रतिम बुद्धि का स्वामी था और उसे संयोग से चन्दगुप्त जैसा शक्ति सम्पन्न सहायक भी मिल गया। समान उद्देश्य के सहयात्री की सफलता असंदिग्ध होती है। चाणक्य अपने अपमान को शूल पीड़ित कर रहा था और चन्द्रगुप्त का मिलन संबंधी इतिवृत्त भी अनुसंधान का विषय है। कोई चाणक्य के पास चन्द्रगुप्त के जाने की बात करते,[6] तो कोई दोनों के मध्य गुरु–शिष्य के संबंध को सिद्ध करते है[7] और कोई बालकों के बीच राजा का अभिनय करने वाले चन्द्रगुप्त को चाणक्य द्वारा देखे जाने पर उसके साथ करने से भावी–योजना की पूर्ति में सहायक होने से महामात्य द्वारा स्वयं स्वीकार करने का प्रमाण देते हैं।[8] प्रायः दोनों के बीच गुरु–शिष्य के संबंध को सभी इतिहासकार सही मानते हैं। चाणक्य अपनी कूटनीति से नन्दवंश का विनाश करना चाहता था और चन्द्रगुप्त भुजबल से। दोनों का लक्ष्य समान था–अशिष्ट, अत्याचारी प्रजापीड़क और ब्राह्मण विरोधी महापद्मनन्द का एवं उसके वंश का सम्पूर्ण विनाश।

भारत के राजनैतिक इतिहास में चाणक्य के पदार्पण से पूर्व सम्पूर्ण भारत के राजनैतिक स्वास्थ्य की चर्चा कर दी गयी है किन्तु चाणक्य के सद्यः पूर्व के राजनैतिक परिस्थिति को समझे बिना संभवतः विषय का उद्घाटन समीचीन नहीं होगा। महापद्मनन्द शिशुनाग वंश के अन्तिम राजा महानन्दी की शूद्र पत्नी से उत्पन्न हुआ था, जिसने अपने सगे भाइयों की नृशंस हत्या कर मगध का सिंहासन प्राप्त किया था।[9] उसने अपनी वीरता एवं विशाल सेना के बल पर इक्ष्वाकु, पांचाल, कलिंग, अश्मक, कुरु एवं शूरसेन नामक राज्यों को अपने राज्य में मिला लिया था।[10] वह और उसके पुत्र कुसंस्कारवशात् अधार्मिक एवं अत्याचारी थे।[11] अन्य जो राज्य राजतंत्रात्मक एवं गणतंत्रात्मक थे वह मगध के समान शक्तिशाली भी नहीं थे। राजा पोरस के अधीन कैकय देश था।[12] गान्धार देश के पूर्वी क्षेत्र पर आम्भि का राज्य था, जिसका राजधानी

तक्षशिला थी।[13] हिन्दुकुश के उत्तर में शशिगुप्त नामक राजा राज्य करता था तो वाहीक देश पर राजा पर्वतक अपने पुत्र मलयकेतु के साथ राज्य करते थे।[14] इन राज्यों के शासक आपस में ही युद्ध करके स्वयं शक्तिहीन होते–होते देश को भी शक्तिहीन बनाते गए। पोरस द्वारा आम्भि पराजित हो गया था तथापि उसका राज्य उसे लौटा दिया गया। किन्तु आम्भि पोरस को नीचा दिखाने हेतु संकल्पित हो गया था।[15]

भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर राज्यो पर ईरान के राजा का प्रभाव भी अभी तक कमोबेश कायम था। सिकन्दर भी अपने राज्यारोहण के बाद दारा को पराजित कर भारत पर आक्रमण की तैयारी कर रहा था। पूर्वी गान्धार देश का शासक आम्भि सबसे बड़ा विभीषण निकला और पोरस पर सिकन्दर के आक्रमण में सहयोग देने का वादा किया।[16] हिन्दुकुश के उत्तरी भाग का शासक शशिगुप्त भी वैसा ही किया। फलतः देशी नरेशों के आपसी वैमनस्य कटुता एवं फूट का फायदा उठाकर भारत पर आक्रमण कर पश्चिमोत्तर भारत में अपना झंडा गाड़ दिया। वीरतापूर्वक सिकन्दर से लड़ते पोरस वर्षा के कारण हार गया।[17] निशा एवं उरसा के शासकों ने बिना लड़े हथियार डाल दिए। जबकि पुष्कलावती, अभिसार, कठ आदि के शासक लड़ते–लड़ते पराजित हुए।[18] इन विजित प्रदेशों पर सिकन्दर ने अपने क्षत्रपों को नियुक्त किया। मगध पर भी उसने आक्रमण की योजना बनाई जो इसलिए अधूरी रह गयी कि उसके सैनिक अत्यधिक थके हुए थे और अपने देश लौटना चाहते थे। स्वदेश लौटते सिकन्दर ने अन्य कई भारतीय राज्यों को अपने अधीन कर अपने क्षत्रपों को नियुक्त कर चलता बना।

ऐसी परिस्थिति में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की सहायता से मगध पर आक्रमण किया जहाँ उन्हें सफलता नहीं मिली। मगध की शक्ति का उन्हें ज्ञान हो गया। उन्होंने सिकन्दर के अधीन शासकों की यवनों से मुक्ति की नीति बनाई और वहाँ के शासकों को अपने नीतिबल से अपने पक्ष में किया। अब उनका लक्ष्य केवल नन्दवंश का विनाश नहीं था। विदेशियों से इस देश को मुक्त कराकर, आपस में लड़ने वाले राजाओं को पराजित कर समस्त भारत पर एकच्छत्र राज्य करना उनका लक्ष्य हो गया। चन्द्रगुप्त को स्वार्थ सिद्धि का मार्ग दिखाकर उसने पोरस की सहायता कर उसी के नेतृत्व में विदेशी शासन के प्रति विद्रोह कर दिया और सिकन्दर के आक्रमण से छिन्न–भिन्न व्यवस्था वाले राज्यों पर चन्द्रगुप्त के द्वारा आक्रमण करवाकर यूनानियों को देश से बाहर किया। फलतः मगध के सीमान्त प्रदेशो पर चन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया।[19]

भारत से यवनों के पलायन के बाद गान्धार, कैकय, वाहीक, कठ आदि राज्यों के वीर–सैनिक चन्द्रगुप्त की सेना में सम्मिलित हो गये। कश्मीर नरेश पर्वतक और उसके पुत्र मलयकेतु को संधि नीति से तहत अपनी सेना में सम्मिलित कर लिया था। इन सभी वीर शासकों एवं सैनिकों की सहायता से चन्द्रगुप्त ने मगध पर भयंकर आक्रमण किया। राजभक्त नन्द के प्रधानामात्य राक्षस की एक भी नहीं चली। मगध पर चन्द्रगुप्त का राज कायम हो गया।[20] समस्त उत्तरी भारत का एकच्छत्र सम्राट् चन्द्रगुप्त अब विजय और एकच्छत्र साम्राज्य के प्रति ऐसा महत्वकांक्षी हो गया कि उसने सौराष्ट्र के साथ–साथ मालवा, काठियावाड़ा आदि दक्षिण भारतीय राज्यों पर भी अधिकार कर लिया।[21] मन्त्र शक्ति एवं सैन्यशक्ति के सम्मिलन का यह ऐतिहासिक सफल उदाहरण है।

भारत में प्रजारञ्जक, वीर, स्वाभिमानी, प्राचीन भारतीय संस्कृति के संरक्षक चन्द्रगुप्त मौर्य का अब सिक्का जम गया। प्रजाविरोधी अप्रिय, अधार्मिक नन्दवंश का विनाश हो गया था। राजाओं की आपसी फूट समाप्त हो गयी थी और यवनों का देश से बहिर्गमन भी हो गया था। ऐसी स्थिति में चाणक्य राजनीति से विरत होकर अध्यापकीय जीवन में पुनः जाना चाहते थे। किन्तु दो प्रबल कारणों से ऐसा नहीं हो सका। प्रथम यह कि नन्दवंश का विश्वस्त महामात्य राक्षस अभी कुचक्रों को जन्म दे रहा था। द्वितीय, सिकन्दर को सेनापति सेल्यूकस उसके आधा साम्राज्य को पा लेने से अति उत्साहित होकर दिग्विजय की इच्छा से भारत पर आक्रमण की योजना बना रहा था। चाणक्य ने इन दोनों पर नियंत्रण किया।

सेल्यूकस अपनी योजना के अनुसार पश्चिमी एशिया में अधिकार जमाते हुए भारत पर विजय पाने की इच्छा से सिन्धु नदी को पार कर लिया। लेकिन भारत के इस पश्चिमोत्तर प्रान्त की स्थिति बदल गयी थी। आपसी वैमनस्य समाप्त हो गया था और आम्भी जैसा देशद्रोही भी कोई विदेशी आक्रान्ता के लिए पलक विछाए था साथ ही भारत की सुदृढ़ एवं विशाल सेना चन्द्रगुप्त के नेतृत्व संगठित थी सेल्यूकस को चन्द्रगुप्त ने बुरी तरीके से पराजित किया। चाणक्य के नीतिबल से सेल्यूकस को चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के द्वारा चन्द्रगुप्त को सेल्यूकस की पुत्री हेलन पत्नी के रूप में मिली और उस अफगानिस्तान, बलूचिस्तान तथा खैबर के दर्रे से हिन्दुकुश तक का विस्तृत समस्त प्रदेश। इस सन्धि के समय चन्द्रगुप्त के मंत्री के रूप में राक्षस ने ही कार्य किया था।[22] राक्षस से सन्धि कार्य करवाये जाने के पीछे चाणक्य की यही मंशा थी कि यदि राक्षस जैसा कुशल कूटनीतिज्ञ चन्द्रगुप्त का महामात्य बन जाय तो उसका राज्य स्थिर होगा और उसमें राष्ट्रभक्ति आ जायगी। शुरू के कुछ

समयों के लिए चाणक्य चन्द्रगुप्त के महामात्य बने रहे और राक्षस को चन्द्रगुप्त के अनुकूल बनाकर पुनः अपने आश्रम में पहुँच गए।[23]

जिस प्रकार चाणक्य के समय भारतवर्ष विधर्मियों के आक्रमण से आक्रमित था, निरंकुश, स्वेच्छाचारी, ईर्ष्यालु अपने पुत्रों के आपसी वैरभाव से पीड़ित था। उसी प्रकार आज के स्वतंत्र, संप्रभुत्व लोकतन्त्रात्मक भारत में उग्रवादियों, माओवादियों, जातिवादियों, क्षेत्रवादियों, अत्याचारियों, व्यभिचारियों पृथकतावादियों का खूनी खेल जारी है। मिशन 2020 विकसित भारत के प्रत्येक स्वप्नद्रष्टा को बद्धपरिकर होकर राष्ट्रद्रोहियों से लोहा लेना होगा। अपने स्वार्थ का बलिदान कर विकसित राष्ट्र के स्वप्न को साकार करना होगा। अपने स्वार्थ को देश के स्वार्थ में जोड़ना होगा। कमोबेश भारत की स्थिति ई. पूर्व की चौथी सदी के भारतीय परिस्थिति के समान ही है। भारत को आज भी एक चाणक्य चाहिए जो देशी आन्भीकों से एवं विदेशी आतंकवाद से हमें मुक्ति दिलाए।

सन्दर्भग्रन्थ

1. पाण्डेय, श्री नेत्र–भारतवर्ष का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 236
2. त्यागी, प्रो. आर.एस.–हिन्दु राज्यशास्त्र पृ. 164
3. आचार्य, दीपंकर–कौटल्य कालीन भारत, पृ. 23-24
4. घिल्डियाल (डॉ.) अच्युतानन्द–प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक, पृ.168
5. मजूमदार, त्यागी, महाजन आदि इतिहासकारों के मत से सिद्ध एवं मुद्राराक्षस
6. पाण्डेय, श्री नेत्र–प्राचीन भारत का बृहत् इतिहास, प्रथमभाग पृ.237
7. (क) लूनिया, बी.ए.–प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ.396
   (ख) परमात्मशरण–प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृ. 34
   (ग) पाण्डेय, (डॉ.) राजबली–प्राचीन भारत, पृ. 155
8. ओम् प्रकाश–प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 140
9. रस्तोगी, पी.–प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन एवं संस्थाएँ, पृ. 115
10. भागवतपुराण–12/1/5-6

11. पाण्डेय (डॉ.) राजबली–प्राचीन भारत पृ. 133
12. लूनिया, वी.एन–प्राचीन भारतीय संस्कृति पृ. 373
13. ओमप्रकाश–प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 133
14. पाण्डेय (डॉ.) राजबली–प्राचीन भारत पृ. 143
15. विद्यालंकार, सत्यकेतु–आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य पृ. 244
16. पाण्डेय त्रिनेत्र–प्राचीन भारत का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 219
17. महाजन, वी.डी.–प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 241
18. त्यागी, प्रो. श्याम एस.–हिन्दु राज्यशास्त्र, पृ. 165
19. लूनिया, वी एन–प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 373
20. महाजन, वी.डी.–प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 246
21. रस्तोगी पी.–प्राची भारतीय राजनीतिक चिन्तन एवं संस्थाएँ पृ. 111
22. पाण्डेय (डॉ.) रालबली – प्राचीन भारत पृ. 157
23. वही. पृ. 157
24. विद्यालंकार, सत्यकेतु–आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य, पृ. 295-297
25. वही. पृ. 295-334

डॉ. जीवानन्द झा
संस्कृतविभाग
ए.पी.एस.एम. कॉलेज,
बरौनी, बिहार
डॉ. संजीव आनन्द
राजनीति विज्ञान विभाग
टाटा कालेज 'चाईबासा'



The Role of Grammar in Communicative language Teaching

Dr. N.G.P.B. Patnaik

This paper makes an attempt to explain the need of teaching grammar to different group of learners.

The primary function of language is to communicate among one another. It is a communicative system like any other systems of communication. Grammar is the structure of a language and a knowledge of grammar helps in the capacity for communication. Since grammar has traditionally occupied a large part of teachers' and students' time, there is a need to assess the importance of grammar in the over all goals of a beginning course (Wherritt, 1981).

Grammar is the unconscious knowledge a young child acquires from his parents and his surrounding much before he undergoes any formal language teaching course. This is possible in case of a native speaker who acquires the grammar by himself. The speakers of a language shares a complex, highly structured system, the abstract structure of the language itself. This is the speaker's grammar or may be termed as grammar-1.

Native children of English who are in regular classrooms have grammar-1 since they are within the limits of normal educability on the other hand children who belong to non native speaking group are in another situation. Grammar should be taught to such categories of children who can't even put togetheir a basic English sentence. Still then such children develop a creative construction process known as 'hypothesis formation'. For example, when a child says 'I go-ed' he unconsciously forms it in his mind. It is only when he engages in interaction that he - says 'I went' which is known as 'hypothesis

reformulated. Here we can infer that learners have a kind of provisional grammar or interlanguage. The child who says 'I wented' or 'I go-ed' has his own grammar.

In the next stage grammar should he taught to the students becauce they can't identify the parts of speech or words in them. At this stage grammar meens the concepts, terminology and analytic technique for talking about language. This may be termed as 'grammarian's grammar' or grammar. Here we pass on from unconscious knowledge of earlier grammar (grammar-l) to conscious knowledge. This enables a student to comment on sentence features. At this stage when the student is asked to name the structure of a sentence like. 'Ram killed Ravana' he is expected to answer it as belonging to N-V-N pattern since he is expected to know the basic sentence pattern of English grammar. This kind of grammar study is being done at the secondary and Higher Secondary level in some States including orissa where teaching is imparted through English Medium at the Higher Secondary level in Urban areas and through regional languages in rural areas.

A third kind of grammar should be taught to the students which may be termed as grammar-3 where it is seen that students confuse the meaning of slip and sleep and do not choose 'I' and 'me' correctly. They frequently use 'its I' worng in place of 'It's me', There is mismatching of subjects and verbs, mixing up of pronoun reference and these mistakesace are evidence of their need to study grammar; Though there is no significant distinction between grammar-3 and grammar-3 still they are fundamentally different in nature.

So far teaching of grammar is concerned, we have to think of improving the vocabulary of the students since a large exposure to vocabulary will take a student further than a heavy dose of grammar. It should also be noted that many misunderstandings stem from a lack of knowledge of interactive rules. These rules refer to the elements of everyday speech which lead one through daily routines such as introuctions, refusals, compliments

and leave-taking. In the opinion of wherritt, 'When a person breaks sociolinguistic rules he is taken for a (native) speaker who is rude or unpleasant. On the other hand the person who dominates interactional rules and style shifts while lacking proficiency in syntax and phonology may be seen as a pleasant foreigner". It may be noted here that the speaker who says you had better do it instead of saying it would be better if you had done it belongs to this category of speakers.

Teaching of grammar in the second language in case of adult learners involves selection of texts since the use of texts is probably one of the defining characteristics of communicative language teaching. While teaching literary texts, teachers should bear in mind to emphasize on giving language exercises to students. Morrow and shocker states that "A wide variety of exercise types should be developed to encourage students to make choices from among a range of language forms. Such exercises usually depend upon a text of some kind in order to provide information to one of the participants which is then shared among others" (Morrow & Schocker, 1987).

It is argued here that such activities perhaps help the 'communicative' teachers to dominate the choice of text for their classroom teaching. More often than not, there is too much grammatical material included in a given text book which helps for the selection of vocabulary to be included in language courses.

Here reference may be made to pedagogical grammar which comes within the. domain of Language pedagogy. As Smith puts it "An important part of the study of language teaching is concerned with the presentation of grammatical information relevant to the needs of the learner", In his opinion whereas grammar is a reference book for teachers and learners, pedagogical grammar "should be more than a reference book" and "should in a dynamic sense be a teaching grammar". In other words, such grammar should help in an explicit way the learning of the target language. Sherwood agrees with Jesperson in introducing pedagogical grammar for

advanced students, the teachers and the Text book writers.

So far as Communicative approach is concerned it emphasizes the communicative needs of the learner. According to Chalon (1985) communication is a process whereby a person creates, negotiates and interprets personal meanings. Previously grammatical competence was given utmost importance in the teaching of language. Of late communicative competence has achieved importance over grammatical competence,

Emphasis given on the study of meaning shifts from structure and grammar to function and communicative competence, from the sentence in isolation to the utterance in context wnich comos under the domain of Discourse Analysis. Communicative language teaching also involves discourse analysis since discourse refers to attempts to study the organisation of language above the sentence or above the clause and therefore to study larger linguistic units, CLT also involves speech act theories developed by Austin, Grice and Searle in the early 1970s which showed verbal utterances not only as sentences, but also as specific of social action. These philosophical works gave pragmatic orientation to the usual theoretical component of language. Hence the need for teaching of discourase grammar arises. As Sanders (1970) maintains the closure of grammar discourse will round off our view of language in a much more integrated way than can be achieved by truncating gramnar at the sentence. Grimes (1 97 5) agrees with Sanders who claims that "a sentence grammar will not work unless it is part of a discourse grammar, because certain factors are needed for the understanding of elements in sentences that are not available within those sentences themselves but only elsewhere in the discourse" (Grimes 1975: 8). In the words of Gleason (1968) this kind of grammar should be studied at the intermediate level and advanced level and in the study of literature.

All the above types of grammar are intended to be applicable in a variety of situations for learning and teaching of grammar. It is important that tradition be set 'aside when necessary in order to improve grammatical expositions.

****

Refereces

Grimes, Joseph E. (1975), Thread of Discourse. The Hague Mouton Morrow, K and Schocker, M (1987) 'Using Texts in a cammunicative approach ELT Journal 41/4 : 248-256.

Patnaik, N.G.P.B. "Discourse Analysis of The Faerie Queene Unpublished Ph.D. dissertation, Berhampur University (1989).

Smith, M.S, 'padagogical grammar' Inter language studies Bulletin 1,1 PP 45-57,

Wherritt, I.M. (1981), 'Efficient presentation of grammar'. Foreign Language Journal 14.5 : 429-434.

Dr. N.G.P.B. Patnaik
Lecturer in English, Nimapara
College, Mimapara, Orissa.

LIGHT FROM THE EAST IN T.S. ELIOT

Late Dr. P.K. Choudhary

TS. Eliot is a creative genius par excellence. Poet, critic, playwright- all are rolled into one in this stalwart litterateur His mind is, in a true sense a receptacle for seizing and storing up numberless feelings, phrases, images'[1] ever "forming new wholes[2] " At first, the conglomerate assemblage of ideas seems to be 'a heap of broken images', but a conscientious scrutiny reveals an intrinsic pattern Hence, I A. Richards has called his poetry," a music of ideas." because "like a musician's phrases, they are arranged their effects in us may combine into a coherent whole of feeling and attitude "[3]

In a candid shift Eliot admits that he is" an anglo-Catholic in religion". (For lancelot Andrews), Besides his faith in Christianity, he exhibited a profound interest in "the Wisdom of the East"[4] . When he was at Harvard in 1910-11, he studied Sanskrit, Pali and Indian Philosophy under the able guidance of Josiah Royce George Santayana, Charles Rockwell Lanman, James Haughton Woods and lrving Babbi:. He could go througn the Bhagavad Gita. Patanjali's Yoga Sutras, the Buddhist scriptures translated into English by H.C. Warren. and the Upanishas of immense philosophical import Expressing his ecstatic delight that he had felt at their study. Eliot observes

> **Two years spent in the study of Sanskrit**
> **under Charies lanman. and a year in**
> **the mazes of Patanjali's metaphysics**
> **under the guidance of James Woods,**
> **left me in a state of enlightened**
> **mystificaton.[5]**

That is why his poetry clearly evinces "the deep influence of Indian thought and sensibility."[6] The reason behind such mesmeric spell of Orientalism lies in the "ascetic, intellectual component of Indian philosophy" and "the emphasis on spiritual and intellectual discipline in Indian mystical system.[7]

Undoubtedly, his endeavour appears to be aimed at learning and propagating "the best that is known and thought in the world."[8] Poetry has not only an aesthetic function but also "a cultural function to perform, a task of salvation for which men previously looked to religion."[9] Hence, both aesthetic sensibility and spiritual perception are deepened and merged with each other m Eliot's poetry

The Bhagavad Gita, an ethical magnum opus of ancient India, is one of the most indelible influences on T.S Eliot's mind. In his essay on "Dante", he eulogises it as" the next greatest philosophical poem to the Divine Comedy within my experience."[10] He has incorporated the invaluable precepts of this 'most inspirning work",[11] sometimes in the form of direct rendering and sometimes deftly interwoven in the poetic fabric. As for the doctrine of Karma (nishkama karma) the Gita enunciates :

Karmanye vadhikarasle ma phalesu kadachana

Ma karmaphalahetur bhurmate sang os tava karmani.

(Ch. II V47)

(Your right is to work only, but never to the fruit thereof. Be not instrumental in making your actions bear fruit, nor let your attachment be to inaction.)[12]

Its parallel is fairly obvious in Eliot's following lines:

I say : lake no thought of the harvest.

But only of proper sowing.

(Choruses from The Rock, Cpp p. 148)

For us, there is only the trying. The rest is not our business.

(East Coker, CPP,p.182)

And do no think of the fruit of action

Fare forward. (The Dry Salvages, CPP., p 187)

So Krishna, as when he admonished Arjuna

On the field of battle

Not fare well,

But fare forward, voyagers (Ibid, p 188)

And right action is freedom

From past and future also. (Ibid, p 190)

The third section of **The Dry Salvages** is "an orchestral invocation to the precept of detached action'13 Its reflection may be perceived in 'To the Indians who Died in Africa" (1943).

Let those who go home tell the same story of you

Of action with common purpose, action

None the less fruitful if neither You nor l

Know, until the judgement after death,

What is the fruit of action (CPP p. 103)

What Lord Krishna had uttered about the attitude of **Sthitha pragyan** becomes thoroughly manifest when Arjuna is advised to 'consider the future/ And the past with an equai mind" (CPP, p 188). It is reminiscent of a verse in the Bnugavad Gita:

Karmani akarmah yah pasyed, akarmani cha karma yah

Sah buddhiman manushyeshu, sah yuj tah krilsna karma krita.

(Ch. lV,v. 18)

(He who sees inaction in action, and action in inaction, is wise among men; he is Yogi, who has performed all actions).

Again, one may call up Eliot's lines . "At the momenl which is not of action or inaction... . that is the one action". (The Dry Salvages, CPP, p,188).

The following passage reminds one of the sacrificial love symbolised in Incarnation:

> **...."on whatever sphere of being**
>
> **The mind of a man may be intent**
>
> **At the time of death"- that is the one action**
>
> **(And the time of death is every moment)**
>
> **Which shall fructify in the lives of other.....**

(CPP, p.185)

Similar vein is perceptible when one reads verse vi in Chapter VIII of the Bhagavad Gita :

> **Yam yam vapi smaran bhavam, tyajatante kalevaram**
>
> **Tam tam evaiti kaunteya, sada tad bhava bhavitah.**

(Arjuna, thinking of whatever entity one leaves the body at the time of death, that and that alone one attains, being ever absorbed in its thought). So, another startling concept of metempsychosis is recognised No doubt, Eliol displays tne quintessence of the Bhagavad Gita not only in his poetry as a perennial source of inspiration, but also in his poetic plays as an invigorating call to accept life.

Of the various formative influences the Upanishads too, hold a paramount position. In the 'Notes' to **The Waste Land**, a, masterpiece of explosive nature, Eliot mentions that the veritable source of me fifth section "What the Thunder Said' lies in the Brihadaranyaka Upanishad. A fable relates how Lord Prajapati's syllable, 'Da', signified variably to his threefold offspring-gods, men and demons The gods thought to mean 'Damyata (Restrain yourselves); the men 'Datta' (Give), and the demons 'Dayadhvam' (Be compassionate) The divine voice as thunder reiterates: "Datta Dayadhvam Damyata. Shantih shantih shantih" (CPP, p. 74). This triad as a unified teaching

has "the sum of wisdom according to a great tradition."[14] John Haffenden remarks :

...Eliots' splurge of allusions-citing violence, horror, murderous vengeance, purgatorial pain, self- mutilation, and ultimate voicelessness - is lefl in open confrontation with the voice of order, self control and peace as expressed in the Upanishad.[15]

Even the echo of Kenopanishad, speaking of the humility of non-knowledge is heard in East Coker :

And what you do not know is the only thing you Know

And what you own is what you do not own

And where you are is where you are not.

(CPP.p 181)

The passage looks to be akin to the declaration of Kenopanishad.' It is known to him whom It is Unknown; he does not know to whom It is known. It is unknown to those who know well, and known to those who do not know."[16] The gospel of AdvaitaVedanta seems to be held up in high esteem. According to the Chhandogya Upanishiad. the Brahman is one and without a second (ekam eva advitiyam); it is the sat (being). In **The Cocktail Party Celia** is made to say in the similar vein :

Then one is above, and if one is done

Then lover and beloved are equally unreal

And the dreamer is no more real than his dreams

(CPP., p.416)

The dichotomous aspect of self as 'Participating Self and 'Observing Self, described in the **Mundaka Upanishad** as two birds on a tree, one eating the delicious fruit and the other watcning it, appears to be merged in the androgynous vision of Tires as in The Waste Lend who has foresuffered all"

and "sees' the murky scenario with silence (CPP. pp 68-69)

For his strong yearning for 'Light from the East' Eliot's poetry unfolds the slrong trails of Brahmanism. The concept of Hindu Trinity, comprising Brahma, Vishnu and Shiva, is found blended in Burnt Norton when Eliol says

And the lotus rose, quietly, quietly,

The surface glittered out of heart of light.

(CPP, p 172)

Most probably, the idea occurred to his mind when he had a glimpse of a picture in a book, entitled Hindu Pantheon that showed Vishnu lying in the primeval waters on a huge snake (adisesha) and Brahma sitting on the lotus whose stalk arose from Vishnu's navel in The Dry Salvages Eliot writes : "Time the Destroyer is time the preserver" (CPP. p.187) Both Vishnu and Shiva appear to be put together in the concept of Harihara. Even the doctrine of 'Incarnation' is recognised in Eliot's works. The Confidential Clerk reflects an emphasis on this particular Hindu faith :

To be able to think that one's parents

Are only the means that we have to employ

To become reincarnate And that one's real ancestry

Is one's previous existence Of course, there's something in us,

In all of us which isn't just heredity,

But something unique. Something we have been

From eternity. (CPP.p 485)

Time and timelessness are the major points under discussion in Four Quartets; the goal is 'to apprehend/The point of intersection of the timeless/ With time...' (CPP. p190)

Once, Eliot has remarked tnat the "subtleties" of Indian philosohers "make most of the great European philosphers look like schoolboys[18] The

Yoga system of Patanjali which insists upon the individual's effort to discipline himself impressed Eliot a lot 'Pranayam', one of the chief yogic exercises is mentioned in The Elder statesman, when Mrs Carghill leaves Lord Claverton saying. "Besides, l ought to do my breathing exercises" (CPP. p 554). Breath-control is regarded as a powerful means for resisting and overcoming the psychoses (Cittavritti nirodha). This alone can liberate one from the 'wheel' of life, that is the cyclic order of birth and death. Hence the end of Yoga is 'liberation/From the future as well as the past' (CPP, p.195)

The inner freedom from the practical desire

The release from action and suffering, release from the inner

And the outer compulsion.

(Burnt Norton) (CPP p.173)

Hence, liberation means the divine unicn and the annihilation of the individual. True existence is observed in the divine union :

The awful daring of a moment's surrender

Which an age of prudence can never retract

By this, and this only, we have existed.

(The Waste Land, CPP, p.74)

Upon Eliot's mind was exerted an entrancing effect by Buddhism and ils esoteric values Once, Eliot told a Chilean poet Gabriele Mistral, herself a Buddhist, that while writing The Waste Land, he had almost become a Buddhist[19] The very title of the third section, 'The Five Sermon', was derived from the Mahavagga wherein everything is said to be on fire :

All things O priests, are on fire... The eye O priests,

is on fire: forms are one fire, eye-consciousness

is on fire, impressions received by the eye

are on fire.. With the fire of passion, say I,

with the fire of hatred, with the fire of infatuation;

with birtn old age, death, sorrow

lamentation, misery, grief and despair

are they on fire[20]

The same idea reverberates in the following passage

Burning burning burning burning

O Lord Thou pluckest me out

O Lord Thou pluckest burning (CPP, p.70)

'Burning' is symbolic of 'concupiscence', the lusts of the flesh. Here, Eliot collocates the Buddha and St. Angustine, "the two representatives of eastern and western asceticism" (CPP, p.79).The Buddha is sometirnes delineated as a Fisherman, who draws fish from the ocean of Samasra to the light of salvation. The fish is to be set free :

I sat upon the shore

Fishing, with the arid plain behind me

Shall I at least set my lands in order

(The Waste Land CPP.p.74)

In Buddhism 'wheel' has a symbolical significance. It expresses the interminable series of unredeemed life and death. Phlebas is said to be caught in the 'wheel', i.e. the 'whirlpool' (Death by water, CPP, p.71) The Tarot pack of cards refers to the 'wheel' of fortune (CPP, p.62). In Murder in the Cathedral Thomas a Becket speaks "The fool, fixed in his folly, may think/He can turn the wheel on which he turns" (CPP. p.247). Harry says to Agatha in The family Reunion :

I have thought of you as the completely strong

The liberated from the human wheel

So I looked to you for strength. (CPP, p.331)

In Buddhism 'Atma dipo bhava'. (a light unto themselves) is a prominent exhortation. At the dying moment Gautam Buddha preached 'Work out your

salvation with diligence' Eliot makes use of it verbatim in The Cocktail Party when Harry, called the Unidentified Guest, advises his patients in the same manner: "And when I say to one like her/Work out your salvation with diligence... (CPP, p.42). Herein is discernible the doctrine of nirvana defined as 'the ultimate being non-being beyond human conception'[21] that leads one to transcend the vicious circle of birth and death.

Certainly T.S. Eliot's oeuvre, both poetry and plays, bears the profound marks of Oriental ethics and mysticism. He has dexterously juxtaposed the Oriental view of spiritual discipline with the Christian view of grace. A critic has rightly opined that he has "tended to subsume Indian philosophy within his Christian doctrines"[22]

REFERENCES

1. T.S. Eliot, Selected Essays, 'Tradition and Individual Talent. Faber, London,1972, p.19

2. Ibid, The Metaphysical Poets', p.2S7

3. Principles of Literary Criticism, Routledge & Kegan Paul, London, 1963. p.293

4. In The Confidential Clerk, Lady Elizabeth says to Colby, "And then I took up the wisdom of the East" (CPP, p.465) All the textual quotations from The Complete Poems and Plays of T.S.Eliot (CPP), Faber, London,1970.

5. After Strange Gods, Faber, London, 1934, p.40

6. Notes Towrds the Definition of culture, Faber, London,1948, p.113

7. Manju Jain, A Critical Reading of the seiected Poems of T.S.Eliot., OUF, New Delhi, 2005, p.19

8. Matthew Arnold's view in"The Function of Criticism at the Present Time." Also applicable to Eliot's creative faculty.

9. Kristian Smidt, Poetry and Belief in the work of T.S. Eliot. Routledge & Kegan Paul. London, 1961, p.52.

10. Selected Essays, op cit., p. 258

11. Quoted in Chaman Lal (ed.), India : Cradle of Cultures, "Vedanta in English Poetry', Modern School, New Delhi. 1976, p.266.Carlyle's view on the Bhagavad Gita, when he gave its copy to Emerson, the'Great Vedantist, as "it has brought comfort and consolation to my (Carlyle's) life."

12. All the translated texts in English from *The Bhagavad Gita* or *The Song Divine*, published by Gita Press, Gorakhpur.

13. Rajendra Verma, Time and Poetry in Eliot's *Four Quartets*, Macmillan 1979, p. 135.

14. F.R. Leavis, *New Bearings in English Poetry*, Penguin, England, 1976, p. 79.

15. Neil Roberts (ed.) *A Companion to Twentieth Century Poetry*, "T.S. Eliot : *The Waste Land*," Blackwell Publishers, Oxford. U.K., 2001,p.387

16. Quoted in M.K. Naik (ed.) *The Image of India in Western Creative Writing*. Macmillian, 1970, p. 255.

17. Eggerson's words about Lady Elizabeth in *The Confidential Clerk*: I did mention her interest in Light from the East." (CPP, p. 448)

18. *After Strange Gods*, op. cit., p. 40.

19. Stephen Spender, Eliot, Fontana/Collins, Glasgow, 1975, p.26.

20. Quoted in M. Jain, op. cit., p.18

21. John Blofeld, Mantros : Sacred Words of Power, George Allen & Unwin, 1977, p.56.

22. Jain, op. cit., p.19.

Late. Dr. P. K. Choudhary
Muzaffarpur



A Scientific Review

B. K. Upadhayaya

Assna has become a catchword in recent times. More and more people performing asanas is a proof that asanas are growing popular day by day. Most people perform asanas as a physcial culture without understanding the basic, scientific and intrinisic value of asanas.

If asanas are performed with the basic understanding of its scientific nature, more benefit will accrue from them. By scientific nature. I mean how and why a particular asana is going to improve psycho-physical health as well as cure ailments.

Scientific review involves applying principles and yardstick of a particular science in testing the veracity and tenability of a particular theory. Based upon the principle of cause and effect, a theory is scientific, it is verifiable and reproducible.

In light of the above fact, we shall review the holistie impact of asanas on the psycho-physical mechanism of human body, keeping in view some of the basic laws of human Physiology, Antomy, Psychology, Neuroscience Physiotherapy, Stress Management and Biology.

Human Physiology mainly consists of ceflular muscular, respiratory, circulatory, digestive, reproductie excretory, glandular, skeletal and nervous systems.

The cellular system is composed of the cells which make the human body. Being the smallest units of the human body, these cells wear and tear when we work, get repaired when we rest, receive nourishment through food

and liquid as well as get oxygenated through breathing, Protoplasm is the basic stuff of the cells.

The Muscular System consists of the flesh which cover the skeleton and deeper part of the body. It is with the help of muscles that movement of limbs becomes possible. The muscles covering the skeleton are called voluntary as they are worth-moving at our will. On the other hand, muscles of heart, stomach etc are called involuntary as they are not moveable at our will. When a muscle is at work, it contracts and becomes thicker. The process generates energy. Muscle tone is necessary for stable emotional state as well as smooth neuro-muscular movement. Muscle tone involves movements necessary for achieving optimal state of muscles to counter a resistance to body. It develops the adaptative capacity suitable for all situations.

Respiration is the sign of life. It involves inhalation and exhalation by lungs. Oxygen inhaled by lungs purifies the blood and helps in the other metabohc processes of human body. Man inhales about 500 c.c. of air at one time. Out of 500 c.c. of air, the quantity of oxygen is about 150 c.c. But this quantity of oxygen is also not consumed totally by lungs. It takes up only about 24 c.c and the remaining oxygen comes out unused with (...) on dioxide and other gases in the process of exhalation.

Circulatory system supplies nutrient material to the cells of the body through blood. Heart pumps blood, arteries carry oxygenated blood to the body and veins bring impure blood to the heart.

The quantity of blood in human body is estimated to be about one-thirteenth of the total weight. The rate of heart beat is about 72 per minute.

Digestive system produces the nutrient material which blood carries to the cells of the body for nourishement. Foodstuffs are broken into tiny particles and rendered soluble in water by different digestive organs before nutritient material could get into the current of blood. Mouth powders the food with the help of teeth and saliva. When food reaches the stomach through gullet, it comes in contact with gastric juices serceted by gastric glands.

These juices make proteins soluble in water. From stomach, food comes to small intestine and is acted upon by pancreatic juice. This pancreatic juice acts upon all the insoluble contents of food like starch, protein and fat. Insulin secreted by pancreas maintains the suger level in the blood. Bile serceted by lever also plays an important role in the digestive process. Small intestine sends watery portions of food of the large bowel, it becomes semisolid because watery portions get absorbed in the system. This semisolid particle is evacuated in defecation.

Reproductive system consists of male and female genital organs.

Excretory system throws away all the waste or excess materials of human body in form of urine, stool and sweat. Kidneys, skin, ureters,bladder, urethra and anus form the excretory system (Rectum and anal canal are counted as parts of digestive system also).

Glandular system consists of different glands situated in different parts of the body. The secretions of these glands help in growth, emotional set up, sexual maturity and other metabolic activities of the body. These glands are of two types - ductless and with ducts. Ductless or endocrine glands directly throw their sercetions, i.e. hormones in blood. The pineal and pituitary glands are situated in brain thyroid and parathyroid in neck, adrenal and suprarenal above kidneys, ovaries in case of femaies in the pelvis and testes in case of the male reproductive organs in the scrotum. The secretions of these glands vitally influence the physiological and nervous system.

Glands with ducts are called exocrine glands Pancreas and liver are important among them.

Less or more secretions of the hormones by these glands lead to different diseases and physiological imbalance.

The Skeletal System works as the supportive framwork of human body. Skeleton consists of bones, cartilages (the bony cushion between bones) and ligaments (the fibrous bands binding backbones) The main functions of bones

are supporting and protecting the body, working as levers, as well as storage of minerals like calcium and phosophorus and forming white and red blood cells in bone marrow.

The number of bones in the body is 206.

Backbone (vertebral column) is the most wonderful structure containing a series of joints spreading from neck to the lowest part of trunk.

The Nervous System brings about the functional co-ordination among all the other bodily systems. It consists of two parts, i.e. Central Nervous System and Autonomous Nervous System. The Central nervous system comprises brain, spinal chord and collection of nerve-cells. The whole surface of human body is thickly covered with nerve cells. Impulses coming from brain to different organs are called motor or efferent and impulses going towards brain from organs are called sensory of afferent.

Brain produces fluid named cerebro-spinal fluid which protects and nourishes brain as well as the spinal column.

The Autonomous Nervous System controls the involuntary organs of the body like heart, lungs, sercretions of hormones, etc. It is divided into two parts, i.e., Sympathetic and Para-symapthetic. Sympathetic Nervous System activates the bodily system to produce more energy in case of any emergency. Emergency glands named adrenal become active due to this system. On the contrary, Para-syspathetic Nervous System lcams and slows down the bodily system. Hence, a balance of these two systems ensures a good and healthy functioning of the vital organs of the body.

Health is said to be a cumulative result of the harmonious and synchronized functioning of all the above mentioned physiological systems. Now, we have to examine how asanas ensure this harmonious and synchronized functioning as well as help in curing some psycho-physical ailments.

Asanas are not barely a set of exerices. They differ vitally from physical exercises. In all exercises, some sort of movement is involved, but asanas are

fixed postures. If we go deeper into the mechanism of exercises and asanas, we find that the maximum effect of exercises is visibe on the muscle of body. But a man performing asanas does not normally have a muscular body. This is because of the fact that maximum activation of muscles takes place in exercise hence more blood supply is made to them. Blood supply means more nourishment. As a result, muscles get nourished in exercises. On the other hand, performance of any asana exerts pressure on the vital organs of the body. The pressure ensures more blood supply to that organ. Hence, these vital organs get sufficient nourishment and strength. Therefore, a man performing asanas may not have a muscular body, but is gifted with well-nourished and strong vital organs.

Stress is caused by some inhospitable idea storming the brain and thus affecting the normal functioning of the vital organs. The continuous flow of this inhospitable idea or fear to the brain is responsible for the unmitigated level of stress. If we want to reduce this level of stress, we have to stop this flow of inhospitable idea or somehow block it partially for some time. The normal course a man adopts to get relief from stress is to go to sleep using sleeping pills or trying to forget this stressful situation by consuming alcoholic, narcotic of psychotrophic substances. After a particular period of time, these sleeping pills become ineffectual and ANP substances start wrecking the human systems sapping its vitality and immunity.

Asanas have got a very effective answer to the above situation. As we have observed earlier, asanas are fixed postures. When one performs asanas, the fixed posture slows-down the psycho-physical impulses of human body. A sort of passivity develops and the Sympathetic Nervous System responsible for stressful situation is lcamed down. The motor impulses coming from brain and sensory impulses coming from different organs are calmed down. As a result, man experiences a soothing and harmonizing effect. There is a great relief from stress. The prolonged and regular parctice of asanas helps a lot in diffusing stress.

Asanas like padmasana, Sidhasana, Shavasana produce tremendous amount of psycho-physical stability and quietude. When one performs these asanas, all sensory and motor impulses are at rest. As a result, the consumption of oxygen is minimized. This minimum consumption of oxygen results in slowing down the rate of heart and the functioning of lungs, giving them much required rest and longevity. Secondly, the transmission of impulses from and towards brain are also slowed down as a result of slowed physiological process. This produces a tremendous soothing effect.

Prolonged duration of slowed down physiological activities including sensory and motor impulses brings man closer to the subconscious state. This subconscious state is the storehouse of past experiences and other impression of human life. Emotional imbalance and psychiatric disorders spring up from this subconscious state. As man comes in subconscious state, his emotional and mental strength increases. This helps in curing psychiatric problems and psychosomatic disease. This state of mind may be used for developing different potentials of personality also.

Hypertension and neuroticism have been tackled successfully through regular pratice of some asanas over a period of time. Shavasna has been proved as the best relaxing asana. Developing awareness of breathing while performing this asana has proved an effective and efficient relaxant of such tension and disorders as high blood pressure, insomnia, anxiety, neurosis, etc, Hundreds of such experiments have been carried out by different Yoga institutes in India as well as abroad.

(Yoga Mimanas - Vol.XX, April- July 1981)

Ctibor Dostlek, Director, Institute of Physiological Regulations, Czechoslovakia has observed that asanas ensure a higher homeostasis of regulatory processes. An anxiolytical effect if reached through myorelaxatory influece by practice of Shavasana. It has proved to be a very suitable tool to manage hypertension.

(Yoga Mimansa - Vol.XXIV, July 1985)

****

Hypertension and neuroticism are caused by the over activation of Sympathetic and Para-Sympathctic nervous system respectively. Increased degree of homeostasis produced by asanas corrects this disharmony of the nervous system and ensures its proper functioning.

Pituitary gland in the brain secretes a hormone responsible for overall body-growth, especially of bones and muscles. Thyroid gland situated in the neck is responsible for maintaining the metabolic rate, accelerating body growth and effectively running Nervous System. Parthyroid gland situated in the neck also maintains the calcium level of blood, lowering of which causes irritation of Nervous Systems leading to excessive contraction of skeletal system causing tetany.

The performance of Sarvangasana ensures ample supply of blood to the above glands enhancing their capability as well as correcting any defect affecting their functioning. This asana is performed while lying supine, legs and waist raised at right angle from the ground, resting the weight on both the arms and pressing chin against the chest.

Asanas like Halasana, Ardhhalasana, Bhujangasana, Dhanurasana etc. ensure ample blood-supply to the abdomen and stomach boosting up their functioning and rectifying any deficiency.

Muscle tone plays a very vital role in ensuring psycho-physiological equilibrium and emotional stablility. Eustonia, the science of optimally balanced tonicity, propounds that muscie tone in the most important factor in psychomatic performance. While hypertonics, excessive muscle tone leads to neurological problems, hypotonia, less muscle tone results in depressive states. Therefore, balanced muscle tone is behind the harmonious psychophysical health. Asanas, being steady postures and stretch, bring about balanced muscle tone. Souto Alicia, Professor and a professional eutonist, Salvadar University, Argentina has treated many patients successfully through Asanas.

In the field of sports, asanas are of utmost importnace for preventing

sports injuries, curing them, enhancing the capability of the sportsmen as well as maintaining psycho-physical fitness during participation and in off season. Herbert A. de Uries has shown that stretching procedures are very beneficial for sportsmen as they prevent injuries and cure them also. Asanas provide the best stretching. Asanas prove useful to sportsmen by stabilising the body and the mind as well as establishing the proper rhythm in the neuromuscular tonic impulses.

Spine is one ot the most important parts of Central Nervous System. It acts as a conductor of sensation between brains and sense-organs and vice-versa. The importance of spine is well known to everybody. Erect and straight spine is the sign of health. In a comprehensive study of literature dealing with relationship between posture and health. Howland has concluded that the elasticity of spine determines the youth and health of a man. Stiffer spine is the sign of an inactive man. Different postures of asanas are best suited for keeping spine healthy and erect. The cerebro-spinal fluid gets a smooth flow with the help of the erect posture ensured by the regular practice of asanas.

Asanas have got tremendous potentiality for correctional purpose of human behaviour also. Man errs or commits crime due to some mental deviation. The correction of that deviation is better than punisthment. Therefore, the reformative aspect is becoming dominant in the field of crime-prevention. Punishment has not proved very effective in dealing with the crimes, As we have already seen, asanas ensure a balanced psycho-physical state, it helps in correcting the mental deviation. Becoming aware of the bodily and mental processes through asanas, man's approach towards life becomes more synchronized and systematised leading to positive changes in behaviour. In so many prisons, the hardened criminals develop positive approach after going through the practice of asanas. The pioneering work of Mrs. Kiran Bedi, IPS, is a milestone in this regard.

Asanas have proved to be very useful in the treatment of drug addicts, neurotics and psychopaths. All these problems arise out of the fragmented and broken psycho-physical outlook towards life. Asanas help in the treatrnent

of these diseases by making the patients aware of mind-body-breath unity. Dr. Ernesto de Bernardu, a psychiatric analyst and Yoga teacher has done excellent work in this regard. (Yoga Mimansa, Vol.XXIV, 1985)

Similarly, the regular and constant practice of asanas has been found to have resulted in reducing smoking and drinking habits also to a great extent.

Study has shown that asanas have proved very useful in controlling adolescene related problems. The onset of adolescence triggers off many physiological and psychological tensions in children verging on juvenile crimes and other problems. Asanas help in preventing emotional fluxes by stabilising mind and body.

In this way, we find that asanas augur well for ensuring a harmonious and balanced psycho-physical health of human being.

Reference

1. Asanas - Swami Kaivalyananda, Kaivalyadhama, Lonavala, 1933
2. Asand Pranayama Mudra Bandha - Swami Satyananda Saraswati, Bihar School of Yoga. 1966
3. Light on The Yoga Sutras of Patanjali - B. K. S. lyengar, Harper Collins, New Delhi, 1998
4. Yoga Mimansa (Journal) - Kaivalya - Dhama. Lonavala, Vol-XXIV, 1985

B. K. Upadhayaya



A pride of the teachers and a god of the disciples

Dr. Bimal Narayan Thakur

The imperishable soil of Mithila deserves eternal energy and force fruitful for all seasons. It is beyond flood and drought, heat and cold. It is not only because it bore the incarnation of Goddess Sita but also plays the role of universal Mother. This soil produces Janak, Yajnavalkya, Kumaril, Mandan, Vidyapati, Vachaspati, Shankar, Chanda Jha, Bachha Jha, Laxman Jha, Surendra Jha Suman and many others. They are revealed yogins, seers of Truth, master of intelligent will and propounders of universal unity as oneness. These and many others were teachers and prophets. Even now, there are many sons of this soil who follow the prints of the great elders who believed and entertained, 'life is not for the sake of life alone but for God.' They remained in action added with divine aspiration to know their own self, to know their true self to be God and one with the self of all others. They live in what they know, in their supreme spiritual nature, Hence, they revealed intergral life not the partial vision of truth as the moderns. advocate today. This is why the scholars of world bow their heads for intellectually and spiritually advanced fertility of the soil of Mithila. Doctor Satish Chandra Jha of Chanpura Village, Mithila, Prof. and Head. University Department of Sanskrit, Bihar University, truly follows the great line of the seers.

When Dr. Satish Chandra Jha was the Pro Vice Chancellor K.S.D.S.U. Darbhanga, I could learn in him a lesson of knowing one's own person, one's own self. During that period more than a decade earlier, he maintained his frank and fair deal with all the students, friends and collegues. His early days were quite unknown.

The two great works of Dr. Jha - **Suratha Charit Mahakavva Parishilan** and **A Linguletic study of Katyayan Vartik** are original

contributions. The first gives us a new additional secret meaning of Durga Saptashati. Through this work he has contributed a divine gift as spiritual education and culture, an enlarged social spirit founded on unity of souls on the communal principle native to Indian life and living. The second one is a great entity of Vykaran Shastra. It unfolds the degres of his intuitive knowledge of the phonetic science.

One can observe in his personality, his heart's luminous vastness, the ecstasy of infinite love and the delight of oneness. Indifferent of caste and creed, Dr. Jha proves to be equal souled to all men and women. In his fair deal one can rightly recall in him - 'Adityevat Prakashayati Tat Param.'

In much longer period of his teaching career. Dr. Jha has guided thousands of students and research scholars and led them to his own class. Undoubtedly he has raised himself to a new foundation. His harmonious communication and interplay with all others unfolds the secret of his simplicity and greatness. One of the great features of his presonality is that he has great passion to go beyond any thing righteously for a genteman's call. This is the reason that made him a pride of his teachers and god of his students. He keeps himself unmindful for his self attainments. His sincere and disiciplined self administrative attitude made him the lover of all known to him.

Dr. Satish Chandra Jha works with the highest enlightened faith as a duty deeply accepted for some ethical reason with no desire for any external fruit. In him, there reigns wide sympathy for the needful, and there prevails inner soul's divine gladness in the mind. Remaining in his ceaseless action he seems to have withdrawn himself from any personal demand. All his works are dictated by desireless energy, by the law of right living. To evalute such a great scholar, his personilty and character is beyond one's reach today.

Dr. Bimal Narayan Thakur
Proctor
K.S.D.Sanskrit University, Darbhanga



Vedic Rta and Jurisprudence in the Smrti Literature

Dr. Urmi Shah

The term Rta Appears in the Rgveda (RV). Prof. Keith has observe that this is an inheritance from the Indo-Irani art period.

Rta is the central goverming cosmic order or the order or course of things in the cosmos. Therefore it is essential to follow it. It is a deity without a rank.

Itahies explains it as Satyam Nirukta 4.19 besides as yajnam at 4.19 udakam at 2.25 and equates rtasya with Aditya and Atman at 14.14 Though western scholars like Keith and thers observe that Rta and Satya are not identical though they are opposed to Anrta only in the later Samhitas as at kathaka Samhita (KS) 16.5. Maitrayani Samhita (MS) 1.10.11

Here Satya denotes the sense of truth with a little shade of value, Anrta as falsehood and Rta retaining its Rigvedic connotation. The Nighantu enumerates Rta among the thirty one other names of deities such as Vayu, Manyu.

Rta is always in possession of god or is independent. It is associated with deities without any opposition. It is prevalent in all fields of the cosmos such as the rising of the dawns, the sun being in the heaven, Rta as the bright countenance of the Sun, the year being the wheel of Rta and so on. It is specifically associated with deities (like Varuna, Agni, Mitra, Aditya, Brhaspati) However among these, Varuna is most closely associated with Rta. He is moral govermor, the lord and upholder of the cosmic order in the Rgveda

Along with Mitra, he shines with Rta in the cosmos. In this capaciy he controls the flights of the birds, the course of the birds. The moral supermacy of the deity is clear through his omniscience (RV 1.25.5.16) and thereby his witnessing men's truth and falsehood (Here the respective words used for the two terms are Satya and Anrta (RV 3.49.3). Moreover whatever man does, thinks or devises is known to him. Consequently man cannot escape from the sovereign Varuna's order, though he may flee even beyond the heavens.

In this connection Varuna's ordinances/laws or Vratas are also correlated as he is called dhrtavrata (RV 1.25.6.810) and the gods also following them (RV 8.41.7).

The moral aspect of Rta is closely associated with Varuna. He supercedes all the other deities of the Vedas in this aspect. Any violation of the cosmic order of Rta, infringement of his Vratas or ordinances and committing sin arouses his wrath which the Vedic seer fears as the consequences are severe. Varuna binds violators with his pasas (cords or fetters (RV 1.24-15. 25.21, 6.74.4, 10-85.24). But they do not touch the truthful ones (atharvaveda 4.16). Along with Mitra, Varuna hates falsehood - anrta - dvisah and is terrible towards them (RV 7.66.13). Further he infticts the disease of dropey or alodara on them (Atharvaveda 4.16.7). Hence there are prayers to him not be bind the truthful ones (RV. 1.25.21, 7.88.7). Important is not to deviate from the path of Rta (RV. 7.63.3).

RV does not miss another important point in connection with the cosmic order. Varuna though stern in securing the efficacy of Rta is also gracious to bring around the criminal or the violator of Rta even from the psychological point of view. Hence Varuna is shown to be kind towards the penitent. The adjective mrlika = gracious, kind, is significant here as he unties the passas of the criminal and removes his sin (RV 2.28.5) He also releases the fathers of such persons (RV 7.86.5). In fact prayers for forgiveness occur in every prayer to Varuna and therefore, interestingly we can find the emotions of

friendship and companionship between him and the seers (RV 7.88.4-6).

Another significant point regarding Rta from the point of view of the development of its subseqent connotation can be seen to arise from its association with Agni and sacrifice as Rta is said to pervade the sacrifice (RV 6.15.14, 7.39.1, 10.8.5, Taitiriya Samhita 1.19.3)

Thus it can be safely said that Rta as cosmic order, the equitable law of the universe, justice and righteousness, paves way for the philosophical foundation for the concept of dharma in due course of time, ordaining truth and the straight path in just a couple of words. Rta can be said to be inner force of law, embracing cosmic to human laws.

Further, semantically, along with Vrata, dharma also comes to be used as the ordinancess of Varuna (TS 1.3, 1.2 MS 1.2.11 etc) and as such its usage in the RV.

In connection with the Rajasuya and Asvamedha Sacrifices. Dharma and Varuna are associated with kingship. At Taittriya Samhita (TS) and Maitrayani Sambita (MS). Mitra is Satya and Varuna is dharmapati (TS 1.8.101 & 1.2 MS 2.6.6).

Moreover the TS identifies the king with the satyadharma, Varuna thus intimately connecting the kingly power with dharma and Varuna the heavenly king with his earthly counterpart the king (TS 1.8.16.2).

Indra/the king is said to be born through the consecration as the guardian of dharma during the Mahabhiseka in the Aitareya Brahmana (8.12.14).

As a further development dharma and satya along with it is associated with the judicial proceedings. This is evident in the Pursamedha (Vajasaney, Sarihita 30.6.10. Taittriya Brahmana 3.4) when sabhaga is the participant in the royal assembly house where judicial processdings are carried out and adharma a badhira which is its opposite.

In this connection may be noted that at the Rajauya in the Satapatha Brahmana (SB) it is said that when one attains dharmapati (kings) people come to him in matters of dharma. Here the word clearly denotes legal disputes which are solved by the king. Now dharma is placed within the public realm of law, order and social norms and is overseen by the king.

Then as specific attribute or right or obligation of a person, dharma is found in the SB (1.5.7.1) while praising a person doing swadhyaya as he acquires the four dhamas.

On the other hand, the aranyakas refer to dharma as the highest in the cosmic categories (Taitiriya Arnyaka 2.19.1.4.42.5).

Thus briefly speaking, Rta (as satya, vrata and then as dharma) is a positve force. The above discussion implies that as such, Rta -

1. is the unchangeable law, order of the cosmos.

2. is the fact behind all the metamorphoses and permutations of nature and of life in general, in other words, it is a single harmony behind the scene.

3. its active imposition essential

4. Therefore, it is justice, righteousness and law.

5. an all-transcending force and

6. also the due order of the sacrifice.

In this way Rta grows from physical to divine in its purivew emphasizing the life as it ought to be. There is then a gradual progression of Rta into dharma as the universal regulatory principle of law. order harmony ultimate truh and so a pure realily or truth.

Thus with the passage of time as the sacrifice gained supreme importance Varuna lost ground. Consequently this connotation of Rta and its

moral and ethical value diminished, it no longer remained a living force from the period of the Brahmanas. Hence Varuna merely became the lord of waters, and the guardianship of Rta went to no deity. So we find that the conception of Rta of the RV passes away into oblivion and paved way to other terms implying the same connotation and yet further modifying and transforming its semantic implication. Dr. Keith observes the idea of Rta is one which, like the moral elevation of Varuna, has no future history in India, pointing irresistibly to the view that is was not an Indian creation, but an inheritance which did not long survive its new milieu (page 35, The religion and philosophy of the Vedas and Upanishads by Keith, Volume 1).

Dharma then became an all comprehensive word embracing almost every aspect of human life. It concerned religious, ethical and legal duties, customs and conventions. Ethically, therefore, dharma means right way of living or proper conduct. Therefore when we refer to the Dharmasastras, we specifically refer to a genre of texts laying down religions ethical and legal duties of an individual in personal and social context deriving their authority and tradition from the Vedas, the Smrtis and Acara.

In this way Rta permeates from the RV to the Smrtis. However it must be remembered that as Dr. Albrechi Wezier points out. Considering the meanings subject matter of vedic dharma on the one hand and that of the Dharmasatric dharma on the other what stands out is their radical difference. So this literature came to represent a record of local social norms, traditional standards of behaviour and the periodically transformed vedic connotations as noted above, which then became the law of the land, it therefore, involves the evaluation of the good and the bad qualities of human actions as well concerning the communities, clans, families, kings, women, householders and so on. Thus dharma now is accossible to each individual in acts of daily routine.

Now, correlated with dharma as laws a set of rules to provide order and governance of the society occurs the term jurisprudence. Made up of two

words juris meaning of law, legal and prudentia meaning knowledge, wis edom, jurisprudence denotes knowledge of the oral legal tradition and functional applications of law, particulars of facts and circumstances (Wikipedia). Thus jury is the one who can apply law to the facts and circumstances, and draw a conclusion therform on the defendant's culpability (Wikipedia). As of today jusrisprudence denotes the theory and philosophy of law and so relates to (1) analytic jusrisprudence referring to what is law, its relationship with morality, legal right, duties, obligations etc (2) normative jusrisprudence referring to the moral and political philosophy, necessity to obey law, punishment to law breakers etc. and (3) natural law dealing with the unchangeable laws of nature that govern us and our institutions that ought to match them.

Therefore the contentions of jusrisprudence are that (1) laws are validly made in accordance with socially accepted rules. (2) What the law is is determined by social facts and (3) what obedience the law is owed is determined by moral considerations (Wikipedia).

Keeping this is view, it is already noted above that Rta as satya and then as dharma in Smrtis is the genre of texts having the codified law derived on the basis of religion (in the case of India), customs, conventions and traditions. Such a person is fit to exercise jurisprudence.

Manusmriti (MSM) can be checked as being illustrative of the above -

The text is the delineation of the dharmas of all the castes and communities as Manu as he knows the Vedas and the Truth. Dharma varies with time, region, community, family gender (1.85. 113-115, 118) The age of Satya consisted of dharma in all its four parts (namely, jnana, yajna and dana) : none gained anything through adharma Medhatithi notes that age caused the performance of dharma in its entirety. Similarly dharma (in both the cases the word is clearly indicative of the customs, conventions, norms and duties of the various segments of the society).

Further, crimes like theft, falsehood, cheating and other vices diminish the effectiveness of dharma. This is adharma. Here the word denotes righteousness, right conduct which is upheld by the society.

Acara or right behaviour is the most excellent dharma and it is laid down in the Srutis and Smrtis. Therefore a realized dvija must abide by it (1.108). The sages of yore have seen the attainment of dharma through acara have accepted it as the root of all austerties (1.110).

Manu has covered all aspects of dharmas but there may remain some which are not done so by him in such cases, whatever is said by the sista Brahmins is to be accepted as dharma. And sista is he who has studied and digested the Vedas in full depth. A committee consisting of at least ten or even threee such brahmins can determine the nature of dharma as per the need of the time (12.108-110).

Such brahmins must know the Vedas, Logic of all the systems of Philosphy, Etymology, Dharmasastra and must be pious. Those who do not fulfill these conditions cannot frame laws (6/2.111. 114).

Dharma and Adharma satya and anrta appear side by side in eighth chapter as the former in each set being oblierated by the latter (8.14). In the following verse dharma is called bhagavan. A liar is called adharmajna adharmika (8.9.310).

However at several other places, dharma is associated and equated with law. Dharmapravakta and dharmastha are the terms used for a judge (8.20.57). Dharma must be adhered to for pronouncing judgement (8.8).

Dharmasana is the seal of judgement (8.23) while nyaya, dharma, vyavahara mean judgement (8.18.44.66). Judgement must be delivered after considering the community, region, trade union family dharmas (8.41). Here both the connotations of harma namely customs etc and law are intended.

It is necessary for the witness to speak the truth, Truthful evidence is called Rta (8.16)

It is obligatory for the wilenss to give evidence based on truth. Doing so means abiding by dharma and artha (8.74). If he lies, the pasas of Varuna bind him for a hundred lives, therefore he must always speak the truth Rta (8.82). Such and other parts of the text (8.81.83) emphasize the ethics and morality in the legal procedures and significance of the witness in judicial procedures. Therefore it becomes the moral duty of the judge also to encourage the witness to give the truthful evidence for this he may use athavadas and nisedhas (8.85-106). Prayascitta is laid down for the untruthful witness (8.105-106).

It is moral duty of the judge to throughly check the case, witnesses, the nature of the crime, condition of the criminal and its intensity before pronuncing the appropriate judgement. The king who pronounces inappropriate punishment meets his doom as himself is dharma on the earth as noted earlier. An important point is referred to here-namely punishment should be inficted progressively, the first offense by harsh words then by insults, then through fine and at larst by beating up the criminal (8.130). This proves the scope of mercy for the criminal to be righteous.

The above discussion is illustrative of the prevalence of the instances of jurisprudence in Manusmriti, it being the first text of the kind. It gives glimpses of the existence of a sophisticated jurisprudence since ancient times. Due to this reason, the Dharmasastra texts were to be the source for the law of the land by the early British colonial administration of India. Ever since then it is linked with the Hindu law.

References

1. The Vedic Myghology, Macdonell, A.A. Indological Book House. Varanasi. 1971.

2. The Religion and Philosophy of the Vedas and Upanishads. In two volumes. Harvard Oriental Series. 31-32 Keith. A. B. Motilal Banarasidas, Delhi, first Indian reprint of the 1925 edition. 1970.

3. Manu-Smrti (with nin commentaries) Bhartiya Vidya Shreni Grantha 40 Dave. Jayantakrishna Harikrishna (Editor) Published with the finacial assistence of the Ministry of education Govenement of India by Bharatiya Vidya Bhavan. Bobay. 1984

4. Dharma in the Veda and the Dharmasastras. Wezier, Albrecht Journal of Indian Philosophy. 32 (5) 629-654, 2004

5. The Semantic History of Dharma in the Middle and Late Vedic Periods. Olivelle Patric. Journal of Indian Philosophy 32 (5) 491-511. 2004

Dr. Urmi Shah
Sanskrit Department
St. Xavier's College, Ahmedabad



Feminine Sexuality

Some Obervations Regarding Śupraṇakhā and Śitā, Two Women Characters in the Vālmīki Rāmāyaṇa

Dr. Vijay Pandya

As we know, these two women characters i.e. Śupaṇakhā and Sītā from the Vālmīki Rāmāyaṇa do not have any apparent resemblance between them except both being female.

Hardly two cantos (Araṇyakāṇḍa 16-17) in the Vālmīki Rāmāyaṇa are devoted to the character of Śupaṇakhā, a demoness while the entire story of the Rāmāyaṇa almost revolves round the character of Sītā.

But if these two characters are juxtaposed, then the diffenee in the attitude towards feminine sexuality as epitomized in these two characters and ultimately it the Rāmāyaṇa poem gets sharpened.

The Śupaṇakhā episode as noted above, occurs in the Araṇyakāṇḍa covering in all 16 to 18 cantos. The episode, though of a very minor nature from the extent point of view, is very important at the narrative level. This episode in which Śupaṇakhā, a demoness and the sister of the demon king Rāvaṇa, is mutilated, with her nose and ears cut off by Lakṣmana proves a very crucial turning point in the story. The episode sets in motion a chain of events resulting into the kidnapping of Sītā by Rāvaṇa and ultimately the war in which Rāvaṇa and his army of demons get exterminated at the hands of Rāma and his army of monkeys.

As we know, the Vālmīki Rāmāyaṇa portrays the most comprehensive myth which can be interpreted on several levels. One of these several levels, the narrative level is the first and foremost one. The divine, cosmic and the human levels also form the most substantive part of the interretation.

Here the Śupaṇakhā episode, enshrines in itself the attitude of the poet Vālmīki towards feminine sexuality, with reference to the poıtrayal of the character of Sītā.

The way in which the poet goes on to delineate the episode is very delightful.

The episode opens with Rāma, Sītā and Lakśmaṇa living in a idyllic atmosphere in exile at Pañcavatī practicing austerities and penance.

In such a peaceful atmosphere, suddenly Ṣupaṇakhā barges in and causes upheavals, in the lives of these characters. Śupaṇakhā, a demoness, sets her eyes on Rāma to be her husband. The poet draws a very delightful contrast between the appearance of these two characters.

His face was beautiful, hers was hideous. He was slender waisted hers was a bloated one. His eyes were wide and she had deformed eyes. He had beautiful tresses she had copper-red. He had a plessant voice, she had frightening noise. He was young, she was a terrible old hag. He was soft spoken, she was rough in her speech. He had a lawful conduct, while hers was too much evil. He had a pleasant face and she was repellant.[1]

She was full of desire for Rāma and immediately wants Rāma to be her husband. Rāma declines the offer saying jestingly that he was already having a wife with him right them but his younger brother was without wife (akrtabāra) in the forest and hence she should approach him. Lakṣmaṇa

also resists her advances by saying that he himself is merely a servant of Rāma and hence she would not be able to enjoy the subordinate position. So Lakṣmaṇa asks her to approach his elder brother. Here Lakṣmaṇa indulges in a light banter and draws a contrast between Sītā and Śupaṇakhā.[2]

Lakṣmaṇa says that Rāma will abandon his ugly, unfaithful, hideous, pot-bellied, old wife for her. Who can resist a beauty like her? After having set his eyes on you who can love a mere human female? The poet observes that Śupaṇakhā is Parihāsa avicakṣaṇā. She would not understand a joke and Rāma later on states that with the demons, we should never indulge in humour, as they are incapable of humour. Mark well, Rāma does no opine that women are incapable of humour.

Now, Śupaṇakhā with her partience exhausted, thinking Sītā to be the root of her being repulsed, pounces upon Sītā to devour her. Then Rāma orders Lakṣmaṇa to disfigure Śupaṇakhā by cutting her nose and ears.

Thus deformed and repudiated, she approaches her brothers Khara and Dūṣaṇa and ultimately Rāvaṇa. The subsequent story to too well known to be narrated here.

From the ineident it appears that Śupaṇakhā was mutilated on account of her attempt of adultery.

It is also noteworthy that in the story Śupaṇakhā is a widow but her widowhood does not get mentioned in the episode, nor in the epic at large also. It is also inherent in the situation that due to her widowhood she enjoys an independent status, which may also arouse suspicions among the male members of the society. Moreover, it is also possible to read in the episode a little bit of fascination or curiosity on the part of Rāma and Lakṣmaṇa due to the independent status of Śupaṇakhā. Her unmarried

state made Rāma and Lakṣmaṇa linger a bit longer than the situation warranted.

By the side of Sītā, Śupaṇakhā gets contrasted and the poet perhaps wants to point out the disastrous consequences which Śupaṇakhā had to undergo on the individual level and on account of her unbridled passion.

Sītā is contrasted by the side of the character Śupaṇakhā, Sītā is good, pure, auspicious, faithful, steadfast in her devotion to her husband, docile, and submissive. Śupaṇakhā, on the other hand, in her sexual attitude is quite without any inhibition and that is why she is described as approaching the region where Rāma, Sītā and Lakṣmaṇa lived, on her own accord Yadrechaya - rather wantonly.

Śupaṇakhā is evil, impure, dark, in-auspicious, bad, not steady in her feeling, insubordinate and pervert. So one can say that Śupaṇakhā emerges as an alter ego of Sītā in the short span of the poem which it affords for the character.

Śupaṇakhā is punished in order to protect a good, chaste woman like Sītā. Śupaṇakhā, as we noted earlier, is not steadfast to her object of feelings. She has no qualms of conscience in approaching Lakṣmaṇa when repulsed by Rāmā. Again, she does not even for a moment hesitate to approach Rama forsaking Lakṣmaṇa.

One may also perceive an implicit threat to Sītā by demonstrating that if a good woman turns bad, she can also be punished like Śupaṇakhā.

And without pronouncing any judgement on the poet's view of life, one may say that the episode adds one more dimension to the extremely human characteristic or Rāma[3] and to the artistic complexity of the poem.

References

1. सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी।
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा।।
प्रियरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वना।
तरुणं दारुणं वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी।।
न्यायवृत्तं सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना।
शरीरजसमाविष्टा राक्षसी सममब्रवीत्।।

(Araṇyakāṇḍa 3-16-8 to 11)

2. कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमर्हसि।
सोऽहमार्येण परबान्भ्रात्रा कमलवर्णिनी।।
समृद्धार्थस्य सिद्धार्था मुदितामलवर्णिनी।
आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी।।
एतां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्यामेवैष भजिष्यति।।
को हि रूपमिदं श्रेष्ठं संत्यज्य वरवर्णिनि।
मानुपीषु वरारोहे कुर्याद्भावं विचक्षणः।।

(Araṇyakāṇḍa 3-17-9 to 12)

3. See also this author's two articles in Gujarati viz. Rāmāyaṇa : Rāma nāmanā Manusyanun Ayan, and Vālmiki Ramayanana Rama : Manusya ke Deva? in the journal Farbas Trimasik, Jan. March-82 and 2001 respectively.

Dr. Vijay Pandya
Honorary Prof. and Shāstra Shūḍāmaṇi
Rashtriya Sanskrit Sansthān, Delhi (2006-07)
L. D. Institute of Indology, Ahmedabad-380009
Retd. Prof. Deptt. of Sanskrit
School of Languages, Gujarat University



****

The Aryas, Kashmir Shaivism and Vedanta

Dr. Kalika Dutta Jha

Man is the most important and intelligent creation of the universe. Right from the homo sapien he has been evolving both physically and mentally, from animality to humanity with a sole aim to achieve divinity. Different groups of men originated and grew in different parts of world in course of time. They formulated and defined various norms, patterns, yardsticks and standards pertaining to individual, familial, social, religious, cultural, economic, political and all other spheres of life leading the primitive, barbaric, wild and uncivilised man to more and more civilised, cultural, rational and scientific one of this computer age.

The Aryan civilisation, culture, language (Sanskrit) and literature (Vedic sahitya) are the most ancient, venerable and sublime in the world. Anthropology, sociology, geography linguistics and other concrned disciplines of knowledge have established beyond doubt that the Aryan and Aryan ethos originated and flourished in Saptasindhu pradesh with all their dimension and spread over the most parts of Urasia with some inevitable alteration on account of temporal , spacial and ecological - biome and habitate - factors.

The word Arya does not indicate a particular race but it is connotative of one who is approached or deserves to be approached (अर्तुंयोग्यः आर्यः) - a sublimated self, it is synonymous of nobility, civilsed, goodness, saintliness etc as said in Amarkosha - महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधनः ।

The Arya is one who alway performs enjoined duty, abstains from the prohibited ones and remain in natural, moral and good conduct with full conviction:

कर्त्तव्यमाचरन् कृत्यमकर्त्तव्यमनाचरन्

तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः।। वसिष्ठ

The Arya is a class of such an enlightened people who evolved an ideal way of life par excellence and lived up to it with so much perfection that they became seers ऋषयो मन्त्रद्रष्टार। All the human virtues i.e. fearlessness , purification of the mind and body, knowledge, meditation, chastity, sense control, study of scriptures, penance simplicity, non- violence, truth, angerlessness, abregation, quetude, kindness, patience, effulgence, forgiveness, pridelessness etc.regarded as divine acquisitions are the essence of Aryan life-style as well as an eternal ideal of humanity at large.Hence the lofty announcement of the Manusmriti that all the people on the earth should learn the ideal and the sublimating life style of the enlightened Aryan stands vindicated even today:

एतद्देश प्रसूतस्य एकाशादग्रजन्मनः

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

The Aryan or Vedic seers were highly intellectual and intensely spiritual.They always fully adhered to the scriptures injunctions effecting perfectly religious conduct and temperament. In the moment of pure and absolute contemplation and transcendental meditation they had mystic experiences of the real nature of microcosm and macrocosm i.e जीव, जगत् and ईश्वर or/and ब्रह्म। Those vast complex and mystic experiences are manifested in Vedic literature i.e Vedas, Brahamans , Aranyakas and Upanisadas in different ways at different stages. It is the only available literary form where the whole Aryan mind , culturel, civilisation and knowledge are reposed.

The four fold purusartha is the main story of the Aryan way of life which is to be realised and attained through the varnashrama dispensation as ideally institutionalised in the vedic tradition. All the Indian philosophical systems including Buddha and jaina have moulded the individual, familial, social, religious, cultural and spiritual shape and dimension of man in their

own ways.However, all the system are amazingly in total agreement on one point that the Moksa i.e liberation is the ultimate goal of man which is dealt with in different ways by different philosophical systems as to its nature and means to realise or attain it.Vedic literature indicates continuous evolution of philosiphical contemplation from the mantras and the Brahmanas through the Aranyakas to the Upanisadas. There is a noticeable transmission from the naturalistic and anthropomorphic polytheism through monotheism to monism. However, एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्तिए पुरुष एवेदं सर्व यद् भूतं यच्च भाव्यम् । कस्मै देवाय हविषा विधेम, नमेन विदित्वा तिमृत्युमेति नान्य यन्था विधते अपनाय and several other references indicate monism to be the only key note of the whole vedic tradition which get throughly developed and culminated in the upanisadas called the vedanta which establishes Advaita of Brahman and Ataman i.e monism. The Brahmasutra finally settled the ultimate reality that Atmanand / or Brahman is pure consciousness, one and absolutely not dual.

In spite of having similar origin as vedic lore and traditon Agamic systems developed quite independently from the other vedic philosophical systems with a bit esoteric tinge having great impact on religious and cultural life of sizeable number of people for centuries.As a matter of fact Nigam (वेद) and Agam have been supposed complementary to each other आ समन्तात अर्थ गमयति हितमार्ग प्रापयति इति आगमः i.e that which makes the supreme goal fully realised is Agam. It has been defined in शारदातित्यक as आगतं शिववक्त्रेभ्यः गतंच गिरिजाश्रुतौ, तदागम इति प्रोक्तं शास्त्रं परमपावनम् तन्त्रालोक says इह तावत् समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः, प्रसिद्धिमनुसन्धाय सैव आगम उच्यते। popular customs and practices developed and established within the parameters of Vedic tradition constitute the Agam which is taken as more congenial and useful in attaining the prosperity and supreme goal in kali age as is said in प्रपञ्चसारतन्त्रश्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः, द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः। Maharsi Harita has declared Agam as the fifth veda आगमः पञ्चमो वेदः Preeminently Agamas have three cults vaisnagama, shaivagama and shaktagama.

The tradition of shaivagama is too old to ascertain its historicity. The Harappa excavations provide ample facts to prove its existence in pre-historic period. In vedas we have considerable references of Rudra and Shiva worship. Later, four schools of Shaivism came into existence. they are Lakulish, Pashupata, Pratyabhijna and Raseshvara Among these Pratyabhijna is Kashmira Shaivism which represent the northern shaivism as well.

Kashmir Shaivism is aptly so called because all its chief exponents Basugupta , Somanand , Utpaldeva, Abhinabagupta etc belonged to Kashmira - a शारदादेश or चतुर्दशविद्यापीठ। It is pratyabhijna because the main plank of the system is the theory of recognition that Shiva is none else but Jira. It is also called त्रिक because the system concentrates on the deliberation of exclusively the trinity of शिव, शक्ति and जीव, The creation is the स्पन्द ie spontaneous activity of Shiva. Hence,it is also named as स्पन्द system.

The discussion of जीव, जगत् and ईश्वर constitte the metaphysics of a philosophical system by which the very nature of the system acknowledges thirty six tattvas or principle which all are the manifestations of the same one and only reality which is चैतन्यस्वरूप शिव There is a शिवसूत्र - चैतन्यम् आत्मा Sarva Darshan Sangraha says तस्य चिद्रूपत्वमनवच्छिन्नविमर्शत्वमनन्योन्मुखत्वमानन्दैक घनत्वं माहेश्वर्यमिति पर्यायः The desire to create is the शक्ति of that चैतन्य शिव which is not different from it, as शक्ति शक्तिमनोरभेदः Fundamentally there is no difference between fire and heat or water and stream तस्य (परमशिवस्य) बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम् then सदाशिव, ईश्वर एवं शुद्धविद्या tattvas are admitted as the result of आनन्द, ज्ञान and क्रिया aspects of the powter of शिव. These five are transcendental tattvas. The sixth, maya tattva, makes the infinite appear as finite which gives rise to five further tattvas called five Kanchukas as Kala (power) Vidya (Knowledge), Raga (attachment), Kala (time) and Niyati(space). Then Shiva takes the form of पुरुष the twelveth tattva as is said माया गृहीतसङ्कोचः शिवः पुंस्तत्त्वमुच्यते, Rest twenty four tattvas are similar to those as admitted by

Sankhya system. Sankhya Karika enumerates-

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्माद्गणश्च षोडशकः,

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि।।

As per Kashmir shaivism these thirty six elements as above constitute the trinity of Shiva, Jiva an jagatshiva as infinite , conosciousness (चित्), supreme bliss (आनन्द) dynamic (सक्रिय) absolute independence (पूर्ण स्वातन्त्र्य) force or energy. Evolution (सृष्टिप्रक्रिया) of individual conscious and material world (जीव एवं जगत्) is स्पन्द spontaneous vibration of the different aspects of that energy which is self itself of Shiva (शिवशक्ति) As is said in सौन्दर्यलहरी-

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दिनुमपि।।

Universe is natural emanation of Shiva out of his bliss as corroborated by उपनिषद् - आनन्दाद्धि खलु इमानि भूतानि जायन्ते। It is self projection of Shiva and as real as Shiva himself. Recognition of this unity in diversity leads to मोक्ष or liberation that is प्रत्यभिज्ञा as शिवोऽहम्. Hence, Kashmira Shaivism is monism Shivadvaita with a difference from Advaita Vedanta-Brahmaaduaila. Advaita Vedanta takes the world as unreal and superimposed on the real Brahma.Thus, vedanta has negative view of the world. In vedanta renunciation is essential for ब्रह्मानुभूति but Kashmir Shaivism has no problem with worldly involvement because all is शिवस्वरूप it self :

सर्वो ममायं विभवः इत्येवं परिजानतः।

विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा 4.1.12

Hence, भोग is not opposed to योग-

भोगो योगायते अत्र पातकं सुकृतायते,

मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि। कुलार्णवतन्त्र 2.24

श्रीसुन्दरीसेवनतत्प्रराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव-

> **आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचरा प्राणाः शरीरं गृहं**
> **पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः**
> **सञ्चार पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो**
> **यद्यत्कर्म करोमि तत्रदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥**

This positive view of Kasmira Shaivism towards the world is quite congenial to the conecption that धर्मार्थकामा सममेव सेव्याः यो लोकसक्तः स नरः जधन्यः।

Dr. Kalika Dutta Jha
Prof & head , Sanskrit Deptt.
L.N.Mithila University, Darbhanga



The Origins of Aryan Speech :
Some Philological Insights from Sri Aurobindo

Dr. Sampadanand Mishra

Introduction

Sri Aurobindo is best known as a Yogin and the author of many spiritual works. During his stay of fourteen years in England he mastered Latin, Greek, French and English. On his return to India he began an intensive study of Sanskrit and Bengali and in a few years mastered them.

This masterly knowledge of Sanskrit and later on acquaintance with the vocables of Tamil led Sri Aurobindo to discover a new science of language. It was the study of Tamil words which gave him "a clue to the very origins and structure of the ancient Sanskrit tongue."[1] Thus he "plunged into" the "interesting research of the origins and the laws of the development of human language" based on Sanskrit. He began the research work under the title "The Origins of Aryan Speach." Along with Sanskrit he chose three other cognate language - Greek, Latin and Tamil - for his research. By origin of Aryan Speach he meant the origin of human, speech. In his own words, "...my subject... is the origin, growth and development of human language as it is shown to us by the embryology of the language ordinarily called Sanskrit... I base my conclusions on the evidence of the Sanskrit language helped out by those parts of Greek, Latin and Tamil tongues which are cognate to the word families of Sanskrit, and by the origins of Aryan speach I mean, properly, the origin of human speech as used and developed by those who fashioned these word-families and their stocks and offshoots."[2]

The Divine Origin of Human Language

Sri Aurobindo realised that the ultimate source of human language was the divine reality. According to him, "The language of man is not framed on earth, but in heaven, as indeed are all things that the earth-soul uses in this mortal journey."[3] But he also recognised that language was "diversely developed by the more discursive but less sure-footed agencies of intellectual mind." He further states that "mankind has one original language based on certain eternal types of sound, developed by certain law of rhythmic variation, perfectly harmonious and symmetrical in its structure and evolution. This is the devadhasa and is spoken in the Satyayuga."[4] Through the processes of evolution, this ideal and original language suffered "change, detrition" and "collapse" giving birth to "innumerable languages, dialects" and "vernaculars." But among all these languages, dialects and vernaculars Sanskrit is more faithful to the original language which Sri Aurobindo calls *devabhasa,* As it has preserved much of the force, spirit and structure of the original language it is truly called Sanskrit, a word which means 'refined, polished and correct'. Sri Aurobindo could not agree with the orthodox that Sanskrit was the original language itself, but he did feel that it was the key to the problem of the origin of language because it was a trne primary formation of speech, still faithful to its source.

Sri Aurobindo's Methodology

In the process of his enquiry Sri Aurobindo felt the necessity of "a kind of linguistic embryology."[5] This linguistic embryology meant going back to the earliest forms of language. He explains: "Just as from the study of the formed outward man animal, plant, the great truths of evolution could not be discovered or, if discovered not firmly fixed, — just as only going back from the formed creature to its skeleton and from skeleton to the embryo could the great truth be established that in matter also the great Vedantic formula holds good,... so also in language; if the origin and unity of human speech can he found and established, if it can be shown that its development was governed by fixed laws and processes, it is only by going back to its earliest forms that

the discovery is to be made and its proofs established"[6] On the basis of this Sri Aurobindo divided his whole research into two parts-embryonic and structural — and gave primary importance to the embryonic part.[7] He explains as an example that in the embryonic part it is not at all important to enquire why the Sanskrit word *vrka* means tearer, or *dalanam* means crushing. What is important here is to note roots of these words and enquire how *vrc* (the root of *vrka)* came to mean to tear, *dol* (the root of *dalanam*) came to mean to split orcrushf "whether arbitrarily or by the operation of some law of nature."[8] In the structural type the "modifications and additions by which those roots grow into developed words, word groups, word-families and word clans" have to be noted, and it has to be enquired "why those modifications and additions had the effect on sense and use which we find them to have exercised, why the termination *ana* turns *dal* into an adjective or a noun and what is the source and sense of the various terminations..."[9]

Going Back to the Root

So the basic point of Sri Aurobhido's linguistic theory is "to get back always to the root as the determining unit of the language."[10] As a result of this "we gain two points." First, "we get rid of the idea of a conventional fixed connection between the sound and its sense", and second, "we perceive that a certain object is expressed by a certain sound because of some reason it suggested a particular and striking action or characteristic which distinguished that object to the earlier human mind."[11]

The *Guna* of Sounds

Another chief point of Sri Aurobindo's linguistic theory is the quality or *guna* (as it is called in Sanskrit) of sounds. Sri Aurobindo explains this *guna* as "some natural property of particular sounds to create under given conditions a particular kind of impression on the mind which constantly associated with that sound"[12] This *guna* was "the basis of a number of special intellectual significances..."[13] So in the word *vrka* the force of the root v (व्) as modified by the secondary elements *r* (र्) and *c* (च्) has the *guna* of tearing

and similarly *dal* has the sense of splitting. This relation shows that language is not an arbitrary human invention, but a humanly modified evolution of something which in its origination is divine. Sri Aurobindo also notes : "This principle of *guna* is of great importance in the study of the physical formation of the language and of its psychological developments,..."[14]

The Growth of Language from the Seed-sounds

The alphabet of Sanskrit forms the very base of Sri Aurobindo's linguistic theory. This is considered by him as a wonderful "instrument out of which the majestic and expressive harmonies of the Sanskrit language have been formed."[15] Sri Aurobindo observes that the letters of Sanskrit "are used as so many seed-sounds.'[16] From these seed-sounds the "primitive root-sounds are formed by the simple combination of the four vowels or less frequently the modified vowels with each of the consonants,... Thus with *d* (द्) as a base sound, the early Aryans were able to make for themselves root-sounds which they used indifferently as nouns, adjectives, verbs or adverbs to express root-ideas, - da (द्) da (दा) di (दि), di (दी), du (दु), du (दू) dr (दृ) dr (दृ)... In addition the Aryans could form if they chose the modified root-sounds de (दे), dai (दै), do (दो), dau (दौ)"[17]

Further "a class of secondary root-sounds and root-words grew up from the primitive root" by adding to it "any of the consonant sounds with its necessary or natural modifications of the already existing root-idea." Thus on the basis of the.., primitive root *da* (द) "it was possible to have four gurteral short secondary roots, *dak* (दक्), *dakh* (दख्), *dag* (दग्), *dagh* (दघ्)", .."so also eight palatal, eight cerebral, with the two nasal forms *dan* (दण्) and *dan* (दाण्) making ten, ten dental, ten labial liquid, six sibilant and two aspirate secondary roots. It was possible also to nasalise any of these forms, establishing for instance, *dank* (दङ्क्), *dankh* (दङ्ख्) *dang* (दङ्ग्) *dangh* (दङ्घ्)[18]

Again "by the addition of the semi-vowels to the seed-sounds in their primitive or secondary root", or else "by the addition of another consonant to

the final of the secondary root" we get some illegitimate tertiary roots like *dhyai* (ध्यै), *dhvan* (ध्वन्), *sru*(स्रु) *hlad* (ह्लाद्), *stu* (स्तु), *scyu* (श्च्यु) *brad* (ह्रद्), or else *vail* (वल्ल), *majj* (मज्ज्) etc. TTien Sri Aurobindo notes that some tertiary roots are also formed by the vowel and consonantal modifications. With "these elements of variation' Sri Aurobindo says that "we are in a position to follow the second stage in the flowering of speech from the root-state to the stage in which we pass on by a natural transition to the structural development of language.[19]

Hence, according to Sri Aurobindo, we have the seed-sounds, the alphabet, from which the primitive root-group is formed. For example from the root-sound *v* (व्) we get the primitive-root group *va* (व), *va* (वा), *vi* (वि), w (वी), *vu* (वु), VM (वू), vr (वृ) *vr* (वॄ), ve (वे), vai (वै), vo (वो), vau (वौ). Each primitive group has its own family of secondary roots. For example, the primitive v (व) has in its family, *vak* (वक्), *vakh* (वख्), *vag* (वग्), vagh (वघ्) vac (वच्) vach (वछ्) vaj (वज्) vajh (वझ्) vat (वट्) vath (वद्) vad (वड्) vadh (वढ्) van (वण्) vat (वत्) vath (वथ्) vad (वद्) vadh (वध्) van (वन्) vap (वप्) vaph (वफ्) vab (वब्) vabh (वभ्) vam (वम्) vay (वय्) var (वर्) val (वल्) vav (वव्) vas (वश्) vs (वष्) vas (वस्) vah (वह्) - with a certain variable number of tertiary dependants such as vane (वञ्च्) vang (वङ्ग्), vand (वन्द), valg (वल्ग्) vams (वंस्), vrnk (वङ्क्) vraj (व्रज्) etc. According to Sri Aurobfndo eight or more families of this group would form a root-clan, and "forty of these clans would constitute the whole range of primitive language."[20] He further notes that "each word would in the primitive nature of language..., fulfill at once several functions, nouns, verb, adjective and adverb at once, the inflection of the voice, the use of gesture and the quickness of the instinct making up for the absence of delicacy and precision in the shades of speech,"[21] Since words are not "artificial products" but "living growths of sound", so, the development of the human intellect would have compelled a "fresh growth of language and a more intricate flowering of forms."

Sri Aurobindo observes that the "first instrument in such a growth, the first in urgency, importance and time, would be the impulse towards distinguishing more formally between the action, the agent and the object, therefore of establishing some sort of formal distinction, however vague at first, between the noun-idea and the verb-idea. The second impulse, possibly simultaneous, would be towards distinguishing structurally, ...between the various lines and shades of action, of establishing in modern language, tense forms, voices, moods. The third impulse would be towards the formal distinction of various attributes, such as number and gender, and various relations of the subject and object themselves to the action, of establishing case forms and forms of singularity, duality, plurality."[22]

According to Sri Aurobindo as the Aryans could form the root-words by adding consonant sounds to the primitive root-sounds, so by the aid of the same device they could have proceeded in making appendage sounds and structural sounds "by adding to the developed root-word any of the same consonant sounds,, pure or conjunct with others, with an enclitic sound either as the connective support or a fonnatory support or both, or else by adding the enclitic sound alone as a substantial appendage. Thus, having the root *vad* (वद्), they could form from it at their will by the addition of the consonant *t* (त्), *vadat* (वदत्), *vadit* (वदित्), *vadut* (वदुत्), *vadrt* (वदृत्), or *vadata* (वदत) *vadita* (वदित), *vaduta* (वदुत), or *vadati* (वदती), *vaditi* (वदिति) *vaduti* (वदुति), *vadrti* (वदृति) or *vadatu* (वदतु), *vaditu* (वदितु), *vadutu* (वदुतु), *vadrtu* (वदृतु), or else *vadatri* (वदत्रि) or *vaditri* (वदित्रि), *vadutri* (वदुत्रि), *vadrtri* (वदृत्रि), or else they could use the enclitic only and form *vada* (वद), *vadi* (वदि), *vadu* (वदु), *vadr* (वदृ), or they could employ the conjunct sound *tr* (त्र्), *ty* (त्य्), *tv* (त्व्) *tm* (त्म्), tn (त्न्), and produce such forms as *vadatra* (वदत्र), *vadatya* (वदत्य), *vadatva* (वदत्य), *vadatma* (वदत्म), *vadatna* (वदत्न),"[23] The same principle was also employed in the variations of the verbs and in the formations of the cases. This is the first step showing "the way in which the instrument of the

vocal sound has been determined and used by the agent." The next step is to examine "the relation of the particular ideas to be expressed to the particular sound or sounds which express it." Sri Aurobindo says : "There must be these two elements, the structure of the language, its roots, formations and the growth, and the psychology of the use of the structure."[24]

Language and the Psychology of Mankind

In this step we must "find an equal regularity, an equal reign of fixed process on the psychological side, in the determining of the relation of particular sense to particular sound." Without this the first step is incomplete. Sri Aurobindo observes that it is not any "arbitrary or intellectual choice but a natural selection that has determined the growth and arrangement of the sounds." As an example he explains that first the seed-sound *v* (व्) "must have something inherent in it which connected it in man's mind originally in the first natural state of speech, with the actual senses borne by the primitive roots *va* (व), *va* (वा) *vi* (वि), vi (वी), *vu* (वु), *vu* (वू), *vr* (वृ), *vr* (वॄ), in the primitive language. Secondly, whatever variations there are in sense between these roots must be determined originally by some inherent tendency of significance in the variable or vowel element, *a* (अ), *a* (आ), i (इ), i (ई), *u* (उ), *u* (ऊ) r (ऋ), r (ॠ) Thirdly, the secondary roots depending in v (व्), *vac* (वच्), *vakh* (वख्), *van* (वञ्) *vam* (वम्), val (वल्), vap (वप्), vah (वह्), *vas* (वश्) *vas* (वस्), etc. must have a common element in their significances and, so far as they varied originally, must have varied as a result of the element of difference, the consotant termination *c* (च्), j (ज्), *m* (म्), *l* (ल्) *p* (प्), h (ह्) s (श्) s (स्) respectively. Finally in the structural state of language, although as a result of the growing power of conscious selection other determining factors may have entered into the selection of particular significances for the particular words, yet the original factor cannot have been entirely inoperative and such forms as *vadana* (वदन), *vadatra* (वदत्र), *vada* (वद्), etc, must have been governed in the development of their sense dominantly by their substantial

and common sound-element, to a certain extent by their variable and subordinate element"[25]

Conclusion

This in short is about the new linguistic theory of Sri Aurobindo through which he wanted to show that the growth of the human language from its root form to the structural form is not arbitrary but governed by certain natural processes and laws. Though incomplete, the work done by Sri Aurobindo will definitely help us to look at the subject from a new angle and lead us towards a new world where the science of language gets a firm grounding, far from conjectures and imaginations.

References

1. Sri Aurobindo, *The Secret of the Veda,* SABCL"5 Vol. 10, p. 46
2. Ibid, p.562
3. Sri Aurobindo, *The Hymns to the Mystic Fire,* SABCL, Vol.II, p.505
4. Ibid.
5. Sri Aurobindo, *The Secret of the Y&da,* SABCL, VoL 10, p. 562
6. Ibid, p.563
7. Ibid.p,566
8. Ibid,
9. Ibid, pp.566-67
10. 1bid.p,566
11. Ibid, p. 565
12. Sri Aurobindo, *The Supplement,* SABCL, Vol. 27, p. 168
13. Ibid.
14. Sri Aurobindo, *The Secret of the Veda,* SABCL, VoL 10, p. 574
15. Ibid. p. 572

****

16. Ibid.

17. Ibid, p.573 IS, Ibid.

19. Ibid, pp.575-76

20. Ibid. p,576

21. Ibid.

22. Ibid. pp.576-77

23. Ibid. p.577

24. Ibid. p.570

25. Ibid. pp.580-81

Sampadananda Mishra
Sri Aurobindo Society
Pondicherry - 605001



Kasiraj Mahasena
of Banai a Critical Review

Dr. Sudarshan KumarSharma

Bana in Harsacarita ucchvasa Vi austioning Harsa against his universal confiding -ness illustrates a historical incident which narrates the killing of Kasiraja Mahasena at the hands of his queen Suprabha. Who lured in to confidence the king as a devoted wife and administered poison mixed with madhuraka coated groats or fried grams when having the king gone hilarious owing to liquor taking.

Messrs E B.Cowell and F.W. Thomas translate "inadhumoditam" as sweet toothed " king of kasi M.M.P.V,-Kane translate as-" Exhilarated with wine" and "madhurakalas visam suprabha lookup this act in order to anoint her son as king. Bana calls it the deliberate act of connivance meant to achieve a capricious end by way of an internal schism, on the part of a woman when having strained relations with a husband. [Pramadakrtah Pramadah Preceded by Pramattanam [HC-vi P697 LL1-2 JNVSE]

V-S Apte(Skt Eng dictionary interprets [Madhu-rakahias] 1. Red sugar cane 2.rice 3.A kind of sugar or Mollasses 4 Asweet drink or syrup 3.Poison; Sir Monier Williams (Skt Eng Dictionary) interprets it as a kind of drug (jivaka).

Hemacaudra in Nighantusesa edited by "Muniraja punya vijaya ji with vaconacarya vallabhaganis comneutary also takes madhuraka as a synorym of jirvaka.

"Kurcake Saogakah sarjo Qirghayuh Kurca Sirsakah mangalya namadheyarca jivakah priyajivkah ..hrasvang mdhurakah pranakacira jivyapi and

bhavaprakas a nighantu "in Guducyadivrga 55says; jivano mdhuras capi narnna sah parikirtitah jivanyaganah proktah, sukrakrivirhano himah R.D. Karmarkar in Bana p.43 (chapter IIB) Says : -

22 Mahasena (King of Kasi) — Was poisoned by
Fond of wine — Suprabha who
wanted o secure the kingdom for her son.

Suryanarayana Chaudhariia in his Hindi translation of Harsacarita part II [V-VIII] takes "Lajaih to mean "visalipta lava" and so does Acarya Jagannatha Pathaka construe the "lajas" as "lavas." Kautilya and Kamandak in Arthasastra 1 20.16 and Nitisara VII 52 have referred to this very incident without naming the king as well as the queen -as under.

"The queen -killed the King of Kasi by mixing firied grains with poison under guise of honey and "Having mixed fried grains with poison, and having lured him with honey or wine, the queen killed the great lord of Kasi when gone in isolation.

Vatsyayana in Kamasukra (V-5-29) has referred to kasiraja jayasena killed by the asvadhyaksa "abhiram hi kottarajam parabhavanagatam bhratr prayuk-to rajako jaghana, kasirajam jayasenam as-vadhyaksah".

jayamangala tika of nitisara.

"tathah-avoparuddha bandhuta kopa tapta devi balat karenabhigacchantam, ekadavisanisra-lajabhojane madhura misra miti vilobhya bhojayitva svayamaksata kasirajaendram nijaghana".

Jayamangala's allsion to "ahavoparuddhabandhuta kopatapta devi" is quite an important one. It will help us in interpreting the real significance of the history of "kasiraj's (Brahmdattas) illustrated by palijataks (texts) such as khuddaka nikaya, (Nalanda Devanagari paligranth mala-suttapitaka parts I and II, anguttara Nikaya referred to by R.B. Pandeya (Indian Historical Quarterly volume XXXVII No 4 December 1962 history of Kosala upto the rise of Mauryas by Vishudha Nanda Pathaka.

A parallel incident of a queen killing her husband to wrest kingdom for her son has been illustrated by Somadeva suri in Yasastilaka campu as under also repeated variantly in Niti Vakayamrtarn.

"sruyate hyatmanah kila svacchanda vrimicchanti visadusita madyaganduscna manikundala mahadeviyava neesu nijatanujarajyarthamaja rajam jaghana."

In yasasti laka campu Somadeva refers to Ajarajaas the name of the king and in nitiva kyamrtam he refers to it as "Rajanama ngam"Varathamihira in Brhatsamhita 78

"Visapradigdhena ca nupuren a devi Virakta kila kasirajamr. (jagham)

The incident referred to by Sana as a definite mark of happening appears to be more reliable as referred to by Kautipya and Kamandaka, the later two writers omitting the name proper of the queen as well as the king since Kautilya's allusion easily tallies with that of Bana, we may have to consider the historicity of Mahasena as a king of Kasi killed by Suprabha before the 4th century B.C.period.

Bhasa in Pratijnayaugandharayana(PRV) Act-llhas referred to Kasiraja whose upadhyaya jaivanti came as courier for the the hand of Vasavadatta to Ujjayini sking pradyota Mahasena who tactfully put him off because he had taken to the ruse of the sham tusker for enticing Udayana of vatsas for making him woo his daughter by personal contact"

In act VII of Avimaraka Bhasa refers to Sudarsana as the queen of Kasiraja again kept as unnamed though Jayavarma has been styled as the reigning king being her second son, the first son Visnusena alias Avimaraka heving been the adopted son of Sauviraraja having Sucetana, her younger sister as the queen, Sucetena having lost her own son immediately after his birth.

Karangi and Sumitra have been mentioned as the two daughters of Kuntbhaja son of Duryodhana, the king of Vairantya, who were married to Visnusena alias Avimaraka and Jayavarma respectively. Karangi being the

daughter in law of Sauviraraja and Sucetana and Sumitra that of Kasiraja and Sudarsana.

"Pita Kurangyah bhupalo

Vairantyanagares-Varah.

Duryodhanasya tanayah

Kuntibhoj bhavan nanu."

The author of Vinavasavadattam a drama in 8 acts having the theme of PRY (Pratijna Yaug andtiharayana) repeated in a different lighte of incidental delineation, refers to Kasiraja as Visnusena, Jayavarma as king of Madhura and Sanjaya as that of Asmaka Dasaka as that of Magadha, Jayaratha as that of Anga, satamanyu as that of matsya and subandhu as that of sindhu.

In malatimadhava Bhavabhuti refers to the incident of the father of Vasavadatta (obviously pradyata Mahasena - PRY Act II having Gopalaka and palaka 28 as sons and Vasvadatta as daughter and WD (vinavasa vadattam Act IV LL 16) betiothing vasava data unto sanjaya the king and vasavadatta of her own handing herself over to udayana obviously alluding to the theme of Pratijnayaugadharayana, Vinavasvadattam deriving motifs from Gunadhyas Brhatkatha represented by BKM (Brhatkatha maniari) (Katha mukha lambaka cuccha II Verses 1274 on 45-68) and Katha saritsagara (KSS) Katha Mukha lambaka tarangas 1-6pp 24-47), which also refers to Brhamdatta king of Varanasi having Somaprabha as queen and Sivabhuti as the minister apeer to Brhaspati (BKM XII) Padmavti lambaka Brahmdatta Khyoyika no PP 441-443 verses 1-32 and [KSS Padma - Vati Lambaka] taranga I verses 17-144 and taranga II verses 1-156, taranga III verses 1-95 taranga IV verses 1-182, taranga V verses 1 -197, verses 1 -219 pp.538-565).

Brahmadatta king of varanasi having Somaprabha as queen as illustrated by Gunadhya (BKM and KSS) can help us take up the identification of king Mahasena having the title Brahmdatta inherited from the, earlier king the founder king having Somaprabha of Suprabha as queen Bana having given a

shortened name as Suprabha aor a scribal error in the Harsacarita or some son of Brahmddata and Suprabha as Mahasena heving Suprabha as queen taking to the treacherous crime.

If reliance is to be given to the illustration of Bhavabhuti in Malatimadhava combined with the illustration of Bhasa then Sanjaya see Ms to be the Kasiraja of Bhasa referred to in Pratinayauga Avdharayana whom Mahasena had promised the hand of Vasavadatla but had to change his mind in light of vasavadattes unwillingness for him. But VVd (Vanava savasdattam) refers to Sanjaya as Asmakesvara.

The omission of name by Bhasa of Kasiraja in Pratijna Yaugandharayana and Avimaraka and express mention of Jayavarma as Kasiraja makes it clear that Jayavaram was also a Kasiraja son of Kasiraja unnamed as such husband of Sudarsana. The author of Vinavasacvadattam takes Jayavarna as king of Madhura and takes Kasiraja as Visnusena in all probability an elder brother of Jayavarma of Bhasa.

In Avimarka Kuntibhoja has been explicitty mentioned as the King of Varantya in VI.13 p.182 but his queen has been left unnamed by the poet and has been surely called as Devi in Act - I (pp.110, 111, 113, 114). The expressions of Kaunjayana and Bhutika the two ministers husbands of the Svami i.e. king Kuntibhoja and were fit for a kinship by way of a material tie clearly indicates the point of peevalence of marriage witht the maternal uncle's daughter even by the northerners even when Sukracarya in Sukramitih establishes such a custom among the southner's atha Devyah bhrateti sauviranarendra Gunadhitkoh".

Bhutika's statement may be noted here

"Our secret agents says or report that "Hishonour along with his son is not seen, the ministers discharge his functions; there is not any reason for this and entrance into the royal house hold is not allowed, as they say " Now Sauviraraja being brother of queen of Kuntibhoja and being the husband of sister of the latter bring to married to Kuntibhoja and the latter's sister

married to Sauviraraja as Sucetana referred to in Act VI p 183 LL 21-24] (BNC).

Visnusena obviously a son of Kasiraja from Sudarsana handed over to Sucetana sister of Sudarsana on the expiry of Sucetana's son on his very birth, makes him the adopted son of Sauviraraja The explicit mention of Jayavarma as Kasiraja in Act VIp 184 LL 22-27) makes Jayavarma's father Kasiraja as an expired one. In Act 1,10 verses also Sauviraja not being seen along with his son, the minister functioning in his place even allow a surmise that Sauviraraja was also an expired king Kasiraja (PRY Act-II) having sent Jayavarma or Sanjaya as per statement of Bhavabhuti's Malati Madhaval, Sanjaya having expired and Jayavarma later on Surviving to get the hand of Kurangi but getting the hand of Sumitra younger daughter of Kuntibhoja and younger sister of Kurangi make historical facts a jumbled medley.

Author of VVD takes Visnusena as Kasiraja wooing the hand of Vasavadatta but ignored and Sanjaya Asmakalord also ignored.

Bhosa and the author of WD agree only on taking Darsaka as the king of Magadha and Aruni as the pancala king.

Bana has referred to the Vairantya king as Ranti Deva killed by Vallabha out of Wrath for a co wife by a bejwelled anklet and Sauvira king Virasena killed by Kam savati by a cincture gem inlaid over her waist smeared with poison Kautillya in Kasi 20-16 refers to Vairantya killed (by the queen) by an anklet smeared with poison) and the Sauvira King by a gem inlaid in the zonegirdle.

Kamandaka says -

"Visadigdhena Sauviram mekhalamanina nr-pam nupurena ca vairupyam.

Jayamangala to KNS says :-

"tatha Sauvirarajam parantap a namanam ativakparsyo patapita tammanyumoksa rhini Devi Svayamagada Prakrta Pratikara Sparsa visadigdhema mekhala manina pranayakaopat kilahatya jaghana tatha sapatibhirmithyabhisasta

****

vipaiyapogrhita visadigha bahih parsvena nupurena kridanti Kilahatya vantirajam vairupyam devi jaghana.

Upadhyaya nirapeksa tika to KNS Says -

Visaktena mekhala manina Sauviravi saya dhipam nupurena vairantyam of Kautilya and Jayamangata refers to Sauvira raja as parantapa and Vairupya king of Avanti Upadhaya niraopeksa tika refers to a king named Raivatyaka, killed by an anklet. R.P. Kangle quoting Jayamanogala and Canakyatika of Bhikshu Prabhamati on 2.1 to 3.1 refers to Parantapa as the name of the king of sauviras, Varahami[illegible]a in Brhatsamhita78.1 p475 refers to Kasiraja as the victim of poisoned Nupura (visadighena ca nupurena devi virakata kila Kasirajam.

R P. Kangle is quoted by Bana in Harscarita verbatim as naming Kasiraja as Mahasena and his queen as Suprabha.

Bhea's allusion in PRY to Kasiraja (un-named) having sent his upadhyaya Jaivanti for the hand of Vasavadatta and Kasiraja having queen as Sudarsana mother of Visnusena and Jayavarma, having queens as Kurangi and sumitra, Sauviraraja having queen as Sucetana being the sister of Kuntibhoja king of Vairantya, son of Duryodhana, father of Kaurangi anmd Sumitra, Suviraraja sister being the queen of Kuntibhoja all make a mess of historical facts.

R.B Pandeya in his aritcle entitled "A note on the Brahmadattas of Kasi, published in Indian Historical quarterly XXXVII No. 4 December 1962 on the evidence of Palijatakes refers to six kings of Varanasi besides Brahmdattas as named Uggasena, Dhanajaya, Mahasilava Sanyama, Vissasena and Udayabhadra and on the evidence of VayuPurana and Visnupurana as named- Yogasena, Visvaksena, Udakasena and Bhallata. Vayupurana having "Yogasunuh" word in place of Yougasena noted by R.B. Pandeya in the edition of Vayupurana p.376 verses 180-182 Visnupurana IV 19 45-46 Omitting Yogasena alias Yogasunuh and naming Bhallabha in place of Bhallata as son of Visvaksena (p.375 Gita press ed. Gorakh Pura. H.P. Poddar-1961).

Of the Jatakas Gangamata jataka refers to Udaya as the king of Varanasi, Brahmdatta Jataka refers to Brahmdatta as king of Kasi, Vayupurana 99. 454 refers to a hundred Brahmdattas, Brahmdatta referred to in Darimukha Jataka was, originally a Mugadhan Prince. R.B. Pandeya refers to he frequent failure of heirs of the kings of Kasi (aputtakam rajakulam). That is why the Magadhan, Videhan and Pancatan stock of princes adopted as such assumed the heredity of Brahmdattas of Kasi, Brahmdatta being a general title of all king sowing it from then primeval King Brahmdatta.

"Mutthohim Kasirajena Vedehena ya sassina" in matuposaka jataka refers to the Kasiraja as of Videhan lineage, Sambtih jataka refers to Sotthisena prince son of Brahmdatta of Kasi.

"Yoputto Kasirajasa

Sotthisena tti tarn vidu.

Dr. Sudarshan Kumar Sharma
Ppo. No. S3876/ PB,
HIG block- 61/B-3, Sec-8
PARWANOO (H.P)-173220



Sanskrit Scholoars of the Family

Dr. Udaya Nātha Jha "Ashok"

The history and culture of Mithiltā has heen rich and colourful through the ages. I. has found mentioned in the ancient literary names such as Mithilā, Tirahuta, Teerabhitkti, Videha etc. It has heen referred several times in ancient texts like the Mahābhārata, the Brahmapurāna, the Yājyavalkyasmrti, the Harivaṁsapurāna, the Rāmāyaṇa, the Skandapurāṇa, the Viśṇupurāṇa etc. As such the bulk of Sanskrit Literature constituales a remarkable contribution to its various branches which awaits both extensive and intensive investigation to have an assessment in their proper prospectives. A few of such noted authors and their literary works are taken up here for creating a general awareness among the scholars and critics as well.

One of ihe outstanding families which have contributed to the advancement of Sanskrit learning in Mithilā is the family of Māithila Śrotrya Brākmanas of Vatsagotra, originally settled in village Behata, Jhanjhāraputa, Tarauni, Naruāra, Analapura, Ahapura, Majhaurā, Bātha etc, in the North Bihar of India, But only the Behata branch of the karaṁahā family abounds in Sanskrita scholars of note here.

It has produced a large number of scholars possessing the honorifie titles of Mahāmahapādhyāya, Mahopādhyāya, Sadpādhyāya etc, one has got the title of Dārsanika-Sārvabhauma appended to his name while another has Vaiyākarana-Kesari and a third has Sarvatanta attached to the name.[1]

The grandson of Mahāmahopādhyāya (Mm.) Gañgesa Upādhyāya,

the author of the Tattvacintāmaṇi in Nyāya was named Divākara (Rājavardhana) Upādhyāya alias Bāchc Jhā. He was Mahopādhyāya. Divākara's sons were Mm. Māṇika (Manivardhana) Upādhyāya alias Mānū Jhā and Mm. Bhavavardhana alias Bhave Jhā. Māṇikopādhyāya or simply Māṇika is famous for his only two dramas. The Rāghavānanda and the Bhairavānanda, written on ihe theme of the Rāmāyaṇa and Tantra.[2] Māṇika is more remembered as an elegant poet, capable of turning out harmonious verses, than as a dramatist in proper sence. He has also composed "Manisara" on Sanskrit Poetics.[3]

Mm. Mānū's son was Mm. Hṛṣīkeśa Jhā, a great scholar of Nyāya and his younger brother Jayadeva Upādhyāya was the author of Rāmagītagovinda. Jayadeva is a most important name in the panel of lyric poets of Mithilā. He is lauded as the master of sweetest lyrics in Sanskrit literature. He is rightly claimed as the ushere of a new era in Sanskrit through his best mounmental work, the Rāmagītagovinda.[4] His songs had not only augmented a new era in Sanskrit poetry but also had far reaching effects on the vernacular literature of India. The Rāmagītagovinda Kāvya begins with a benedictory verse, praying for the victory of the secret sport of Vaidehi and Sri Rāma. This is followed by a self-introduction of the poet Jayadeva, the type of the poem he is going to compose, reference regarding the poetic styles of his predecessors and contemporary poets and the theme of the work under preparation. He has also composed the Tripurasundaristotra.[5] It contains fifty one verses. His elder brother Maho. Hṛṣikeśa composed commentaries on Kāvyaprakāśa and Dhvanyāloka.

Mm. Rāghava Jhā had six sons, namely Mm. Vamśidhara alias Baṇāi Jhā, Mm. Bābu Jhā. Mahopa. Virāi Jhā, Bābi Jhā, Mm. Harihara and Mm. Nilakantha alias Srikantha Upādhyāya. Rāghava Jhā has composed a commentary on the Hemādri, entitled Bhārati, Chandahkalpataru, Kāvyāprakāsāvacūri, Vāgabhatālamkāravacuri etc.[6]

The brightest star in the galaxy of Sanskrit Scholars of the Karamahā Behata family is, no doubt, Mm. Hariharopādhyāya, who kept the glow of intellectual luminosity undiminished throughout the whole of his life and wrote over five standard Sanskrit works. Prominent among them are : Bhartṛharinirvedanātaka,[7] Prabhāvati-Pariṇayanātaka.[8] Harharasubhāsitam,[9] Muktavali Commentary[10] on Adhikaraṇakaumudi, of Devanātha Thākura and Nyāyamuktāvali.[11]

Mm. Harihara was a great poet, an accomplished dramatist and prolific writer. His Bhartṛhainirvedanātaka is very important work in Sanskrit. The late Prof. M. Krishnāmāchariyār his rightly observed as follows : "Bhartrharinirveda is a play which glorifies the Yoga Philosophy teaching that summum bonum is the discrimination and seperation of soul from matter, thus leading through renunciation of the world to isolation of the ago. It has santa for its sentiment. The leading man is the famous ascetic Gorakśanāthaor Gorakanātha (regarded as the incarnation of Śiva), the founder of the Śaiva Sect of Kanfat Yogis is in the early part of the 15th century A.D. His chief temple is at Gorakhapura (in U.P.) less than 300 miles from the house of Harihara. It is said that Bhartrhari became upect by the sudden demise of his consort. On hearing a false news of his dealth he was consoled by a yogin and he atteined such a condition of renuciation, that even when his dead wife was recalled to life, he had lost his attraction for the world.[12]

Prof. M. Winternitz has also observed. "An instructive composition of a different type is the drama Bhartrharinirveda (the drama of Bhartrhari's disgust)... It is a peculiarly dramatised legend that belongs of ascetic poetry of whiet we have found so many proofs in the Epie, Puranie, Budhist and Jana Literatures.[13]

His younger brother Nilakaṇtha alias Śri Kantha cemposed some

books, Jatakapaddhatih Madhyamagrahasiddhih and Todarananada or Jyotisasaukhyam.[14] The manuseript of Jyotisasaukhyam is preserved in the KSD Sanskrit University Library, Darabhangā in Bihār. The Jatakapaddhatih and the Viadhyamagrahasiddhih are also publised from Bombay and Bihar. Mm. Larihara refers to him in the following verse of his drama entiled Prabhavatipariṇaya.[15]

"Prādurbhūya purogireriva hrsikeśatkrti rāghavo
Yastigmadyutivad chvākaramahāvarhśe didipedvijah/
Yā lakśmiratha maimilādbhavat Vidyāvadātātmanā-
Stābhyāmudbhavam pathuh Kuśalavaprakhyātagotrausutau.

Esatayoh rathamajena nijāujāta
Śrinilakaṇthakavika chavibhūsaṇāya
Govindasūnu guṇagonphanisaktasūkti
Muktāvali harihareṇa cireṇa cirṇā

The Alarnkārasamodgaka of Mm.

The Alārhkarasamotgaka of Mm. Indrapati Upādhyāya is a work on poetics dealing with Lakśaṇa. The author of the work is Mm. Indrapati, the author of the Mimāṁsārnsapallvalaṁ.[16] He was the son of Mm. Rucipati and the grand son of Mm. Nilakaṇthopādhyāya. Another work of Indrapati related to Mimāṁsā is Vidhivivekaprakāśa, a commentary on the Vidhiviveka.[17] His Rasamārtaṇda[18] is a unique work in the poetic. In this work Indrapati has introduced twelve Rasas, called Śanta, Vātsalya, Māyā, Urjaśvi etc. His son Mm. Krsnapati was a great philosopher and poet. He worte some songs in Māithili. Mm. Ramāpati (Ramanū) was the son of Mm. Kṛsṇapati. He was the author of the Narendravijayakāvya and his son Jhalahana's only contribution is his Sanskra commentary on the Vyutpattivāda 'Jhalahani' by name,[19]

Mm. Vaṁsīdhara's three sons were Mahopādhyāya Mahinātha. Mahākavi Kamalanayana and Mm. Kavi Jayakrsṇa Upādhyāya. A court-poet of the royal Khaṇḍavalā dynasty, Kamalanayana enjoyed the patronage of a series of rulers of the said dynasty. His mellifluous songs become a bone of contention. His younger brother Mm. Jayakrsna wrote a devotional poem entitled Padyaratnamāla.[20] He has written commentaries on the Rasamanjari, Kavyaprakas, Harsacarita[21] and also on the Khandanakhandakhadya in Vedānta. One drama Dhruvacarita is also aseribed to him in Sanskrit. Mm. Jayakrsna's son Sadupadhyaya Jagannath Jha was a great scholar of Indian philosophy in Mithilā. He was also a poet and dramatist. He was also commented upon the Kāvyaprakāśa and one Tripurasundaripancasti is also ascribed to him.[22]

He had six sons namely Nārāyaṇadatta, Bhavānidatta, Durgādatta. Veṇīdatta, Gangādatta and Kamādatta. Jagamnātha's two sons Bhavānīdatta and Veṇidatta were Mal Malamahopādhyāya as well as other two Jyetrivid Nārāyaṇadatta and Maladāra Kamādatta were Mahopādhyāya. Mm. Veṇīdatta was a great poet in that time of Mithilā. Bhavānidatta has composed the Sāhityālaṁkara of the concluding verse of the Sāhityālaṁkāra forms us that the author had written a drama, but the unfortunately it is not available. His younger brother Mm. Veṇīdatta was the author of three poetic works, viz. Rasamahārṇav Rasakaustubha[23] and Alaṁkāramanjari.[24] He had also composed the Virudāvali, probably to eulogize his brother-in-law and patron. From this work a verse has been quoted in the Alaṁkāramanjarī. Veṇīdatta has also composed the Śrikrsnaleclānātaka[25] and the commentary on Kavyaprakas.[26] Venidatta's cldest brother Jyotirvid Nārāyaṇadatta also wrote a Bālalambodarāstaka a Stotra-Kavya.[27]

Mm. Bhavānidatta's two sons Krsnadatta and Rucidatta were Mahopādhyāya and the third son was Vaiyākaraṇa Kesari Govindadatta.

Both the sons of Maho. Krsna latta Harinātha alias Hemadatta and Gopinātha alias Gopidatta were also scholars. But Harinātha's grandson Mm. Dārśanikasārvabhauma Pt. Kṛṣṇamādhava Jhā. Vaiyākaraṇaśiromaṇi Pt. Candramadhava Jha. Ayouvedavisarāda Pt. Vijayanātha Jhā and Pt. Lokanātha Jhā were great scholars in different sastras.

Mm. Kṛṣṇamidhava Jhā was born on April, 1898. Paṇḍita Buddhinātha Jhā (He was nick named Govardhana Jhā) was his father and Bhāgyesharīdevī his mother.[28] He was the representative philosopher of the present century, the last great philosopher of Mithilā. His erudition fetched for him the honorific Dārśanikasārvabhauma. Sarvatantra-svatantra and Mahāmahimopādhyāya.[29] He has composed Siddhāntalakśaṇasubodhinī Dharmaśastreṇa mànmāsavichārah. Alaṁkāra mīmāmsā. Alaṁkāravidyotanarth, and also a commentary on the Paramalaghu-manjūsa entitled Tattvaprakāśikā. The Rasagangādhara-tāriṇī and Khaṇḍanakhaṇḍa-tārinī etc. are among his prominent comentarial works.[30] He passed away on march 5,1985. According to he popular tradition his grandfather Hemadatta Jhā was the author of the Śrīrghāvakānteśvaranāthastotra and a commentary on the Kāvyādarśah entitlet Hṛdayaṁgamā. Dr. Kisore Nātha Jhā, son of Mm. K. M. Jhā is a distinguished professor and Philosopher who viewed life from an idealistic stond point and contributed a new interpretation to life's problems. His creativity can be seen through a close scrutiny of his many works.

References

1. Panjiprabandha (The Gencological Recordsof Brahmanas in Mithila.)

2. Srimannaryana Dvivedi, Bhairavandanataka, into p.6, Attahabad : & Sarasvata Kusumanjali, Ed. Dr. Kisoreantha Jha, Darabhanga-1994

3. Sushma Kulashreshita Jewets om Samskrit and Musieology Estern Book Linkers. Delhi, 1995. p.336

4. Prabhata Shastri, Ramagitagovinda,Devabhasha Prakashana, Prayaga,197

5. Krsnamadhavacintamani, Jha Govinda Jha Kuktinatha & others, Sarisab-pahi-1995, p.156

6. Ibid, p.132; Kulashreshtha, op. cit. p.336 and alamkarasamudgaka Trams By Jha Sasimatha. p.30

7. Nimayasagar Press, Bombay-1892. Kavyamala-19

8. Mishra Ramachanra, chaukhaba Sanskrit Series office, Varanasi-1969

9. Nimayasagar press 1914 and Jha Ramanatha, The Newspapers & Publications Ltd. Patna-1949

10. Saraswata Kusumanjali, p.425, Saraswata Susama, Ed. Sivavansa Pandeya, Patna, 1997, p.199

11. Ibid

12. Krishanmachariar Mm History of elassical Sanskrit Literature, Motilala Banarasidas, p.317

13. Wintemitz M., Histor of Indian Liternature, Vol.3, p.289-91

14. Krsnamadhavacintamani. p.132

15. Prabhavati Parinaya. p.4

16. Jha Kishorenatha. Ganganatha Jha kendriya Sanskrit Vidyapitha, Allahabad, 1977

17. Alamkarasamudgukam, Intro p.33; Krsnamadhavacintamani, p.132; MSS Library, Badodara. BCC/SK 3097/3-8

18. Alamkarasamudgakam, Into p.33; Research worked by Vinayaka Sankararao Patel from Gayakawad University.

19. Alamkarasamud, Intro. p.32

20. Krsnamadhavachintamani, p.156

21. Sanskrit Sangit Jagadishvari, BBL. Delhi, 1995. p.338

****

22. Krsnamadhava cintamani, p.157

23. Avasthi, Brahmamitra, Indu Prakashana. Delhi-1978

24. Jha, Badarinatha, Mathila Reaseach Instiute, Darabhanga-1961

25. Saraswata Kusumanjali. p.420

26. Jha, T. N., Contribution of Mithila to Sanskrit Kavya & Sahitya, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, p.135

27. Krsnamadhavacintamai, Op-eit. p.156

28. Ibid p.4

29. Ibid, p.14, 19

30. Ibid. p.9-11

Dr. Udaya Natha Jhā 'Ashok'
Rāsṛtriyasanskr Tsansthān,
Deemeduniversity, Sadāshiva
Campus, Puri, Orissā-752001



Verbs and their forms in Russian and Sanskrit : A Brief Comparative Study

Prof. Sadashiva Khaware

This paper attempts to study te verbs and their forms in Russian and Sanskrit at morphelogical level in order to find their kinship, differences as also distinctive features in synchronic scheme.

Verb is very complex and important part of speech in Russian. Vinogradov considers it a highly complex and capacious grammatical cateory. Dudnikov, Zemskiy etc too concur with his view. The Russian grammarians Juxlapose the verb to the nominative words (nouns, pronouns, adjectives etc.) Vinogradov refers to the ancient Greeds in Plato, Ariste whose on grammar the Russian sccepted and adopted.

In Sanskrit two words are classified as (a) meaningful and (b) nonsensical ones. Meaningful words are further divided into the Dhatus (Verbal roots). Pratyayas (Suffixes) and Prstipadikkas (nominatives). Thus here also we find that the verbs are Juxtaposed to the nominative words as refered to in 'Arthawadadhaturapratyayah pratipadikam' i.e. those meaningful words which are neither 'dhatus' (verbs), hor 'pratyayas' (suftixes), are called 'Pratipadikas' (nominative words).

Both Russian and Sanskrit belong to the same Indo-European family of languages. The former isa relatively recent language whereas later is an ancient one, rather most ancient. There is a striking resemblance between the two at different linguistic levels which prove their affnity.

Let us take, for example, some verbs randomly in the two languages and compare them at the root and semantic levels.

In Sanskrit there are three categories of numbers, denoting 'single' 'double' and 'multiple' numbers. The point will be clear later when will take up the conjugation of the verbs in the two hlanguages.

In the process of conjugation of infinitives in both the languages the inflections keep on changing according to number, person and/or gender. In Sanskrit the infinitives ending in a consonant take inflections directly, e.g. 'pat' and 'jiv'... 'patati, patatah, patanli, jivati, jivatah, jivanti.' The infinitives ending in a vowel transform their stems prior to taking inflections (eonjugation) : 'pa, da' In case of 'pa' it transforms into 'pib' from which we derive the forms, such as 'pibati, pibatah, pibanti etc. Similarly 'da' transforms into 'dad/dat' from which we derive the forms like 'dadati, dattah, dadati etc. Similar features we observe in case of Russian verbs also, where infinitives take inflections directly with the stems. But before taking the inflections they drop the infinitive-marker suffixes. Let us take, for cxample, a Russian infimitive 'chitat' where-at (-1') is the infinitive-marker. In the process of conjugation this-t' is dropped and inflections like -ju, jesh, -jet, -jem, -jetje, -jut, are added according to number and person as we find the forms 'chitajut, chitajut' in third person, singular and plural numbers respectively. In case of infinitves like 'zhit' the infinitive-marker-t' is dropped and a x v - v is added to the stem, thus, making it 'zhiv'. Subsequently we add various inflections to this stem according to number and person. zhivjot, zhivut in third person, singular and plural numbers respectively. From the above examples it is also clear that in Sanskrit we have three numbers denoting single, double, and multiple, whereas in Russian we have only two numbers denoting singular and plural.

There are resemblances in the endings of the conjugations in

Sanskrit and Russian, though the style of writing them varies. This can be depicted as follows :

Sanskrit			Russian	
Person	Number		Person	Number
Single	Double	Multiple (Plural)	Single	Multiple (Plural)
3rd	,,	,,	1nd ,,	,,
2nd	,,	,,	2nd ,,	,,
1st	,,	,,	3rd ,,	,,

Let us take, for example, two infinitives one such from Sanskrit and Russian having common link and compare their endings :

Sanskrit jiv		Russian Zhit
	1st Person	
jivami-jivavah-jivamah		zhivu-zhivjom
	2nd Person	
jivasi-jivathah-jivatha		jhivjosh-zhivjotje
	3rd Person	
jivati-jivatah-jivanti		zhivjot-zhivut

First person singular number of the verb in Sanskrit has '-ami' ending and '-u' in Russian, in plural they have '-ami' and '-jom' endings respectively, in second person singular and plural of the verbs in Sanskrit and Russian we find '-asi' and '-atha' with their counterparts as 'josh' and 'jotje' In the third person singular and plural of Sanskrit and Russian respectively the endings '-ati, -anti' have '-jot' and '-ut' as their parallels.

All these show clear resemblances between Russian and Sanskrit with some alterations, of course, Further, attempts would be made to explore other similarities and differences between the verbs of the respective languages.

Russian	Sanskrit	Meaning
sidjet	sid	to sit
stojat'	stha	to stand
ljubit'	labh	to like/get (respectively)
pit'	pa	to drink
dat'	da	to give
njesti	ni	to carry
videt'	vid	to see/know
padat'	pat	to fall
plavat'	plav	to swim
vspienit'	phena	to make foam
doit'	duh	to milch
zhit	jiv	to live

The above examples instantly and apparently demonstrate affinity between the roots and their meanings in the two languages, though the forms vary. In Sanskrit the infinitives end either in a consonant, such as, sid, labh, vid, pat, plav, jiv, etc. or a vowel-stha, pa, da, ni etc. However, in Russian these end in suffixes-jet, -jat, -it, -at, etc. as in sidjet', stojat, tjubit', pit', dat', vidjet', padat' etc. Sanskrit infinitives and the stems of Russian infinitives have a direct resemblance. Addition of prefixes and suffixes to the stem is a distinct Russian feature.

At the level of conjugation also proximity between the two languages is observed. In modern Russian there are only two numbers forms-singular and plural, though at times traces of double numbers (dvivachan) are also available.

Refernces

1. Vinogradov V.V., Russkiy yazik, 2nd edition, 1972, Visshaya Shkola, Moscow.

2. Dudnikov A.V., Russkiy yazik, 1974, Proschvescheniye Publications, Moscow.

3. Zemskiy A.M. and others, Grammatika russkogo yazike, 2nd edition 1948, Cosudarstbennoe uchebno-pedagogicheskoeizdatelstvo ministeretve proschvescheniya, R.S.F.S.R.Moscow.

4. Saraswati Swamin Prajnatirtha, Sanskrit Prabôdhini, 1st edition, 1993, Bihar Yoga Vidyala, Munger (Bihar).

Prof. Sadashiva Khaware
Head, Department of Russian
language, B.R.A. Bihar University,
Muzaffarpur-842001.



The Gītagovinda of Jayadeva : A Model

Dr. Gopal Krishna Dash

Bhartṛhari has classified the artistic presentation of the human being into three specific compartments, which constitute the frame of culture. The cultured man is superior as he relishes the flavour of Sāhitya, Sarigīta and Kalā (साहित्यसङ्गीत कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः, भर्तृहरिः, नीतिशतकम्) These three elements have been ideated and have been specified as three distinct sections of the Department of Culture. In the context of the study of Jayadeva's Gitagovinda, (GG) it is quite notable to include Jayadeva as a model of culture and Orissan culture in particular. The GG has uniqueness as it is Sāhitya. Saṅgita and Kalā. It is an artistic and generic composition. It has musical accomplishment and has been effectively reflected in fine arts (paintings, fine craft in silk sarees etc). Jayadeva's GG is exceptional and has the quality to justify its uniqueness. Jayadeva, the last of the ancients and the first of the modern Indo-Aryan literature belongs to the transition of two ages marked by passing classical classical age and the advent of new vernacular age (S. K. Chatterijee, 1973). Jayadeva, Sahitya Akademi, p.i). The vaisnavism of typical Orissan nature has been reflected in the GG. Vaiṣṇavism was gaining popularity of Utkal during the Gaṅga emperors like (Kāmārṇava Deva (1147-1156 CAD). Rāghava Deva (1156-1170 CAD)and Rājarāja Deva (1170-1190 CAD) The time is a great factor which has its impact on the composition of the GG. In the present paper, some observations are made on Jayadeva and the GG.

Gītagovinda as a Kāvya

GG is a Vilakṣaṇa Kāvya as it does not fall under the scope of any

definition (kakṣaṇa). It has twelve contos but it cannot be identifed as classic Mahākāvya in strict sense of the technicality. It is a Misra Kāvya but cannot be categorized as Campu. It is both dramatic and poetic in nature.

It is a Miśra nibaddha Kāvya which can be sung and exhibited with enactment of dance. It is also a Miśra nibaddha Kāvya so far as the metres are concerned. The metres of akṣara and mātrā are skillfully integrated. The mātrā-chanas used in GG are rarely used in Sanskrit Kāvyas. The metre of Padhati (Pajjhatikā) has been used. The contemporary use of antyānuprāsa in the local apabhramsa-Kāvyas has direct impact on GG. The poet has deviated from the accepted line and composed a Kāvya as an experiment and became a successful role model-

It has bee mentioned that it is a Prabandha-Kāvya but the definition of Prabandha Kāvya was developed on the basis of the GG at a later period in the Sangīta Nārayaṇa (1681-1702). It is obvious that the angas of a Prabandha Kāvya are not maintained in the GG. A Prabandha has four dhātus such as Udgrāha, Melāpaka, Dhruvā and Abhoga and six angas like svara viruda, pada, tenaka, pata and tāla. Lakṣmaṇabhatta (middle part of 18th century), author of Rasikaraṅgadā commentary on GG puts in under Vṛtta Prabandha Kāvya. Some like to keep it under the category of Citraraga-Kāvya of (शृङ्गारप्रकाश Śṛṅgāra Prakāśa) of Bhoja (11th CAD). Modern critics are interested to designate it as lyrical Kāvya. But the GG does not follow the characteristics of any such category. It does not follow the ancient definitions nor it can be substantiated by the lakṣaṇas developed at a later stage. Meghaduta is popularly known as KhaṇdaKāvya Viśvanātha Kaviraja (14th-15th CAD) had defined Khaṇḍa Kāvya and lategorises Meghaduta under it. There after Meghaduta was popular as Khaṇḍa kavya. A defintion with post facto origin cannot engulf an ancient Kāvya under its scope. The same thing arises in case of the GG. It is a Kāvya but विलक्षण

****

Kāvya in the sense that it cannot be scrutinized by any ancient definition of poetics. The question of substantiating with definition of later origin is simply invalidated as the scope does not arise. Jaydeva's experimentation of Saṅgita Kāvya in Sanskirt in unique. He experimented the pervalent contemporary apabhraṁśa-style. The apabhraṁśa compostions like caryā paddhati and mangala-gitas might have influenced the GG. Saṅgita Ratnakara of निःशङ्क शार्ङ्गदेव (1210-1247 AD) or Saṅgita Narāyaṇa of Jagannatha Nārāyaṇa Deva (17th CAD) cannot be taken as influencing factor. The Prabandha-Kāvya of the prevalent age integrated with the apabhraṁśa (Vernacular) composition probably have influenced Jayadeva to compose such Kāvya which stands beyond the scrutiny of any specific defintion and was left to the test and taste of connoisseurs for its success and came out successful with glorious imprint. The researcher may try to trace out that during that period maṅgala-gītas in Orissa were composed in folk-tradition and that tradition of Oriya maṅgala-gīta integrated with Vṛtta Prabandha Kāvya of Saṅgita tradition has been picked up by a genius of the caliber of Sri Jyadeva Paṇḍita Kavi to skillfully compose an immortal Kāvya in the form of the GG.

Mādhavism

Jayadeva has become the source material to conceptualise the Mādhavism. The images of Madhava were worshipped in the praci-valley credit goes to Jayadeva for popularizing the Mādhava concept in literature. Mādhavism has been coined on the basis of the GG. The popular image of Viṣṇu with the conch, disc, mace and lotus has got a transformation in Orissa. The upper two hands are adorned with the conch and disc and lower two hands are with a flute. Four handed Viṣṇu has got a new integrated image of Viṣṇu-Kṛṣṇa The Vissnu and Krsna are identified with one image, i.e. the Madhava image. Visnu Krsan is recognized as Mādhava Jayadev's Kāvya has philosophised the Mādhavism of Orissa. Mādhava

(Mā-Lakṣmī, dhava-husband) is Viṣṇu. In the Mādhavism one finds the identity of Viṣṇu with Kṛṣṇa, so also one will be enlightened to know that Lakṣmī is also identified with Rādhā. The word Rādhā-Madhavayah in the first verse of the GG is very significant. राधा चासौ मा चेति, राधामा (मा = लक्ष्मीः, राधा - लक्ष्मीः) सा च धवश्च, राधामाधवौ तथोः Jayadeva does not see any distinction between Viṣṇu and Kṛṣṇa and Lakṣmī and Rādhā. It supports the concept of Mādhavism in the field of Vaiṣṇavism. Integrated concept of Viṣṇu-Kṛṣṇa and Lakṣmī-Rādhā has typical Orissan flavour and which has been attested by Jayadeva in the followed descriptions like

1. श्रितकमला कुचमण्डल (1.17)

2. पद्मावती चरणचारण चक्रवर्ती (1.21)

3. पद्मावती (राधा पद्मावती

पद्मा पद्महस्ता च विस्तृता)

3. पद्मापबोधरतटी (1.25)

4. नागरनारायण

5. विलक्षलक्ष्मीपति

6. चतुरचतुर्भुज

These words justify the secret of the identity of Viṣṇu-Kṛṣṇa and Lakṣmī-Rādhā which can be safely presented as the growth of the philosophy of Mādhavism.

The first verse of the GG

In the ancient poetics Kṛṣṇa has not been glorified as hero of Śṛṅgāra Jayadeva's description establishes him as the hero of Śṛṅgāra. This Śṛṅgāra cannot be analysed in the light of the Śṛṅgāra depicted in the poetics. The God of Śṛṅgāra becomes the here of Śṛṅgāra.

स्थाविभावो रतिः श्यामो वर्णाऽयं विष्णुदेवतः।

It is a mystic Śṛṅgāra which was designated as Ujjvala Rasa by the later poeticians. Jayadeva also hints at this point in the expressions मङ्गलमुंज्ज्वलगीतम्।

मेघेमेदुरमम्बरम् The sky is covered with patches of clouds and is darkened in a night of the spring season. Here the moon is covered because two moons cannot play at a time. When the Absolute moon in the form of Mādhava with sixteen Kalas appears to display the mystic love-dalliance, the moon with fifteen Kalās in the sky has to disappear to enliven the eternal श्रृङ्गार, अम्बर is covered so that पीताम्बर Mādhava and Rādhā will accomplish the transcendental श्रृङ्गार which will shine the entrire creation.

वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः - बनभू does not mean the forest. It is a pleasure-garden. It is used in plural so that the श्रृङ्गारलीला will take place at different bowers of the pleasure garden. The dark colour will heighten the श्रृङ्गार in विप्रलम्भ and सम्भोग as well. When personified श्याम plays the atmosphere has to be calm and quiet with serenity of pervading blueness.

नक्तं भीरुरथं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय - Mādhava is fearful not because he is a child. He is afraid of the night for his nocturnal deeds as a शठनायक As per the information of the सखी he is having rāsa with other gopis. He is afraid of facing Rādhā. A hero of श्रृङ्गार cannot be a character of भयानक which is contradictory. Rādhā has to cast aside Pranayamana and be bold to lead Kṛṣṇa to their renowned place of Union. Rādhā has to play active role as her name is placed on first position in the word राधामाधवयोः।

तद् गृहम् - Here the pornoun तद् does not stand for any noun. It signifies the meaning of the eternal place of union which ha been glorifed in the scriptures तद् also signifies a place which is at remote place and is

not perecptible by others.

इमम् - एवम् is preferable to इमम् But इमम् suggests a powerful meaning Normaliy it is used as एषः अधीते, एनम् अध्यापय। एनम् has more closeness than इमम्। The use of words इदम् एतद्, अदस् and तद् is noteworthy इदम् is close एतद् is closer, अदस् is at remots place, तद् means not easiey perceptible or beyond perception.

इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परीक्षे विजानीयात्॥

अयम्, इयम् - mean Kṛṣṇa is at a close distance and there is access to Krsna's whereabout Rādhā has to find him out and lead him to their eternal place of Union (तद् गृहम्) गृह also meams Rādhā. As she is the गृहिणी she is the real गृह and should lead Kṛṣṇa to her. तद् means imperceptible by others.

नन्दनिदेशतः - It means on the advice of Nanda or from the place of Nanda Second meaning is contextually relevant. Nanda cannot advise her to be united with Kṛṣṇa as it does not have the propriety. The word इत्थम् serves the purpose Being so advised by सखी she had to proceed to Kṛṣṇa.

नन्दयतीति नन्दः स चासो निदेशश्च - (pleasing advice) नन्दस्य निदेशतः समीपतः। Both the meanings are conterxtually significant on the basis of श्लेष। On the pleasing advice of the female friend they proceeded to a place away from the place of Nanda.

The first line is on the sentiment Second line is about Kṛṣṇa'a role in the night and Vipralambha and suggestion is being made, on the active role or Rādhā Third and fourth are about their union. It is a mangala of Vastunirdeśātmaka type and namaskāra is also suggested.

****

Daśāvatāra

The incarnations have been described in many books and presented at many places like the Mahābhārata. (12.3.26), Bhāgavata (13.6.25, 11.7.38, X 40.17-22). Agnipurana (chs 2.3.4.5.12.16), Daśāvatara stuti of Śaṅkarācārya. Daśāvatara stuti of Kṣemendra, Daśnvatāra mathas of Kākatapura and Purī. Daśāvatāra of Jagannātha temple. In most of the places Kṛṣṇa is an incarnation. In some descriptions Balarāma is replaced by Kṛṣṇa Different kinds of Daśāvatara has also been enumerated (Śri Mahāpuruṣa Vidyā, 1984. Ed. Otto Harressowitz. Wiesbaden, Ch.1 20-29). Here Kṛṣṇa is an avatāra and Balarāma has been ignored. It is a work of post Jayadeva period. In this particular book Jagannātha is glorified. Jagnnātha plays with Ramā, the eternal consort and manifests in four Vyahas, viz Vāsudeva. Saṅkarsaṇa Pradyumna and Aniruddha. Aniruddha manifests the incarnations. Jagannatha is beyond the concept of Avatāina and Avatārm. On the wall of the Jagamohana of Puri temple Jagnnatha replaces Buddha. This is a recent construction with cement plaster. This has been made to identify Jagannātha with Buddha. This may create confusion among the future researchers. On the main temple there is the image of Buddha. So the dastavatara image of the wall of the Jagamohana should not be taken as authentic.

In most of the incarnations Viṣṇu manifests in different incarnations But Jayadeva's dasarvatara stuti has popularized Kṛṣṇa's incarnations (दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः) It is also a part of the theory of Madhavism.

Notes on Padmāvati-

पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती। (GG.1.12)

Some critics have made the interpretation of **पद्मावती** and **चारण** in the sense of Jayadeva's wife (Padmāvatī) and one who causes her feet to move in dance. The verse needs a study.

वाग्देवताचरितचित्रितचित्तसद्मा
पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती।
श्रीवासुदेवरतिकेलिकथासमेत-
मेतं करोति जयदेवकविः प्रबन्धम्। (GG, पृ.2)

Jayadeva, wandering king of bards, who sing at Padmāvati's feet, was obsessed in heart by rthythms of the goddess of speech, and he made this lyrical poem from tales of the passionate play when Krishna loved Śri. (The Gītaovinda of Jayadeva : 1984. Tr., Barbara Stoler Miller, Motilal Banarasi Dass. p.69.) I have made development on this translation with the following observation. The heart is an abode where in the glorious deeds of goddess of speech have been painted. The goddess of speech has manifested in all forms in the heart of poet of the genius. In the first line prayer has been offered to goddess of speech.

पद्मावती... - पद्मावत्याः चरणयोः चारणाः वन्दिनः तेषां चक्रवर्ती। चारण means singing actor. They wander and sing the glory of Gods and kings. चारणास्तु कुशीलवाः (Amara Koṣa, II 10.12). Bhānuji Dīkṣita interprets- चारयन्ति कीर्तिम् They publicise the glory. चारण can composed and sing. They move from place to place, narrate and popularize a glorifed story of Gods. They represent the Sūta-tradition of the Purāṇas. They are represented by the Cakuliā (or Cakadia) Paṇḍā tradition, Nātha tradition. Harikathā tradition and Baul tradition of Orissa and Andhra (Tri Kalinga) and Begal. Barbara Stoler Miller translates that Jayadeva, a wandering king who sing at Padmāvati's feet. The translation may be like this-

Jayadeva, foremost among the bards who sings the glory of the feet of Padmāvatī (Lakṣmī-Rādhā). Padmāvatī is a goddess. In the first line and third line of the verse there is reference to the goddess speech and Vasudeva. So on the strength of associationism the meaning of Padmāvatī in the

second line is contextually relevant in the sense of goddess. Padmāvatī may mean the goddess of Kenduli. Or as per the context Padmāvati means integrated Lakṣmī-Rādhā (राधा पद्मावती पद्मा पद्महस्ता च विस्तृता) In Padmāvatī Laksmi Rādhā has individual identity. In Śrī-Vāsudeva Lakṣmī-Rādhā has become the integral part in the eternal love-dalliance of Viṣṇu-Kṛṣṇa. Here Vāsudeva does not necessarily mean one of the four Vyuhas of Viṣṇu (viz, Vāsudeva, Sankarṣaṇa, Pradyunna and Aniruddha) rather its asscoiation with Padmāvatī (Lakṣmi-Rādhā) strengthens the Mādhavism in the form of Viṣṇu-Kṛṣṇa. If Padmāvatī represeents Lakṣmī-Rādhā there is no nccessity to translate Śri Vāsudeva as Vasudeva loving Śri. During Jayadeva's period Śri has been accepted as an imtegral part of a proper name. It adds the auspiciousness to the name. So Jayadeva uses Śrī Vāsudeva, Śri Jayadeva and Sri Gitagovinda. Most probably it was due to the influence of Sri Sampradaya. Śri Kṣetra, Śri Mandira, Śri Jagannātha and proper names are used with Śri at present time.

In the particular verse the meaning of Jayadeva's wife Padmāvatī may have apparent श्लेष but not pure श्लेष। In श्लेष the meaning are expressed and are contextually relevant. The meaning of wife is not relevant here. श्लिष्ट रूपक cannot be supported as there is no continuity of the description of his wife, which should be a प्रस्तुत and there should be no concealment in imposition. If we take the meaning as suggested it has no charm and it will fall under गुणीभूतव्यङ्ग्य It cannot be aprastuta as the aprastuta is a standard of comparision and superior in nature. Jayadeva is the husband of Padmāvati. It has been mentioned at another place. e.g.

जयति पद्मावतीरमण जयदेव कविः। (GG.10.9)

With resemblance of name one cannot twist the meaning of a poet of the calibre of Jayadeva, who is an exponent of using the words with propriety and purity. (see सन्दर्भशुद्धिं गिरां जानीते जयदेव एव GG.1.3). Hence

Padmāvatī of the GG. 1.2 is more in conformity with the goddess Lakṣmī-Rādhā.

Notes on Script and Pronunciation-

ऋ It is more localised in pronunciation. ऋ is pronounced as अ, इ, उ in Prākṛta language. The alliteration of पृष्ठे and गरिष्ठे are supported on this ground (e.g. प्रिष्टे-गरिष्ठे) The prounciation of ऋ is difficult.

ब and व are to be supported for the sake of alliteration.

ज and य (स्न) in the apabhramsa य is pronounced as ज. In the Mādhyandira tradition of Yayurveda, the word यज्ञ is pronounced as स्न (= ज) ज्ञ। स्न and य are used. In Oriya they are represented by and respectively. But in Classical Sanskrit only is written in devanāgari.

र and ळ are also taken to be identical रलयोरभेदः। ल by has two formis, one is dental (लवङ्ग) and the other is cerbral (ईळे). In devanāgiri two distinct scripts are used for these two letters such as ल and ळ. In Oriya they are represented and In Oriya and Sanskrit both uses are supported. In Orissa, Maharastra and most parts of South India such pronunciation is valid. In Oriya manuscripts such difference is very distinyct. The copysts present them in one character in Devanagiri (i.e. ल) दुःस्पृष्ट ड is recited as ल in two vowels, e.g.ईळे, र, ड, ल are cerebral in character. ल is also accepted as दुःस्पष्ट in some of the Śikṣā texts. (Sihānta Kamudi : 1993, Gopal Krishna Dash and Kadambinin Dash, Santosh Publications, p.66). The scholars may consider it and the text be prined like this-

Devanāgri- ललितलवङ्गलतापरिशील्नकोमलमलयसमीरे।

Pronunciation of is not defective and should be incorporated in the critical editions and singing as well. It has typical Orissan touch and should

be presented without violation. Involuntary mistakes of the copyists mislead the editors. The reading has to be verified from the manuscripts of Oriya character and presented faithfully.

Conclusion

Jayadeva's contribution to the religion and philosophy for popularizing the Mādhavism is very significant. His Kāvya has inspired the authorities to develop the definition of Prabandha Kāvya in the Sarigita literature. Jayadeva is a model of Orissan culture and ambassador of the literature, music and art of Orissa.

Dr. Gopal Krishna Dash
Prof. P. G. Dept. of Sanskrit,
Utkal University,
Bhubaneswar

ROLE OF WOMEN IN NATION BUILDING

Asok Kumar Azad

Our women have a very great part to play in the progress of our country as the mental and physical contact of women with life is much more lasting and comprehensive than of men. "In woman is hidden the revolutionary energy which can establish paradise on this earth." Women is the magnificent creation of God, a multifaceted personality with the power of benevolence, adjustability, integrity and tolerance. She is the companion of man gifted with equal mental faculty protection and provider the embodiment of love and affection. The role given to the women in society is a measuring rod and true index of its civilizational attainment.

In the words of Swami Vivekanand. "There is no chance for the welfare of the world unless the condition of women is improved. It is not possible for a bird to fly on only one wing." When our countrymen were struggling and fighting to attain the freedom, the women folk also fought shoulders to shoulders and whole heartedly supported the struggling freedom fighters. During India's struggle for freedom, the position of women took a favourable turn. After India became independent, it was realised by most of the national leaders including Pandit. Jawahar lal Nehru, Mahatama Gandhi, Dr. Rajendra Prasad that emancipation of women is necessary and also realised that so long as the conditions of women were not improved, and granted equal status with men, India could not progress. The role of women in the freedom struggle cannot be undermined. Sarojini Naidu, Mira Ben, Suchita Kripalani, Vijay Laxmi Pandit. Aruna Asaf Ali all played very crucial and enthusiastic role in the struggle for attaining freedom.

In the words of Rabindra Nath Tagore, "Woman is the builder and

moulder of a nation's destiny, though dedicate and soft as lily, she has a heart, stronger and bolder than of a man, she is the supreme inspiration for man's onward march." Women constitute approximately 40% population of a nation. If she is given the task for the development of the country she can make a wonder. She is more dedicated, more hard working, more sincere, more devoted to the cause. Many social evils like dowry, illiteracy among the females, killing of girl child in the womb, ignoring the hygienic values, polio etc, can well be tackled by the active involvement of the women.

Many women have proved themselves, dynamic, vibrant. sincere, and perfect in many fields. Smt. Indira Gandhi, Sirimao Bhandernaike, Chandrika Kumarartunga, Goldamir, Margaret Thatcher, Vijaya Laxmi Pandit, Supercop Kiran bedi have proved themselves in all manners better than their male counterpart.These names made both the society and the women folk proud of them. The myth that certain fields were only meant for men has been proved wrong by women. Modern women in the present age occupy top rank and attained immense success in all the fields such as administration, politics, police, performing arts, medicine, engineers, doctors, diplomates, Judges scientists, sports, services etc. Mother Teresa, P.T.I Usha. Sania Mirza, Mrs. Mohsina Kidwai, Mrs. Subu Laxmi, Mrs. Sushma Swaraj, the great environmentalist and social activist Medha Patekar and Promilla Kalhan, Mrs. Kiran Bedi, Dr. Padamvati, Kalpana Chawala, Mrs.Sonia Ghandhi have become well recognised names in their respective fields. Sonali Banerjee of Calcutta became the first Indian woman Marine Enginecr and brought fame to our country for crossing the English Channel twice conquered Mount Everest twice.

Today the educated women have come out of their inferiority complex are shouldering all kinds of responsibilities, as Managers, Officers, T.V and Radio news readers, Pilots, Anchors, Musicians, Clerks, Stenographers, Ministers, Prime Ministers and what not ? There are veteran MPs and Ministers in the centre and the State, Ms. Mayawati, Ms.Jayalalita, Mrs. Sushma Swaraj. Ms. Mamta Bannerjee, Mrs. Rabri Devi, Uma Bharti, Mrs. Vijaya Raje

Scindhiya have proved to be the astute politicians.

Really women are less selfish, more dedicated to duty and have much potence than men by nature. In order to make optimum use of our vast woman of power, we must liberate Indian woman of many social taboos. However there legislation can not emancipate the lot of our women, this needs a radical change in our mental make up and our social structure, for this we shall have to foster a social emancipating spirit in our everyday life. The conservative male chauvinistic attitude shall have to given to liberalism.

It can be said with a sense of pride and confidence that the future of women in India is quite bright and that our prosperity will be safe in their hands. Napolean was right when he said that by educating the women we educate and uplift the whole nation.

In order to give them more scope of participation in the economic growth of the country, the government has implemented major programmes like Mahila Smirdhi Yojna, Womens development Cooperation etc. The female literacy on the whole is on the rise. According to Rabindra Nath Tagore "Women is God's best creation." She adds beauty and charm to every aspect of life. To quote former Miss Universe Sushmita Sen, Women in India have now become more aware of their rights for higher position at work, at the same time being a perfect house wife at home." This is the state at which women have reached today. Only elevating presence of women on the top can help bring in a semblance of order in the present situation. Emotional, affectionate, caring and yet firm, woman is the parenniel source of aspiration for man in the odyssey of life.

The 73rd and 74th Constitutional Amendment Act passed in 1992. lay upon the women of our country more responsibilities in accelerating the development of the country. These amendments provide 33% reservation for women in the Panchayat Raj. Women elected to Panchayat and Municipal Councils, because of the reservation, have started asserting themselves. Now the women in local governments are taking the basic issues as water, health

facilities, family planning, polio eradication, more seriously, more sincerely. Now they can play better role in the development of their area of operation whether village or municipality, which in turn will result into the overall development of the state and the country as a whole.

Women are more dedicated and devoted to their duties and have much patience and politeness than man by nature. There is no doubt that women had played very important role in the national building, but the man is still not in favour of giving them the given due powers. 'The example is that the women's reservation bill for 30% reservation in State Assemblies and Parliament has not been made the law so far. The bill was introduced several times since 1996 bun couldn't take shape of an Act so far.

The empowerment of women by itself cannot place women on equal footing with men and the need of hour is the change of social attitudes towards women. Many social evils, like dowry, illiteracy among women, infanticide of female child, elimination of girls foetus, are required to be fully routed out. The crime against women like, eve teasing, rape, are to be dealt with strong gest hand though several measures but half hearted are being taken by the government in this direction, yet a change of social attitude and honesty, on the part of politicians, is must to make the women participate in the nation building at grass root level.

To Manu the ancient law maker, woman is holy and pure. Therefore she is worshipped. According to him. Yatra Naryastu Pujyante. Ramante tatra Devata. It means to say: "Where women are adored (honoured) God resides in (frequented) that place." For Mahatma Gandhi "Without the emancipation of women. independence was meaningless," He believes that woman is reaily a nobler sex. She should not regard herself helpless, weak and dependent. He was of the view that woman is the cultural back bone of the society. She is the incarnation of Ahimsa "infinite love which again means infinite capacity for suffering." Education according to him can enable women to assert their right. His advice to the educated woman was to conserve the best tradition of Indian culture. He wanted them to take part in the governance of the country.

Really it was Indra Ghandhi who succeeded in raising the position of women in India. She tried to make them conscious of their rights. As a result of the efforts of Mahatma Gandhiji, the position of women has changed and they are gradually emerging as a force in social, cultural as well as political fields of our country. The talent, patience, inner strength, power of tolerance, insight efficiency of a responsible and good women help in the governance of the country and its over all progress. Man have sight women have insight. Women are running to extremes, taking advanced measures for the progress of the country with their power of mental strength and extraordinary talent. Now women have occupied a pivotal position and have achieved eminence in different fields.

It has rightly said by Dr.Rajendra Prasad, "Our women have a very great part to play in the progress of our country as the mental and physical contact of women with life is much more lasting and comprehensive than that of men". What can't be done by a women? If the men can help in the national building, the women can do much better ! Women is no less creature than that of men. Women, undoubtedly, can play a very important role in the betterment of the nation if men give them chance.

It was rightly said that "the hand that rocks the cradle, rules the world."

Ashok Kumar Azad
Lecturer in English
L.P.R.L. Sanskrit Collage, Samaul,
P.O.-Birsair, Distt-Madbani (Bihar)



CONTRIBUTION OF MITHILA RESEARCH INSTITUTE TO THE PROMOTION OF BUDDHIST MAHAYANA

Dr. Mitranath Jha

Mithila, the land of perennial enlightenment has always been held in a very high esteem by the academic world. The Mithila Research Institute, Darbhanga, as the name signifies, was established in 1951 with the purpose of promoting advanced and original researches in almost all branches of Sanskrit Learning. The chief object of this institute has been to act as a meeting ground to bring together the traditional pandits with their profound learning of Shastras and the modern scholars with their technique of research and investigation and to publish works of permanent value to scholars . It was envisioned by the architects of this research organisation that it would perform a significant role in the matter of both preservation and enrichment of the cultural and spiritual heritage of ancient India. It is a matter of great gratification that under the powerful auspices of the Government of Bihar, this Institute has been successfully treading the various paths of success. With a view to bringing in light the Buddhist Mahayana Sanskrit Texts, the Institute took up a huge and ambitious project of publication in the early fifties of the last century. Over the last fifty four years, this Institute of international repute has published as many as twenty six volumes of Buddhist Mahayana Sanskrit Texts in such an enviable style that the whole of the world has accepted it as a monumental achievement of the Institute in the area of Buddhist studies, especially Sanskrit Buddhism. Sincere efforts have been made in the present paper to present an overview of some of the most significant titles under the said project. Thr author has meticulously handled the issue with the sole purpose of apprising the world of letters the

glowing ideas and ideals of the great Buddha who has been widely accepted. as one of the greatest icons of knowledge.

GUHYASAMAJATANTRA, **Ed. Dr. S. Bagchi**

The present edition of the Guhyasamaja Tantra is based on the text that was critically edited and published by Dr. Benoytosa Bhattacharya. It is one of the earliest Tantric texts and it commands a position of unique importance in the realm of the Buddhist Tantric literature. It has expounded the procedure of the different tantric rites and practices of Vajrayana Buddhism. It is expected that with the passing of time this new edition will be more and more appreciated as one of the most valuable documents of the Yoga tantra by the students and lovers of the Buddhist tantric literature.

SUVARNAPRABHASASUTRA, **Ed. Dr. S. Bagchi**

This new edition of the Suvarnaprabhasasutra is based on the text that has been edited by Prof. Hokei Idzumi and published by the Eastern Buddhist Society, Kyoto. It is one of the nine authoritative canonical works of the Buddha's and a contemporary authority of much importance, specially for the grand moral that spiritual progress is bound up with material welfare. "Spiritual life is rather the efflorescence of abundance and not a concomitant of poverty and frustration."

DASABHUMIKASUTRA, Ed. Dr P.L. Vaidya and Dr. S. Bagchi

The present edition of the Dasabhumikasutra is published to promote sound knowledge of the ten Bodhisattva-bhumis, in other words, the ten different stages in the spiritual career of the Bodhisattva. To this end it furnishes a graphic account of the ten stages with special emphasis on their salient features and the means of their realization. The publication of this important classic is expected to meet genuine desideratum in the study of Mahayana cultas.

SADDHARMALANKAVATARASUTRA, Ed. Dr P.L. Vaidya and Dr. S. Bagchi

The Lankavatarasutra is a work of the Mahayana canon. It is held in

high esteem by the Mahayanists. It affirms that citta is the only reality and the world of subject-object discrimination in only a mere appearance arising from false predisposition. It seeks to establish that the salvation can be effected by cleansing the alayavijnana or all conserving mind which is assumed to exist at the bottom of all the varieties of consciousness. The expression svacittadrsya that occurs in the text brings home the fundamental nature of the doctrine of consciousness to the student of Mahayana Buddhism. It is remarkable that the text asserts absolute voidity of the world appearance. It is hoped that the ambitious student of Mahayana Buddhism will greatly profit by the study of the text of the Lankavatarasutra.

AVADANAKATLPALATA OF KSEMENDRA, Ed. Dr P.L. Vaidya

The edition of Ksemendra's Bodhisattvavadanakalpalata or Avadanakalpalata is more or less a reprint of the Tibetan Sanskrit bilingual edition of Sarat Chandra Das and Pandit hari Mohan Vidyabhushan. The learned editor has omitted the Tibetan translation and retained only the Sanskrit text with a few changes in his text which were only obvious this work is a collection of 108 avadanas or Noble Deeds of the past as well as the present life of Buddha. The large volume of this work is written in epic style.

AVADANASATAKA,

Ed. Dr. P.L. Vaidya

The Avadanasataka or Century of Noble Deeds of Lord Buddha was edited by Dr. J. S. Speyer of Leiden University (Holland) and published in the Bibliotheca Buddhica III in 1906-9. The present edition is based on this edition, with such modifications as required by modern trends of thought and advance in textual criticism. It is a Sanskrit work belonging to Hinayana. It deals with prophecies or vyakaranas of future Buddhahood and Pratyekabuddhahood, the avdanas of the Buddha in his former existence, stories about pretas, person obtaining Svarga, the heroes who become the Arhats and the stories emphasizing the evil effects of bad acts in former existences which have caused sufferings to holy persons even in their last existence.

SAMADHIRAJASUTRA. **Ed. Dr. P.L. Vaidya**

The Samadhirajasutra, also known as Candrapradiasutra, is one of the nine Dharmas of Nepalese Buddhism. It is held in high esteem in the Mahayana School as embodying the highest teachings of Lord Buddha both in Ethics and philosophy. The present edition of the Samadhirajasutra is based on the text and foot-notes of Dr. Nalinaksa Dutta's edition contained in Gilgit Manuscripts vol. II, parts i-iii, 1941-54 with such modifications as they seemed to be necessary in view of modern trends in textual criticism." The subject matter of this work is the knowledge of a form of mental state or meditation based on the equality, i.e. Sunyata, voidness, of all objects. This subject is treated in the form o, question and answer.

S1KSASAMUCCAYA OF SANTIDEVA, **Ed. Dr. P. L. Vaidya**

The edition of the Siksasamuccaya of Santideva is based on Cecil Bendall's edition published in Bibliotheca Buddhica, Vol. I (1897-1902) with such corrections and additions of references as subsequent discoveries and publications of Buddhist works suggested to the editor. Siksasamuccaya means a compendium or collection of the doctrines, i.e., teachings of Buddha. The work consists of three parts, viz., the Karika or memorial verses, 27 in number, which constitutes, as it were, the text, a commentary explaining the text of the Karikas; and sources or authorities for the Buddhist sutras. It starts with the idea that every human being should take advantage of his present birth to secure the seed (Bodhibija) in this very existence, and to pursue a course of conduct which ultimately will lead him to the status of a Bodhisattva. It is thus a practical guide to Buddhist theology. It accepts the three jems of the Doctrine, viz, Buddha, Dharma, and Samgha, followed by the six paramitas, such as Bana, Sila, Ksanti, Virya, Dhyana and Prajna.

THE GANDAVYUHASUTRA, **Ed. Dr. P.L. Vaidya**

The Gandavyusasutra is one of the nine Dharmas or Agamas of the Nepalese Buddhism, It is a highly respected work among the Mahayana Buddhists all over the world. This edition is principally based on the only

printed edition of the work by Suzuki and Idzumi. The older edition was lacking in many respects. The discovery and use of the Baroda Ms in Nepalese script was, however, of great help to the editor of the present edition to fill up the lacunae in numerous places, to improve his text to record a few important variants, and to note additions and omissions. The present edition thus marks a vast advance over the older edition. The work describes the unfathomableness of the greatness of Buddha, and the means to obtain a fraction of that greatness.

JATAKAMALA BY ARYASURA, **Ed. Dr P.L. Vaidya**

This edition of Aryasura's Jatakamala also called Boddhisattva vadanamala is based on the one edited by H. kern and published in the Harvard Oriental series, No. 1, 1890. What distinguishes the present edition from the older one is an index of verses in Appendix II and a list of metres used by Aryasura in Appendix III. Further, the editor has given in Appendix IV Subhasita-Ratnakarandaka - Katha, which has recently come to light and is ascribed to Aryasura. Jatakamala gives us as many as 34 Jatakas or stories of the past lives of Buddha. These stories are also called avadanas or noble deeds of Bodhisattva. These stories illustra the value of Paramitas or perfections necessary for the attainment of Buddhahood.

DIVYAVADANA **Ed. Dr. P.L. Vaidya a**

This edition of the Divyavadana is more or less a reprint in Devanagari script of the one edited in Roman script by E.B. Cowell and R.A. Neil, and issued by the Cambridge University Press in 1886. The distinguishing mark of the edition under reference is that it incorporates the Sardulakarnavadana in full. It is heartening to observe that the Sardulakaranavadana is a recent publication of the Visvabharati by Sujita Kumar Mukhopadhyaya. it deals with problems concerning a comparative study of ancient Indian culture. Moreover, the present edition makes a considerable advance over the previous editions in that the learned editor has added a number of useful features such as the index of verses not supplied to Cowell's edition and a glossary of words mostly selected from older editions, references to avadanas in other

collections like Avadana-Sataka, Avadana - Kalpalata, Vinayavastu of Sarvastivada school as preserved in the Gilgit Mss. Vol. Ill, parts i-iii.

MADHYAMAKASASTRA OF NAGARJUNA WITH THE COMMENTARY PRASANNAPADA BY CANDRAKIRTL

Ed. P.L. Vaidya and Dr. S. Bagchi

This edition of the Madhyamakasastra of Nagarjuna with the commentary called Prasannapada by Candrakirti is mainly based on the one edited by Louis de la Vallie Poussin and published in the Bibliotheca Buddhica, Vol. iv, St. Petersburg Russia, in 1912. Poussin's edition is long out of print. Under the joint editorship of the two noted scholars in the field of Buddhist Philosophy the new edition with a number of additions and alterations has seen the light of the day. Nagarjuna following the line of thought called Madhyma as suggested by Buddha by his denial of the two conflicting, contradictory and extreme categories of asti and nasti, classifies the contents of the text into two classes of tenets, one recommending a view which is ultimately to be abandoned, and the other as final and absolute; the one practical, vyavaharika, and the other as absolute, final or paramarthika.

ASTASAHASRIKA PRAJNAPARAMITA

WITH HARIBHADRA'S COMMENTARY CALLED ALOKA

Ed. Dr. P.L. Vaidya and Dr. S. Bagchi

The text of the present edition of the Astasahasrika has been prepared after a careful comparison of its two older editions-the one is that of Rajendra Mitra and the other of Professor Wogihara, the editor of Haribhadra's commentary called Aloka. The text has been further checked by reference to the commentary the Aloka. The present edition of the Astasahasrika and its commentary the Aloka is thus a co-ordinated edition with few additional features such as additional references to quotations and an index of technical terms and their interpretations mostly as they are given by Haribhadra.

MAHAYANASUTRALAMKARA OF ASANGA **Ed. Dr. S. Bagchi**

The present edition of the text of the Mahayanasutralamkara is based on Professor Levi's edition princeps. Some of the highlights in the present edition are the learned introduction, a brief resume of the text and the corrigenda that have been appended to it. it is expected that the corrigenda will render assistance to the task of removing the ambiguity and obscurity which impede the intelligibility of the text of the Mahayanasutralamkata. The text affords an ample testimony to the skill of a master metrician in the matter of composing the verses.

MULASARVASTIVADAVINAYAVASTU - Vol. 1, **Ed. Dr. S. Bagchi**

The present edition of the Mulasarvastivadavinayavastu is based on the text edited by Dr. Nalinaksa Dutt with the assistance of vidyavaridhi Pandit Shiva Nath Shastri. It contains different varieties of ṇarratives which testify the rapid growth and development of Buddhism in Kashmira. Furthermore, they enjoin percepts and ordinances for mental training, good conduct, spiritual discipline, and penalties for ecclesiastical offences and expiation of sins and transgressions.

MAHAVASTU AVADANA - Vol. 1 **Ed. by Dr. S. Bagchi**

The present edition of the text of the Mahavastu is based on the edition princeps of it published by E Senart. It occupies a position of supreme importance in the entire domain of the Buddhist Sanskrit literature. Even a cursory glance at its contents lays it bare that it is a vast repository of 'gnomic treasure1, heterogeneous mass of Jatakas, Avadanas, traditional folklore, and of moral, political, religious, and dogmatic dissertations.

LALITAVISTARA, **Ed. Dr. P.L. Vaidya**

The Lalitavistara one of the most sacred texts of Mahayana Buddhists is styled as Vaipulyasutra, Discourse of great Extent. It gives lists of monks, Bodhisattvas, Gods, etc., attending on buddha.

The Buddha here sits absorbed in deep meditation in the middle watch

of the night; a ray of light springs from his forehead, illumines all the worlds, and inspires gods to sing praises of the Buddha.

The gods appear before him, salute him and implore him to reveal the excellent Sutra. Buddha agrees to reveal the Sutra by maintaining silence, and the work begins. In the present edition of the work the editor has followed Lefmann's text as much as it was possible, and has noted important variants from Rajendra Lal Mitra's dition in the foot-notes.

BODHICARYAVATARA OF SANTIDEVA WITH THE COMMENTARY CALLED THE PANJ1KA OF PARJNAKARAMATI,

Ed. Dr. P.L, Vaidya

The Bodhicaryavatara is a very popular work among European scholars, perhaps for its devotional character which appealed to them most. It is a genuine piece of religious poetry rising to the loftiest flight of devotional fervour. The first eight chapters are theological in outlook, but the 9th chapter gives a philosophical exposition of the Mahayana doctrine from the point of view of the Madhyamika school.

The learned editor has brought out the present edition of this important work filling gaps in the text of the Bodhicaryavatara and adding useful indices.

MAHAYANASUTRASAMGRAHA - Part - I, Ed. Dr. P.L. Vaidya

The volume of the Mahayanasutrasamgraha - Part I contains as many as 22 Sutras many of which are rare and not easily available. The texts of the sutras deal with the Prajnaparamita literature, the cardinal doctrine of Buddhism and the conditions which go to make a Bodhisattva. The language of the work resembles the language of the Gathas and is older that the Gathas.

MAHAYANASUTRASAMGRAHA - Part - II,

Ed. Dr.P.L. Vaidya & Dr. S. Bagchi

This volume contains only one sutra, viz, the Manjusrimulakalpa. The subject matter dealt with in this work belongs to Tantra, and aims at acquiring

knowledge of secret Mantras for the good of the Sadhakas. The language is Sanskrit of the Buddhist. Incidentally, it contains matters covering the field of Astronomy, Astrology, Geography, Geophysics, history of Buddhist Church and prominent kings in a jumbled form. The work was long out of print. No other Manuscript of the work is known to exist, but Translations in Tibetan and Chinese scripts are available. Some sections of the work have correspondence with the section of Sardulakaranavadana of the Divyavadana (No. 20 of this series.)

MULASARVASTIVADAVINAYAVASTU - Vol. - II. Ed. Dr. S. Bagchi

The text of the Mulasarvastivadavinayavastu - Vol. II deals with different varieties of narratives which illustrate the historical, social and moral conditions of India especially at the time of its compilation. Students of ancient Indian ecclesiastical laws and regulations will be immensely benefitted by its serious and dispassionate study. It may not be off the track to mention that the punishment which was prescribed for the commitment of a particular offence was reformative and not retributive in its consequence. It was intended for the moral and spiritual edification of the monk guilty of aberrations. Concealment of a sin was regarded as detestable. Confession of sins has been repeatedly urged for purging the mind of the sinner of all impurities.

Meticulous efforts are still being made by the institute,, to make a thorough and diligent survey of the manuscripts pertaining to, the Sanskrit Buddhism . The institute has already made a valuable contribution to the scientific knowledge as enunciated in the Buddhist Tantric Texts . Now the time has come to impress upon the Western scientific mind of the Global Era , the superiority of such a profound and powerful system as the Eastern Spiritual Science, particularly the Buddhist Knowledge System.

Dr. Mitranatha Jha
Mithila Research Institute,
Kabraghat, Darbhanga-846004

HINDU AND HINDUISM

GENERAL INTRODUCTION

Dr. Gautam Patel

"After a long winter of some centuries, we are today in one of the creative periods os Hinduism. We are beginning to look upon our ancient faith with fresh eyes. We feel that our society is in a condition of unstable equilibrium. There is much wood which is dead and deseased that has to be cleared away. Leaders of Hindu thought and practice are convinced that the times requrie, not a surrender of the basic principles of Hinduism, but a restatement of them with special reference to the needs of a more complex and mobile social order. Such an attemp will only be the repetition of a process which has occured a number of times in the history of Hinduism. The work of re-adjustment is in process. Growth is slow when roots are deep. But those who light a little candle in the darkness will help to make the whole sky aflame."1 While addressing at oxford. Dr. Radhakrishnan, the late President of India has proclaimed like this.

Swami Vivekanand once upon a time in Madras, while inspiring the young generation, said, "We must go out, we must conquer the world through our spirituality and philosophy. There is no other alternative, we must do it or die. The only condition of national life of awankened and vigorous national life, is the conquest of the world by Indian thought."

Such Indian thoughts are deeply rooted in Hindu religion and philosophy which are capable of providing salvation to any suffering soul in the world of any cast, creed, country, race or religion.

Like the perpetual Ganga the Hinduism has been a moving and inspiring

force for every Hindu who dwells either on Indian soil or outside at any place in the world. Whichever sphere of the human life we select for our study weather it be language, customs, art, architecture, maths, science, astrology or atronomy, fine arts or performing arts, religion or philosophy, yoga, dhyana, re-incarnation or liberation we have to take into consideration the 'Hindu thought' which has developed through right from the early dawn of civilizon upto today. The Hindu religion is eternal and perpetual - it is as ancient as the human civilization yet it is very comtemporary too. When an ancient units with the modern in a proper perspectie an eternal is born.

Like the term India the term 'Hindu' is a foreign origin. It is derived from Persian and now it is in universal use.

The Persians pronounced this word (viz. Sindhu) as Hindu and named their Aryan bretheren Hindus. The Greeks, who probably gained their idea of India from the Persians, dropped hard aspirate and called the Hindus as 'Indoo'.[2]

While Dr. S. Radhakrishnan remarks. The term 'Hindu' has originally a territerial and not a credal significance. It implied residential in a well-defined geographical area.[3]

India is a unity among diversity

Mr. Vincent smiths in 'Oxford History of India', observes, "India beyond all doubt possesses a deep underlying fundamental unity, for more profound than that produced either by geographical isolation or by political superiority. That unity transcends the innumerable diversities of blood, colour, language, dress, manners and sects."[4] The binding force is nothing but Hinduism is not a definite dogmaic creed, but a vast, complex, subtly amorphous unified mass of spiritual thought and realization. Its tradition of the godward endeavour of human spirit has been continuously enlarging through ages.[5] Hindu tradition is always growing. Throughout the history of Hinduism its followers and thinkers have been continually busy in learning new forms, rejecting old and replacing them by those which are suitable to condition.

WHY DHARMA ?

It is said -

धर्मे वर्धन्ति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।

तस्मिन् ह्रसन्ति ह्रीयन्ते तस्माद् धर्मं न लोपयेत्।।

When dharma increases flourish all the people too increase in always in all respect, but when dharma diminishes the fall for the creatures is inevitable. Hence Lord too incarnates for the upliftment of dharma and the protection of good, that is how the Lord Krishna proclaims. Good should never come to grief, and the dharma is at the root of every kind of good in society, because dharma upholds society.

What nappers when a man dies ?

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्या च द्वारि सखा।

देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः।।

Everything remains here in this world. Only the dharma follows a person even in the next birth.

So Maharsi Vyasa has proclaimed

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष चकश्चिच्छृणोति मे।

धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।

So any action bereft of dharma should nto be adopted, better one should willingly renouce it.

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।

न तत्सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते।।[6]

It is specifically ordained that if artha and kama are bereft of dharma they shoulpd be abjuved. Many, Kautilya and Visnupurana opines that

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मविवर्जितौ।[7]

It must be borne in mind that if one dharma injures the other one that is not a dharma at all Dharma, if it is a true religion it never indulges in opposition,, fight or conversion. Hence Gita also maintains -

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।[8]

Hence Hinduism never sanctions conversion. It only arises out of superiority complex of one over the other

When a dharma starts obstructing other dharma it is not a dharma at all, it becomes ku-dharma - base-religion or bad-religion. See -

धर्मं यो बाधते धर्मः न स धर्मः कुधर्मस्तत्।

अविरोधातु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः।।[9]

Hindu Dharma does not approve of blind faith. It says dharma do require a corroboration from reasoning.

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना।

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।।[10]

This dharma is ment for the annahilation of miseries - धर्मस्तु क्लेशनाशाय

While knowledge leads to liberation from bondages - ज्ञानं बन्धाद्विमुक्तये।

Manu has also said that self-realization is the highest religion - अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।

But the tattva - the essence of religion is hidden in the cave like heart of a man. There are ways and ways described in Vedas and Smrtis etc. Hardly there is one sage whose opinion is in consonance with another one. In such a condition one has to follow the foot-steps of the great, there is no other

alternative - a famous verse of Mahabharata runs -

वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना

नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां

महाजनो येन गतः सपन्थाः॥

Hence Manusmrti points out the same solution for a common man.

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।

तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति॥[11]

Thus a tradition laid down by great becomes a path of roses for a man who knows little about dharma. In India most of the people do follow tradition knowingly or unknowingly, understands is or not understand its the scientific approach behind it.

TERM HINDU DHARMA - SANATANA DHARMA

After 15th century the term Hindu came into existence when the contact with persia became alive. Before this the country was known as **भारतवर्ष।**

वर्षं हि भारतं नाम भारती यत्र संततिः।

The term Hindu is not found in ancient dictionaries like Amarakosha etc. But some endeavours have been made in some Sanskrit works to define this term Hindu. It would not be out of place to note them as it has also the history of more than five hundred years.

Merutantra as well as Kalikapurana defines it as

हिमालयमारभ्य यावदिन्दुसरोवरम्।

तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते॥[12]

While **वृद्धस्मृति** maintains

हिंसया दूदते यश्च सदाचारणतत्परः।

वेदगोप्रतिमासेवी स हिन्दुमुखशब्दभाक्॥[13]

Madhavadigvijaya has defined the term Hindu as

ओंकारमूलमन्त्राढ्यः पुनर्जन्मदृढाशयः।

गोभक्तो भारतगुरुर्हिन्दुर्हिंसनदूषकः॥

Late Vira Savarkar, the founder of Hindu-mahasabha defines the term Hindu as

आसिन्धो सिन्धुपर्यन्ताः यस्य भारतभूमिका।

पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥[14]

While according to Lokamanya Tilaka Hindu means

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु नियमानामनेकता।

उपास्यानामनियमो हिन्दुधर्मस्य लक्षणम्॥[15]

Late Vinoba Bhave has combined allmost all those characteirstics and added some more when he wrote a letter to Mr. Poddar from Vardha on 9-7-49 to explain what the term 'Hindu' means -

यो वर्णाश्रमनिष्ठावान् गोभक्तः श्रुतिमातृकः।

मूर्तिं च नावजानाति सर्वधर्म-समादरः॥

उत्प्रेक्षते पुनर्जन्म तस्मान्मोक्षणमीहते।

भूतानुकूल्यं भजते स वै हिन्दु रिति स्मृतः।

हिंसया दूयते चित्तं तेन 'हिं-दु'रितीरितः॥

Here he has already said -

दूसरें द्वारा की हुई व्याख्याओं में से मैंने बटोर लिया है। पूर्णता के लिए नया जोड दिया है। कुल मिलाकर इसने मुझे समाधान दिया है। शायद दूसरों को भी समाधान दे सके।[16]

If we want to derive satisfaction, like Late Vinoba Bhave we are free to do so yet I feel personally that a complete satisfactory defination - free from flaws like अतिव्यप्ति, अव्याप्ति and असंभव of the term Hindu is practically

impossible. The ter 'Hindu' can be described but not be defined.

Late Anandshankar Dhruva has examined all the characteristics as included in above mentioned definitions of the term Hindu as found them individually lacking in satisfying the all norms of definition. He has tried to summerised the word 'Hindu-dharma' as - .

हिन्दुस्तानमां वसेला प्राचीन आर्योनो धर्म ते हिन्दुधर्म ये आर्यो जे धर्म पालता अने अेमांथी जते दहाडे जे धर्मनो विकास थयो अे सर्वेनो 'हिन्दुधर्म' मां समावेश था छे।[17]

"The religion which was observed by the ancient Aryans who lived in India is Hindu Dharma. The religion which was followed by those Aryans and the religion which has developed during the passing of the days, all that can be accomodated in Hindu Dharma."

This is just a historical survey which would satisfy any intellegent person. Yet one has to agree with Dr. S. Radhakrishnan when he says, 'At the outset one is confronted by the difficulty of defining what Hinduism is'[18] while Benjamin Waker feels that because of its comprehensiveness and its unceasing growth Hinduism is impossible to define.[19] There is no one book, or one founder in Hinduism, hence it is beyond any defination.

If you ask any Hindu today he would prefer to call his religion as not Hindu religion but Sanatana religion. The word Sanatana is defined as **सना भवः सनातनः** which means 'one which stays for ever, perpetual, eternal-endless.' When we use the term ^PMWf: it can be explained in two ways -

(1) **सनातनस्य धर्मः** - The Lord the Highest Reality is **सनातन** and his religion is **सनातनधर्मः।**

Manu in Manusmruti says -

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।

सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥[20]

****

In Bhagavadgita the Lord Himself is referred as सनातन I See -

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता

सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥[21]

In Atharvaveda also the Highest Reality is specifically called सनातन।

सनातनमेनमाहुः उताद्य स्यात् पुनर्णवः॥[22]

He is called Sanatana i.e. eternal and He is always becoming new. This is the true de fination of सनातन one becomes new at every moment. Hinduism could be explained in this way as सनातन।

(2) The second meaning of the word Sanatana would be

सनातनो वा धर्मः - A religion which sustains forever. Here we may historically agree that inspite of numerous onslaught from within and without this religion has sustained resisting all types of invesions. In Mahabharata this religion is called Sanatana

सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्।[23]

or

सनातनोऽमृतो धर्मः॥[24]

In Bhagavata-Purana this Dharma is referred as Sanatana more than once. See -

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मसनातनम्।[25]

or

वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम्।[26]

Prof. Madhavan has righty pointed out "The indigeneous names by which Hinduism in known are Sanatana-dharma and Vaidika-dharma. Sanatana-dharma means eternal religion and is expressive of the truth that religion as such knows no age... ..It does not owe its origin to any historical personage or prophet. Buddhism, Christianity and Islam are founded religions. Their dates

are definate, since their authors are known. No such date or founder can be cited as marking the beginning of Hinduism. Hence it is called Sanatana and Vaidika ancient and revealed.[27]

The words Sanatana and dharma are rightly explained by Prof. P, V. Kane in the History of Dharmasastra. He maintains that words Sanatana Dharma do not mean that Dharma always stands still or is immutable, all those words mean is that our culture is very ancient and has a long tradition behind it but they do not mean that Dharma permits no change. As a matter of fact fundamental changes in conceptions, beliefs and practices have been made from ancient times to the mediveal times by means of various devices."[28]

I cannot resists the temptation of noting a remarkable conclusion drawn by Prof. Aravind Sharma after a good deal of discussing -

...Hiduism is like a sky. It is eternal yet it is changing all the time, a witness to the alteration of day and night or to follow up with a nocturnal metaphor. It is like the firmament which appears fixed but is changing all the time, which changes all the time but appears fixed.[29]

While we would like to agree with Dr. S. Radhakrishnan when he remarks, "Hinduism is a movement, not a position, a process, not a result, a growing tradition, not a fixed revelation."[30]

"Hinduism is indeed a complex and rich religion no founder's initiative, no dogma, no reform have imposed restrictions on its domain; on the contarary, the contributions of the centuries have been superimposed without ever wearing out the previous layers of development." Remarked rightly Mr. Louis Renou.[31]

The different meaning of the word Dharma as found in various dictionaries are (1) पुण्य, (2) श्रौत और स्मार्त धर्म, (3) कर्मजन्य अदृष्ट, (4) आत्मा, (5) जीवात्मा, (6) सदाचार, (7) वस्त्र का गुण, (8) स्वभाव, (9) उपमा, (10) याग, (11) अहिंसा, (12) न्याय, (13) उपनिषद, (14) यमराज, (15) सोमाध्यायी (16) सत्सङ्ग, (17) धनुष, (18) ज्योजिष में लग्न से नवम स्थान, (19) भाग्यनुभवन, (20) दान इत्यादि।

The term 'dharma' is one of complex significance. It stands for all those ideals and purposes, influences and institutions that shape the character of a man both as an individual and as a member of society. It is the law of right living, the observance of which secures the double object of happiness on earth (Abhyadaya) and salvation (Nishreyasa).[32]

In India it was the belief that वेदोखिलोधर्ममूलम्।[33]

In मीमांसा धर्म is defined as चोदनालक्षणो धर्मः it is also explained as क्रियासाध्यत्वे सति श्रेयस्करत्वमिति लौकिकाः।

मनु महाराज n मनुस्मृति defines drama as under -

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।[34]

He has also define a common religion for all costs as

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतत् सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः।।[35]
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियतिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यक्रमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[36]

This is reciprocated by Yajnavalkya when he says -

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्।।

In Mastyapurana we have

अद्रोहोऽप्यलोभश्च यमो भूतदया तपः।
ब्रह्मचर्यं ततः सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् दुरासदम्।।

In Padmapurana, as quoted in शब्दकल्पद्रुम-

पात्रे दानं मतिः कृष्णे मातापित्रो च पूजनम्।

श्रद्धा बलिर्गवां ग्रासः षड्विधिं धर्मलक्षणम्।।

In याज्ञवल्क्यस्मृति fourteen विद्यास्थानानि of dharma are ennumerated -

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।[37]

In Mahabharata it is expressed that to trace the footprints of Dharma is as difficult as to trace the footprints of a shake.

अहेरिव हि धर्मस्य पदं दुःखं गवेषितुम्।[38]

Ramayana of Valmiki says

सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवंगमः।[39]

Yet Mahabharata has tried first to define the term Dharma.

धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजाः।

यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।[40]

Here to uphold the society seems to be the primary function of dharma.

On the other side Mahabharata says आचारलक्षो धर्मः।[41] or आचारप्रभवो धर्मः।[42]

This means unless your learning of principles and precepts of dharma do not become the part of your behaviour it remains in the book oniy. So Hinduism-is not a bookish religion but it is a 'way of life' unless dharma is not adopted in your day-to-day life it is not a dharma at all. Thus acara-behaviour in action is the soul of dharma. To summerise such acara it is said somewhere -

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।

अनुग्रहश्च दाप्यं च सतां धर्मः सनातनः।।

Here कर्मणा मनसा and गिरा are to be underlined. Gandhiji used to say that एक मण के उपदेश से तो छटांक भर का आचरण अच्छा है।

Why dharma is insisted like this for human beings ? Mahabharata has an answer.

मानुषेषु महाराज धमाधर्मौ प्रवर्ततः।

नैव तथान्यभूतेषु मनुष्यरहितेष्विव॥[43]

The sense of dharma or adharma only persists among human beings, and not at al! in any other creatures. A famous subhashita runs -

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः॥

MAIN CHARACTERISTICS

While discussing about the main characteristics of Hindu dharma or Hinduism the following features are pointed out by numerous scholars -

(1) Reverence for vedas

(2) Belief in re-birth

(3) The caste system

(4) Ritualism

(5) Faith in Guru

(6) Philosophical notion

(7) Belief in re-incarnation

(8) Three ways भक्ति, ज्ञान, कर्म

(9) Respect for cow

(10) Vegetarianism

(11) Acceptance of Sampradaya

(12) Following the tradition

(13) Insistance on Moral Behaviour (सदाचार)

(14) Actions - not to be totally shunned

(15) Sublimation and not suppression of senses

(16) Enjoyment of worldly object with the sense of renouncement

(17) Victory - not physical but spiritual

(18) Even Rajastta is Dharma-dandya

(19) Highest reality is designated by various names yet it is one

(20) Unity is diversity

(21) Under current of monism in the ambience of polytheism

(22) Always aiming for ऊर्ध्वगतिः

(23) Tolerence of the opinion of others

(24) Respect for the faith of others

(25) Strongly opposed to conversion

(26) यज्ञ, दान, तप, दया are ingredients of the Dharma

(27) त्रि-ऋणस्वीकार - Gratitude

(28) Belief in renunciation

(29) Acceptance of ascrintion to four पुरुषार्थः

(30) More attachment to spiritual values rather than physical one

(31) True democracy in the field of religion

(32) Idea of fraternity, brotherhood, friendship, co-existance

(33) Acceptance of one Highest Reality in all animate and inanimate objects.

****

(34) आत्मा is परमात्मा, जीव is ब्रह्मन् complete identification of individual soul with the cosmos soul.

(35) Pancayatan Puja or Srimatanustanam

(36) Idol worship, पूजा building of temples, तीर्थयात्रा etc. are accepted for the purification of mind

(37) The real liberation is by self-realization - knowledge only.

(38) But the physical uplift is not denied यतोऽभ्युदयः निःश्रेयससिद्धिः सधर्मः

(39) Hinduism has limitless capacity for absorbing every kind of belief which attimes sounds incongruous to a foreign scholar who has no real background of this wast ever encompassing constant growing and everlasting assimilating religion.

(40) Hence Hinduism is a value-based religion stands for on one side physical prosperity of a person and on otherside spiritual liberation too.

These all are the ideals but what is the present situation. I would appre with S. Radhakrishnan who once remarked that "an attendence in church has increased but the real religion has decreased," we need the religion and its proper practice rather than increase in numbers. Mathametical growth is not always a qualitative one.

Today due to yoga and ayurveda this religion has stepped almost all the countries of the world but there too the true spirit of yoga is backing. It has been rendered to physical exercise only.

In the end I would like to quote my Gurudeva Swami Gangeshwaranandji "Hindu dharma believes in the upliftment of each and every individual. The time and place have changed, the situations are upside-down yet Hinduism, inspite of numerous onslaughts from within or without, has survived. How it is living force and it is meant for the physical advancement and spiritual liberation of one who seeks its shelter.

It is said -

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रता धनमाप्नोति धनात् धर्मं ततः सुखम्।।

विद्या-विनय-पात्रता-धनम्-धर्म and सुखम् so any sort of सुख is proceeded by dharma. If you want to be happy sit in the lap of dharma and unhappy enter the field of choice is yours !

It is said about Brahman

एकत्वे सति नानात्वं
नानात्वे सति चैकता।
अचिन्त्यं ब्रह्मो रूपं
कस्तद् वेदितुमर्हति।।

This also could be said about Hindu-dharma.

References :

1. S. Radhakrishnan, The Hindu view of life', New York, Macmillan Company, 1927, pp. 91-92.

2. Sir Monier Williams, 'Hinduism', London, 1925, p. 1

3. S. Radhakrishnan, The Hindu view of life', George Alien and Unwin Ltd., London, May 1941, p. 13.

4. S. Radhakrishnan, Ibid p. 21.

5. S. Radhakrishnan, Ibid p. 51.

6. M.B. Sa. p. 298-8

7. Manu. IV-176, Kautilya Arthasastra I-7-8 and V.P. 111-1 1-7

8. Gita III035 and firstline XVIII-47

9. M.B. Van. p. 31-11

****

10. Manu. XII-106

11. Manu. IV-178

12. Kalyana, Hindu Sanskrit! Anka, Gorakhpur, 1950, p. 73

12. Ibid, p. 75

13. Ibid, p. 61

14. Ibid, p. 74

15. 'fspftar -£nf?r^' - Part 13, Vardha, 1995, p. 434

16.

17. S. Radhakrishnan, George Alien and Unwin Ltd., G. B. First Edition, 1927, Sixth Impression, May 1941.

18. Benjamin Walker, 'Hindu world', George Alien and Unwin Ltd., 1968, p. 445

19. Manu. I-7

20. B.G. XI-18

21. A.V. X-8-23

22. M.B. Asva P. 91-34

23. M.B. Van P. 313-66

24. B.P. VII-11-2

25. B.P. VII-11-15

26. T.P.N. Madhavan, "Out lines of Hinduism", p. 40, n. 1 as quoted by Arvind Sharma, p. 16

27. P. V. Kane 'History of Dharmasastra, Vol. V, Part II, p. 1458 as quoted by Arvind Sharma

28. Arvind Sharma, 'Hinduism for our Times', Oxford Unviersity Press, Delhi, 1997, p. 7

29. S. Radhakrishnan, Ibid, p. 129

30. Louis Renou, 'Hinduism', London, 1961, p. 17

31. S. Radhakrishnan, 'Heart of Hinduism', Madras, p. 22
32. Manu. II-6
33. Manu. 11-12
34. Manu. X-63
35. Manu. VI-92
36. Yajna. Sm. I-3
37. M.B. Santi P. 132-20
38. Va. Ra. IV-18-15
39. M.B. Kama P. 69-58
40. M.B. Anu. P. 104-9
41. Visnusahasranama 137
42. M.B. Santi. P. 294-15

Dr. Gautam Patel
"Valam", L-111, Swatantrya Senani Nagar,
Nava Wadaj, Ahmedabad - 380 013.



THE NATURE AND FUNCTION OF DRAMATIC POETRY

Dr. Sunil Dutt Singh

Thomas Stearns Eliot was fascinated by the problem of dramatic poetry and poetic drama right from the beginning of his career. He did not have a mere academic interest in this literary form; rather he was vitally concerned with the problems of its renewal in the present age. Reviewing his critical output for the last thirty years, while achieving his memorable address on Poetry and Drama at Harvard University in 1952, he is indeed surprised to find how constantly he has returned to the drama, by examining the works of the contemporary of Shakespeare, or by reflecting on the possibilities of the future. He is ever apprehensive that people are weary of hearing on the subject. He acknowledges that while he has been composing variations on this theme all his life, his views have been a lifelong experiment with the possibilities of poetic drama in the twentieth century and as he himself confesses, "I am impelled to take stock of the situation afresh at heavy stage of my own experimentability." [1] As Ronald Peacock has shrewdly observed, "There is a direct line of development from Eliot's Criticism and earlier verse to Murder in the Cathedral and The Family Reunion. It might seem at first that Eliot's plays are an altogether new departure, but it is n't so nor do they spring from a mere academic interest in a form and its renewal. They are an extension of his verse. He himself has pointed out that much lyric verse is really dramatic in form and it is really his own inclinations that lead to the observation."[2]

Eliot's faith in the Impersonal Theory of Poetry reflects an attitude of revolt against romantic lyricism. He asks pertinently, "What great poetry is not dramatic"[3] One of the interlocutors in Eliot's Dialogue on Dramatic Poetry

asserts "All poetry tends towards drama, and all drama towards poetry."[4] As one of his antagonists, says, this may be a neat and dangerous generalisation, but it contains an element of truth. Eliot admires Browning's dramatic monologues for their reaction against the romantic conception of poetry as a turning loose of emotion and he himself follows the tradition of Browning by creating the characters of Sweeney Prufrock and Lady (in Portrait of a Lady) as emergent figures of drama. In Prufrock, The Portrait of a Lady and The Waste Land, Eliot tends to see poetic situations as drama; soliloquies, implicit dialogues between characters.

T.S. Eliot is intrigued by the decline of poetic drama after its efflorescence in the time of William Shakespeare. What he considered to be the confirmed adherence to false ideals makes him enter the lists as a zealous crusader for the revival of poetic drama. This makes it highly imperative on his part to search afresh for the foundation of dramatic art. In 'Rhetoric and Poetic Drama', ' The Possibility of Poetic Drama', 'Dialogue on Dramatic Poetry' and essays on various dramatic poets, Eliot performed admirably 'the task of restating with precision and authority some first principles'.[5]

In Rhetoric and Poetic Drama, Eliot shows a vital concern for modes of dramatic speech. Elizabethan and Jacobean poetry is repeatedly called 'rhetorical'. As Eliot notes carefully both Elizabethan prose and Elizabethan poetry are written in a variety of styles with variety of devices. Eliot contends that the word "rhetoric" simply means a style of speech and writing. It simply cannot be used as synonymous with bad writing. Let us add the assumption, Eliot goes on to say, "that rhetoric is a vice of manner, and averse to find rhetoric of substance also which is right because it issues from what it has to express. The manifest preference for the conversational or the style of the direct speech in poetry should not lead to the depreciation of the rhetoric and the rhetorical style. "There is in fact no conversational or other form which can be applied indiscriminately, if a writer wishes to give the effect of speech, he must positively give the effect of himself talking in his own person or in one of his roles; and if we are to express ourselves, our variety of thoughts

and feeling on a variety of subjects with inevitable Tightness, we must adapt our manner to the moment with infinite variation.[6]

It is said that as we pass from Kyd and Marlowe to Shakespeare and Webster, there is an outgrowth of rhetoric. As Eliot goes on to say, "This drama is admitted to have grown away from the rhetorical expression, the bombastic speeches, of Kyd and Marlowe to the subtle and dispersed utterance of Shakespeare and Webster."[7] But this apparent abandonment or out-growth of rhetoric is partly an improvement in language and partly progressive variation in feeling. Eliot discovers that the really fine rhetoric of Shakespeare occurs in a situation when a character in the play sees himself in a dramatic light and dramatizes himself against the environment. He cites rhetorical speeches from Othello, Coriolanus, Timon of Athens, Antony and Cleopatra and Julius Caesar, which provide the necessary advantage of a new clue to character.

Eliot contends that this dramatic sense on the part of the character themselves is rare in modern drama. It appears in a degraded form in sensational drama and plays of realism. We often find parts which are never allowed to be consciously dramatic. But in a French play, Rostand Cyrao satisfies the requirements of poetic drama. Eliot thinks that "a poetic drama must take genuine and substantial human emotions, such emotion as observation can confirm, typical emotions, and give them artistic form; the degree of abstraction is a question for the method of each author. In Shakespeare the form is determined in the unity of the whole as well as single scenes; it is something to attain this unity, as Rostand does, in scenes if not the whole play."[8]

To Eliot, Rostand is superior as a poetic dramatist to Maeterlinck, whose drama, is failing to be dramatic, fails also to be poetic. "Maeterlinck has a literary perception of the dramatic and a literary perception of the poetic, and he joins the two, the two are not, as sometimes they are in the words of Rostand, fused. His Characters take no conscious delight in that role they are sentimental."[9] Eliot concludes that the "rhetoric" as applied to dramatic speech can be good as well as bad writing. From his point of view, "rhetoric is an adornment or inflation of speech which is not done for a particular effect but

for a general impression."[10]

In his essay entitled "Four Elizabethan Dramatists, a preface to an Unwritten Book (1924), T.S. Eliot defines and illustrates a point of view towards the Elizabethan drama, which is different from that of the nineteenth century tradition. Eliot endeavours to show that the accepted and apparently opposed critical attitudes toward Elizabethan dramas are 'identical' and that another attitude is possible. Charles Lamb, Specimens set in motion the enthusiasm for poetic drama which still persists and at the same time encouraged the unhealthy formality of a distinction between drama and literature which proved to be the ruin of drama. Lamb's critical writings encouraged this tendency to read the plays as poetry while neglecting this function on this stage. This resulted in thinking that poetry & drama are two separate things, which can only be confirmed by a writer of exceptional genius."[11] Swinburne went on to corroborate Charles Lamb's view that plays exist as literature. William Archer went to the other extreme with his view that a play need not be literature at all. T.S. Eliot contends that though A.C.Swinburne's views appear to be radically opposed to that of William Archer, "yet their assumptions are fundamentally the same, for the distinction between poetry and drama which Mr. Archer makes explicit, is implicit in the view of Swinburne and Swinburne as well as Mr. Archer allows us to entertain the belief that the difference between modern drama and Elizabethan drama is represented by a gain of dramatic technique and the loss of poetry."[12] Describing the art of the Elizabethans as an impure art, Eliot concludes that "the aim of the Elizabethans was to attain complete realism without surrendering any of the advantages which are artistic, they observed in unrealistic conventions.[13]

T.S. Eliot gradually learns more about the problems of poetic drama and the conditions which it must fulfil if it is to justify itself. In Poetry and Drama (1951) he explains not only hidden reasons for wanting to write poetic drama, but the more general reason for wanting to see poetic drama restored to the rightful place. This invoice and examination of the reason as to why

poetic drama has potentially to offer the play-goes that prose-drama cannot. Eliot starts with the assumption that "if poetry is merely decoration, if an added embellishment, if it merely gives people of literary taste the pleasure of listening to the pleasure of poetry at the same ever they are witnessing a play, then it is superfluous Eliot's theory of poetic drama militates against the ul-too frequent assumption."[14] An individual voice different from that of any other character: so that "of each such utterance, we can say that it could only have come from that character." And from time to time quite unexpectedly, the voices of the author and the character may be heard "In unison, saying something appropriate to the character, but something which the author could say for himself also, though the words may not have quite the same meaning for both."[15] In the poem "Tomorrow and Tomorrow and Tomorrow" passage in Shakespeare's Macbeth, the perpetual shock and surprise of these hackneyed lines is evidence that Shakespeare and Macbeth are uttering the words in unison, though perhaps with somewhat different meaning. In Shakespeare, these are lines in which we have a more important voice still than that of either the character or the author. Ripeness is all Shakespeare is taken as the supreme poetic dramatist and his achievement as a poetic dramatist is taken as the norm of excellence. Let me discuss what T.S. Eliot describes as his Impersonal Theory of poetry. This theory tends to dramatize Eliot's poetry. Eliot describes poetry and art as being a more finely perfected medium in which special or very varied feelings are at liberty to enter into new combination. Eliot uses the chemical image of the catalyst to describe the creative process. When the two gases - oxygen and sulphur dioxide are mixed in the presence of a filament of platinum, they form sulphurous acid. This confirmation takes place only if the platinum is present, but the newly formed acid contains no trace of platinum, and the platinum itself is apparently unchanged has remained inert, neutral and unchanged. Eliot goes on to compare the mind of the poet to the shred of platinum. In his words, "The mind of the poet is the shred of platinum. It may partly or exclusively operate upon the experience of the man himself; but, the more perfect the artist, the more complete separate in him will be the man who suffers and the mind which

creates; the more perfectly will the mind digest and transmute the passions which are its material.[16]

The experience of the poet is composed of feelings and emotion. The experiences are subject to the influence of the transforming element. Eliot distinguishes between the experiences in life and those in art and literature. To cite the words of Eliot once again, "The effect of a work of art upon the person, who enjoys it, is an experience different in kind from any experience not of art. It may be formed out of one emotion or may be a combination of several; and various feelings, inhering for the writer in particular words or phrases or images may be added to compose the final result."[17]

T.S. Eliot is of the view; poetry is a craft, an art, a metier. "The business of the poet says T.S. Eliot, is not to find new emotions, but to use the ordinary ones and in working them up into the poetry, to express feelings which are not in actual emotion at all."[18] And emotion which he has never experienced will serve his turn as well as those familiar to him. The poetic art is a sort of concentration and a new thing resulting from the concentration, of a very great number of experiences which to the practical and active person would not seem to be experienced at all. The concentration in the art of poetry comes unconsciously. Eliot, therefore, concludes poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality." The emotion of art is thus impersonal and its expression may very well, take the dramatic form.

T.S.Eliot rightly described his own brand of criticism as workshop, criticism for, it was highly relevant to his creations. Indeed Eliot's literary criticism has a difference of his poetic art, and his dramatic poetry is an illustration of his critical theories. His excellent essays on Dryden and on the poetry of Dr. Johnson perhaps account for our new sympathy with, and understanding of, the eighteenth century. He has written the best short English introduction to Dante, and good essays on two writers. Eliot in his critical essays pleaded for the interaction of poetry and drama. He formulated what he called the impersonal theory of poetry. In his view art is impersonal. The

poet, described in ideal terms, should be able to rise above personal and private emotions. On other words, ideal poetry should be dramatic. This fundamental idea was developed by Eliot in seminal essay in Tradition and The Individual Talent1.This essay is opposed to the romantic cult of personality and its glorification of novelty to the point of eccentricity. For a sense of tradition the poet must develop his consciousness of the past; his individual talent resides in his particular sensibility. The relation of tradition to talent is that talent is formed by admiration of the poet, but disciplined by conformity to the past. This relationship also applies to the formation of the past. In his later essay on Thomas Heywood he says that "some inchoate pattern" may derive from personality, but artistic unity comes only from moral synthesis or vision. Eliot had a strong sense of tradition. According to Eliot "The historical sense, which is a sense of the permanent and the changing, is what makes a writer both traditional and conscious of contemporaneity." He is taught by his awareness of the past, and the fundamental lesson is that the mind of his own culture is more important than his own private mind, and hence the individual talent should conform to tradition. In short, the poet finds his strength in submission to something greater than himself. For Eliot this principle applies not only to the literary order, but also to the political and religious orders, as in Four Quartets.

Eliot's essay Tradition and the Individual Talent was largely responsible for re-establishing traditionalism as a central concept to modern poetry. Eliot's essay, appearing at a time when experimentalism is poetry was at its height and had a tremendous impact upon subsequent speculation and taste in retrospect it appears to be moderate enough statement of the classical point of view, stressing the continuity of the present with the past and affirming the objectivity of the work of art, hence its essential impersonality. For Eliot tradition involves the historical sense the perception of the presence of the past as well as its pastness. He postulates, further more the simultaneous existence of the works of the past. The most important statement in the essay with respect to subsequent criticism concerns the main current of English poetry which, according to Eliot does not necessarily flow through the most

distinguished reputations. The tradition or main current is not specified, but Jater essays, among them the essay on “The Metaphysical Poets”, were devoted to it. Other influential critics and poets, notably the Nashville group consisting of Alien Tate, John Crowe Ranson and Roberth Penn Warren were also contributing to the idea of a main tradition in English poetry which has since become the contemporary equivalent of “the classical tradition” of former periods.

As a practitioner of dramatic poetry, T.S.Eliot introduced the term “Objective Correlat[illegible]” into modern literary criticism in the essay “Hamlet and his Problems”, 1919; “The Sacred Wood”, 1920. Hamlet is an artistic failure, according to Eliot chiefly because its central character is dominated by an emotion. The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an objective correlative, in other words, a set of objects, a situation, a claim of events which shall be the formula of that particular emotion; such that when the external facts which must terminate in sensory experience are given, the most terminate in sensory experience are given, the emotion is immediately evoked, Shakespeare has failed to provide Hamlet with any such objective correlative. Since Eliot introduced the term it has been more often discussed than used; which he said in 1956, speaking of his own literary criticism, have had a truly embarrassing success in the world. One concludes that Eliot here has the firm expression is a special sense according to which a state of mind which is inadequately accounted for is inadequately expressed; it fails to engage fully the audience’s sympathies and has therefore not been successfully turn into “The term of art”.

References :

1. T.S.Eliot: On Poetry and Poets. Page72.

2. Ronald Peacock: The Poet in the Theatre, Page 4, G Routledge & Sons Ltd.

****

3. T.S.Eliot: Selected Essays (Faber and Faber, London. P.52
4. Ibid., Page 52
5. Ronald Peacock: op.cit.Page 3.
6. Ronald Peacock: op.cit.Page 3.
7. Ronald Peacock: op.cit.Page 3.
8. Ronald Peacock: op.cit.Page 38.
9. Ibid., Page38-39,
10. Ibid., Page 41.
11. Ronald Peacock: op.cit.Page 41-42.
12. T.S.Eliot: On Poetry and Drama (Faber and Faber, London.1957 Page72.
13. Ibid., Page 100.
14. Ibid., Page 41.
15. Shiv KXumar,ed.Three Essays by T.S.Eliot(Oxford University Press, Kolkata), 2001
16. Ibid., Page 22.
17. Ibid., Page 22.
18. Ibid., Page 110.

Dr. Sunil Dutt Singh
PGT (English)
Sainik School, Bhubaneswar-5



The Deity Incarnation

Dr. Ratnesh Kumar Jha
&
Ragini Jha

When I came to know that the lovers of Sanskrit world are going to felicitate Dr.Satish Chandra Jha, Ex-Professor and Head, Department of Sanskrit , B.R.A. Bihar University, Muzaffarpur and Ex-general president of All India oriental Conference , Bhandarkar Oriental Research Institute , pune ,with publication of "Dr.Satish Chandra Jha was instantaneously conceptualized in my mind but writing something about Dr. Satish Chandra Jha was not so easy , not because I have no few words to say something about him but my wods are few,in realy writing about such a personality who is the Sparkling Star of the Galaxy of Linguistics.Mypen is running short of ink,blood in my arteries is freezing and my hands are getting paralyzed in saying a single word out of fear the quantum of affection and love that I have received from Dr. Satish Chandra Jha in the past several years, compel me to remember the linesof Goswami Tulsi Das quoted in The Ramayana,

This gaveme enormous strength and vital inspiraton in torching a pencil of light to the Scorching sun of the Sanskrit world but still I am not ina position to write a scholarly article on Dr.Satish Chandra Jha that he deserves. so I am just putting my experiences-good or bad - that I observed with hm during the years.

A worthy son of a worthy father : Dr. Satish Chandra Jha was born in a clan of Sanskrit laureates, in a family where Sanskrit was used as lingua

franca, in a village that prouced thousands of pillars of Sanskrit and in a soil that gave the world several schools of thought.His father pandit Krishna Chandra Jha was the most renowned Grammarian of the contemporary world.Though I am mt unfortunate man that I could not see Pandit Krishna Chandra Jha . but I came to know from some sources of the other that he was the sanskrit himself.To any query made by his disciples, fortunately one of them was Dr. satish Chandra Jha also, he never referred to any book and every thing was on his tongue as if Panini himself was backing behind him. To us, Dr. Satish Chandra Jha may be a man be a man beyond comparison in the present day Sanskrit world, Dr. Satish Chandra Jha proclaims himself as a boy satisfied with a worthess pebble that he could get out of a vast ocean of knowledge that his father was having in him and for that Dr. Satish Chandra Jha will never pardon himself.

A True disciple of Sankrit - Pandit Krishna Jha tried to give the best education that he could do at that time to his con, "Babua"-the childhood name of Dr. Satish Chandra Jha. This was the phase when Sanskrit Education was passing through a critical phase and the Traditional Sanskrit Education System was traversing to the Modern Education System. This was a potential threat to the Sanskrit world because the class of knowledge that the so called Pandits were haveing in their brain were all going to be devastated. This was true also, to a great extent because the Modern Education was knowledge based and wisdom based. Pandit Krishna Chandra Jha tried to amalgamate these two in one and the result the two. Dr. Satish Chandra Jha and the later could prove himself as a connecting link between the two. Dr. Satish Chandra Jha learnt, the Amarkosh, the Ashtadhyayee and other similar books on Grammar, by throat as the so called Pandits generally do but the conception, the perception and the explanations of the things were quite scientific, giving it a different flavor.

The father and the teacher in Pandit krishna Chandra Jha meticulously observed the hidden talents in his son and disciple, Babua and found that he can make his dreams come true in any ruling disciplines like English, science

or even Mathematics but he tried to give something to the Sanskrit world and we people shall always be obliged to him for his kind benevolence.

I remember one story, retold by some elders, how Babua appeared in the Madhyama Examination. He was, at that time, a little boy not even having the capability of wearing dress properly. On examination, he was standing in front of the desk and not sitting on the bench as the level of desk was quite higher to his reach. On feeling hot, as it was a smmer month, he undressed himself and put his clothes on one side of the writing desk. The invigilators could not prohibit him in doing so firstly because the child was of a very little age and secondly because he was writing in full swing with firm confidence. The news and the photograph of the Examination Hall appeared in the then leading Hindi Daily "Aryavrata" and the news was again flashed in the same newspaper when the boy stood first with record marks.

One another story, I would like to mention here, again retold by some elders. This was the time when "Shstrartha" (Open Discussion) was organized by the laureates of the Sanskrit and one such contest was organized called "Shalaka Contest" in which a book mark was used to be kept in any page of any book by an innocent child and Pandits were invited to go for open discussion on that unknown topic extempore. In one such test, one Pandit from Varanasi, the soil famous for giving so many Sanskrit laureates, was there and he was the winner of this "Shalaka Contest" five times in a row. So, the result was almost out and Pandits were taking it as amateur. When the contest started through unknown bookmark from 'Astadhyayee", the Pandit smiled with a confidence as this was on his tongue tipe. He started replying the questions of the learned participants with great patience and the audience was spell bound. Now this was the turn of Dr. Satish Chandra Jha who asked one question to the Pandi Ji related to that Sloka but the Pandit Ji had never thought of such question from the same Sloka that he was narrating time and again. Now there was series of questions from the single sloka and each time the Pandit Ji could not speak a single word. The little boy answered all the quations that he has asked to the Pandit Ji with great Honour and won the "Shalaka Contest."

These incidences are important to be quoted here not because Dr. Satish Chandra Jha defeated the so called winner of "Shalaka Contest" five times in a row but to give some inspiration to the students of little age in general and to the Sanskrit students in particular-who now, devote himself in Sanskrit Studies not for knowledge but for getting job, and that too, not with zeal but with compulsion.

A born Academician : Dr. Satish Chandra Jha was a Born Academician and several innovaions go to his credit. I have already mentioned that Sanskrit teaching was in a critical phase and this was now, not a common men's language. Even the teachers and professors of Sanskrit felf it difficult to narrate and teach in Sanskrit medium. The fluency and the command of knowledge as sparkles in voice were quite lacking and this was a challenging task fro Dr. Satish Chandra Jha. The boys coming from Modern Education System to the Post Graduate Classes were having the same problem without any talent of reading, writing and speaking Sanskrit and above all the Academic Council of BRA Bihar University made it mandatory to write at least 40% of answer to be give in Sanskrit and Dr. Satish Chandra Jha was instrumental in regulating these mandates because only this could save the Sanskrit language from being completely washed out. But again the challenge was not so easy, how to tackle these problems. The great academician in Dr. Satish Chandra Jha sorted out the problems with firm confidence and patience and the art of reading, writing and speaking simple Sanskrit was then initiated. Sanskrit became so handy language due to the efforts of Dr. Satish Chandra Jha that the Sanskrit learners from around the country started talking Sanskrit as lingua franca and there was a great rush of students to Department of Sanskrit, BRA Bihar University for Higher studies and at least, 60 Ph.D. thesis and 3 D.Litt, related to Sahitya, Vyakaran, Kavya, Natya, Jyotish, Dharma in Hindi, English and Sanskrit languages go to his credit.

An Administrator : Dr. Satish Chandra Jha was amalgam of Academics and the Administration and he never overlapped both his images together. For, the sake of academics, he tried to imply all his administrative skills. It was his

effort that the so called hooligans and miscreants left BRA Bihar University campus for good, there was no unfair means in the Examination and there was complete academic environment. He tried to imply the administration in other places also but unfortunatly he had to pay for that. But these things are just trifles for a personality like Dr. Satish Chandra Jha.

A true lover of Mankind : Dr. Satish Chandra Jha is a ture lover of Mankind and we get such reflections in all his research findings, these and manuscripts. He was a born socialist and addressing common problems related to the upliftment of poorest of the poor was his main ambition of life. There are several instances, when Dr. Satish Chandra Jha was found giving moral, economic and social support to the people in general to the down trodden in particular, and this is not that people have forgotten these things. We still harvest the seeds of his love that he has sown in the community of mankind.

The Deity Incarnation : Dr. Satish Chandra Jha is a man of letters, a renowned academician and a great linguistic scholar to the whole of world but to me, He is The Deity Incarnation. The love, the affection, the guidance and the suggestions that he is giving to me, can not be possible from a man and as such I accept him to be the God Himself. In other words also, the mother and the father are living Gods whom we can perceive physically. The earth, the air, the sun, the water and the tree come next in the series of gods. I have the remembrance of several occasions where he advocated something in favour of some one in sentiment that seemed to be impossible at that time but that came true in the years to come. May be that, this could be possible out of his faith in God or through his worship to God but doing worship or sadhana for himself and giving the fruits of such Sadhana to someone else is again not the work of a common man. I am the most fortunate man on the whole of earth that Dr. Satish Chandra Jha, my beloved wife is the daughter of such great man whom I pray like God Incarnation and my son Pratyush Kuamr Jha and daughter Abhipsa Jha are the most favoured by the blessings of Dr. Satish Chandra Jha.

Ratnesh Kumar Jha,
Ragini Jha, Chapra (Bihar)

****

रेखा-लेखा

डॉ. गिरिजा किशोर झा

समग्र विश्व में कोनहु एहन वस्तु, परिस्थिति वातावरणवा अवस्था नहि छैक, जकर इतिहास नहि हो। कहबाक तात्पर्य ई जे बिना इतिहासक वर्तमान नहि भ सकैछ तथा बिना वर्तमानक भविष्यक कल्पना करब निरर्थक अछि। एहन इतिहास व्यक्तिक भ सकैत अछि समाजक भ सकैत अछि आ साहित्यक सेहो। हमर चर्चाक विषय मात्र साहित्यक इतिहास सीमा धरि बान्हल अछि तैं हम एखन अपन चर्चा कें बिना एम्हर ओम्हर देखने केवल साहित्य आ मैथिली भाषा साहित्यक लोक पर ल जएबाक प्रयास क रहल छी।

ऐना में केवल अपन वा किछु लोकक चेहरा देखल जा सकैत अछि किन्तु साहित्य वा भाषा में एकहि बेर में सम्पूर्ण चर्चित समाजक रूप कँ गहिंकी दृष्टियें निरेखल जा सकैत अछ। तैं ऐना कें ततवा साफ अवश्य राखी जाहि सँ स्पष्ट चित्र देखल जा सकए।

मैथिली भाषा ओ साहित्यक असली रूप निरेखबाक हेतु इतिहासक ऐना कूं साफ राखब आवश्यक प्रश्न उठैत अछि जे मैथिली साहित्यक प्रारम्भिक काल वा आदिकाल कहिया सँ मानल जाए। मैथिली साहित्यक इतिहासकारक संख्या कम नहि, तहिना विचार-भिन्नता सेहो बहुत। अधिकांश इतिहासकारक बानगी देख।

डॉ. उमेश मिश्र 1950 ई. में 'राष्ट्रभाषा परिषद्' में अध्यक्षीय भाषण 'मैथिली भाषा ओ साहित्य' शीर्षक निबन्धक रूप में देलन्हि। ओहि में मैथिली भाषा ओ साहित्यक आदिकालक समय 1000ई. सँ 1600 ई. कएलन्हि। पुनः जन्मक भूमिका लिखलन्हि तँ अपने आदिकालक समय 1000 ई. सँ 1300 ई. तक चर्चा क देलिन्ह।

800 ई. सँ 1000 ई. क बीचक दूरी 200 वर्षक भ जाइत अछि जखन कि 25 वर्ष में एक पीढीक अन्तर समाज में आबि जाइत अछि।

तहिना सुभद्र बाबू 1300 सँ 1600, व्यथित जी 1325 सँ पूर्वक समय, डॉ. शेलेन्द्र मोहन बाबू 1300 सँ 1525, श्रीश जो 1300 ई. सँ पूर्वक समय, प्रो.राधा कृष्ण चौधरी 900 सँ 1350, डॉ. विनोद कुमार झा 800 ई. सँ 1350 ई. आदिकालक समय मानैत छथि।

निष्कर्षतः ई कहल जा सकैत अछि जे आदिकालक समय निर्धारणक सन्दर्भ में हमर इतिहासकार लोकनि एक मत भइये नहि सकलाह अछि। तैं ई स्पष्ट अछि जे समय निर्धारणक अस्तव्यस्तता मध्यकालक समय निर्धारण के सेहो स्पष्ट नहि होमए दैत अछि।

हमरा जनैत यदि साहित्यकारक नाम आधार लए आदिकालक समय निर्धारण कएल जाय तँ कतहु विवाद नहिं रहि जाइत अछि। यथा-प्रारम्भ सँ लए कए कवि कोकिल महाकवि विद्यापति सँ पूर्व धरिक समय कँ आदिकाल मानि ली तँ आगूक रास्ता स्पष्ट आ साफ दृष्टिगोचर होबए लागत। जहाँ धरि प्रारम्भ शब्दक प्रश्न उठैत अछि ओ प्रारम्भ कहियों भ सकैत अछि। सन् इसबी आदि सँ हजारों वर्ष पूर्वहु भ सकैत अछि आ ८०० वा ९०० ई. सेहो भ सकैत अछि।

कने ध्यान एहि तर्क पर दिअ-

चर्चा अछि ज त्रेता युग में सीता हरणक बाद हनुमान जी अशोक वाटिका में श्री मैथिली (जानकी जी) सँ हुनक (सीता जीक) मातृभाषा में एहि हेतुयें बात कएलन्हि जे कतहु श्री मैथिली के ई संदेह नहि होइन्ह जे इहो राबणेक कोनो मायाबी चर नहि हों। तैं हुनक मातृभाषा (मैथिली) में बात कएने हएताह एहन अनुमान अछि। संस्कृत तत्कालीन प्रमुख भाषा छल आ रावण स्वयं संस्कृत उद्भट विद्वान् छल। राम विश्वामित्रक गुरूकुल से शस्त्र ओ शास्त्रक शिक्षा लेने छलाह। संस्कृतक पर हुनको एकाधिकार छलन्हि। स्पष्ट थीक जे संस्कृत से परे भाषा मिथिलाक रहल् हएत ताहि में कोनो दू मत नहि। हनुमानजी तँ आठहु सिद्ध नबो निधिक मालिक छलाह, तैं हुनका हेतु मिथिला में प्रचलित भाषाक प्रयोग आश्चर्य में नहि दैत अछि।

आब समयक कसौटी पर हनुमानजी के कसि कए देखू। हमरा लग एहन प्रमाण अछि जाहि में हनुमत (सन्) 47340 अछि। ई समय ओहि दिन अछि जाहि दिनक ओहि प्रमाणक निर्माण भेल हएत। ओ प्रमाण कहिया बनल तकरो अता-पता नहि अछि। तें हमरा जनैत आदिकालक समय निर्धारण प्रारम्भ सँ लए विद्यापतिक पूर्व धरिक समय कें मानल जाए सएह उत्तम।

जहाँ धरि आदिकालीन उपलब्ध सम्पादक प्रश्न उठैत ताहि में इतिहासकार लोकनिक अनुसारें (क) पंजी प्रबन्ध, नवम शताब्दीक वाचस्पति मिश्रक वेदान्त सूत्रक शंकर भाष्यक टीका भामती, हेमचन्द्रक काव्यानुशासन एगारहम शताब्दी में सर्वानन्दक अमरकोषक टीका, धर्मशास्त्र सभ में अनेको स्थल पर, रूचिपति उपाध्याय ओ जगद्धार सनक विद्वान सभक रचना में, काशीक दामोदर पण्डितक रचना 'उक्ति-व्यक्ति' एगारह शताब्दीक रोडा कवि कृत 'राउलवेल' आदि सभ में।

****

(ख) बौद्ध सिद्ध लोकनिक द्वारा रचित उपलब्ध मैथिली रचना जकरा इतिहासकार तीन खण्ड में विभाजित कएने छथि यथा चर्यापद, दोहाकोष ओ डाकार्णव मैथिलीक आदिकालीन एकटा महत्वपूर्ण सम्पदा थीक।

(ग) कृषि प्रधान मिथिला क्षेत्र अर्थात् गंगा, ब्रह्मपुत्र नदीक द्वारा लाएल गेल माटि हिमालयक जड़ि में सटि-सटिक समतल उर्बरा भूखण्ड पर कृषि सम्बन्धि रचना डाक एवं घाघ द्वारा कएल गेल जे मिथिला वासीक जीवन में महत्वपूर्ण टा नहि अछि अपितु ठोर पर एखनो सुनल जा सकैत अछि। ई ठेठ मैथिली में लिखल गेल अछि आ हमर साहित्यक महत्वपूर्ण आदिकालीन सम्पदा थीक।

(घ) लोरिक, सलहेस, दीनाभद्री, छेछन, नैकाबनिजारा दुलरा दयाल आदि सँ सम्बन्धित लोकगीत ओ आख्यान आदिकालीन मैथिलीक एहन सम्पदा अछि जेकरा एखनो मिथिलाक लोक अपना जीवन में समेटिक रखने अछि।

(ङ) छन्द शास्त्र पर लिखल प्रकृत पैगलम में ठेठ मैथिलीक प्रयोग एकर सम्पदेटा नहि अछि अपितु एकर तत्कालीन 900-1400 समय में मैथिलीक लोकप्रियता सेहो प्रमाणित क दैत अछि।

(च) सभ में सटीक सांगोपांग जे प्रमाण आदिकाल कॅ आधार प्रदान करैत अछि। से थिक वर्णरत्नाकर सनक ग्रन्थ। जकरा काव्य ग्रन्थ, काव्योपयोगी ग्रन्थ शब्दकोष नहि जाने कतेक रूपें अपन-अपन विचारानुसारें लोकक संबोधित करैत अछि। एकर रचनाकर कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर, जे कर्णाट वंशक अन्तिम शासक ओ सौराठ सभाक वा पंजी प्रथाक प्रणेतो कहल जाइत छथि तनिकहि दरबाक रत्न छलाह। 1300-1400 ई. बीच (रंग-रंगक मत) महराजा हरिसिंह देव शासन सेहो कएलन्हि आ पराजित भए नेपाल पलायन सेहो कएलन्हि। ज्योतिरीश्वर ठाकुर एही समय आ हिनकहि संग रहि प्रारम्भिक ग्रन्थ देलन्हि जे सभ सँ प्रमुख, उपलब्ध लिखित आधार एखन अछि। ई काव्योग्रन्थ थीक आ काव्योपयोगी ग्रन्थ सेहो जकर उपयोग हिनक परवर्ती साहित्यकार लोकनि ठाम ठाम् अपना रचना में कएलन्हि। यथा विद्यापति नगर वर्णना, नायिका वर्णना, आ स्थान वर्णना, ऋतु वर्णना, प्रयाण वर्णना, भट्टादि वर्णना, ओ श्मशान वर्णना अर्थात् सात कल्लोल से वर्णित ई सम्पूर्ण ग्रन्थ अनमोल धरोहर थीक। हर प्रसाद शास्त्री एकर नेपाल में खोज कएलन्हि। अपन स्वभावक अनुसारे एकर प्रकाशन बेर विद्वान लोकनिक एकर नामकरण पर वितण्डा ठाझा कएलन्हि किन्तु स्वयं रचनाकार द्वारा कल्लोलक अन्त से प्रयुक्त आधार सर्वमान्य भेल। सम्पूर्ण, मैथिल ओ मिथिलाक समाज, परिस्थिति, वातावरण ओ तत्कालीन अवस्थाक दर्पण ई ग्रन्थ थीक।

(छ) पुनः हिनकहि लिखल धूर्त समागम जे प्रहसन थीक सेहो मैथिली साहित्यक आदिकालीन लिखल एहि ग्रन्थ कँ शंकाक दृष्टियें सेहो देखैत छथि कारण वर्णरत्नाकरक भाषा आ एहि में प्रयुक्त भाषा में अन्तर छैक। एहन सम्भव थीक जे कोनो अन्य रचनाकर हिनक मौलिक रचना कँ अपना भाषा में सुगम बना लिखने होथि से सम्भव। स्वयं अनुसंधान ओ सम्पादन कए डॉ. जयकान्त मिश्र एकर भाषा पर शंका उठबैत छथि। तथापि एकर प्राप्ति मैथिली साहित्यक आदिकालीन इतिहासक एकटा शक्तिशाली आधार धरि अवश्य प्रस्तुत करैत अछि।

एकटा वस्तु विचारणीय थीक जे कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर जो वर्णरत्नाकरक प्रणेता छथि ओ कर्णाट वंशक अंतिम शासक महाराज हरिसिंह देवक दरबारक अनमोल रत्न छलाह। इतिहासकार एहि बातक चर्च तँ अवश्य करैत छथि जे पराजयक बाद हरिसिंह देव सिम्रौनगढ़ के अपन शासनक केन्द्र बिन्दु बनौलन्हि आ ओहि ठाम सँ पराजित भ' भगवति तुलजा (कुल देवी) कँ संग लए नेपाल चल गेलाह। तकरबाद हुनक कोनो अता-पता नहि रहल। एहि कथन मे सत्यता नहि। यर्थार्थतः ओ भागिकए नेपालक भातगाँव (वर्तमान में) भक्तपुर पहुँचलाह आ ओही ठाम दोलखा में तीन पाटन नामक स्थान में हुनक मृत्यु भेल।

"वि. सं. - 1381 मा सिम्रौनगढ़मा दिल्लीक सुलतान गयासुद्दीन ले आक्रमण गरेका हुँदा सिमरौनगढ़ ध्वस्त भयो रत्यहॉका राज हरिसिंह देव आत्मरक्षा को लागि केहीकाल यताउति लागेपछि नेपाल को पहाड़ी भाग मा पसे। दोलखातिर जानलाग्दा तीन पाटन भन्ने ठाउँमा उनको मृत्युभयों त्यसवेलारूद्र मल्लले भक्तपुर को अपनो दरबार में शरण दिए यस घटनावाट तिरहुतमा भएको सांस्कृतिक उत्थान सम्बन्धी क्रियाकलाप को केन्द्र के ही मात्रा सा भक्तपुरमा सन्यों यस वाट यहाँ को सांस्कृतिक इतिहासमा केही नयाँ मोड़ आयो। शक्तिपूजा को जुन नयाँ लहर उठेको थियो तथा तात्रिंक विधिधानले जनु स्थान लिएको थियो, त्यसको पनि केही अंशमा केन्द्र भक्तपुर बन्यो।"

मेची देखि महाकली (भाग-2)

भक्तपुरको ऐतिहासिक पुष्ठभूमि, पृष्ठ - 647

प्रकाशक - श्री पाँचको सरकार, संचार मंत्रालय, सूचना विभाग, नि. सं.-2031

हुनक (हरिसिंह देवक) कुलदेवी तुलजा भवगती एखनो राज प्रासादक परिसर में तालेजू भवगती नामे विद्यमान छथि तथा जीर्ण अवस्थ में एखनहु भव्य मंदिर अपन इतिहास कँ साकार करैत देखल जा सकैत अछि।

मैथिली साहित्य (मध्यकाल)

मध्यकालक प्रारम्भ कहिया सँ मानल जाए ताहि पर मैथिलीक इतिहासकार एकमत नहि छथि। डॉ. उमेश मिश्र कतौ 1300 सँ 1800 एकर समय कहैत छथि तँ कतहु अपनहि कहल कँ कटैत 1600 सँ 1860 कहैत छथि। डा. जयकान्त मिश्र 1600 सँ 1860 क समर्थन करैत छथि तँ व्यथित जी 1325 सँ 1860 मानैत छथि। शैलेम्द्र मोहन बाबू 1556 सँ 1857 पर उतरि आयल छथि तँ राधाकृष्ण चौधरी 1350-1830 धरि पहुँचैत छथि। माने सभ एक-दोसरक विचार कँ कटैत छथि।

रमानाथ बाबू तँ कृष्णकाव्य युग अथवा प्राचीन युग कहि दैत छथि जे समीचीन नहि अछि-कारण मध्यकाल में खाली कृष्णक वर्चस्व रहल तँ नेपाल में हरगौरी विवाह (1618-1633) नलीय नाकम् (1644 - 1672 क बीच) नवदुर्गा नाटकम् रामायण नाटकम् जैमनीयभरत नाटकम्, सती वियोग (1372-1696 क बीच) गौरी विवाह, पशुपति प्रादुर्भाव, (1696-1622 क बीच) रामचरित, इन्द्रविजय नाटकम, कोलासुर बधोपख्यान, खट्वासुर बधोपाख्यान, अन्धकासुर बध्पोख्यान, नलचरित, त्रिपुरासुन बधोपाख्यान, पृथूपाख्यान, ययात्युपाख्यान हरगौरी कथा, (1722-1772) रामायण नाटक 1551 नलचरित (1686 सँ 1664 क बीच) हरिश्चन्द्र नृत्यम् (1702-1723 क बीच) कतए मात्र कृष्णेयुगक दिग्दर्शन करबैत अछि? तात्पर्य जे कृष्णक चरित्र सँ सन्दर्भित वातावरण सँ हटिकए सेहो मध्यकाल में बहुत किछु भेटैत अछि।

तैं हमरा जनैत कविकोकिल सँ प्रारम्भ कए चन्दा झा सँ पूर्व धरिक समय मात्र कँ मध्यकालक समय मानल जाए चाहे ओ समय कहियो हो।

मध्यकाल कँ मेथिली साहित्यक उत्कर्षकाल अथवा स्वर्णयुग से हो यदि कहि देल जाए तँ अत्युक्ति सनक नहि लगबाक चाही। एहिकाल में मैथिली अपन विकासक पथ पर तीव्रता सँ आगू बढ़ल। यद्यपि सम्पूर्ण मध्यकाल गुलामीक काल रहल राजनैतिक दृष्टि सँ। इस्लाम आ ब्रिटिश शासनक प्रभाव साहित्य सृजन पर सेहो भेल। सत्तक डर सँ ओहन साहित्यिक विद्याक सृजन संभव नहि भेल जाहि सँ सत्ता दोष लगैत रहल हो अथवा सत्ता प्रभावित होइत रहल को। तैं साहित्यकार भक्ति ओ शृंगार रस पर आधारित रचना कँ प्रश्रय देलन्हि जाहि सँ सत्ता कँ किछु लेब-देब कँ नहि रहैक। यदि अपन भावना के व्यक्त करबाक प्रयास कएलन्हि तँ आवरण चढ़ा कए। चाहे ओ विद्यापतिक कीर्तिलता हो कीतिपताका हो पुरूष परीक्षा हो अथवा शृंगार पर भक्तिक आवरण हो। नायक-नायिका राधा-कृष्ण आ कीर्तिसिंह ओ वीर सिंह राष्ट्रहितैषी होथि। मोटा-मोटी एहन रचना नहि होइत छल जाहि पर सत्त ऊपर कोनो दोषोरोपन होइत रहल हो। भक्ति आ शृंगार मुख्य रस रहल मध्यकालीन साहित्य सृजनक। बानगीक रूप में - विद्यापतिक अवहट्ठ रचना-कीर्तिलता, कीर्तिपताका।

विद्यापतिक भक्ति सम्बन्धी मुक्तक पद (शिव ओ राधा कृष्ण सम्बन्धी) ओ श्रृंगारिक पद संगहि संस्कृतिक सभ रचना।

हर्ष नाथक - उषाहरण आदि।

तहिना नेपालक भातगॉव (भक्तपुर) कान्तिपुर (काठमाण्डू) बनिकपुर (पाटन) से लिखल गेल ओ मल्लकालीन कोनो नाटक वा अन्य रचना।

नेपाल, आसाम, ओ उड़ीसा में सृजित मैथिली गद्य, पद्य वा नाटक (चम्पू) सभक प्रायः एक प्रवृति देखवा में अबैत अछि। ओ थिक भक्ति, श्रृंगार ओ समाज सम्बन्धी अन्य रचना जकर सम्बन्ध राजनीति सँ कतहु प्रत्यक्ष रूपें नहि देखना जाइछ।

ओना विद्यापतिक प्रभाव चैतन्यमहाप्रभुक माध्यमे, आसामक तंत्रक माध्यमे, तंत्र शास्त्रक अध्ययन वा साधना माध्यमे चाहे वैष्णव धर्मक प्रचार प्रसारक माध्यमे बंगाल, आसाम ओ उड़ीया पर अप्रत्यक्ष रूपें नीक जकाँ भेल तथा ब्रजबुलि साहित्य जन्म लेलक। मैथिली-बंगला, मैथिली-आसामी, मैथिली-उड़ीसा, घुलि-मिलि नब साहित्य बनौलक जकरा पाछॉ मुख्य रूप सँ विद्यापतिक रचनाक वैष्णव धर्म प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु ओ मिथिला आसामक तंत्र विद्या महाप्रभु (बंगालक चैतन्य महाप्रभु) राधा-कृष्णक रूप में चित्रित नायक-नायिकाक श्रृंगारिक मिलन कॅ आत्मा-परमात्माक मिलन मानि अपन भावना कें व्यक्त कएलन्हि आ हुनक शिष्य परम्परा एकरा आगू बढ़ाएवा में अगल-बगलक प्रदेश क्षेत्र में पसारबा में अपूर्ववयोगदान देहन्हि। आसामक शंकर देव सन साहित्यकार धरि एहन भावना सँ प्रभावित भेलाह आ राम विजय सन-सन मिश्रित रचना समक्ष आवि सकल। उड़ीसा सेहो एहि प्रभाव सँ बॉचल नहि रहल।

मुख्यरूप सँ सम्पूर्ण मध्यकाल पद्य ओ नाटकक क्षेत्र में अपना विशिष्टता प्रदर्शित कएलक। नेपाल, आसाम, उड़ीसा, मिथिला ओ बंगाल मैथिली साहित्यक मध्यकालक कर्म क्षेत्र रहल। सम्पूर्ण मध्यकालक केन्द्र में कविकोकिल महाकवि विद्यापति के यदि मानि लेल जाए तॅ अत्यक्ति सनक नहि लागत। तकर कारण हुनका द्वारा स्थापित कृष्ण परम्परा रहल। जाहि युवा-कृष्ण कें अपन युवासस्था में मैथिली भाषा ओ साहित्यक क्षेत्र में ओ प्रवेश करौलन्हि ओ आधुनिकाकलक प्रारम्भ अर्थात् कन्वीश्वर चन्दा झाक प्रवेश सॅ पहिने धरि अपन ताम-क्षामक संग प्रत्यक्ष ओ अप्रत्यक्ष रूपें विद्यमान रहलाह। गोविन्द दासक श्रृंगार भजनक पद, उमापति उपाध्यायक-'परिजात हरण' हर्ष नाथक उषाहरण ओ मनबोधक कृष्णाजन्म एकर प्रत्यक्ष उदाहरण थीक। ओना कृष्णक सीमा सँ हटि नेपाल में अन्यो नाटक सभ लिखल गेल यथा पशुपति प्रादुर्भाव सनक नाटक सभ किन्तु कृष्णक तुलना में पलड़ा बहुत हल्लुक जकॉ रहल।

मैथिली साहित्य (आधुनिक काल)

सँ विद्वान इतिहासकार लोकनिक विचारक समक्ष विवादास्पद रहल अछि। अर्थात् समय निर्धारणक समस्या सँ आधुनिक काल सेहो बाँचल नहि अछि। जाहिठाम डा. उमेश मिश्र, डॉ. जयकान्त मिश्र, डॉ. बालगोविन्द झा 'व्यथित', डॉ. दुर्गानाथ झा 'श्रीश' आदि 1860 ई. सँ आधुनिक कालक प्रारम्भ मानैत छथि ताहिठाम कुमार गंगा नन्द सिंह, डॉ. सुभद्र झा 1800 ई. सँ आदिकालक आरम्भ हएब कहैत छथि। डॉ. शैलेन्द्र मोहन झा, डॉ. दिनेश कुमार झा, 1857 सँ तँ डॉ. राधाकृष्ण चौधरी 1830 सँ एकर प्रवेशक पहिल डेग स्वीकार करैत छथि।

निष्कर्ष जे एकमत कियैक नहि? तैं उपर्युक्त चर्चित विवाद सँ हटि कावीश्वर चन्दा झा सँ आरम्भ कए अद्यः पर्यन्तक समय क आधुनिक काल मानि लेब अनुचित नहि हएत।

ओना आधुनिक कालक समय के सेहो अगर दू भाग में बिभाजित कए अध्ययन कएल जाए जँ एकर स्पष्ट चित्र उभरिकए सामने आबि सकैत अछि। तकर कारण जे जहिया सँ एकर प्रारम्भिक चरण हमरा लोकनि स्वीकार करैत छी ओ परतंत्रताक समय छल तथा विचार स्वतंत्र रूपें व्यक्त करबा में कतहु-कतहु प्रायः डर व संकोच होइत छल साहित्यकार कें। यथा सत्ताचोट सँ हटि कए धर्म वा सामाजिक समस्य जेना बाल विवाह, बहु विवाह, काटर परम्परा, आदिये धरि अपन विचार रखबाक प्रयास करैत छलाह।

स्वतंत्रता प्राप्ति अर्थात् 15 अगस्त 1947 क बाद लोक वैचारिक दृष्टिएँ स्वच्छन्द जँका अनुभव करए लागत तथा प्रजातंत्र हएबाक कारणें स्वतंत्र विचारक प्रतिपादन आरम्भ भेल। सत्ता-शीर्ष धरिक आलोचना पर अंकुश नहि रहल तथा हुनकहु अनर्गल क्रिया-कलाप कें साहित्यकार अपन रचनाक सूई घोपब आरम्भ कएलक।

एहन बात नहि जे परतंत्रताक समय लोक विद्रोही तेवर साहित्य में नहि देखबैत छल। अर्थात् देखबैत छल किन्तु अपन रचना कें दधारक तलवार बना कए। एकधार विद्रोहक बिगुल फूकै छल तँ देसर धार कोट-कचहरी में दोसर अर्थ प्रतिपादित करबाक सामर्थ्य सेहो ओ रचना रखैत छल यथा पशुबुद्धि शीर्षक सनक अन्यो रचना।

निष्कर्ष ई जे जतेक स्वतंत्रताक अनुभव साहित्य सृजन में साहित्यकार स्वतंत्रता प्राप्तिक बाद अनुभव कएलन्हि अछि ततेक परतंत्रता में प्रायाः नहि।

स्वतंत्रता प्राप्तिक बाद साहित्यक प्रत्येक विद्या यथा कथा, उपन्यास, कविता, नाटक, खण्डकाव्य, महाकाव्य, अर्थात् गद्यक क्षेत्र में, पद्यक क्षेत्र में आ चम्पूक इतिहास कँ परिपुष्टिक कए विशाल वटवृक्षक रूप में परिणात क देलक अछि।

पत्र-पत्रिकाक इतिहास पुरान रहितो आधुनिक काल में अपन क्षेत्र विशाल बना लेलक अछि। 1905 सँ मैथिली हित् साधन सँ अपन यात्रा आरम्भ कए एखन अन्तिका, मैथिलजन, मिथिला-एक्सप्रेस, भारती-मण्डन, धरि नहि जानि कतेक सौ पत्रिका अपन झलक देखेलक अछि। स्वाती आ इन्द्रधनुष सनक सैकड़ों पत्रिका अनचिन्हार रहि पाँच-दस वर्ष में काल-कवलित भऽ गेल।

मैथिलीक, कथा, नाटक, कविता, उपन्यास, आलोचना आदि सँ बलिष्ट बाँहि देखिकए बहुतो साहित्यक, चर्चित विद्या तँ डरे सटबोक हिम्मत नहि का पबैत अछि। ई स्पुष्टना आधुनिक कालक देन थीक।

हँ एकटा बात आवश्य कहब जे एखनो मिथिलाक घर-घर में कोठीक कान्हा पर भुजेला वा चड़ेरासे अथवा अथवा सीक पर टॉगल लाल कपड़ा में बान्हल असंख्य प्राचीन ग्रन्थ सभ राखल सड़ि रहल अछि ओकरा ताकि-विछिक सामने लएबाक प्रयोजन अछि।

संगहि एकटा एहन केन्द्र, स्थल कतहु बनए जतए देश में आ कि विदेश से कोनो प्रकाशन हो तँ ओकरा एक प्रति ओहि केन्द्र पर रचनाकार पढावथि जतए ओ संग्रहीत रहए जाहि सँ ई पता चलि जाए जे एहि वर्ष एहि साहित्य में एतेक पोथी आनि पत्र-पत्रिका प्रकाशित भेल। अनुसन्धानकर्त्ता कें सेहो एकहिठाम सम्पूर्ण जानकारी उपलब्ध क सकए।

राष्ट्रीय हितक भावना पर आधारित रचनाक पलड़ा एहि साहित्य में हल्लुक सनक अछि। चाणक्य (महाकाव्य) वा अश्रुकणक मणिपुर फन्ट पर लड़निहार लौंस नायक सनक रचना व मिथिला-भारती सनक गनल-बीछल रचना सभ सँ काज नहि चलत। एकर रिक्त भण्डार कें परिपुष्ट करवाक हएत।

ततेक अकविता पर नहिं उतरि जाइ जे हमर मौलिकता के समाप्त क दए। नक्ता अवश्य अनकार प्रवृति होबाक चाही किन्तु अपन मौलिकता कें बन्हकी राखि अथवा बेचिक नहि एहन हमर विचार। कथा उपन्यास ओ किछु अन्य विधा तँ नवताक अपरम्परा रूप कें पचाक ढ़ेकारो नहि क सकैत अछि कारण ओकर पाचन क्रिया बलशाली होइछ कितु कविताक अंतरी ओतबा बरूआर नहि। तैं ओहन चिकित्सा ओकर सर्वदा नहि होएबाक चाही चाहि सँ ओषधि कें ओकर अंतरी पचा नहिं सकए।

बाँचक (जे छपय से बिकाय जाय) नहि चाही ई हमर विचार आगू अर्जी हमर मर्ज़ी अपने सभक।

गिरिजा किशोर झा
पी-एच.डी., डी.लिट्.,
अध्यक्ष
विश्वविद्यालय मैथिली विभाग
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

****

कवीश्वरक रचना पर संस्कृतक प्रभाव

डॉ. कमला चौधरी

कवीश्वर चन्दा झा मैथिली साहित्य आधुनिक कालक युगस्तष्टा छलात्। उन्नैसम शताब्दीक तृतीय दशकक अन्त मे हुनक जन्म भेल छलनि। एहि समय मे अंग्रेजी का प्रचार प्रसार भड चुकरण छल। चन्दा झा ओहि गत्यवरोध के अनुभव कह ओहि में नव गति प्रदान कयलनि। मैथिली गद्य जे ओहि समय धरि मात्र चिट्ठी पत्री ओ व्यवहारिक दस्तावेज तक सीमित छल, ओहिमे अपन अमूल्य योगदान दउ गीत, भजन आदि क अतिरिक्त हमरा लोकनि के मिथिला भाषा रामायण क रूप में सुगठित महाकाव्य प्रदान कयलनि।

कविश्वर चन्दा झा मैथिली क महाकवि तै रहबे करथि, संस्कृतोक प्रखर कवि छलाह। रामायण में तथा आनोहाम ई जे संस्कृत श्लोकक प्रयोग कयने छथि ताहि आधार पर ई कहल जा सकैछ जे मातृभाषाक प्रति हिनक प्रगाढ अनुरक्ति नहि रहैत तउ संस्कृतो मे उत्कृष्ट रचना कउ सकैत छलाह।

मिथिलाक विद्वान संस्कृतक अपेक्षा भाषा के हेय बुझैत अयरणाह। संस्कृत, तमिल, बंगला, हिन्दी आदि अनेकानेक भाषा सबमें रामायणक रचना मउ चुकल छल। मैथिली में एकर आभाव खटकैत रहल। विद्वानमण्डली संस्कृतक अनन्त भण्डार के समृद्धिशाली बनयवामे अपन गौरव बुललनि। एहन समय मे चन्दा झा संस्कृतक प्रकाण्ड विद्वा होइतहुँ अपन मातृभाषाक गौरव के नहि बिसरि सकलाह आ मैथिली में राम चरित्र यशोगान लिखलनि।

भारतीय साहित्य में व्याप्त राम कथा वाल्मिकी संग प्रारम्भ भउ व्यास कृत विभिन्न पुराण ओ तत्पश्चात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं विभिन्न लोकभाषा में लिखित अछि। मैथिली भाषा में उन्नैसम शताब्दीक अन्तिम चरण में कवीश्वर चन्दा झा द्वारा मिथिला भाषा रामायण क रचना भेल। कवीश्वर अपन रामायण क रचना आध्यात्म रामायण क आधार पर कयलनि, से मूल से ततेक मिलैत अछि जे एकरा अध्यात्म, रामायण क अनुवादो कही तें

अत्युक्ति नहि, तथापि एहि में कतहु-कतहु बाल्मीकि रामायण, आनन्द रामायण, रामचरितमानस, प्रसन्नाराघव नाटक तथा हनुमान्नाटक पर आधृत कथा सेहो अछि।

वस्तुतः देववाणी संस्कृतक साहित्य सरिता बड़ व्यापक ओ प्रवहमाण रहल आछि। एहि अमर सिन्धुसँ बुन्द बुन्द लड भारतक समस्त लोकभाषा साहित्य सजल ओ सबल बनल अछि। तदनुरूपेण कवीश्वर चन्दा झा मिथिला रामायण में आध्यात्म रामायण के उपजीव्य ग्रन्थ रूप में ग्रहण कयलनि अछि। कतहु-कथा कतहु भाव, कतहु उक्ति विधान तै, कतहु ओ ओकर वाक्यानुवाद पर्यन्त कयने छथि। यदि कहल जाय जे संस्कृतक अध्यात्म रामायणे मैथिलि में चन्दा झा क रामायण रूप में नव विस्तार ग्रहण कयलक तउ से सर्वथा समुचितो।

आध्यात्म रामायणक माहात्म्य ब्रह्माण्ड पुराणक एक पृथक् सर्ग में निवेशित अछिं। कवीवर ओकरहु ग्रन्थक आरम्भहिमे प्रथम अध्यायक अन्तर्गत निवेशित कयलनि अछि। श्रोता-वक्ता दुहू में समाने, नारद एवं सत्यलोकाधिष्ठित ब्रह्मा। दुहूक जिज्ञासा क आधार एकहि अछि। एहि प्रसंग किछु उदाहरण द्रष्टव्य थिक।

अध्यात्म रामायणक महात्म्य एहि रूपेण आरम्भ होइछ-

एकदा नारदो योगी परानुग्रहवाञ्छया।
पर्यटन् सकलॉल्लोकान् सत्यलोकमुपागमत्।।
बालार्कप्रभया सम्यग् भासयन्तं समागृहम्
मार्कण्डेयादिमुनिभिः स्तूयमानं मुहुर्मुहुः।।[1]

कवीश्वर अपन रामायण लिखने छथि-

नारदयोगी पर उपकारा।
कस्क हेतु सञ्चर संसार।
सत्यलोक मुनि पहुँचल जखन
देखल विरञ्चिक वैभव तखन
बाल दिवाकर सन छथि भास
मार्कण्डेय प्रभृति तट वास
स्तुति करइत छल छथि छलहीन[2]

पुनः मिथिला रामायणक प्रस्तावना पद देखल जाय-

होयत कलयुग जखना घोर। सम जन लम्पट समजन चोर

सत्य कथा ककरहु नहि नीक। दुराचाररत मन सबहीक

पर अपवाद मध्यं मन निरत। परधनमे अभिलाषी फिरत

आन वनितामे मन सटल। परहिंसाक परायण पटल।[3]

उपर्युक्त वर्णन अध्यात्म रामायण महात्म्यक भावे टा नाहि, शब्द-शब्दक अनुभावम करैत गेल अछि। आध्यात्म रामायण के मूल श्लोक द्रष्टस्य अछि-

प्राप्ते कलियुगे घोरे नराः पुण्यविवर्जिताः।

दुराचाररताः सर्वे सत्यवार्त्तापराङ्मुखाः।।

परापवादनिरताः परद्रव्याभिलाषिणः।

परस्त्रीसक्तमनसः परहिंसापरायणाः।।[4]

आध्यात्म रामायणक प्रथमे सर्गक प्रसंग अछि-

यः पृथ्वी भरवारणाय दिविजैः संप्रार्थितश्चिन्मयः।

संजातः पृथिवीतले रविकुले माया मनुष्योऽव्ययः।।

निश्चक्रं हतराक्षसः पुनरगाद्-ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां।

कीर्तिं पापहरां विधाय जगतां तं जानकीशं भजे।।[5]

वाक्य शब्दक अनुगमन में भाव-विभोर कवीश्वरक उक्ति साम्य से हो द्रष्टव्य थिक-

पृथ्वी काँ बाढ़ल बड़ भार। चिन्मय पुरूष लेल अवतार।।

कयाल प्रार्थना ई सुर लोक। कहलानि धरणीकाँ बड़ शोक।।

पृथिवी में रघुकुल अवतार। धम प्रभु हरलनि पृथिवी भार।।[6]

पुनः अध्यात्म रमायणक निम्न पंक्ति देखाल जाय-

योऽति भ्रष्टोऽतिपापी परधनपरदारेषु नित्योद्यतो वा

स्तेयी ब्रह्मध्न मातापितृवधनिरतो योगि वृन्दापकारी

यः सम्पूज्याभिरामं पठति च हृदयं रामचन्द्रस्य भक्तया

योगीन्द्रैरप्यलभ्यं पदमिह लभते सर्वदेवैः स पूज्यम्।[7]

कविश्वर एही भाव के अपन रामायण में एना वर्णित कयलनि अछि-

जाति पाति नष्ट भ्रष्ट पापी पर धन रत
ब्रह्मघाति उतपाती मित्रजन नाशी जे।
कुल मे कलंकि ओ कुलघ्नत्र हेमचोर चाँढ़
योगिवृन्द अपकारी धर्म में उदासी जे।
रामचन्द्र पूजि कै करय हृदय पाठ
योगीन्द्र अलभ्य पदहीक होथि वासी से।
चन्द्र मन सर्वलोक विजयी विभूति मान
पढ़थि न कदापि कठोर यम फाँसी से।।[8]

अध्यात्म रामायण मे बाल काण्डक दोसर सर्ग मे पार्वती क उक्ति छनि-

धन्यास्म्यनुगृहीतास्मि कृतार्थस्मि जगत्प्रभो।
विच्छिनो मेऽतिसन्देह ग्रन्थिर्भवदनुग्रहात्।।
त्वन्मुखाद गलितं रामतत्त्वामृतरसायनम्।
पिबन्त्या मे मनो देव न तृप्यति भवापहम्।।
श्रीरामस्य कथा त्वन्तःश्रुता सक्षेपतो मया।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण स्फुटाक्षरम्।।[9]

कवीश्वर रामायण मे एहु प्रसंग में साम्य देखल जाय-

शिव शिव कहल शुनल हय कान। रामायण वर अमृत समान।।
पिबइत पिबइत तृप्ति न भेल। भव सन्ताप सकल चल गेल।।
धन्य भाग्य थिक मन मे गुनल। राम तत्व संक्षेपहि शुनल।।
कयल अनुग्रह संशय छुटल। अपने सौ शनि रामक पटल।।
शुनवा कथा सम्प्रति विस्तार। कहु-कहु प्रियतम परम उदार।।[10]

एकर उत्तर मे शिवक उक्ति अध्यात्म रामायण ऐना वर्णित अछि-

भूमिर्भारेण भग्ना दशवदन मुखाशेखरक्षोगणानां
धृत्वा गोरूपमादौ दिविजमुनिजनैः साकमब्जासनस्य।

गत्वा लोकं रूदन्ती व्यसनमुपगतं ब्रह्मणे प्राह सर्वं
ब्रह्मध्यात्वा मुहूर्त्तं सकलमपि हृदा वेदशेषात्मकत्वात्।[11]

कवीश्वर रामायण में शिवक उक्तिक सादृश्यता देखल जाय-

एक समय भय दीना अवनी भारें व्याकुल भेली।
सुरभि रूप बनि कनईत कनईत धाम विरञ्चिक गेली।।
सकल देवगण तनिकाँ संगे पुछलनि विधि कहु धरनी।
सञ्च मञ्च से सबटा कहलनि दुष्ट दशानन करनी।।[12]

एहिना अध्यात्म रामायण मे बालकाण्डक तेसर सर्गक आरम्भ ऐना भेल अछि-

अथ राजा दशरथः श्रीमान्सत्यपरायणः।
अयोध्याधिपतिवीरः सर्वलोकेषु विश्रुतः।।
सोऽनपत्यत्वदुःखेन पीडितो गुरुमेकदा।
वसिष्ठं स्वकुलाचार्यमभिवाद्येदमब्रवीत्।।[13]
राजा दशरथ बड़ श्रीमान्। सत्य पराक्रम एहन न आन।।
पुरी अयोध्याधिपं अति वीर। सथललोक विश्रुत रणधीर।।
पुत्रहीन चिन्तातुर चिन्ता। गुरु समीप गत तकर निभिन्त।।[14]

आरण्यकाण्ड में सूर्पणखाक वृत्तान्तक पश्चात राम सीता के एकान्त मे कहैत छथिन जे जहाँ अपन छाया स्वरूप बना कउ अग्नि में प्रवेश कउ जाउ जाहिसुं रावण अहाँक वास्तविक स्वरूपक स्पर्श नहि कउ सकय। एहि प्रसंग अध्यात्म रामायणक श्लोक निम्न अछि-

अथ समोऽपि तत्सर्वं ज्ञात्वा रावण चेष्टितम्।
उवाच सीता मे कान्ते शृणु जानकि मे वचः।।
रावणो भिक्षुरूपेण आगमिष्यति तेऽन्तिकम्।
त्वं तु छायां त्वदाकारां स्थापयित्वोटजे विश।।[15]

चन्दा झा क रामायण एहि वर्णन क साम्य द्रष्टव्य अछि-

राम बुझल दशवदन प्रपञ्च। वैदेही के कहलनि शञ्च।।
अहँ एक माया देह बनाउ। कुटी मध्य करण कौशल जाउ।।[16]

अस्तु, चन्दा झाक रामायण में तद्रूप वर्णन देखैत प्रमाणित होइउ जे हिनक प्रमुख आधार ग्रंथ अध्यात्म रामायणे थिल मुदा एकर अन्यान्यो वाऽमयक रामकथा समसँ कवीश्वर प्रभाव ग्रहण कयलनि, जेना वशिष्ट मुनि दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ करवाक हेतु शृष्यशृंग एवं शान्ता के आमंन्त्रित करबाक परामर्श देबाक क्रम में दुनू गोटाक परिणयक कथा सुनबैत छँथि। एकर स्त्रोत वाल्मीकि रामायण थिके।[17] अध्यात्म रामायण में मात्र एतबा कहल गेल अछि जे वशिष्टक सम्मति पानि दशरथ अपन मि. रोमपादक जमाय ओ बेटी के आमन्त्रित क पुत्रेष्टि यज्ञ कराओल।[18] रामचरितमानस मे से हो इ कथा अति संक्षिप्त अछि।[19] मुदा बाल्मिकी रामायण सँ प्रभावित कवीश्वर एहि प्रसंगक अत्यंत विस्तृत विवरण प्रस्तुत कयलनि अछि।

बाल्मीकि रामायण में सुग्रीव द्वारा कुम्भकर्णक नाक कान काटल जवबाक प्रसङ्ग एही प्रकारे वर्णित भेल अछि-

ततः कराग्रैः सहसा समेत्य राजा हरीणाममरेन्द्रशत्रोः।

खरैश्च कर्णौः दशनैश्च नासां ददंश पादैर्विददारपार्श्वौ॥[20]

कवीश्वर अपन रामायण में एहि प्रसंगे कहलनि अछि-

गमहि गमहि अति साहसि कपिपति, हुनकर काटल नासा कान।[21]

किष्किन्धकाण्डमे रामक विरहदशाक वर्णनक क्रम में-

वर्षा ऋतु ओ शरद ऋतुक उद्दीपकताक चित्रण-

बाल्मीकि रामायण में एहितरहें वर्णित अछि-

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति।

दृष्ट्वा बलाकं घनमभ्युपैति कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति॥[22]

कवीश्वरक वर्णन सेहो समाने अछि, यथा-

निद्रा केशव तन लपटाथि, सरित सकल सुखसागर जाथि

बिशद बलाका गगन समाथि, बिरही जन-मन-मन अकुनाथि।[23]

अध्यात्म ओ बाल्मिकी रामायणक अतिरिक्त कवीश्वरक रामायण क कतोक प्रसंग आनन्द रामायणहु संग गृहीत अछि, जेना बालकाण्ड में शिव-पार्वती सँ रामकथा क अनन्ताक प्रसंग कहैत छथि-

कत बेरि राम लेल अवतार, कत बेरी हरलनि अवनी भार

ओ रामायण अछि शत कोटि, ब्रह्म लोक महिमा बड़ गोटि।।[24]

आनन्द रामायण में वर्णित एहि प्रसंग के देखल जाए-

चरित्रं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।

एकैकमक्षरं पुसां महापातकनाशनम्।[25]

राम एवं लक्ष्मणक संग जखन सीता वन जाइत छथि तँ बाट में नाव पर चढ़ि गंगा पार करबाक क्रम में गंगा सँ प्रार्थना करैत सीता कहलनि अछि-

हे सुरसरी वन दुखानिस्तार,

धुरब-करब, पूजा विस्तार।

मदिरा, मांस विविध उपचार,

करब यथाविधि बारंबार।।[26]

आनन्द रामायण में से हो ई प्रसंग उपलब्ध अछि, जाहि से सिद्ध होईछ जे कवीश्वरक उपर्युक्त

गंगामध्ये गता गंगा प्रार्थयामास जानकी।

देवि गंगे नमस्तेस्तु निवृता बनवासतः।।

रामेण सहिताऽहं त्वां लक्ष्मणेन च पूजये।

सुरामांसोपहारैश्च नाना बलिभिरादृता।।[27]

कवीश्वरक रामायण में सीता क निन्दा एक धोबीक द्वारा भेल अछि।[28] जकर उल्लेख आनन्द रामायण में से हो अछि मुदा बाल्मिकी तथा आध्यात्म में एकर चर्च नहि भेल अछि। अतः स्पष्ट अछि जे कवीश्वरक उपर्युक्त प्रसंगोक आधार स्त्रोत आनन्द रामायण अछि।

विभिन्न संस्कृत रामायणक अतिरिक्त हिनक रामायण पर महाभारतक प्रभाव से हो अनेक स्थल पर देखल जा सकैछ। जेना रावण ओ मरीचक प्रसंग महाभारत में एही तरहे वर्णित अछि-

कृतिमित्येव तद्विद्धि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम।[29]

यैह प्रसंग क वर्णन कवीश्वर अपन रामायण में कयलनि अछि-

काज हमर जे हो यत हाथ।

सेकय देव करब नहि लाथ।।[30]

मारीच वधक बाद रामक प्रत्यागमणक प्रसंग महाभारत एहि रूपे वर्णित अछि-

एवं हृतायां वैदेह्यां रामो हत्वा महामृगम्।

निवृतो ददृशे धीमान् भ्रातरं लक्ष्मणं तथा।।[31]

प्रस्तुत प्रसंग कवीश्वर एहि तरहे वर्णित कयलनि अछि-

कपट मृग मारीच मारल, धुरल धर रघुराय।

देखल अबइत दूरसौ, मन विकल लक्ष्मण भाय।।[32]

कवीश्वर चन्दा झा क ओ श्रीमद्भागवत में भक्ति मीमांसा क प्रसंग पूर्ण मतैक्य अछि। श्रीमद्भागवत में से हो भक्त क प्रवृत्ति के सात्विक राजस ओ तामस भेदमे विभाजित कयल गेल अछि तथा ओति में जे लक्ष्मण कहल गेल अछि से कवीश्वर क रामायण में वर्णित लक्षण से भिन्न नहीं अछि। भागवत में वर्णित अछि-

भक्तियोगो बहुविधो मार्गै भागिनी भाष्यते

स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते।

अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा

संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः।।[33]

अर्थात् हे माता, साधकक भावक अनुसार भक्ति योगक अनेक प्रकारे प्रकाश होइत अछि, कि एक तें स्वभाव ओ गुणक भेद अँ मनुष्यक भाव में से हो विभिन्नता रहैत अछि। जे भेद दर्शी क्रोधी पुरुष हृदय में हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्यक भाव राखि हमरा प्रति प्रेम रखैत छथि से हमर तामस भक्त थिक। अब रामायण क वचन द्रष्टव्य अछि-

हिंसा दम्भाछिक उद्देश्य। भेद दृष्टि छथि सेवक वेश।

ते तामस जन हमर कहाव। गुणवृत हुनकर उचित स्वभाव।।[34]

श्रीमद्भागवत ओ रामायण क एता दृश समानता देखि ई प्रमाणित होइछ जे जाहि उद्देश्यस भागवतक रचना भेल छल, तकरे प्रतिपादन ई रामायण में लोकभाषा क माध्यम सें कयलनि आछि।

कवीश्वर क रचना पर रघुवंश महाकाव्य क प्रभाव से हो स्पष्ट अछि। हिनक रामायण

में समुन्द निर्माण क समय समय क्रोध एहि रूपे व्यक्त भेद अछि-

कहल प्रभु जल निधि महाजड़ कयल अति अपमान

खुनल हमारे पूर्व पुरुष क अहित हमरहि मान।[35]

ऐहु कथन पर रघुवंश महाकाव्य क प्रभाव स्पष्ट देखल जा सकैछ-

गुरोयियक्षोंः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरंगे।

तदर्थमुवीमवदारयद्‌भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः॥[36]

तहिना कवीश्वर क रामायणक बालकाण्ड में सतानन्द तथा पशुराम क मध्य जे वाद विवाद होइत अछि, तकर प्रसंग प्रसन्न राधवसँ लेल गेल अछि।[37] चन्दा झा ओहि प्रसंग के प्रसन्न राघवसैं लड अपन रामायण में विशद रूपे गृहीत कयलनि अछि।

कवीश्वर क रचना पर हनुमन्नाटकक से ही स्पष्ट देखना जाइछ। रामक स्वर्ण मृग मरीचीका में परबाक पश्चान्तापके चन्दा झा लिखित छथि-

पिता उचित कयलनि वन देलनि, पुरी अयोध्या वन नृपती।[38]

हनुमन्ननाटक मे एहि प्रसंगक वर्णन अछि-

युक्तमेव हि कैकेय्या यदहं प्रेषितो वनम्।

ईदृशी यस्य मे बुद्धिर्मृगः क्वापि हिरण्यमयम्॥[39]

उदाहरण एतय बहुत थोड़ा उल्लिखित भड सकल अछि मुदा एतबोसा ई स्पष्ट होइछ जे अनेक स्थल में बहुध मौलिकता रहनहुँ अधिकांश रचना रामायण एवं संस्कृतक अन्यान्य काव्यसँ प्रभावित अछि।

किछु अन्यान्यो संस्कृत मुक्तक अनुसरण कवीश्वर कयने छथि, जेना प्रसिद्ध श्लोक-

नेदं नभोमण्डलम्बुशशिः

नायं शशी कुण्डलितो मुरारिः।

शशि न कुंडलित थिकथि फणीश

अंक न शानित विष्णु जगदीश॥

कवीश्वर भक्ति भावना क उद्रेदक कारण में-भाषा विषयक संकीर्णता नहि रखलनि अछि। उदाहरणार्थ हिनक एकटा संस्कृत गीत देखल जाय-

जय-जय सीते परम विनीते सकल गुणातीते।

मैथिल महिते गुण्चय सहिते गरिमगुणैर्गीते॥

श्रुति तत चरिते हत जन दुरिते जय जय जन सुहिते।
दशरथनन्दन धन-सौदामिनी परिणय-भव-भिते॥[40]

एहि तरहे कवीश्वरक संस्कृतक प्रभाव एकटा कारण इहो रहल जे मिथिला सभदिनसँ संस्कृत विद्या क केन्द्र रहल। समस्त सारस्वत, सांस्कृतिक एवं कर्मकाण्डीय क्रिया, भाषाक प्रभाव पड़ैत रहल अछि एवं तदनुरूप मैथिली रचनाकारक शब्दावली, वाग्धारा, उक्तिभंगिमा इत्यादि में संस्कृत भाषाक स्पष्ट छाप देखल जा सकैत अछि आ से कवीश्वरक रचनाक अवलोकनसँ स्पष्ट प्रमाण भेटि जाइत अछि।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ब्र. पु. अध्याय, महात्म्य 2-3
2. रा. बा. आ.1
3. मी.भा.रा. (मै.अ.) बालकाण्ड, पृ.2
4. अध्यात्म महात्म्य श्लोक - 2, 4
5. अध्यात्म सर्ग - 1, श्लोक - 1
6. मि.भा.रा. (मै.अ.) पृ.5
7. अध्यात्म 1/56
8. चन्दा झा रामायण - 1, अ. अन्तिम छन्द
9. अध्यात्म सर्ग 2/1-3, पृ.25
10. मि.भा.रा. (मै.अ.), पृ.10
11. अध्यात्म सर्ग 2/7, पृ.26
12. मि.भा.रा. (मै.अ.) बालकाण्ड, पृ.10
13. अध्यात्म सर्ग - 3/1-2, पृ.28
14. मि.भा.रा. (मै.अ.), पृ.13
15. अध्यात्म सर्ग-7/1-4, पृ.145
16. मि.भा.रा. (मै.अ.) अरण्यकाण्ड, पृ.136
17. बाल्मीकि सर्ग 9 पृ.46-52
18. अध्यात्म सर्ग 3/6, पृ.26

19. मानस, पृ.187
20. मि.भा.रा. (मै.अ.) बालकाण्ड, पृ.13-16
21. मि.भा.रा. (मै.अ.), पृ.274
22. बाल्मीकि सर्ग 18/25, पृ.716
23. मि.भा.रा. (मै.अ.) किष्किन्धकाण्ड, पृ.166
24. मि.भा.रा. (मै.अ.), पृ.7
25. आनन्द रामायण, काशी 1995, 2-17-8
26. मि.भा.रा. (मै.अ.), पृ.101
27. आनन्द रामायण, 1-1-100
28. मि.भा.रा. (मै.अ.), पृ.355
29. महाभारत, वन पर्व 278/4
30. मि.भा.रा. (मै.अ.), पृ.133
31. महाभारत, वनपर्व 279/13
32. मि.भा.रा. (मै.अ.), पृ.141
33. श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध 39/7-10
34. उत्तरकाण्ड, अध्याय-1
35. मि.भा.रा. (मै.अ.), पृ.235
36. रघुवंश 13/3
37. प्रसन्न राघवम्, पृ.224
38. मि.भा.रा. (मै.अ.), पृ.158
39. हनुमान्नटकम् 5/4
40. चन्द्र पद्यावली, पद्य संख्या - 49

डॉ. कमला चौधरी
अध्यक्षा, मैथिली विभाग
एम.डी.डी.एम.कालेज, मुजफ्फरपुर।



मिथिला मे किरतनियाँ नाटक

विकास नाथ झा

नामेसँ स्पष्ट अछि जे मिथिलामे देवताक कीर्त्तनक भावनासँ नाटकक प्रस्तुति होयत छल तै किरतनिञाँ नामसँ प्रसिद्ध भेल। मिथिला में अनेक प्रकारक नटुआ (अभिनेता) होयत छल, ताहिमे किरतनिञाँ एक विशेष प्रकार छल। ओसम किरतनिञाँ कहबैत छल किएक ,तह ओसम अपन नाटकक प्रस्तुति देवताक कीर्त्तनक भावनासँ करैत छल। मिथिलाक लोकनि मानै[illegible] जे मिथिलामे किरतनिञाँ नाटकक प्रवर्तक उमापति उपाध्याय भेलाह जे स्वयं कृष्णक मूर्तिक आगाँ नाच-गान करैत छलाह। नाटकक प्रदर्शन नतिमे होयत छल। मँच सोझे ऊँचगर समतल जगह पर होयत छल। नाटकक शुरूआत नान्दी पाठसँ होयत छल तत्पश्चात सूत्रधार अबैत छलाह। हुनक परिधान छल एक 'जामा' एक 'नीभ' आओर एक 'पायजामा'।

ओ एकप्रकारक खड़ाऊँ पहिरैत जे पादुका कहबैत छल। साहि हाथक लंबा वस्त्रक बनल पुराम ढंगक 'साहा पाग' माथ पर पहिरने रहैत छलाह आओर ओ पतिष्ठाक सूचक होयत छल।

मंडली मे अभिनेताक संख्या थोड रहैत छल। नाटकक पात्रक परिचय शुरूआते मे प्रवेश गीत द्वारा दए देल जायत छल। नायक, नायिका, सखी, नारद (घटकक रूप मे) आओर विपटा (विदुषक) इएह होयत छल किरतनिञाँ मंडलीक मुख्य पात्र सभ।

निर्देशः संस्कृते नाट्ये भाषणं प्राकृतेऽपि च।
मैथिली गीतिकाबद्धं वर्णनादि प्रवेशकम्।।
वार्तालापाद्यपि बुधैरथ गीतमयं समम्।
नाटिका कीर्त्तनीयाख्या कीर्त्तनात्तु निगद्यते।।

रचनात्मक दृष्टिसँ किरतनिञाँक चरि भेद होइछ (1) उपजीव्य (2) सामान्य (3) गीतप्रधान आओर (4) गीतमय। उपजीव्यमे धूर्त्तसमागम आओर गोरक्षविजय के राखल जा सकैछ जे परवर्ती सकल नाटकक प्रेरक आ आदर्श थिक तँ एकरा उपजीव्य कहल जाइछ। सामान्य मे एकर सामान्य ओ प्रोढ़ रूप मे संतुलित नाटक जातहरण आ रूककिणीहरण। संस्कृत अंशक अछैति मैथिली गीतक अधिक्य ओ प्रधानतासँ युक्त नाटक गीतप्रधान तेसर

****

वर्ण में अबैत अछि। यथा-कृष्णकलिमाला, गौरीस्वयंवरनाटक, श्रीकृष्णजन्मरहस्यम, उषाहरण आदि। चारिम भेद गीतमय जाहिमे गीतमात्रक प्रयोग अछि से थिक-गौरी प्रणय, गौरी स्वयंवर आ उषाहरण। ओहिसमयक प्रभु नाटककार छलाह-ज्योतिरीश्वर, विद्यापति, रामदासोपाध्याय, उमापति, देवानंद नंदीपति, रमपति, शिवदत्त।

कहलो गेल छैक जे 'Theatre is mirror of society' मिथिलामे नटुआसभक मंडली "जमाति" कहबैत छल। एकर नेता नायक कहबैत छल। एकर नेता नायक कहबैत छल। सूत्रधार मुख्य पात्रक भुमिका करैत छल। मंडली में महिला नहि रहैत छल, महिलो पात्रक अभिनय पुरूष करैत छल। किरतनिञाँ मंडली में सभी जातिक लोक बिनु भेदभावे रहैत अभिनय करैत छल। एहिभे ब्राह्मण, कायस्थ, चमार, आओर दुसाधसम समान रूपे इस लैत छलाह। विवाह, उपनयन, दुर्गापूजा वा अन्यान्य विशेष समाजिक एवं धार्मिक उत्सवक अवसरपर सार्वजनिक स्थान मे वा व्यक्तिविशेषक दरबज्जापर किरतनिञाँ नाटक बरबाक हेतु नायक बजाओल जाइत छलाह। संभव बुझना जाइछ जे राज दरबार सँ बाह स्वतंत्र रूप हुँ ग्रामीण क्षेत्र में नृत्य आओर अभिनयक परंपरा चलैत रहल हो, जकर स्पष्टीकरण ज्योतिरीश्वरक वर्णरत्नाकरमे भेटैत अछि। भारत मे भाषा नाटकक महल संस्कृत नाटकक समाधि पर बनल अछि। तथापि संस्कृत नाटकक प्रभाव एतेक जोरगर छल जे ओहू भाग सभमे जे अधिकाअधिक नव सरल सुबोध ढंगक नाटक विकसित करबाक प्रयास कएल गेल ताहू मे संस्कृत ओ प्राकृतक प्रमखता रहबै कएलैतक, केवल भाषागीत अधिकाधिक मात्रा मे ओहि मे भरल जाए लागली समस्त पूर्वोत्तर भारत मे जे मुसलमान विजेतासभक अभिघातसँ किछु दूर छल, कालक्रमेण नव ढंगक नाटक उद्भूत भेल, जेना बंगाल में "यात्रा" असम में "अंकिया" आओर मिथिला में किरतनिञाँ। एहि तीनू प्रकारक नाटकक जन्म कृष्ण-भक्तिक मित्तिपर भेलैक, किन्तु क्रमहि क्रमहि बाहर अएलहुँ पर एहि भे पौराणिक कथाक प्रमुखता रहबे कएल। उदाहरणस्वरूप परिजातहरण नाटक में कथावस्तु हरिवंशक अध्याय 124-135 सँ लेल गेल अछि, संगहि विष्णुपुराण (अध्याय-5, श्लोक 30-31) आओर श्रीमद्भागवत (स्कंध 10, अध्याय 10, श्लोक 53) तकरो उपयोग कएल गेल अछि। कवि कथा में हरिवंशक कथासँ किछु अंतर कएलन्हि अछि जे इन्द्रसँ युद्ध करबामे कृष्ण प्रद्युम्नक बदला अर्जुनके संग करैत छथि। अतः स्पष्ट अछि जे किरतनिञाँ नाटक देवताक भक्तिनावनासँ ओतप्रोत भए कीर्त्तनक रूप मे कएल जाइत छल।

विकास नाथ झा
स्नात्तकोत्तर मैथिलि छात्र (प्रथम वर्ष)
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर।





बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय में राष्ट्रिय संगोष्ठी में भूतपूर्व मुख्यमंत्री बिहार, सरकार जगन्नाथ मिश्रा के साथ



संस्कृत विभागीय पत्रिका विद्योत्तमा के विमोचन के अवसर पर आचार्य झा विमोचनकर्ता डॉ० जगन्नाथ मिश्र के साथ



बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय के अकादमिक स्टाफ कालेज में आचार्य झा



संस्कृत वर्ष के उद्‌घाटन के अवसर पर कुलपति एस एन सिन्हा के साथ



सप्रेम भेंट- डॉ. राम बहादुर शुक्ल, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू



अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के ४४वें अधिवेशन में
अध्यक्ष आचार्य झा



अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन में सम्बोधित करते हुये आचार्य झा



दिल्ली संस्कृत अकादमी में राष्ट्रिय संगोष्ठी के अवसर पर आचार्य झा



कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के छात्रावास में प्रतिकुलपति के रूप में गणतंत्र दिवस के अवसर पर झंडोतोलन करते हुये



प्रतिकुलपति के रूप में आचार्य झा



संस्कृत शोध पत्रिका विद्योत्तमा के प्रधान संपादक के रूप में



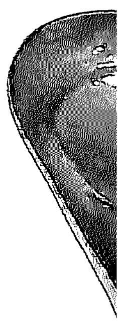
अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन बड़ौदा में डा० झा



यू०जी०सी० द्वारा प्रायोजित राष्ट्रिय संगोष्ठी में अतिथियों का स्वागत करते हुए आचार्य झा







मेखला प्रकाशन
F-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी,
दिल्ली-110089
PH : 011 - 22753916, 49050844



मेखला प्रकाशन
F-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी,
दिल्ली-110089
PH : 011 - 22753916, 49050844

